

GOVERNMENT OF INDIA

ARCHÆOLOGICAL SURVEY OF INDIA

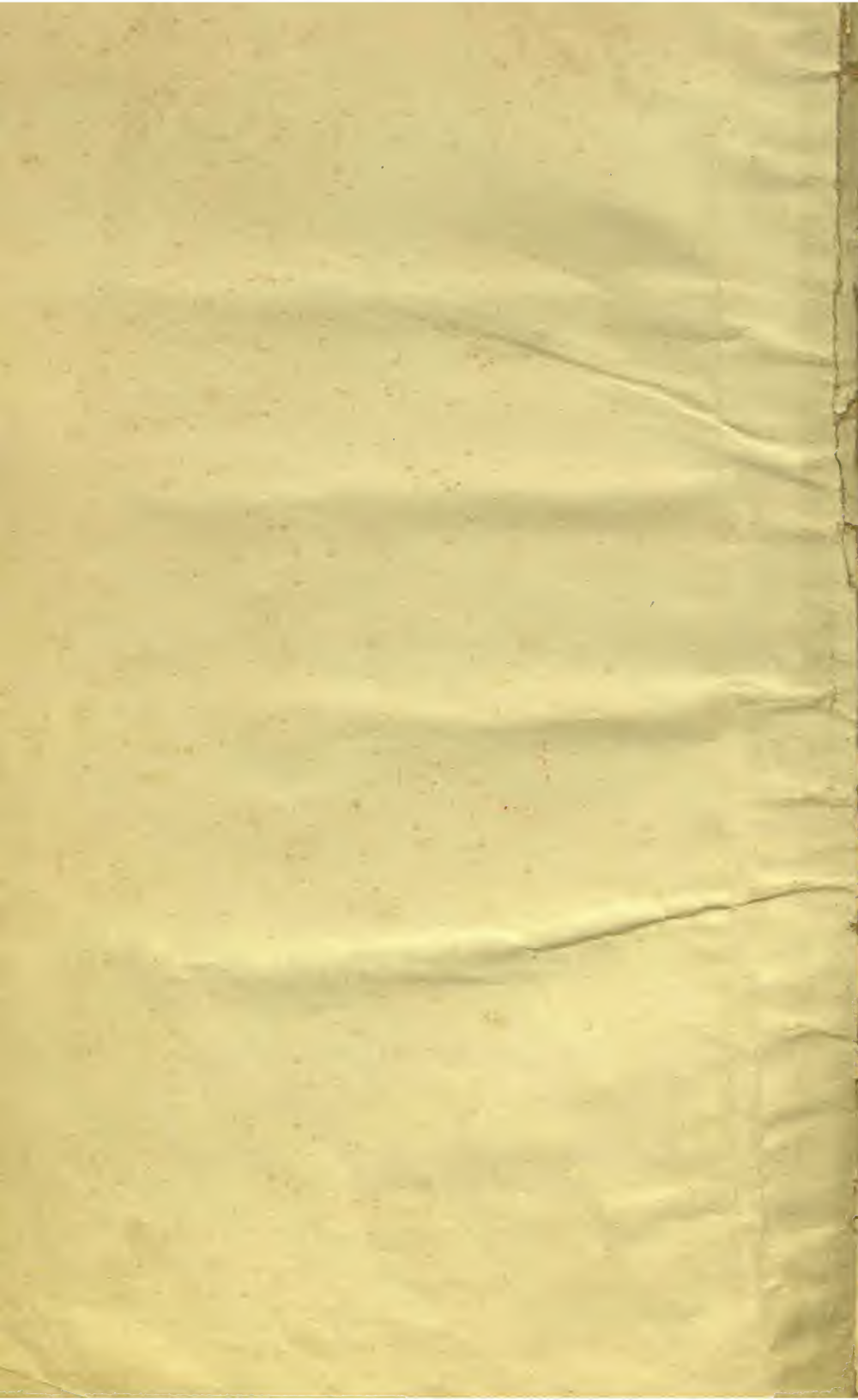
CENTRAL
ARCHÆOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO. 6870

CALL No. 388.10954 / Mot.

D.G.A. 79.





सार्थवाह

Sarthavaha

[प्राचीन भारत की पथ-प्रद्वति]

डॉक्टर मोतीचन्द्र

डाइरेक्टर—प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम

बम्बई

Motichandra

6870

388-10954

Mot

१९५३

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

पटना

Bihar - Prastha
Bharat
Parishad
Patna

प्रकाशक
बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्
सम्मेलन-भवन, पटना-३

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 6870.
Date. 11/12/57.
(Call No. 388-10954/Mot.)

प्रथम संस्करण; वि० सं० २०१०; सन् १९५३ ई०

सर्वाधिकार सुरक्षित

मूल्य—६॥) सजिन्द ११)

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

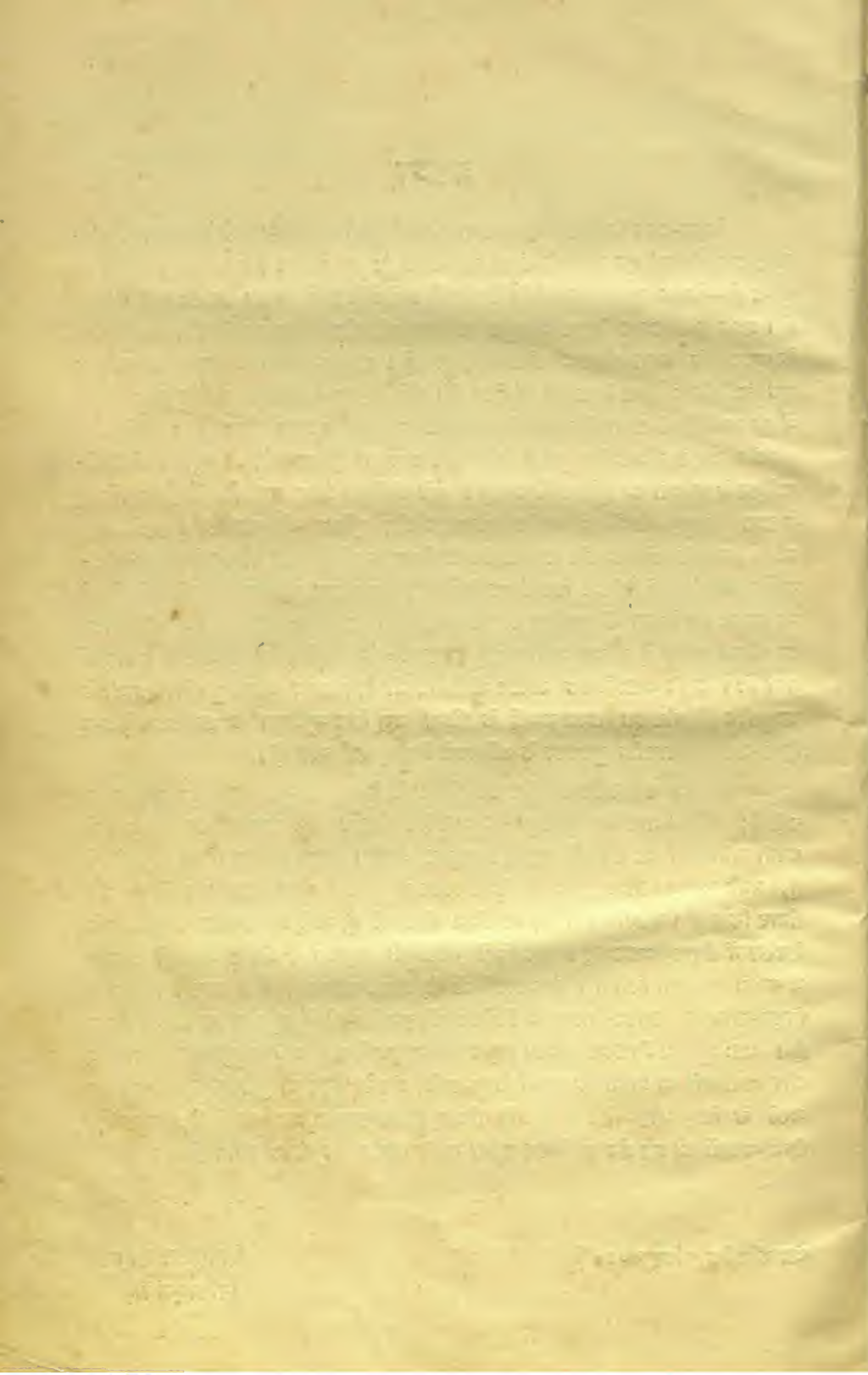
Acc. No. 792.
Date. 15-1-54.
(Call No. 380-934/Mot.)

मुद्रक
देवकुमार मिश्र
हिन्दुस्तानी प्रेस, पटना

वक्तव्य

बिहार-राज्य के शिक्षा-विभाग द्वारा संस्थापित और संरक्षित होने के कारण 'बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्' एक सरकारी संस्था कही जाती है; पर वास्तव में यह एक शुद्ध साहित्यिक संस्था है—केवल सुव्यवस्थित रीति से संचालित होने के लिए ही इस पर सरकारी संरक्षण है। इसके सभी सदस्य बिहार के प्रमुख साहित्य-सेवी और शिक्षा-शास्त्री हैं। उन्हीं लोगों के परामर्श के अनुसार इसका संचालन होता है। साहित्य-सेवियों के साथ इसका व्यवहार एक साहित्यिक संस्था के समान ही होता है। इसीलिए अपने दो-तीन वर्ष के अल्प जीवन में ही इसने हिन्दी-संसार के लब्धकीर्ति लेखकों का सहयोग प्राप्त किया है। इसके द्वारा जो ग्रंथ अब तक प्रकाशित हुए हैं और भविष्य में जो होनेवाले हैं, वे बहुलांश में हिन्दी-साहित्य के अभावों की पूर्ति करनेवाले हैं। ऐसे ग्रंथों को तैयार करने के लिए इस परिषद् के द्वारा विद्वान् लेखकों को पर्याप्त प्रोत्साहन और सुविधा दी जाती है। इसके द्वारा स्वतंत्र रूप से मौलिक और अनूदित ग्रंथ तो तैयार कराये ही जाते हैं, इसकी ज्ञान-विज्ञान-मर्मों भाषणमाला में विशिष्ट विषयों पर विशेषज्ञ विद्वानों द्वारा जो भाषण कराये जाते हैं, वे भी क्रमशः ग्रंथ के रूप में प्रकाशित कर दिये जाते हैं। यह ग्रंथ परिषद् की व्याख्यानमाला का पाँचवाँ भाषण है। यह भाषण सन् १९५२ ई० के मार्च महीने के अंतिम सप्ताह में हुआ था। इसके वक्ता-लेखक डॉक्टर मोतीचन्द्र जी स्वगामधन्य भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जी के भ्रातृपुत्र हैं और इस समय बम्बई के 'प्रिन्स अफ् वेल्स म्यूजियम' के डाइरेक्टर हैं तथा हिन्दी-जगत में भारतीय पुरातत्त्व के अधिकारी विद्वान् माने जाते हैं।

इस ग्रंथ की उत्तमता और उपयोगिता के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है; क्योंकि भारतीय पुरातत्त्व के माननीय विद्वान् डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने अपनी भूमिका में इस ग्रंथ की महत्ता सिद्ध कर दी है। इसमें ग्रंथकार ने जो चित्र दिये हैं, उनसे भी यह स्पष्ट होता है कि ग्रंथकार ने कितनी खोज और लगन से यह ग्रंथ तैयार किया है। इसमें जो दो बड़े मानचित्र दिये गये हैं, उन्हें भी ग्रंथकार ने ही अपनी देखरेख में तैयार कराया है। इन दोनों नक्शों की सहायता से ग्रंथगत विषय के समझने में काफी सहायता मिलेगी। इन मानचित्रों को प्रामाणिक बनाने में ग्रंथकार के मित्र और बिहार-राज्य के पुरातत्त्व-विभाग के निदेशक श्री कृष्णदेव जी ने बहुत अधिक परिश्रम किया है। अतः भूमिका लिखकर ग्रंथ का महत्त्व प्रदर्शित करनेवाले डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल और मानचित्रों को प्रामाणिक रूप में तैयार करके, ग्रंथ के विषय को सुबोध बनाने में सहायता करने के लिए, श्रीकृष्णदेव जी के प्रति परिषद् हादिक कृतज्ञता प्रकट करती है। आशा है, हिन्दी-पाठकों को इस ग्रंथ का विषय सर्वथा नवीन और अतीव रोचक प्रतीत होगा।



विषय-सूची

दो शब्द	...	क- ग
भूमिका	...	१- १५
१ प्राचीन भारत की पथ-पद्धति	...	१- ११
उत्तर भारत की पथ-पद्धति	...	१२- २३
दक्षिण भारत की पथ-पद्धति	...	२३- २७
२ वैदिक और प्रतिवैदिक युग के यात्री	...	२८- ४४
३ ई० पू० पाँचवीं और छठी सदियों के राजमार्ग पर विजेता और यात्री	...	४५- ६८
४ भारतीय पथों पर विजेता और यात्री	...	६९- ८८
५ महापथ पर व्यापारी, विजेता और दूरर	...	८९-१०८
६ भारत का रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार	...	१०९-१२६
७ संस्कृत और बौद्ध-साहित्य में यात्री	...	१३०-१५५
८ दक्षिण-भारत के यात्री	...	१५६-१६१
९ जैन-साहित्य में यात्री और सार्थवाह	...	१६२-१७३
१० गुप्त-युग के यात्री और सार्थ	...	१७४-१८६
११ यात्री और व्यापारी	...	१९०-२१८
१२ समुद्रों में भारतीय वेड़े	...	२१९-२३१
१३ भारतीय कला में सार्थ	...	२३२-२४०
उपक्रमणिका	...	१- ४३

1847

दो शब्द

करीब सात-आठ साल हुए मैंने बौद्ध और जैन-साहित्य का अध्ययन आरंभ किया था। इस अध्ययन का उद्देश्य प्राचीन भारतीय संस्कृति के उन सामाजिक पहलुओं की छानबीन की जिज्ञासा थी, जिनके बारे में संस्कृत-साहित्य प्रायः मौन है। मैंने अपने अध्ययन के क्रम में इस बात का अनुभव किया कि प्राचीन बौद्ध, जैन और कहानी-साहित्य में बहुत-से ऐसे अंश बच गये हैं, जिनसे प्राचीन भारतीय पथपद्धति व्यापार, सार्थ के संगठन तथा सार्थवाह की स्थिति पर काफी प्रकाश पड़ता है। प्राचीन कहानियाँ हमें बताती हैं कि अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी भारतीय सार्थ स्थल और जलमार्गों में बराबर चलते रहते थे, और यह उन्हीं सार्थों के अदम्य उत्साह का फल था कि भारतीय संस्कृति और धर्म का वृहत्तर भारत में प्रसार हुआ। इन कहानियों में ऐतिहासिकता ढूँढ़ना शायद ठीक नहीं होगा, पर इसमें संदेह नहीं कि कहानियों का आधार सार्थों और यात्रियों की वास्तविक अनुभूतियाँ थीं। अभाग्यवश भारतीय साहित्य में एरीथ्रियन समुद्र के पेरिप्लस के यात्रा विवरण अथवा टॉलेमी के भूगोल की तरह कोई ग्रन्थ नहीं बच गया है, जिनके आधार पर हम ईसा की प्रारंभिक सदियों की मार्ग-पद्धति और व्यापार पर प्रकाश डाल सकें। फिर भी प्राचीन भारतीय साहित्य जैसे महानिघेस और वसुदेव-हिन्दी में कुछ ऐसे अंश बच गये हैं, जिनसे पता लगता है कि भारतीयों को भी प्राचीन जल और स्थल-पथों का काफी पता था। इतना ही नहीं, बहुत से उद्धरणों से तरह-तरह के मार्गों, उनपर आनेवाली कठिनाइयों, जहाजों की बनावट, समुद्री हवाओं, आयात-निर्यात के मार्ग इत्यादि पर प्रकाश पड़ता है।

पथ-पद्धति और व्यापार का राजनीति से भी गहरा संबंध रहा है इसीलिए मैंने 'सार्थवाह' के साथ तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों का भी यथाशक्ति खुजासा कर दिया है। राजनीतिक परिस्थितियों को सामने रखने से पथ-पद्धति और व्यापार के इतिहास पर काफी प्रकाश पड़ता है। उदाहरण के लिए ईसा की प्रारंभिक सदियों में भारतीय व्यापार के विकास का कारण एक तरफ तो कनिष्क द्वारा एक विराट् साम्राज्य की, जो चीन की सीमा से लेकर प्रायः संपूर्ण उत्तर भारत में फैला हुआ था, स्थापना थी, जिससे मध्य एशिया का मार्ग भारतीय व्यापारियों और भूस्थापकों के लिए खुल गया, और दूसरा कारण रोमन साम्राज्य की स्थापना थी जिसकी वजह से लाल सागर का रास्ता केवल अरबों की एकस्वित्ता न होकर, सिकंदरिया के रहनेवाले यूनानी व्यापारियों और कुछ हद तक, भारतीय व्यापारियों के लिए भी खुल गया। इन्हीं राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हम तत्कालीन भारतीय साहित्य में अभिलेखों तथा कला रोमन साम्राज्य के साथ भारत के बढ़ते हुए व्यापार

का आभास पाते हैं। अरिकमेडु, अंकोटा (बड़ोदा), ब्रह्मगिरि (कोल्हापुर), कापिशी (बेग्राम) और तक्षशिला के पुरातात्विक अन्वेषणों से भी भारत और रोम के व्यापारिक संबंध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। पर रोम और कुषाण साम्राज्य के पतन के बाद ही पथ-पद्धति पर पुनः कठिनाइयाँ उपस्थित हो गईं और व्यापार ढीला पड़ गया। शक-सातवाहनों के युद्धों के तल में भी रोम के साथ फायदेमंद व्यापार एक मुख्य कारण था। दोनों ही भड़ोच के बंदरगाह पर अपना कब्जा रखना चाहते थे। सातवाहनों का उज्जैन और मथुरा के राजमार्ग पर कब्जा करने का प्रयत्न भी उत्तर भारत के व्यापार पर अधिकार रखने का चोतक है। भड़ोच की लड़ाई-भिड़ाई की वजह से ही मालाबार में मुचिरी यानी क्रॉगनोर के बंदरगाह की उन्नति हुई और रोमन जहाज मौसमी हवा के ज्ञान, का लाभ लेकर सीधे वहाँ पहुँचने लगे। कुछ विद्वानों का मत है कि शक-सातवाहनों की कश्मकश के फल-स्वरूप ही भारतीय भूस्थापकों ने सुवर्ण भूमि की ओर अपने कदम बढ़ाये। राजेन्द्र चोल की सुवर्णभूमि की द्विविजय में भी शायद व्यापार एक मुख्य कारण रहा हो।

प्राचीन साहित्य से हमें भारतीय मार्गों और उनपर चलनेवाले सार्थों के बारे में अनेक ज्ञातव्य बातों का पता चलता है। रास्तों पर अनेक प्राकृतिक कठिनाइयों का सामना तो करता ही पड़ता था, डाकुओं और जंगली जानवरों से भी उन्हें हमेशा भय बना रहता था। सार्थ की रक्षा का भार साथवाह पर होता था और वह बड़ी मुस्तैदी के साथ सार्थ के खाने पीने, ठहरने और रक्षा का प्रबंध करता था। समुद्रीयात्रा में तो खतर और अधिक बढ़ जाते थे। तूफान, पानी में छिड़ी चट्टानों, जलजंतुओं और जल-दस्युओं का बराबर डर बना रहता था। इतना ही नहीं, बहुधा विदेश में माल खरीदते समय ठग जाने का भी अवसर आता था। इन सब से बचने का एक मात्र उपाय निर्यातक और साथवाह की कार्य-कुशलता थी। बौद्ध साहित्य से तो इस बात का पता चलता है कि प्राचीन भारत में निर्यातकसूत्र नाम का कोई ग्रन्थ था जिसमें जहाजरानी की सब बातें आ जाती थीं। इस ग्रन्थ का अध्ययन निर्यातक के लिए आवश्यक था। नाविकों की अपनी श्रेणियाँ होती थीं।

यातायात के साधन जैसे बैलगाड़ी, घोड़े, खच्चर, ऊँट, बैल, नाव, जहाज इत्यादि के बारे में भी प्राचीन साहित्य में कुछ विवरण मिलता है। जहाजरानी संबंधी बहुत से प्राचीन शब्द भी पदाकड़ा मिल जाते हैं। पर यातायात के साधनों का ठीक रूप प्रस्तुत करने के लिए भारतीय कला का आश्रय लेना आवश्यक है। अभाग्यवश प्राचीन कला में बैलगाड़ी, जहाज नाव इत्यादि के चित्रण कम ही हैं। सिरवाय, भरहुत, अमरावती और अजंटा और कुछ सातवाहन सिक्कों को छोड़ कर भारतीय नावों और जहाजों के चित्रण नहीं मिलते। भागवत बाराबुडूर के अध्वचित्रों में जहाजों के चित्र पाये जाते हैं। वे भारतीय जहाजों की प्रतिकृतियाँ हैं अथवा हिंदुशिया के जहाजों की — यह तो ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता, पर यह संभव है कि वे भारतीय जहाजों की प्रतिकृतियाँ हों। मैंने इस संबंध की सामग्री तेरहवें अध्याय में इकट्ठी कर दी है।

पुस्तक भौगोलिक नामों से जिसमें संस्कृत, पाली, प्राकृत, लातिनी, यूनानी, अरबी, चीनी इत्यादि नाम हैं, भरी पड़ी है जिसके फलस्वरूप कहीं-कहीं एक ही शब्द के भिन्न उच्चारण आ गये हैं, आशा है पाठक इसके लिए मुझे क्षमा करेंगे। शुद्धि-पत्र भी बढ़ा हो

गया है, इसका भी कारण पुस्तक में अपरिचित शब्दों की बहुतायत है। बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् ने बड़ी जगान के साथ छपाई की देखभाल की, नहीं तो पुस्तक में और भी अशुद्धियाँ रह जाती।

अंत में मैं उन मित्रों का आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे परामर्श देकर अनुगृहीत किया। डा० बासुदेव शरण को तो मैं क्या धन्यवाद दूँ, उनकी छत्रछाया तो मेरे ऊपर बराबर बनी रहती है। श्री राम सूबेदार और श्री वाखणकर ने देखा चित्रों और नकशों के बनाने में मेरी बड़ी सहायता की, अतएव मैं उनका आभारी हूँ। मेरी पत्नी श्रीमती शांतिदेवी ने घंटों बैठकर प्रेस-कापी तैयार करने में मेरा हाथ बटाया, उनको क्या धन्यवाद दूँ!

मोतीचन्द्र

भूमिका

'सार्थवाह' के रूप में श्री मांतीचन्द्रजी ने मातृभाषा हिन्दी को अत्यन्त रसायनीय वस्तु भेंट की है। इस विषय का अध्ययन उनकी मौलिक कल्पना है। अङ्गरेजी अथवा अन्य किसी भाषा में भारतीय संस्कृति से सम्बन्धित इस महत्वपूर्ण विषय पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया। निस्संदेह मांतीचन्द्रजी की लिखी हुई पढ़नी पुस्तक 'भारतीय वेशभूषा' और प्रस्तुत 'सार्थवाह' पुस्तक को पढ़ने के लिये ही यदि कोई हिन्दी सीखे तो भी उसका परिश्रम सफल होगा। पुस्तक का विषय है—प्राचीन भारतीय व्यापारी, उनकी यात्राएँ, क्रयविक्रय की वस्तुएँ, व्यापार के नियम, और पथ-पद्धति। इस सम्बन्ध की जो सामग्री वैदिक युग से लेकर ११वीं शती तक के भारतीय साहित्य (संस्कृत, पाली, प्राकृत आदि में) यूनानी और रोमन शैलीय भौगोलिक वृत्त, चीनी यात्रियों के वृत्तान्त, एवं भारतीय कला में उपलब्ध है, उसके अनेक बिखरे हुए परमाणुओं को जोड़कर लेखक ने सार्थवाह रूपी भव्य सुमेध का निर्माण किया है जिसकी ऊँची चोटी पर भारतीय सांस्कृतिक ज्ञान का प्रखर सूर्य तपता हुआ दिखाई पड़ता है और उसकी प्रस्तुति किरणों से सैकड़ों नए तथ्य प्रकाशित होकर पाठक के दृष्टिपथ में भर जाते हैं। भारतीय संस्कृति का जो सर्वांगीण इतिहास स्वयं देशवासियों द्वारा अगले पचास वर्षों में लिखा जायगा उसकी सच्ची आधार-शिखा मांतीचन्द्रजी ने रख दी है। इस ग्रन्थ को पढ़कर समझ में आता है कि ऐतिहासिक सामग्री के रत्न कहीं छिपे हैं, अनेक गुप्त-प्रकट खानों से उन्हें प्राप्त करने के लिये भारत के नवोदित ऐतिहासिक को कौन-सा सिद्धान्तन लगाना चाहिए, और उस चञ्चलता से प्राप्त पुष्कल सामग्री को लेखन की क्षमता से किस प्रकार मूर्त रूप दिया जा सकता है। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते परिचयी रत्नाकर और पूर्वी महोदधि के उसपार के देशों और द्वीपों के साथ भारत के सम्बन्धों के कितने ही चित्र सामने आने लगते हैं। दण्डी के दश कुमार चरित में ताम्रलिप्ति के पास आए हुए एक यूनानी पोत के नाविक-नायक (कप्तान) रामेषु का उल्लेख है। कौन जानता था कि यह 'रामेषु' सीरिया की भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है 'सुन्दर ईसा' (राम = सुन्दर; ईशु = ईसा) ? ईसाई धर्म के प्रचार के कारण यह नाम उस समय यवन नाविकों में चल चुका था। गुप्तकाल में भारत की नौसेना के बड़े कुशल चेम से थे। रत्नार्णवों की मेखला से युक्त भारतभूमि की रक्षा और विदेशी व्यापार दोनों में वे पटु थे। अतएव दण्डी ने लिखा है कि बहुत सी नावों से घिरे हुए 'मद्गु' नामक भारतीय पोत (मद्गु = मण्डा मारनेवाला समुद्री पक्षी, अङ्गरेजी सी-गाल) ने यवन-पोत को घेर कर धावा बोल दिया (पृ० २३१-४०)।

'सार्थवाह' शब्द में स्वयं उसके अर्थ की व्याख्या है। अमरकोष के टीकाकार और स्वामी ने लिखा है—'जो पूँजी द्वारा व्यापार करनेवाले पान्थों का अग्रग्राहो वह सार्थवाह है' (सार्थान् सधनान् सरतो वा पान्थान् वहति सार्थवाहः, अमर ३।१।७८)। सार्थ का

अर्थ दिया है 'यात्रा करनेवाले पान्थों का समूह' (सार्थोऽध्वनतृन्द्स्, अमर २।१।४२)। वस्तुतः सार्थ का अभिप्राय था 'समान या सहयुक्त अर्थ (पूँजी) वाले' व्यापारी। जो बाहरी मंडियों के साथ व्यापार करने के लिये एक साथ टोँडा लादकर चलते थे, वे 'सार्थ' कहलाते थे। उनका नेता श्रेष्ठ व्यापारी सार्थवाह कहलाता था। उसका निकटतम अङ्गरेजी पर्याय 'कारवान-लीडर' है। हिन्दी का साथ शब्द सं० सार्थ से निकला है; किन्तु उसका वह प्राचीन पारिभाषिक अर्थ लुप्त हो चुका है। जेलक के अनुसार (पृ० २६) सिन्धी भाषा में 'साथ' शब्द का वह अर्थ सुरक्षित है। कोई एक उरसाही व्यापारी सार्थ बनाकर व्यापार के लिये उठता था। उसके सार्थ में और लोग भी सम्मिलित हो जाते थे जिसके निश्चित नियम थे। सार्थ का उठना व्यापारिक क्षेत्र की बड़ी घटना होती थी। धार्मिक तीर्थ यात्रा के लिये जैसे संघ निकलते थे और उनका नेता संघपति (संघवाई, संघवी) होता था वैसे ही व्यापारिक क्षेत्र में सार्थवाह की स्थिति थी। भारतीय व्यापारिक जगत् में जो सोने की खेती हुई उसके फूले पुष्प चुननेवाले व्यक्ति सार्थवाह थे। बुद्धि के धनी, सत्य में निष्ठावान्, साहस के भंडार, व्यावहारिक सूक्ष्म-बुद्धि में एगे हुए, उदार, दानी, धर्म और संस्कृति में रुचि रखनेवाले, नई स्थिति का स्वागत करनेवाले, देश-विदेश की जानकारी के कोष, पवन, शक, पट्टव, रोमक, क्षपिक, हूण, पक्ष्य आदि विदेशियों के साथ कंधा रगड़नेवाले, उनकी भाषा और रीति-नीति के पारखी—भारतीय सार्थवाह महोदधि के तटपर स्थित साम्राज्यि से सीरिया की अन्ताखी नगरी (Antioch) तक, यव द्वीप और कटाह द्वीप (जावा और केडा) से चोखमंडल के सामुद्रिक पत्तनों और परिचम में यवन बर्बर देशों तक के विशाल जल भल पर छा गए थे।

प्रस्तुत पुस्तक के तेरह अध्यायों में सार्थवाह और उनके व्यापार से सम्बन्धित बहुविध सामग्री कम बार सजाई हुई है। भारतीय व्यापार के दो सहस्र वर्षों का चलचित्र उसमें उपस्थित है। प्राचीन भारत की पथ-पद्धति (ख० १) में पहली बार ही व्यापार की धमनियों का इकट्ठा चित्र हमें मिलता है। अथर्ववेद के पृथिवी सूक्त में ही अपने जन्मे-चौड़े देश की इस विशेषता—जनायन पन्थों—पर ध्यान दिलाया गया है—

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसञ्च यातवे ।

यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्र मतःकरम्,

यच्छ्रव्यं तेन नो मृड् । [अथर्व १२।१।४७]

यह मंत्र भारतीय सार्थवाह संघ की खलाहल्लिपि होने योग्य है इसमें इतनी बातें कही गई हैं—

(१) इस भूमि पर पन्थ या मार्गों की संख्या अनेक है ;

(२) वे पन्थ जनायन अर्थात् मानवों के यातायात के प्रमुख साधन है ;

(३) उन मार्गों पर रथों के वर्त्म या रास्ते बिछे हैं । (अर्वाचीन याहनों से पूर्व रथों के वाहन सबसे अधिक शीघ्रगामी और आशु-योग्य थे) ।

(४) मार्ग होनेवाले शक्यों (जनस) के आवागमन के लिये (यातवे) भी वे ही प्रमुख साधन थे ।

(५) इन मार्गों पर भले-बुरे सभी को समान रूप से चलने का अधिकार है ।

(६) किन्तु इन पथों पर शत्रु और चोर-बाकूजों का भय रहना आवश्यक है ।

(७) जो सब प्रकार से सुरक्षित और कल्याणकारी पथ हैं, वे पृथिवी की प्रसन्नता के सूचक हैं ।

भारत के महापथों के लिये ये आदर्श आज भी उतने ही पक्के हैं जितने पहले कभी थे । भारतवर्ष के सबसे महत्वपूर्ण यात्रा-मार्ग 'उत्तरी महापथ' का वर्णन इस ग्रन्थ में विशेष ध्यान देने योग्य है । यह महापथ किसी समय कास्वियन समुद्र से चीन तक एवं बाव्हीक से पाटलिपुत्र-ताम्रक्षिप्त तक सारे एशिया भूखंड की विराट् धमनी थी । पाणिनि (५०० ई० पू०) ने इसका तत्कालीन संस्कृत नाम 'उत्तरपथ' लिखा है (उत्तरपथेनाहतं च, १।१।७७) । इसे ही मेगस्थने ने 'नार्देनै रुट' कहकर उसके विभिन्ना भागों का परिचय दिया है । कौटिल्य का हैमवत पथ इसका ही बाव्हीक-तम्रक्षिप्तावाला टुकड़ा था । इस टुकड़े का सांगोपांग इतिहास फ्रेंच विद्वान् श्री फ्लूरो ने दो बड़ी जिल्दों में प्रकाशित किया है । हर्ष की बात है कि उस भौगोलिक सामग्री का भरपूर उपयोग प्रस्तुत ग्रन्थ में किया गया है । पृ० ११ पर हारहूर की ठीक पहचान हर ह्यैती या अरग-दाब (दक्खिनी अफगानिस्तान) के इलाके से है । हेरात का प्राचीन ईरानी नाम हरह्व (सं० सारव) था । नदी का नाम सरयू आधुनिक हरिरूद में सुरक्षित है । पृ० ११ पर परिसिन्धु का पुराना नाम पारेसिन्धु था जो महाभारत में आया है । इसी का हू-ब-हू अङ्ग्रेजी रूप ट्रांस-इंडस है । पाणिनि ने सिन्ध के उस पार की मशहूर घोटियों के लिये 'पारे-बडवा' (६।२।३२) नाम दिया है । भारतीय साहित्य से कई पथों का ज्यौरा मोतीचंदजी ने छूँट निकाला है । इतिहास के लिये साहित्य के उपयोग का यह बड़ा उपादेय ढंग है । महाभारत के नजोपाख्यान में भालियर के कौतवार प्रदेश (चम्बल-बेतवा के बीच) में खड़े होकर दक्खिन के रास्तों की ओर दृष्टि डालते हुए कहा गया है—एते गच्छन्ति बहवः पन्थानो दक्षिणापथम् (वनपर्व २८।२) । और इसी प्रसंग में 'बहवः पन्थानः' का ज्यौरा देते हुए विदर्भ मार्ग, दक्षिण कोसलमार्ग और दक्षिणापथ मार्ग इन तीन पथों के नाम दिये हैं । वस्तुतः आज तक रेल पथ ने ये ही मार्ग पकड़े हैं ।

वैदिक साहित्य में सार्थवाह शब्द नहीं आता; किन्तु पणि नामक व्यापारी और वाणिज्य का वर्णन आता है । यह जानकर प्रसन्नता होती है कि पूँजी के अर्थ में प्रयुक्त हिन्दी शब्द 'गथ' 'ग्रथ' से निकला है जो वैदिक शब्द 'ग्रथिन्' 'पूँजी वाला' में प्रयुक्त है । वैदिक साहित्य में नौ सम्बन्धी शब्दों की बहुतायत से स मुद्रिक यातायात का भी संकेत मिलता है (वेद नावः समुद्रियः) । लगभग २वीं शती ई० पू० के बौद्ध साहित्य से यात्राओं के विषय में बहुत तरह की जानकारी मिलने लगती है । यात्रा करनेवालों में व्यापारी वर्ग के अतिरिक्त साधु-संन्यासी, तीर्थयात्री, फेरीवाले, घोड़े के व्यापारी, खेल-तमाशेवाले, पढ़नेवाले छात्र एवं पढ़कर देश-दर्शन के लिये निकलनेवाले चरक नाम विद्वान् सभी तरह के लोग थे । पथों के निर्माण और सुरक्षा पर भी पर्याप्त ध्यान दिया जाने लगा था । फिर भी तरह-तरह के चोर-डाकू मार्ग पर लगाते थे जो पान्थवातक या परिपन्थिन् कहे जाते थे (पाणिनि सूत्र ४।४।२१ परिपन्थं च तिष्ठति) । पाणिनि सूत्र १।१।८६ की टीका में एक प्राचीन वैदिक प्रार्थना उदाहरण के रूप में मिलती है—मा र्वा परिपन्थिनो विद्वन्, अर्थात् 'भगवान् करे कहीं तुम्हें रास्ते में बटमार लोग न मिलें' ।

फिर भी सार्थ की रक्षा का कुछ उत्तरदायित्व सार्थवाद पर ही रहता था और वे अपनी ओर से पहरेदारों की व्यवस्था रखते थे। जंगल में से गुजरते समय आदमियों के मुखिया भी कुछ देने पर रक्षा का भार संभालते थे जिस कारण वे 'भटवी पाख' कहे जाने लगे।

सार्थ की सहायता के लिये साज-सामान की पूरी व्यवस्था रहती थी। रेगिस्तानी यात्राओं को सफल पार करने का भी पक्का प्रबंध रहता था। मध्यदेश की तरफ से बणू या बन्नू को जानेवाला बणुपथ नामक मार्ग कहे रेगिस्तान में से गुजरता था जो सिन्ध नदी के पूरब में थल नामक बालूका प्रदेश होना चाहिए (बणुपथ जातक सं० २)। इसी प्रकार द्वारवती (द्वारका) से एक रास्ता माधवाब्द के रेगिस्तान मरुधन्व को पार करके प्राचीन सौवीर की राजधानी रोरुह (बतैमान रोही) से मिलता था और वहाँ से अगले पड़ाव पार करता हुआ कम्बोज (मध्य एशिया) तक चला जाता था, जहाँ आगे उसे तारिम या गोबो का रेगिस्तान 'पेराबत धन्व' पार करना पड़ता था। रेगिस्तान की यात्रा में स्थलनियामक नक्षत्रों की मदद से सार्थ का मार्ग-प्रदर्शन करते थे। इसी प्रकार के कुछ मार्ग-दर्शक समुद्र यात्रा में जलनियामक कहलाते थे। शूपरिक नामक समुद्री नगर में 'नियामक सूत्र' की नियमित शिक्षा का प्रबन्ध था। समुद्री यात्राओं के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ में जितनी अधिक सामग्री मिलेगी उतनी पहले एक स्थान पर कभी संगृहीत नहीं हुई। समुद्र में एक साथ यात्रा करनेवाले सांयात्रिक कहलाते थे। महाजनक जातक में पोत भग्न होने पर समुद्र में हाथ-पैर मारते हुए महाजनक ने देवी मणिमेलला से जो बात-चीत की वह भारतीय महानाविकों की यज्ञमयी हड़ता की परिचायक है—

'यह, कौन है जो समुद्र के बीच जहाँ कहीं किनारा नहीं दीखता, हाथ मार रहा है ? किसका भरोसा करके तू इस प्रकार उद्यम कर रहा है ?

'देवि मेरा विश्वास है कि जीवन में अब तक बने तब तक व्यायाम करना चाहिए। इसीछिपू यद्यपि तीर नहीं दीखता पर मैं उद्यम कर रहा हूँ।

'हस अथाह गंभीर समुद्र में तेरा पुरुषार्थ करना व्यर्थ है। तू तब तक पहुँचे बिना समाप्त हो जाएगा।

'देवि, ऐसा क्यों कहती हो ? व्यायाम करता हुआ मर जाऊँ तो भी शिन्धा से तो बचूँगा। जो पुरुष की तरह उद्यम करता है वह जोड़े पड़ता-ता नहीं।

किन्तु जिस काम के पार नहीं पहुँचा जा सकता, जिसका परिणाम नहीं दिखता पड़ता, वहाँ व्यायाम करने का क्या नतीजा, जब मृत्यु का आना निश्चित हो।

'जो व्यक्ति यह सोचकर कि मैं पार न पाऊँगा, उद्यम छोड़ देता है, तो होनेवाली हानि में उसके दुर्बल प्रायों का ही दोष है। सफलता हो या न हो, मनुष्य अपने लक्ष्य के अनुसार लोक में कार्यों की योजना बनाते हैं और चल करते हैं। कर्म का फल निश्चित है, यह तो इसीसे प्रकट है कि मेरे और साथी डूब गए पर मैं अभी तक तैरता हुआ जीवित हूँ। अब तक मुझमें शक्ति है मैं व्यायाम करूँगा, जब तक मुझमें बल है समुद्र के पार पहुँचने का पुरुषार्थ अवश्य करूँगा। [महाजनक जातक, भाग ५, सं० २३६, पृ० ३२-३६] मणिमेलला देवी दक्षिण भारत की प्रसिद्ध देवी थी जो नाविकों की पूज्य और समुद्र-यात्रा की अधिष्ठात्री थी। कन्या कुमारी से लेकर कटाह द्वीप तक उसका प्रभाव था और कावेरी के मुहाने पर स्थित पुहार नामक तटनगर में उसका बड़ा मन्दिर था। ऐसे ही स्पष्ट यात्रा में

चलनेवाले सार्थवाहों के अधिष्ठाता देवता माणिक्य यक्ष थे। सारे उत्तर भारत में माणिक्य की पूजा के लिये मन्दिरे थे। मथुरा के परम स्थान से मिली हुई महाकाय यक्ष मूर्ति माणिक्य की ही है। लेकिन पवाया (प्राचीन पद्मावती, ग्वालियर) में माणिक्य की पूजा का बड़ा केन्द्र था। उत्तर भारत में दक्खिन को जानेवाले सार्थ इसकी मान्यता मानते थे। वन पर्व के नलोपाख्यान में उल्लेख आता है कि एक बहुत बड़ा सार्थ लाभ कमाने के लिये चेदि जनपद को जाता हुआ (६१-१२५) वेन्नवती नदी पार करता है और दमयन्ती उसी का साथ पकड़कर चेदि पहुँच जाती है। उस सार्थ का नेता घने जंगल में पहुँचकर यक्षराट् माणिक्य का स्मरण करता है परमाम्यस्मिन्वने कप्टे अमनुष्यनिषेविते। तथा नो यक्षराट् माणिक्यः प्रसीदतु। (वन० ६१।१२५)।

संयोग से वनपर्व अ० ६१-६२ में महासार्थ का बहुत ही अच्छा वर्णन उपलब्ध होता है। उस महासार्थ में हाथी, घोड़े, रथों की भीड़भाड़ थी (हस्त्यश्वरथ संकुलम्)। उसमें बैल, गधे ऊँट, और पैदलों की इतनी अधिक संख्या थी (गोखरोष्ट्राश्व बहुलपदाति जन-संकुलम्, ६२।१५) कि चलता हुआ महासार्थ 'मनुष्यों का समुद्र' (जनार्णव, ६२।१२) सा जान पड़ता था। समुद्र सार्थ मंडल (६२।१७) के सदस्य साधिक थे (६२।८)। उसमें मुख्यतः व्यापारी बनिये (वणिजः) थे लेकिन उनके साथ वेद पारंगत ब्राह्मण भी रहते थे (६२।१७)। सार्थ का नेता सार्थवाह कहा जाता था। 'अहं सार्थस्य नेता वै सार्थवाहः शुचिस्मिते। ६१।१२२)। सार्थ में बड़े बूढ़े, जवान, बच्चे सब आयु के पुरुष स्त्री रहते थे—

सार्थवाहं च सार्थं च जना ये चात्र केचन। ६२।११७

यूनः स्थविरबालाश्च सार्थस्य च पुरोगमाः। ६२।११८

कुछ लोग मनचले भी थे जो दमयन्ती के साथ ठगोली करने लगे लेकिन जो भले मानस थे उन्होंने दया करते हुए उससे सब हालचाल पूछा। यहाँ यह भी कहा है कि सार्थ के आगे-आगे चलनेवाले मनुष्यों का एक जत्था रहता था। सम्भवतः यह दुकड़ी मार्ग की सफाई का महत्वपूर्ण कार्य करती थी। सार्थवाह न केवल सार्थ का नेता था वरन् वह सार्थ के यात्रा-काल में अपने महासार्थ का प्रभु होता था (६१।१२१)। सायंकाल होने पर सार्थ की सवारियाँ थक जाती थीं सुपरिश्रान्तवाहाः) और तब सार्थवाह की सम्मति से किसी अच्छे स्थान में पड़ाव (निवेश, ६२।४; वृहत्कल्प सूत्र भाष्य १०-६१ में भी सार्थ की बस्ती निवेश कही गयी है) डाला जाता था। इस सार्थ ने क्या भूल की कि सरोवर का रास्ता छेककर पड़ाव डाल दिया। आधीरात के समय हाथियों का मुँह पानी पीने आया और उसने सोते हुए सार्थों को रौंद डाला। कुछ कुचल गए, कुछ डरकर भाग गए, सार्थ में हाहाकार मच गया। जो बच गए हतशिरःपैः उन्होंने फिर आगे की यात्रा शुरू की। प्राचीन काल में महासार्थ का जो ठाट था उसका अच्छा चित्र महाभारत के इस वर्णन में बचा रह गया है।

सार्थवाहों और जल-थल के नावियों द्वारा भारतीय कहानी साहित्य का भी खूब विस्तार हुआ। समुद्र के सम्बन्ध में अनेक यक्ष, नाग, भूत-प्रेतों की और भौति-भौति के जलचर एवं दैवी आश्चर्यों की कहानियाँ नाविकों के मुँह से सुनी जाती थीं। लोग यात्रा में उनसे अपना समय काटते थे, अतएव उन कहानियों के अतिशय साहित्य में भी भर गए।

पृ० ६३ पर समुद्रवाणिज्य जातक (जा० भाग ४) के एक विशिष्ट सवतरण की ओर विशेष ध्यान जाता है—'एक समय कुछ बड़े-बड़े लोगों ने साज बनाने के लिये रकम उधार ली, पर समय पर वे साज न बना सके। प्राइकों से तंग आकर उन्होंने विदेश में बस जाने की ठानी और एक बड़ा जहाज बनाकर उसपर सवार हो समुद्र की ओर चल पड़े। इवा के रुख से चलता हुआ उनका जहाज एक द्वीप में पहुँचा, जहाँ तरह-तरह के पेड़-पौधे, चावल, ईल, केले, आम, आम्रुन, कदल, नारियल इत्यादि उग रहे थे। उनके आने के पहले ही एक टूटे जहाज का यात्री आनन्द से उस द्वीप में रह रहा था और खुशी की उमंग में गाता रहता था—वे दूसरे हैं जो बोते और हल चलाते हुए अपनी मिहनत के पसीने की कमाई खाते हैं। मेरे राज्य में उनकी जरूरत नहीं। भारत ? नहीं, यह स्थान उससे अच्छा है।' यह वर्णन होमर कृत ओडिसी के उस द्वीप की याद दिलाता है जिसमें कामधाम न करनेवाले, केवल मनुष्य चर कर जीवन बितानेवाले 'लोटस-ईटर्स' (मत्स्यभक्षियों) के द्वीप का चित्र खींचा गया है जहाँ के निवासियों ने ओडिसियस को भी उसी प्रकार का जीवन बिताने का निमंत्रण दिया था; किन्तु उस कर्मण्य धीर को वह जीवन क्रम नहीं रुचा। अवरय ही इस जातक में उसी प्रकार का अभिप्राय उल्लिखित है।

लेखक ने उचित ही यह प्रश्न उठाया है कि सार्थ में सम्मिलित होनेवाले कई व्यापारियों में परस्पर साम्ना और कोई 'समय' या इकरारनामा होता था या नहीं। पृ० ६२ पर संगृहीत जातकों के प्रमाणों से तो यह निश्चय होता है कि सार्थ व्यक्ति अपने में से एक को नायक या जेठक मानते थे (वही सार्थवाह या सार्थ का नेता होता था), उनमें कई व्यापारियों के बीच साम्नेदारी की प्रथा थी, और हानि लाभ के विषय में साम्नेदारों में आपसी इकरार भी होता था। हाँ एक सार्थ के सभी सदस्य सार्थिकों (= साथियों) में इस प्रकार का साम्ना हो यह आवश्यक नहीं था। जो व्यापारी इस प्रकार का साम्ना करके व्यापार के लिये उठते थे, उनके व्यापार को घोषित करने के लिये ही संन्य-समुत्थान यह अन्वय शब्द भाषा में प्रचलित हुआ ज्ञात होता है। एक ही साथ के सदस्य हानि लाभ के लिये पूँजी का साम्ना करने की दृष्टि से कई वर्गों में बँटे हुए हो सकते थे। इस बारे में उन्हें रसाभाविक ढंग से अपने संबंध जोड़ने की जूट थी। लेकिन एक यात्रा में समान सार्थवाह के नेतृत्व में एकही जलपान या प्रवहण पर यात्रा करनेवाले सब व्यापारी चाहे उनमें पूँजी का साम्ना हो या न हो, सांघातिक बंधे जाते थे। वस्तुतः कानूनी दृष्टि से उनके आपसी उत्तरदायित्व और सम्मौतों की मर्यादाएँ और स्वरूप क्या थे, यह विषय अभी तक बुँधला है, जैसा मोती चन्द्र जी ने स्वीकार किया है। स्मृतियों, उनकी टीकाओं, और सम्भव है मध्यकालीन निबन्धों के आलोचनात्मक अध्ययन से इस विषय पर अधिक प्रकाश डाला जा सके।

मौर्य युग की स्थापना के आस-पास की दशकियों में भारतीय इतिहास की महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। तभी कपिशा से मारुसोर तक का महासाग्राज्य स्थापित हुआ जिसका प्रभाव व्यापार, संस्कृति और धर्म के लिये बहुत अच्छा रहा। इस प्रसंग में लेखक ने सिकन्दर के भारतीय भूगोल की भी कुछ चर्चा की है (पृ० ७१—७३)। वस्तुतः यूनानियों ने भारतीय भूगोल के तत्कालीन नामों के जो रूप दिए हैं उनमें संस्कृत नामों की फेर बदल हो जाने से अपने नाम भी अभी तक विदेशी से लगते रहे हैं। पाणिनीय भूगोल की सहायता

से इन पर कुछ प्रकाश डालना सम्भव हो सका है। नगरहार के पास जिस हस्तिन के प्रदेश का उल्लेख आया है वह पाणिनि का हास्तिनायन (१।४।१७४) यूनानी Aslakenoi था जो पुष्कलावती के आस-पास था। यूनानियों ने दो नाम और दिए हैं; एक Aspasioi जो कुनड़ नदी की द्रोणी में बसे थे पाणिनि के आस्वायन थे (४।१।११०), और दूसरे Assakenoi जो स्वात नदी के प्रदेश में बसे आश्वकायन (४।१।१११) थे। इन्हीं का एक नाम Assakeoi भी आता है जिसके समन्वय पाणिनि का अश्वकाः शब्द था। अश्वक या आश्वकायनों का सुदृढ गिरि दुर्ग Aornos था जिस पर अधिकार करने में सिकन्दर के भी दाँतों में पसीना आ गया था। उसका पाणिनीय नाम वरणा (४।१।८२) था। स्टाइन ने इस दुर्ग को खोज निकाला था। इस समय उसे ऊण या ऊणरा कहते हैं। यहाँ के वीर अश्वक स्त्री, बच्चों समेत तिल-तिल कट गए; पर जीते जी उन्होंने वरणा के अजय्य गिरिदुर्ग में शत्रु का प्रवेश नहीं होने दिया। अन्य नामों में गौरीयन गौरी नदी के तटवासी थे, न्यासा पतंजलि का नैश जनपद ज्ञात होता है, यूनानी मूस्किनोस व्याकरण के मुचुकुषि, ओरिताइ वार्तेय, आरबिताइ आरभट जिसके नाम पर साहित्य में आरभटी वृत्ति शब्द प्रचलित हुआ, ब्राह्मनोई ब्राह्मणक जनपद था जिसका उल्लेख पाणिनि (५।१।७१, ब्राह्मणकोशिके संज्ञायाम्; ब्राह्मणको देशः यत्रायुधजीविना ब्राह्मणकाः सन्ति, काशिका) और पतंजलि ब्राह्मणको नाम जनपदः) दोनों ने किया है। पतंजलि ने इसी के पड़ौस में बसे हुए शुद्रक नाम क्षत्रियों का भी उल्लेख किया है जो यूनानियों के Sodrae या Sambos थे। इनसे और मोतीचन्द्र जी ने जिन अन्य नामों को संस्कृत पहचान दी है, उनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यूनानी भौगोलिक सामग्री का ठोस आधार भारतीय भूगोल में विद्यमान था। उसकी पहचान के लिये हमें अपने साहित्य को टटोलना आवश्यक है। लेखक का यह सुझाव कि जैन साहित्य के २१२ जनपद सम्भवतः मौर्य साम्राज्य की भुक्तियाँ थीं (पृ० ७२) एक दम मौलिक है। कौटिल्य में प्रतिपादित कई प्रकार के पथों का और शुल्क के नियमों का विवेचन भी बहुत अच्छा हुआ है। द्रोणमुख (पृ० ७७) का प्रयोग सिन्धु नद पर स्थित ओहिन्द के उसपार शकरदर्रा (शक्र द्वार) के खरोष्ठी लेख में आया है जहाँ उसे 'द्रोणमुख' कहा है। इसका ठीक अर्थ उन पत्तनों का वाची था जो किसी नदी की घाटी के अन्त में स्थित होते थे और अपने पीछे फैली हुई द्रोणी के व्यापार के विकास मार्ग का काम देते थे। ऐसे पत्तन समुद्र के कच्छ में भी हो सकते थे, जैसे भरुकच्छ और शूपांरक जिनके पीछे नदी-द्रोणियों की भूमि फैली थी। डाकेमार जहाजों (पाइरेट बोट) के लिये प्राचीन पारिभाषिक शब्द 'हिजिका' ध्यान देने योग्य है (पृ० ७१)। मौर्यकाल में राज्य की ओर से व्यापार को सुरक्षित और सुव्यवस्थित करने की ओर बहुत ध्यान दिया गया था, ऐसा अर्थशास्त्री की प्रभूत सामग्री से स्पष्ट होता है। उसके बाद शुंगकाल में भी वही व्यवस्था चलती रही। मौर्यों ने भी जो कार्य नहीं किया था अर्थात् सामुद्रिक व्यापार की उन्नति, उसे सातवाहन राजाओं ने पूरा किया।

स्त्राबो ने शकों की जिन चार जातियों के नाम गिनाए हैं उनके पवाँय भारतीय साहित्य और पुरातत्व में मिले हैं, जैसे Asii आर्य या ऋषिक जाति थी। मथुरा में कटरा केशव देव से प्राप्त बोधिसत्व मूर्ति की चरण चौकी पर अभोहा नाम की स्त्री आसी

(= चावी) कही गई है। इबिष्क के पुण्यशालावाले स्तम्भ खेल में शौक्य और प्राचीनी नाम पाये हैं जो Sacaraucae और Pasiani के ही रूप ज्ञात होते हैं। तुप्पार तो तुप्पार है ही जिनके Tochari नाम पर भाट में कनिष्क के देवकुलवाला टोकी टीला आजतक डोकरी टीला कहलाता है। अपिर्को का कितना अधिक परिचय महाभारतकार को था यह बात १० १४ पर दिए हुए विवरण से ज्ञात होती है। अपिर्क ही भारतीय इतिहास के सूची हैं। चीनी सूची शब्द का अर्थ 'चन्द्र कबीला' आदिपर्व की उस कल्पना से एक दम मिल जाता है जिसमें अपिर्को को चन्द्र की सन्तान कहा है (१० १४) ये तथ्य भारतीय इतिहास के मूले हुए धुँधले बिजों में नया रंग भरते हैं। सभा पर्व के अनुसार तो मध्य एशिया के किसी भाग में अपिर्को के साथ अजुन की करारी भिन्नता हुई थी। मध्य एशिया में यारकन्द नदी के आसपास कहीं अपिर्को का स्थान होना चाहिए। तब परम अपिर्को का देश उसके भी उत्तर में रहा होगा जहाँ से यूचियों का मूलारम्भ हुआ था।

कुषाणकाल में कनिष्क ने मध्यएशिया के कौशेय पथों पर और भारत के महान् उत्तर पथ पर एक साथ ही अधिकार कर लिया था। उससे पहले यह सौभाग्य इतने पूर्ण रूप में और किसी राजा को प्राप्त न हुआ था। इसी का यह फल हुआ कि पूरब की ओर तारीम की घाटी में और पच्छिम की ओर सुग्ध में भारतीय संस्कृति धर्म और व्यापार नए वेग से बह गए। इसी युग में यहाँ बाब्रीजिदि और उसमें लिखे ग्रन्थ भी पहुँच गए। कनिष्क के समय मथुरा कला का सबसे बड़ा केन्द्र था। अभी हाल में इसी पुरातत्व वेत्ताओं ने मुरघ सोमरियाना के तिरमिज नगर में खुदाई करके कई बौद्ध विहारों का पता लगाया जिनमें मथुरा कला से प्रभावित मूर्तियाँ मिली हैं (१० १७)। मध्यएशिया के पूरब और पच्छिम दोनों ओर के मार्गों पर मथुरा कला का यह प्रभाव टकसाळी रूप में पड़ा। कपिशा में भी इस समय कुषाणों का ही आधिपत्य था और वहाँ भी खुदाई में प्राप्त हाथी शीत के फलकों पर (जो आभूषण रखने की दान्त मंजूषाओं या दान्त समुद्रों में लगे थे) मथुरा शैली का प्रभाव अत्यन्त शुद्ध है, यहाँ तक कि कुछ विद्वान् उन्हें मथुरा का ही बना हुआ समझते हैं। कुषाण युग में रोम के साथ भारत का व्यापार भी अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था। पर इस में समुद्री साधनवाहों को सम्भवतः अधिक श्रेय था। घटसाळा की जहाँ प्राचीन बौद्ध स्तूप के अवशेष मिले हैं पहचान शिखा लेकों में वर्णित कंटकसेल (टालमी के कंटिकोस्मस) से निकाल लेना भारतीय भूगोल की एक भूजी हुई महत्वपूर्ण कड़ी का उद्धार है (१० १०१)। खेलक का यह कहना नितान्त सत्य है कि पूर्वी समुद्र तट पर बौद्ध धर्म के ऐश्वर्य का कारण व्यापार था और उन्हीं बौद्धधर्मानुयायी व्यापारियों की मदद से अमरावती, नागाहुनी कोण्डा और जगद्वपेट्ट के विशाल स्तूप खड़े हो सके। इसी भौति परिचयी समुद्र के कच्चे में भाजा, काळा, और कन्हरी के महाचैत्य एवं विहार उन्ही बौद्ध व्यापारियों की उदारता के परिणाम थे जो रोम साम्राज्य के साथ व्यापार करके धनकुबेर ही बन गए थे। पाँचवे शताब्दी में इस बात का अच्छा चित्र प्रस्तुत किया गया है कि अपिर्क, शक कुषाण कंक आदि विदेशी विजेताओं ने भारत के महापथ पर किस प्रकार हाथ पैर फैलाए और देश के भीतर घुसते हुए उत्तरापथ और दक्षिण में भी घुस आए, और किस प्रकार सातवाहनों ने राष्ट्रीय प्रतिरोध की प्चजा उठाए रक्खी पर

अन्त में वे भी बुझ गए। सातवाहनों का शकों के साथ लम्बा संघर्ष राजनीतिक होने के साथ-साथ व्यापारिक स्वरूप पर भी आश्रित था। सातवाहन नासिक-कल्याण में और शक भरकण्ड सुपारा में डटे बैठे थे और ये स्थान प्रतिस्पर्धियों के बलाबल के अनुसार एक-दूसरे के हाथ से निकलते रहते थे। इस प्रकरण में एक नया ऐतिहासिक तथ्य यह सामने रक्खा गया है कि कनिष्क का एक नाम चन्द्रन भी था, और पेरिप्लस के अनुसार चन्द्रन का आधिपत्य भरकण्ड पर हो गया था। ज्ञात घटनाओं के साथ सिल्वो जेवी की इस नई खोज की पटरी नहीं बैठती थी; किन्तु एक बात इसकी सच्चाई बताती है। यह यह कि मथुरा के पास माट ग्राम के देवकुल में कनिष्क की मूर्ति के साथ चण्डन की मूर्ति भी मिली है। आज तक इसका युक्तियुक्त समाधान समझ में नहीं आया था। पेरिप्लस के इस बचन से कि सन्द्नेस चन्द्रन या कनिष्क) भरकण्ड का नियंत्रण करता था यह बात मानी जा सकती है कि कनिष्क और उज्जयिनी के पश्चिमी महाजनपद चण्डन का कोई अतिनिकट का सम्बन्ध था, और चण्डन के द्वारा ही कनिष्क का नियंत्रण भरकण्ड सुपारा के प्रदेश पर हो गया था। कनिष्क अश्वेद और चण्डन की मूर्ति युवक की है। चण्डन कनिष्क का लहुरा साम-सामयिक और अति निकट का पारिवारिक सम्बन्धी हो सकता है। यह भी सम्भव है कनिष्क के कुल के साथ उसका जाति सम्बन्ध हो। सिल्वो जेवी ने भी जो प्रमाण यह सिद्ध किया था कि २५ और १२० ई० के बीच में किसी समय यू-बी दक्खिन में थे (पृ० १०६) यह बात भी व्याकरण साहित्य के उस प्रमाण से मिल जाती है जिसमें महिषिक जनपद और ऋषिक जनपदों के नामों का जोड़ा एक साथ कहा गया है (काशिका, सूत्र ३।१।२२, ऋषिके पुं जातः ऋषिकः ; महिषिके पुं जातः माहिषिकः)। श्री मीराजी जी ने महिषिक की पहचान दक्षिणी हैदराबाद और ऋषिक की खानदेश से की है। वस्तुतः यहाँ पाँच जनपदों का एक गुच्छा था। खानदेश में ऋषिक, उसके ठीक पूरब अकोला अमरावती (विरार) में विदर्भ ऋषिक के दक्षिण में औरंगाबाद जिले में अजिण्ठा की चार बड़ी हुई सछादि की बाढ़ी से लेकर गोदावरी तक मूलक, गोदावरी के दक्षिण अहमद नगर का प्रदेश अहमक और उसके पूर्व-दक्षिण में महिषिक था। गौतमी पुत्र सातकर्णिक के नासिक जेख में ऋषिक, अरमक, मूलक, विदर्भ का साथ उल्लेख भी ऋषिकों की दक्षिणी शाखा के प्रमाणों की एक अतिरिक्त कड़ी है। रामायण की धिक्का काण्ड में भी दक्षिण दिशा के देशों का पता बताते हुए सुग्रीव ने विदर्भ, ऋषिक और महिषिक का एक साथ उल्लेख किया है (विदर्भां नृपिकांश्चैव रम्यान्माहिषिकानपि, कथिक्का ० ४१।१०)। अचरय ही रामायण का यह प्रसंग जिसमें सुवर्ण द्वीप और जावा के ससराओं का भी उल्लेख है, शक-सातवाहन युग के भारतीय भूगोल का परिचायक है। सातवाहनों के समकालीन पाण्डवों की प्राचीन राजधानी कांळक (तिजवली में ताम्रपर्णी नदी पर) कही गई है। इसी समय जावा आदि द्वीपान्तों से कालीमिर्च का बहुत व्यापार चल गया था जो मलय के पूर्वी तट पर स्थित धर्म पत्तन नखोंन धर्मराट = धर्मराज नगर) बन्दरगाह से लंदन भारत में कोल्लके के समुद्र पत्तन में उतरती थी और फिर उसका चालान भारतीय व्यापारियों द्वारा अरबों के हाथों रोम साम्राज्य के लिये होता था। इसकी बहुत सुन्दर स्मृति 'कोल्लक' और 'धर्मपत्तन'—कालीमिर्च के इन दो पर्यायों में बच गई है जो नाम उत्तर भारत के बाजारों में भी पहुँच गए थे जहाँ से अन्तर कोष के खेलक ने उनका संग्रह किया।

छठे अध्याय में भारत और रोमन साम्राज्य के बीच में व्यापार की कहानी बड़ी ज्ञान बर्धक है जिसमें पेरिप्लस और टाबली के ग्रन्थों से भरपूर सामग्री का संकलन किया गया है। सिन्ध के सातमुओं में बीच के मूल पर स्थित बर्बरिकन बन्दरगाह (सं० बर्बरिक के नाम पड़ने का कारण वहाँ से बर्बर या अफ्रीका के देशों की यात्रा का होना था। इसका नाम पाथिनि के तक्षशिलादि ग्रन्थ (४।३।६३) में भी आया है। सौराष्ट्र के बाबरियों का मूल रूप बाबरिय है जो व्यापारिक का अपभ्रंश है। नासिक की गुफाओं में प्रयुक्त रमनक शब्द रोमनों के लिये ही जान पड़ता है। एम्पोरियम के लिये 'एटभेदन' और एम्पोटेरियम के लिये 'समुद्रस्थान पड़न' शब्द अतीव उपयुक्त थे। इस अध्याय में मोतीचन्द्र जी ने पेरिप्लस में प्रयुक्त कोटिम्बा (Cotymba), त्रप्पा (Trappaga) इन दो भारतीय जहाजों के नामों का उल्लेख किया है जो भद्रकाल के समुद्री तट के आसपास विदेशी जहाजों के साथ सहयोग करते थे। अन्ति ३ मार्च १९५३ के पत्र में उन्होंने मुझे सूचित किया है कि जैनों की अंग विज्ञान नामक प्राचीन पुस्तक में ये नाम मिल गए हैं—'पेरिप्लस ने अपने विवरण में Colymba, Trappaga, Sangar, और Colondia नामक भारतीय जहाजों के नाम दिए हैं। अभी तक मुझे इनके पर्यायवाची शब्द भारतीय साहित्य में नहीं मिले थे। 'अंगविद्या' ने यह गुप्त सुझा दी। पाठ है—

'यावापोतो कोटिबो तप्पको एल्लो पिडिका कांवेलेतु' भो कुंभो दती वेति' । तत्त्व महावकासेसु याविपोतो वा विन्नेया, मन्किमकायेसु कोटिबो सांघाडो प्लवो तप्पको वा विन्नेया, मन्किमायांतरैसु कट्ठंवा वेळू वा विण्णोयो, पच्चवरकायेसु तु'वो वा कुंभो वा दती वा विण्णोवाह ।' (अंगविज्ञान हस्तलिखित प्रति, पृष्ठा ११-१२ ।

इस तालिका में यूनानी शब्दों के पर्याय भरे पड़े हैं, यथा—

कोटिब = Cotymba

तप्पक = Trappaga

सांघाड = Sangar

कोल्ल = Colyndia

इस उद्धरण से जहाजों की छोटी चार किस्मों का परिचय मिलता है। यथे आकार (महावकास) जहाज याव या पोत, उससे मँकले आकार (मन्किमकाय) के कोटिब, सांघाड प्लव, और तप्पक, उससे भी छोटे बिचले आकार के (मन्किमायांतर) कट्ठ और वेळ, एवं सबसे छोटे पच्चवरकाय) जहाज तु'व, कुंभ या दती कहलाते थे। श्रीमोतीचन्द्रजी की यह नई पहचान रोमांचकारिणी है। इसी अंगविज्ञानग्रन्थ में यूनान ईरान और रोम देश की देवियों की सूची का एक श्लोक है। उसमें पैलासग्रमीनी को अपना, ईरानी अनाहिता को अयाहिता, और आर्तैमिस को तिमिस्सकेशी कहा गया है। अहराण (व) ति यूनानी देवी अक्रोशाहति, तिथली रोमन डायना ज्ञात होती है। साजि चन्द्रमा की देवी सेलिनी (Seleni) हो।

१ अपता अणादि (हि) ता वति अहराणति वा वेदे।

रन्म तिमिस्सकेशि ति तिथली सातिमालिनी ॥ पृष्ठा ३०

पेरिप्लस में सिहल का तत्कालीन नाम पालिसिमुण्ड सं० पारे समुद्र का रूप है जो महाभारत में आया है। इसी प्रकरण में उस चाँदी की तस्तरी की ओर भी ध्यान दिलाया गया है जिस पर भारतमाता की मूर्ति अंकित है और जो एशियामाइनर के गॉव जम्पस्कस से प्राप्त हुई थी और अंकारा के संग्रहालय में सुरक्षित है (दे० पत्रिका विक्रमांक, ३६-४२)। भारत के बने सुगन्धित शेलरक या 'गन्ध मुकुट' कभी रोम तक जाते थे। (पृ० १२७)। रोम और यूनान देश का स्त्रियों उन्हें सिर पर पहनती थीं ये गन्ध-मुकुट कपड़े के फूल काटकर और युक्ति पूर्वक उन्हें इत्रों में तर करके बनाए जाते थे जिससे दीर्घ काल तक वे सुरक्षित रहसकते थे। मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित कम्बोजिका स्त्रीमूर्ति मस्तक पर इसी प्रकार का गन्ध मुकुट पहने हैं।

प्लिनी ने भारत को रत्नधात्री कहा था (पृ० १२८)। इसी के साथ वह अमर वाक्य भी स्मरणीय है जो कई शताब्दी बाद के एक अरबी व्यापारी ने हजरत उमर के प्रश्न करने पर कहा—'भारत की नदियाँ मोती हैं, पर्वत लाल हैं और वृक्ष इत्र हैं।' (पृ० २०६)।

सातवें अध्याय में संस्कृत और बौद्ध साहित्य के आधार पर पहली से चौथी सदी ईसवी के भूगोल और व्यापार सम्बन्धी कई महत्वपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया गया है जिनमें से कई पहचान लेखक को मिली हैं। महानिर्देश, मिलिन्दपन्ह, महाभारत और वसुदेव हिंदी के भागों की विस्तृत व्याख्या पढ़नेयोग्य है। आश्चर्य की बात तो यह है कि जिन विदेशी बेलान्तपुरों (बन्दरगाहों) के नाम यूनानी और रोमन लेखकों के वर्णन में हम पढ़ चुके हैं उनके नामों का भारतीय साहित्य में भी उल्लेख पहली बार ही हम देखते हैं। वेसुंग, तमलि (तामलिग द्वीप), बंग (बंका द्वीप), गंगण (जर्जीबार) की पहचान इस प्रकरण को समझने में सहायक है। वसुदेव हिंडी के कमलपर की पहचान 'हमर' या अरबी 'कमर' के साथ बहुत ही उपयुक्त है। सभा पर्व के पूना से प्रकाशित संशोधित संस्करण में अंताली, रोमा और यवनपुर (सिकन्दरिया ये तीन नामों का पाठ अब निश्चित हो गया है। ये विदेशी राजधानियाँ थीं जिनके साथ भारत का व्यापार सम्बन्ध रोमन युग में स्थापित हो चुका था। कम्बुज (कमल) से सिकन्दरिया और रोम तक का विस्तृत समुद्री तट भारतीय नाविकों के लिए हस्तमलकवत् हो गया था। उनके इसी विराट् पराक्रम से वाण की उप कल्पना का जन्म हुआ जिसमें अद्भुत साहसी वीर के लिए वसुधा को घर के आँगन का चवूतरा और समुद्र को पानी की छोटी गूल कहा गया है (अंगनवेदी वसुधा कुल्या जलधिः वसुमीकरच सुमेरुः, हर्ष चरित)। उत्तर के ऊँचे पर्वत और दक्खिन के चौड़े सागर साहसी यात्रियों के लिए रुकावट न रहकर यात्रा के लिये मानों पुल बन गए थे। मध्य एशिया और हिन्दोशिया दोनों ही भारतीय संस्कृति की गीढ़ में आ गए। पूर्ण सुपारग और कोटिर्क्य नामक समुद्री व्यापारियों के अवदान भारतीय नौप्रचार विद्या और जलधि-संतरण कौशल के दिव्य कीर्ति स्तम्भ हैं महाभारत ग्रन्थ में सुरक्षित २५ श्रेणियों, २२ श्रेणिमहत्तरों एवं लगभग १० शिलशयतनों की सूची कारीगरों की उस जहजहाती दुनिया का रूप खड़ा करती है जो व्यापार सम्बन्धी वस्तुओं की सच्ची धाय थी।

दक्षिण भारत का तामिल साहित्य भी समुद्री व्यापार के विषय में अच्छी जानकारी देता है। वस्तुतः सिद्ध प्याधिकार नामक तामिल महाकाव्य में कावेरी पत्तन (अपर नाम

गुहार) नामक बन्दरगाह, उसके समुद्र तट, गोदाम विदेशी सौदागर और बाजारों का जैसा वर्णन है वैसा भारतीय साहित्य में अन्यत्र कहीं नहीं मिलता। बर्बरक, मरुकण्ड, मुरचीपत्तन, दन्तपुर, ताम्रजिप्सी आदि के विशाल जलपत्तन किसी समय कावेरी पत्तन के ही अवलम्बित संस्करण थे। मुचिरी के जिल्हों ताम्रजिप्सी कवियों का यह अमर चित्र देखने योग्य है। मुचिरी के बड़े बन्दरगाह में यवनों के सुन्दर और बड़े जहाज केरल की सीमा के अन्दर फैमिल पेरियार नदी का पानी काटते हुए सोना लाते हैं। सोना जहाजों से डॉकियों पर लादकर लाया जाता है। घरों से वहाँ बाजारों में मिर्च के बोरे लाए जाते हैं जिन्हे व्यापारी सोने के बदले में जहाजों पर लादकर ले जाते हैं। मुचिरी में लहरों का संगीत कभी बन्द नहीं होता।' पृ० १५०)।

नव अध्याय में जैन-साहित्य की चूर्णियों और निरुक्तियों से साथ और उनके माल के सम्बन्ध में कई बातें महत्वपूर्ण ज्ञात होती हैं। साथ पाँच तरह के होते थे (पृ० १६६) और उनके माल के वर्गीकरण के चार भेद थे। आवश्यक चूर्णियों में दो हुई सोलह इबाधों की सूची एकदम नाविकों की शब्दावली से ली गई है जिसके कई नाम बाद के अरबी भौगोलिक की सूची में भी मिल जाते हैं। बन्दरगाह के जिल्हों ज्ञाताधर्म में पोतपत्तन शब्द है। अन्यत्र जलपट्टन और वेजातट शब्द आ चुके हैं। कालिय द्वीप की पहचान जंजोबार के साथ संभाव्य जान पड़ती है। व्यापारियों ने राजा से वहाँ के घासीदार घाँकों या जेबों का जब जिक्र किया तो राजा ने विशेष रूप से उन्हें मँगा भेजा। व्यापार के लिये जहाज में कितनी तरह का माल भरा जाता था इसकी भी बड़िया सूची शाताधर्म की कहानी में है, विशेषतः कई प्रकार के बाजे खिलाने और सुगंधित तेलों के कुप्पे उल्लेखनीय हैं। अन्तर्गद्दसाधो ने उद्धृत उन विदेशी दासियों की सूची भी रोचक है जो बंध प्रदेश फागना, यूनान, सिहल, अरब, बहल और फारस आदि देशों से अन्तःपुर की सेवा के लिये भारतवर्ष में लाई जाती थीं। यह सूची सिहल से पामीर और वहाँ से यूनान तक की उस पृष्ठभूमि को व्यक्त करती है जो ईसवी आरम्भिक शतियों में भारतीय व्यापारिक और सांस्कृतिक प्रभाव के अन्तर्गत थी।

गुप्तयुग में विदेशों के साथ जल-वाणिज्य से धन उपार्जित करने का भाव लोगों में व्याप्त हो गया था। बाण के अनुसार जल-यात्रा से लक्ष्मी सहज में खिच आती है (अध्याय १०) श्रीसनाकर्षणं हर्षचरित १८६। मृच्छकटिक के एक नाट्य में मार्गो युग की आरम्भा बोल उठो है। विदूषक चारुदत्त के कहने से वसन्त सेना के आनूप्य कौटिल्य उसके घर गया। वहाँ आठ प्रकोष्ठों वाले वसन्त सेना के भवन का वैभव देखकर उसकी आँखें चौंधिया गईं और चेटी के सामने उसके मुख से निकल पड़ा—“भवति किं युष्माकं यानयात्राणि बहन्ति ?” अर्थात् ‘क्या आपके वहाँ जहाज चलते हैं (जो इतना वैभव है) ?’

गुप्तयुग के महात्मासार्थबाह जल-दीपान्तरी से स्वर्ण-रत्न कमाकर लौटते, तब सवा पाव से लेकर सवामन सोने का नान करते थे। मत्स्य पुराण के पौबश महादान प्रकरण में सप्त समुद्र महादान की भी गिनती है। जिन कुशों के जल से ये दान संकल्प किए गए वे सप्त समुद्र रूप कहलाते थे। उस काज के प्रधान व्यापारी नगर मथुरा, काशी, प्रयाग, पाटलिपुत्र में अभी तक ऐसे सप्त समुद्र रूप बचे हैं। भीटा से प्राप्त एक मिट्टी की मोहर पर नाव में खड़ी हुई लक्ष्मी की मूर्ति सामयिक व्यापार से मिलनेवाली श्री लक्ष्मी

की प्रतीक है। मोतीचन्दजी ने पहली बार ही उसके विशेष अर्थ की ओर यथार्थ ध्यान दिलाया है। गुप्तयुग में समुद्र के साथ देशवासियों के घनिष्ठ परिचय और सम्पर्क के अन्वय अभिप्राय साहित्य और लेखों में भरे हुए हैं। गुप्त सम्राट् समुद्र गुप्त का नाम और उनके लेखों में 'चतुर्दधि सज्जितस्वादित यश' विशेषण, कालिदास की 'पयोधरीभूत चतु समुद्रां शुगोप गोरूप धरामिवोर्वाम्' की सरस कल्पना (चार समुद्र भारत की पृथिवी के चार स्तन हैं), 'निःशेष पीतोऽस्मिन् सिन्धुराजः' (समुद्र क्या हैं मानो देश को अदृश्य यात्रा प्रवृत्ति के प्रतीक अगस्त्य ने एक बार आचमन करके उन्हें पुनः उद्वेल दिया है), और 'अष्टादश द्वीपनिखात युरः'—ये गुप्त युग के लोकन्यायी अभिप्राय थे।

सातवीं-आठवीं शतियों में भारतीय व्यापार के और भी पंख लगा गए। आरम्भ में ही वाण्य की पृथिवी के गले में अठारह द्वीपों की 'मंगलक माला' पहनाते हुए हम पाते हैं। उन्होंने 'सर्वदीपान्तर संचारी पादलेप' की कल्पना का भी उल्लेख किया है (हर्षचरित उच्छ्वास ६)। आठवीं शती के आते-आते भारत के तगड़े प्रतिद्वन्द्वी अरब के नाविक मैदान में आ गए। घोड़ों की तिजारत तो आठवीं शती से उन्हीं के हाथ में चली गई। संस्कृत के नामों की जगह अरबी नाम बाजारों में चल गए। आठवीं शती के लेखक हरिभद्र सूरि ने अपनी समराइच कहा में पहली बार अरबी नाम 'वोल्जाह' का प्रयोग किया है। उसके बाद हेमचन्द्र के समय तो घोड़ों के देशी नामों को धत्ता बताकर अरबी नामों ने घोड़ों के बाजार की भाषा पर दखल कर लिया था। हेमचन्द्र को यह भी पता न रहा कि वोल्जाह सेराह, कोकाह, गियाह आदि शब्द विदेशी हैं, उन्हें यहीं का शब्द मानकर संस्कृत की धातु-प्रत्ययों से उनकी सिद्धि कर डाली (अभिधानचिन्तामणि ४।३०३-७)। भारत और पच्छिम की इस गर्जक औंधी की कशमकश बढ़ती ही गई और ११वीं शती तक वह कालिका वात दिल्ली कन्नौज काशी तक छा गई। दक्षिणापथ के बल्लभराज राष्ट्रकूट तां अरबों के मित्र थे; पर उत्तर में गुर्जर प्रतिहारों ने ४वीं-७वीं शती में स्थिति को सम्भाला, उनके प्रताप से विदेशी थरते थे, और ११वीं-१२वीं शतियों में चौहान और गाहडवाज राज्यों ने उत्तरापथ को विदेशियों की बाढ़ से बचाए रक्खा। किन्तु इस प्रसंग में सबसे उज्ज्वल कर्म तां काबुल और पंजाब के हिन्दू शाहि राजाओं का था जो भारत के सिहद्वार के ग्यौडे पर राजनी के समय तक डटे रहे, और जिनके दूरते ही उत्तर का फाटक खुल गया। फिर भी विदेश की इस काली आन्धी को सिंध से काशी तक पहुँचने में साढ़े चार सौ बरस लगा गए, जब कि अन्य देशों में बात-की-बात में उसने सब कुछ धुरियाधाम कर दिया था।

श्री मोतीचन्द्र जी का चमकता हुआ सुम्भाव बम्बई के पास एकसर गाँव में मिले हुये छः बीरगलों (बीरों के कीर्ति पाषाण) पर अंकित दृश्य की यथार्थ पहचान है। इनमें चार पर समुद्री युद्ध का चित्रण है। उन्होंने दिखाया है कि मालवा के प्रसिद्ध भोज ने १०१६ के लगभग जो कोंकण की विजय की थी, उसी प्रसंग में कोंकण के राजाओं के साथ हुई समुद्र लड़ाई का इनपर अंकन है। भोज के युक्तिकवपतरु ग्रन्थ में जहाजों के आँखों दखे वर्णन और लम्बाई-चौड़ाई के विवरण की संगति भी इस पृष्ठभूमि में उन्होंने सुलझा दी है [पृ० २१९, २२६]।

भारतीय नौनिर्माण और नौ प्रचार से सम्बन्धित अनेक पारिभाषिक शब्दों का

ज्ञान भी इस उत्तम ग्रन्थ से मिलता है। नाव के भागों का हिस्सा (अङ्गरेजी बो) गलही, माथा, मुख कहा जाता था। गलही या मुखौटे की विशेष सजावट की जाती थी और आज भी कुछ नावों में वह देखी जा सकती है। मंज के अनुसार जहाजों के मुखों पर व्याघ्र, हाथी, नाग, सिंह आदि के अलंकरण बनते थे (पृ० २१४)। काशी के मल्लाह इसे 'गिलास' कहते हैं जिसका शुद्ध रूप मास था। संस्कृत की वास्तु शब्दावली में मास का अर्थ था 'सिंहमुख'। माथा के लिए जैन साहित्य में 'पुराण' भी आया है। अन्य शब्द इस प्रकार हैं—माथा काठ (outrigger), लहर तोड़ (washbrake), घोंदी (portside), पाल की टेढ़ी लकड़ी (boom), बगली बौंस या पलखियाँ (floatings), मान्ना (deck) जिसे पाटातान भी कहते हैं), जाली grate), पिछाड़ी (stern), पुलिया (derrick), मत्तवारण (deck house) अग्र मन्दिर (cabin), दुरली (coupling block), गुनरखा सं० गुणवृत्तक, नौकृदसट), मस्तूल (mast), कर्णधार, पतवारिया आदि। नाव और जहाजों के अनेक शब्द अभी तक नदी और समुद्र में काम करनेवाले कैयतों से प्राप्त किए जा सकते हैं। त्रिवेणी संगम के मैक मल्लाह ने जो अपने को गुह निपाद का वंशज मानता है कहा कि पहले संगम पर एक सहस्र नावों का जमघट रहता था। पटेला, महेजिया, डकेला, डलौकी, डोंगी, बजरा, मरहनी, भौजिया, पनसुइया, कटर (पनसुइया से भी छोटी), भंडरिया आदि भौति-भौति की नावें नदियों में चहल पहल रखती थीं। उससे प्राप्त नाव के कुछ शब्द ये हैं—बंधेज (नाव के ऊपर की दो बड़ी बलियाँ), बत्ती (दोनों बंधेजों के नीचे समान्तर लगी हुई लम्बी लकड़ियाँ), हुमास सवे हुप डंडे जो पेंदी से बंधेज तक लगते हैं), बत्ता (दोनों ओर के हुमासों के बीच में लगनेवाली आधी लकड़ियाँ), गलहा (नाव के सिक्के का भाग जिस पर बैठकर नाविक डोंड चलाता है), बवौड़ी। लोहे का बिच्चू जिसकी चूड़ी में विरोकर डोंड चलाया जाता है), बाहा (वह रस्ती जिसमें डोंड पहनाया रहता है), पत्ता (डोंड का अगला भाग), सिक्का या गिरी (नाव की गलही पर नक्काशीदार चंद्र या फुलना), गून वह पतली लम्बी रस्ती जिस से नाव ऊपर की ओर खींची जाती है), जंघा (गुनरखा बांधने की रस्ती), फोंदिया (काठ का बक्सा जिसमें गुनरखा खड़ा किया जाता है), चिरनी (चकरी या पुली), डजान (सं० डजान, पानी के छड़ाव की ओर), भाटी (बहाव की ओर), गिलासरटी (सं० ग्रासपट्टी, डकेरी गलहों की लकड़ी, इत्यादि) समुद्रतट के पास प्रयुक्त शब्द और भी महत्वपूर्ण हैं, जैसे पाटन गुजराती) और मलका (मराठी) अ० peel, गभवा (leak), लोट (lee), दामनवाड़ा (म०; leeward), बमयी गु०) बहली (म०), jettison, पूरा hold, hatchway ; म० पलट), काठपाड़ा (म०; hull ; गु० लोह), चबूतरा bunk), पाठयूँ (board), तल्लूँ (bottom), फुरदा (breakwater), भरती (burden), कलकत (caulking), गलवत (craft), गलरी (गु०; derrick, crane) गोदी (म०; dockyard ; कत (forward deck, forecastle) नूर (freight), नूरचिट्ठी bill of lading), सुकू (helm), होक यंत्र (म०; compass), कवाला (Charter Party), पायर (dunnage), छुलका (pier), इत्यादि।

जल सार्थवाहों के अभिन्न सहयोगी भारतीय नाविक और महानाविकों की कीर्ति गाथा जाने बिना भारतीय इतिहास की कथा को समझा ही नहीं जा सकता । हमारे इतिहास के अनेक छोर द्वीपान्तर और पश्चिमोद्भि के देशों के साथ जुड़े हैं । उसका श्रेय भारतीय नाविक कर्मकरों (खलासियों) को था । मिलिन्द प्रश्न के अनुसार कर्त्तव्यनिष्ठ दृढ़चित्त भारतीय नाविक सोचता था—'मैं भृत्य हूँ और अपने पोत पर वेतन के लिये सेवा करता हूँ । इसी जलयान के कारण मुझे भोजन-वस्त्र मिलता है । मुझे आलसी-प्रमदी नहीं होना चाहिए । मुझे खुस्ती के साथ जहाजचलाना चाहिए ।' (पृ० १४७) ये विचार भारतीय जल-संचार की दृढ़ भिति थे ।

भारतीय सार्थ घर में बैठे हुए लोगों को बाहर निकलकर वातातपिक जीवन बिताने के लिये प्रबल आवाहन देता था । सार्थ की यात्रा व्यक्ति के लिये भार या बोझिल न होती थी । उसके पीछे आनन्द, उमंग, मेलजोल, अन्यान्य हितबुद्धि की सरस भावनाएँ छाई रहती थीं । सार्थ के इस आनन्द प्रधान जीवन की कुँजी महाभारत के उस वाक्य में मिलती है जो यज्ञ प्रश्न के उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा था—

साधेः प्रयसतो मित्रं भार्या मित्रं गृहसतः (वनपर्व २६७/४५)

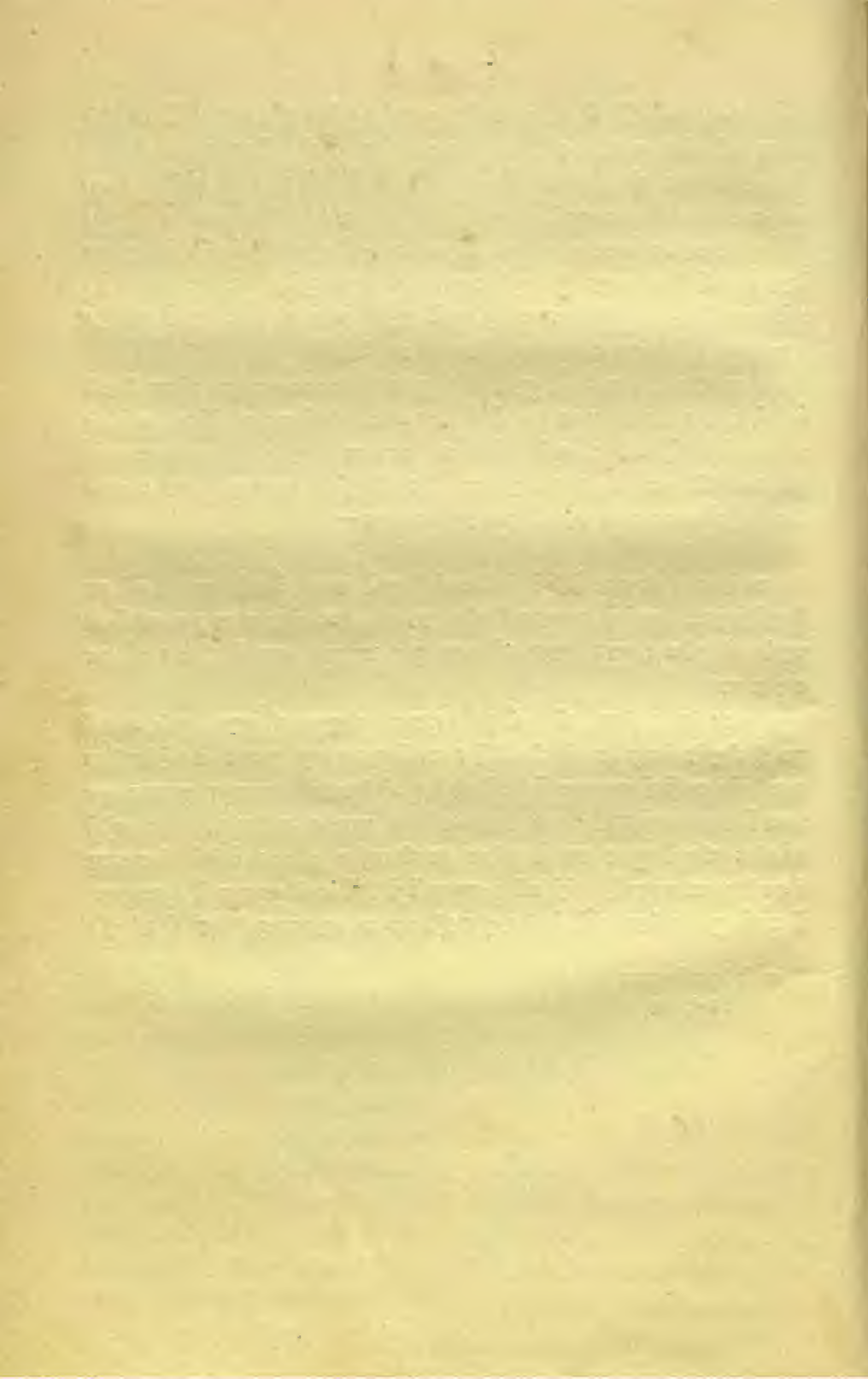
घर से बाहर की यात्रा के लिये जो निकलते हैं सार्थ उनका वैसाही सखा है जैसे घर में रहते हुए स्त्री । सार्थ के वातावरण में जीवन-रस का अक्षर्य होता बहता हुआ अनेकों को अपनी ओ खींचता था । उसका उमंगता हुआ सख्यभाव यात्रा के लिये मनको मथ डालता था ।

भारतीय साहित्य की बौद्ध-जैन-ब्राह्मण, संस्कृत-पाली-प्राकृत आदि धाराएँ एक ही संस्कृति के महाक्षेत्र को सींचती हैं । उनमें परस्पर अटूट सम्बन्ध है । ऐतिहासिक सामग्री और शब्दों के रत्न सब में बिखरे पड़े हैं । मोतीचन्द्रजी का प्रस्तुत अध्ययन इस विषय में हमारा मार्ग प्रदर्शन करता है कि न केवल भारतीय साहित्य के विविध अंगों का बल्कि चीन से यूनान तक के साहित्य का भी राष्ट्रीय इतिहास के लिये किस प्रकार दोहन किया जा सकता है । ऐसे अनेक अध्ययनों के लिये अभी अवकाश है । कालान्तर में उनके सुघटित शिखा खंडों से ही राष्ट्रीय इतिहास का महाप्रासाद निर्मित हो सकेगा ।

काशी विश्वविद्यालय
१९०२-२३

}

वासुदेवशरण



सार्थवाह

[प्राचीन भारत की पथ-पद्धति]

1875

[WITH-TO THE BOOK]

पहला अध्याय

प्राचीन भारत की पथ-पद्धति

संस्कृति के विकास में भूगोल का एक विशेष महत्त्व है। देश की भौतिक अवस्थाएँ और बदलती आबहवा मनुष्य के जीवन पर तो असर डालती ही हैं, साथ-ही-साथ, उनका प्रभाव मनुष्य के आचरण और विचार पर भी पड़ता है। उदाहरण के लिए, रेगिस्तान में, जहाँ मनुष्य को प्रकृति के साथ निरन्तर लड़ाई करनी पड़ती है उसमें एक स्वे स्वभाव और लूटपाट की आदत पैदा होती है जो उष्ण-कटिबन्ध में रहनेवालों की मुलायम आदतों से सर्वथा भिन्न होती है; क्योंकि उष्ण-कटिबन्ध में रहनेवालों की ज़रूरियात प्रकृति आसानी से पूरा कर देती है और इसलिए उनके स्वभाव में कर्कशता नहीं आने पाती। देश की पथ-पद्धति भी उसकी भौतिक अवस्थाओं पर अवलम्बित होती है। पहाड़ों और रेगिस्तानों से होकर आनेवाला रास्ता कठिन होता है, पर वही रास्ता नदी की घाटियों और खूले मैदानों से होकर सरल बन जाता है।

देश की पथ-पद्धति के विकास में कितना समय लगा होगा, इसका कोई अंदाजा नहीं कर सकता। इसके विकास में तो अनेक युग लगे होंगे और हजारों जातियों ने इसमें भाग लिया होगा। आदिम किरन्दों ने अपने डोर-बंदों के चारे के फिराक में घूमते हुए रास्तों की जानकारी क्रमशः बढ़ाई होगी, पर उनके भी पहले, शिकार की तालाश में घूमते हुए शिकारियों ने ऐसे रास्तों का पता चला लिया होगा जो बाद में चलकर राजमार्ग बन गये। खोज का यह काम अनेक युगों तक चलता रहा और इस तरह देश में पथ-पद्धति का एक जाल-सा बिछ गया। इन रास्ता बनानेवालों का स्मरण वैदिक साहित्य में बराबर किया गया है। अग्नि की पथकृत इभील्लिप कहा गया है कि उसने बनचोर जंगलों को जलाकर ऐसे रास्ते बनाये, जिनपर से होकर वैदिक सभ्यता आगे बढ़ी।

यात्रा के सुख और दुःख प्राचीन युग में बहुत-कुछ सड़कों की भौगोलिक स्थिति और उनकी सुरक्षा पर अवलम्बित थे। जब हम उन प्राचीन सड़कों की कल्पना करते हैं जिनका हमारे विजेता, राजे-महाराजे, तोर्ययात्री और घुमक्कड़ समान रूप से व्यवहार करते थे तो हमें आधुनिक पक्की सड़कों की, जिनके दोनों ओर लहलहाते खेत, गाँव, कस्बे और शहर हैं, भूल जाना होगा। प्राचीन भारत में कुछ बड़े शहर अवश्य थे; पर देश की अधिक बस्ती गाँवों में रहती थी और देश का अधिक भाग जंगलों से ढका था जिनमें से होकर सड़कें निकलती थीं। इन सड़कों पर अन्तर जंगली जानवरों का डर बना रहता था, लुटेरे यात्रियों के ताक में लगे रहते थे और रास्ते में सीधा-सामान न मिलने से यात्रियों को स्वयं अन्न का प्रबन्ध करके चलना पड़ता था। इन सड़कों पर अकेले यात्रा करना खतरे से भरा होता था और इसीलिए 'सार्थ' चलते थे जिनकी मुख्यवस्था के कारण यात्री आराम से यात्रा कर सकते थे। सार्थ के साथ होने पर भी अनेक बार व्यापारी, दुर्घटनाओं के शिकार हो जाते थे। पर इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी उनकी यात्रा कभी नहीं रुकती थी। ये यात्री केवल व्यापारी ही न

होकर भारतीय संस्कृति के प्रसारक भी थे। उत्तर के महापथ से होकर इस देश के व्यापारी मध्य एशिया और 'शम' तक पहुँचते थे और वहाँ के व्यापारी इसी सड़क से होकर इस देश में आते थे। इसी सड़क के रास्ते समय-समय पर अनेक जातियाँ और कबीले उत्तर-पश्चिम से होकर इस देश में पँटे और कुछ ही समय में इस देश की संस्कृति के साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर भारत के वाशियों में ऐसा घुल-मिल गये कि वृद्धि पर भी उनके उद्गम का आज पता नहीं चलता। पथ-पद्धति की इस महानता के कारण यह आवश्यक है कि हम उसका पूर्ण रूप से अध्ययन करें।

इस देश की पथ-पद्धति जानने के पहले इनके कुछ भौगोलिक आधारों को भी जान लेना आवश्यक है। भारत के उत्तर-पूर्व में जंगलों से ढँकी पहाड़ियाँ और घाटियाँ हैं, जो मंगोल जाति को भारत में आने से रोकती हैं। फिर भी इन जंगलों और पहाड़ों से होकर मणिपुर और चीन के बीच एक प्राचीन रास्ता था, जिस रास्ते से चीन और भारत का थोड़ा-बहुत व्यापार चलता रहता था। इसी पूर्व दूसरी सदी में जब चीनी राजदूत चांगकियेन बलख पहुँचा, तब उसे वहाँ दक्षिणी चीन के बाँस देखकर कुछ आश्चर्य-सा हुआ। वास्तव में यूनान के ये बाँस आसाम के रास्ते मध्यदेश पहुँचते थे और वहाँ से बलख। इतना सब होते हुए भी उत्तर-पूर्वी रास्ते का कोई विशेष महत्त्व नहीं था; क्योंकि उसे पार करना कोई आसान काम नहीं था। हिमालय की उत्तरी दीवार भाग्यवश उत्तर-पश्चिम में कुछ कमजोर पड़ जाती है। पर यहाँ, पश्चिम प्रदेश में, जिसे प्रकृति ने बहुत ठंडा और बोरान बनाया है और जहाँ बरफ से ढँकी चोटियाँ आकाश से बातें करती हैं, एक पतला रास्ता है, जो उत्तर की ओर चीनी तुर्किस्तान की खाल की ओर जाता है। यह रास्ता इतिहास के आरम्भ से भारतवर्ष को एशिया के ऊँचे प्रदेशों से जोड़ता है। पर यह रास्ता सरल नहीं है; इसपर पथभ्रष्ट अथवा प्रकृति के आकस्मिक कोप से मारे गये हजारों बोझ ढोनेवाले जानवरों और उन सार्थकों की हड्डियाँ मिलती हैं, जिन्होंने अपने अस्म्य उत्साह से संस्कृति और व्यापार के आशान-प्रदान के लिए उसे खूना रखा। इस रास्ते का उपयोग मध्य एशिया की अनेक बर्बर जातियों ने भारत में आने के लिए किया। दुनिया के व्यापार-मार्गों में यह रास्ता शायद सबसे बसूरत है। इसपर पेड़ों का नाम-निशान नहीं है और हिमराशि की सुन्दरता भी इस रास्ते पर नहीं मिलती; क्योंकि हिमालय की पीठ के ऊँचे पहाड़ों पर बरफ भी कम गिरती है। फिर भी यह भारत का एक उत्तरी फाटक है और प्राचीन काल से लेकर आज तक इसका थोड़ा-बहुत व्यापारिक और सामरिक महत्त्व रहा है। इसी रास्ते पर, गिलगिट के पास, एशिया के कई देशों की, यथा चीन, रूस और अफगानिस्तान की, सीमाएँ मिलती हैं। इसलिए इसका राजनीतिक महत्त्व भी कम नहीं है।

यह पूछना स्वाभाविक होगा कि गत पाँच हजार वर्षों में उत्तरी महाजनपथ में कौन-कौन-सी तब्दीलियाँ हुईं? उत्तर साफ है—बहुत कम। प्राकृतिक तब्दीलियों की तो बात ही जाने दीजिए, जिन देशों को यह रास्ता जाता है वे आज दिन भी वैसे ही अकेले बने हुए हैं, जैसे प्राचीन युग में। हाँ, इस रास्ते पर केवल एक फर्क आया है और वह यह है कि प्राचीन काल में इसपर चलनेवाला अंतर्राष्ट्रीय व्यापार अब जहाजों द्वारा होता है। अगर हम इस रास्ते का प्राचीन व्यापारिक महत्त्व समझ लें, तो हमें पता चल जायगा कि १३ वीं सदी में मंगोलों ने बलख और बाग्यान पर क्यों धावे बोल दिये और १६ वीं सदी में क्यों अंगरेज अफगानों को रोकते रहे। इस रास्ते का व्यापारिक महत्त्व तो कम हो ही गया है और इसका राजनीतिक महत्त्व भी बहुत दिनों

से सामने नहीं आया है। फिर भी, देश के विभाजन के बाद, भारत और पाकिस्तान के बीच कश्मीर के लिए चलनेवाले युद्ध से इस रास्ते का महत्व फिर हमारे सामने आया है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इसी रास्ते से होकर भारत पर अनगिनत चढ़ाईयाँ हुईं और १६ वीं सदी में भी इसी साम्राज्यवाद के डर से अंगरेज बराबर इसकी हिफाजत करते रहे। किसी भविष्य की चढ़ाई की आशंका से ही अंगरेजों ने इस रास्ते की रक्षा के लिए खैबर और अटक की किलेबन्दियाँ कीं और पंजाब की फौजी अवनियाँ बनवाईं। भारत के विभाजन हो जाने से अब इस रास्ते से सम्बद्ध सामरिक प्रश्न पाकिस्तान के जिम्मे हो गये हैं, फिर भी, यह आवश्यक है कि उत्तर-पश्चिमी सीमा पर होनेवाली हलचलों पर इस देश के निवासी अपना ध्यान रखें तथा अपनी वैदेशिक नीति इस तरह ढालें जिससे ईरान, अफगानिस्तान और पाकिस्तान मेल-जोल के साथ इस प्राचीन पथ की रक्षा कर सकें। यहाँ हमारे कहने का तात्पर्य यह नहीं है कि उत्तर-पश्चिमी महापथ ही इस देश में बाहर से आने का एक साधन है। हमारा तो यहाँ यही मतलब है कि यही रास्ता भारत को पश्चिम से मिलाता था। अगर हम उत्तरी भारत, अफगानिस्तान, ईरान और मध्य-पूर्व का नक्शा देखें तो हमें पता चलेगा कि यह महापथ ईरान और सिन्ध के रेगिस्तानों को बचाता हुआ सीधे उत्तर की ओर चित्राल और स्वात की घाटियों की ओर जाता है। प्राचीन और आधुनिक यात्रियों ने इस रास्ते की कठिनाइयों की ओर संकेत किया है, फिर भी, वैदिक आर्य, कुष्ष और दारा के ईरानी सिपाही, सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों के यवन सैनिक, शक, पद्मलव, तुबार, हूण और तुर्क, बलख के रास्ते, इसी महापथ से भारत आये। बहुत प्राचीन काल में भी इस महाजनपथ पर व्यापारी, भिक्षु, कलाकार, चिकित्सक, ज्योतिषी, बाजीगर और साहसिक चलते रहे और इस तरह पश्चिम और पूर्व के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान का एक प्रधान जरिया बना रहा। बहुत दिनों तक तो यह महापथ भारत और चीन के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का एकमात्र जरिया था, क्योंकि चीन और भारत के बीच का पूर्वी मार्ग दुर्गम था, जो केवल उसी समय खुला जब अमेरिकनों ने दूसरे महायुद्ध के समय चीन के साथ यातायात के लिए उसे खोल दिया, पर युद्ध समाप्त होते ही उस रास्ते को पुनः जंगलों ने घेर लिया।

रोमन इतिहास से हमें हरत्रामनी पथ-पद्धति का पता चलता है। ईसा की प्रारम्भिक सदियों में इन रास्तों से होकर चीन और पश्चिम के देशों में रेशमी कपड़े का व्यापार चलता था। इस पथ-पद्धति में भूमध्यसागर से सुदूरपूर्व को जानेवाले रास्तों में तीन रास्ते मुख्य थे जो कभी समानान्तर और कभी एक दूसरे को काटते हुए चलते थे। इस सम्बन्ध में हम उस उत्तरी पथ को भी नहीं भूल सकते जो कृष्णसागर के उत्तर से होकर कास्पियन समुद्र होता हुआ मध्य एशिया की पर्वतश्रेणियों को पार करके चीन पहुँचता था। हमें लालसागर से होकर भूमध्यसागर तक के समुद्री रास्ते को भी नहीं भूलना होगा, जिसमें हिमालय द्वारा मौसमी हवा का पता लग जाने पर, जहाज किनारे-किनारे न चलकर बीच समुद्र से ही यात्रा कर सकते थे। लेकिन तीनों रास्तों में मुख्य रास्ता उपर्युक्त दोनों पथ-पद्धतियों के बीच से होकर गुजरता था। यह शाम, ईराक और ईरान से होता हुआ हिन्दूकुश पार करके भारत पहुँचता था और, पामीर के रास्ते, चीन।

पूर्व और पश्चिम के व्यापारिक सम्बन्ध से शाम के नगरों की अपूर्व अभिवृद्धि हुई। अन्तिओव, चीन और भारत के स्थल-मार्गों की सीमा होने से एक बहुत बड़ा नगर हो गया। पश्चिम के कुछ नगरों का, जैसे, अन्ताली, रोम और सिकन्दरिया का, इतना प्रभाव बढ़

चुका था कि महाभारत में भी इन नगरों का उल्लेख किया गया है ।^१ इस महापथ के पश्चिमी खराब का वर्णन चैम्पस के इन्डिडोरस ने ओगिस्टस की जानकारी के लिए अपनी एक पुस्तक में किया है ।

रोमन व्यापारी स्थल अथवा जलमार्ग से अन्तिमोन्न पहुँचते थे, वहाँ से यह महाजनपथ अफ़रात नदी पर पहुँचता था । नदी पार करके रास्ता ऐन्जेम्युसियन्स होकर नीकेरेन पहुँचता था, जहाँ से वह अफ़रात के बायें किनारे होकर या तो गैलियुकिया पहुँचता था अथवा अफ़रात से तीन दिन की दूरी पर रेगिस्तान होकर वह पहलवों की राजधानी क्टैसिसकोन और बगदाद पहुँचता था । यहाँ से पूरब की ओर मुड़ता हुआ यह रास्ता ईरान के पठार, जिसमें ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और बलूचिस्तान शामिल थे और जिनपर पहलवों का अधिकार था, जाता था । बेहिस्तान से होता हुआ फिर यह रास्ता एकवातना (आधुनिक हमशान) जो हरवामनियों की राजधानी थी, पहुँचता था और वहाँ से हर्ग (रे) जो तेहरान के आस-पास था, पहुँचता था । यहाँ से यह रास्ता अपने दाहिनी ओर दशत-एकबीर को छोड़ता हुआ, कोहकाफ को पारकर, कैस्पियन समुद्र के बन्दरगाहों पर पहुँचता था । यहाँ से यह रास्ता पूरब की ओर बढ़ता हुआ पहलवों की प्राचीन राजधानी हेकाटाम्पील (दमगान के पास) पहुँचता था और आज दिन भी मशह और हेरात के बीच का यही रास्ता है । शाहख़द के बाद यह रास्ता चार पड़ावों तक काफी ख़तरनाक हो जाता था, क्योंकि इन चारों पड़ावों पर एलबुर्ज के रहनेवाले तुर्कमान डाकुओं का बराबर भय बना रहता था । उनके डर से यह रास्ता अपनी सिधार्ह को छोड़कर १२५ मील पश्चिम से चलने लगा । पहाड़ पार करके वह हिकरैनिया अथवा गुरगन की दून में पहुँचता था । यहाँ वह काराकुम के रेगिस्तान से बचता हुआ पूरब की ओर झुकता था तथा अस्काबाद के नबलिस्तान को पार करके तेजेन और मर्व पहुँचता था और वहाँ से आगे बढ़कर बलख के घासवाले इलाके में जा पहुँचता था ।^२

बलख की ख्याति इसी बात से थी कि यहाँ संसार की चार महाजातियाँ, यथा, भारतीय, ईरानी, शक और चीनी, मिलती थीं । इन देशों के व्यापारी अपने तथा अपने जानवरों के लिए खाने-पीने का प्रबन्ध करते थे और अपने माल का आदान-प्रदान भी । आज दिन भी, जब उस प्रदेश का व्यापार घट गया है, मजार शरीफ में, जिसने बलख का स्थान ग्रहण कर लिया है, व्यापारी, इकट्ठा होते हैं । बलख का व्यापारिक महत्त्व होने पर भी वह कभी बड़ा शहर नहीं था और इसका कारण यही है कि उसमें रहनेवाले लोग फिरन्दर थे और एक जगह जमकर नहीं रहना चाहते थे ।

बलख से होकर महाजनपथ पूर्व की ओर चलते हुए बख़्शाँ, वख़ाँ तथा पामीर की घाटियाँ पार करते हुए काशगर पहुँचता था और वहाँ से उत्तरी अथवा दक्खिनी रास्तों से होकर चीन पहुँच जाता था । इन रास्तों से भी अधिक उस रास्ते का महत्त्व था जो उत्तर की ओर चलता हुआ वेंचु नदी पर पहुँचता था और उसे पार करके सुम्ब और शकद्वीप होता हुआ यूरो एशियाई रास्तों से जा मिलता था । बलख के दक्खिणी दरवाजे से महापथ भारत को जाता था । हिन्दूकुश और सिन्धु नदी को पार करके यह रास्ता तक्षशिला पहुँचता था और वहाँ वह पाण्डलिपुत्रवाले महाजनपथ से जा मिलता था । यह महाजनपथ मथुरा में आकर दो शाखाओं में

बैठ जाता था; एक शाखा तो पटना होती हुई ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह को चली जाती थी और दूसरी शाखा उज्जयिनी होती हुई पश्चिमी समुद्रतट पर स्थित भक्षकच्छ के बन्दरगाह को चली जाती थी।

बलख से होकर तक्षशिला तक इस महाजनपथ को कौटिल्य ने हैमवत-पथ कहा है। साँची के एक अभिलेख से यह पता लगता है कि भिन्नु कासपगोत ने सबसे पहले यहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार किया ^१। हिन्दूकुश से होकर उत्तर-दक्खिन में कन्वार जानेवाली सड़क की अभी बहुत कम जाँच-पड़ताल हुई है। इसके विपरीत पूर्व से पश्चिम जानेवाली सड़क का हमें अच्छी तरह से पता है। इस रास्ते पर पहले हेरात भारतवर्ष की कुञ्जी माना जाता था; लेकिन वास्तविक तथ्य यह है कि इस देश की कुञ्जी काबुल या जलालाबाद, पेशावर अथवा अटक में खोजनी होगी।

कन्वार का आधुनिक शहर भारत से दो रास्तों से सम्बद्ध है। एक रास्ता पूरब जाते हुए डेरागाजीखों के पास सिन्ध पर पहुँचता है और वहाँ से होकर मुलतान। दूसरा रास्ता दक्खिन-पूरब होता हुआ बोलन के दर्रे से होकर शिकारपुर के रास्ते कराँची पहुँचता है। भारत से कन्वार और हेरात का यही ठीक रास्ता है, जो मर्वा के रास्ते से कुस्क में मिल जाता है।

उपयुक्त हैमवतपथ तीन खण्डों में बाँटा जा सकता है—एक, बलखखण्ड; दूसरा, हिन्दूकुशखण्ड और तीसरा, भारतीय खण्ड। पर अनेक भौगोलिक अड़चनों के कारण इन तीनों खण्डों को एक दूसरे से अलग कर देना कठिन है।

भारतीय साहित्य में बलख का उल्लेख बहुत प्राचीन काल से हुआ है। महाभारत^२ से पता लगता है कि यहाँ खच्चरों की बहुत अच्छी नस्ल होती थी तथा यहाँ के लोग चीन के रेशमी कपड़ों, परमीनों, रत्न, गन्ध इत्यादि का व्यापार करते थे। करीब एक सौ वर्ष पहले प्रसिद्ध अँगरेज यात्री अलेक्जेंडर बर्न्स ने बलख की यात्रा की थी। उसके यात्रा-विवरण से यहाँ के रहनेवालों का तथा यहाँ की आवहवा और रेगिस्तानों का पता चलता है। बर्न्स का कहना है कि इस प्रदेश में सार्धत्वाह रात में नव्वनों के सहारे यात्रा करते थे। जाइों में यह प्रदेश बड़ा कठिन हो जाता है; लेकिन वसन्त में यहाँ पानी बरस जाता है, जिससे चरागाह हरे हो जाते हैं और खेती-बारी होने लगती है। बलख के घोड़े और ऊँट प्रसिद्ध हैं। यहाँ के रहनेवालों में ईरानी नस्ल के ताजिक, उजबक, हजारा और तुर्कमान हैं।

बलख से हिन्दुस्तान का रास्ता पहले पटकेसर पहुँचता है, जहाँ समरकन्दवाला रास्ता उससे आकर मिलता है। यह महापथ तब तक विभाजित नहीं होता जबतक कि वह ताशकुरगन के रास्ते के बाजू के ढूँहों को नहीं पार कर लेता।

हिन्दूकुश की पर्वतमाला में अनेक पगडंडियाँ हैं, पर रास्ते के लिहाज से वंजु तथा सिन्धु और उनकी सहायक नदियों की जानकारी आवश्यक है। पूर्व की ओर बहनेवाली दो नदियाँ उत्तर में सुर्वाब और दक्षिण में गोरबन्द हैं तथा पश्चिम में बहनेवाली दो नदियाँ उत्तर में अन्दराब और दक्षिण में पंजशीर हैं। इस तरह बलख का पूर्वी रास्ता अन्दराब की ऊँची घाटियों से होकर सायक पहुँचता है और फिर पंजशीर की ऊँची घाटी में होकर नीचे उतरता है। उसी तरह, पश्चिमी रास्ता गोरबन्द की घाटी से उतरने के पहले बाम्यान के उत्तर से निकलता है।

१. मार्शल, साँची, १, पृ० २६१-२६२

२. मोतीचन्द्र, जियोप्रफिकल ऐण्ड इकनामिक स्टडीज इन महाभारत, पृ० ६०-६१

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, मध्य हिन्दूकुश के रास्ते नदियों से लगे रह चलते हैं। हिन्दूकुश के मध्यभाग में कोई बनी-बनाई सड़क नहीं है; लेकिन उत्तरी भाग में बलख, खुलम और कुन्दूज नदियों के साथ-साथ रास्ते हैं।

जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, खावक दर्रे से होकर गुजरनेवाला रास्ता काफी प्राचीन है। महाभारत में कायव्य या कावरव्य नामक एक जाति का नाम मिलता है।^१ शायद इसी जाति के नाम से खावक के दर्रे का नाम पड़ा। यह बहुत कुछ सम्भव है कि कावरव्य लोग हिन्दूकुश के पाद में सड़ी हुई पंजशीर और गोरबन्द की घाटियों में, जो पूरब की तरफ खावक के दर्रे को जाती हैं, रहते थे।

खावक के रास्ते पर बलख से ताशकुरगन की यात्रा वसन्त में तो सरल है पर गर्मी में रेगिस्तान में पानी की कठिनाई होती है और इसीलिए सार्थ इस मौसम में एक घुमावदार पहाड़ी रास्ता पकड़ते हैं। खुलम नदी के साथ-साथ इस रास्ते पर हैबाक आता है। इसके बाद कुन्दूज नदी के साथ-साथ चलकर और एक कोऊल पार करके रोवत-आक का नखलिस्तान आता है। शायद महाभारत-काल के कुन्दमान यहीं रहते थे।^२ यहाँ से चलकर रास्ता नरिन, यार्म तथा समन्शन होते हुए खावक आता है। इसके बाद बार्ड और कोहचा का रास्ता और लाजवर्द की खदानों को छोड़कर पाँच पड़ावों के बाद पंजशीर की ऊँची घाटी आती है। हिन्दूकुश को पार करने के लिए संगवुरान के गाँव से रास्ता घूमकर अन्दरआब, खिजान और दोशाख पार करता है। दोशाख के बाद जेवतशिराज में बाम्यान से होकर भारत का पुराना रास्ता आता है।

बाम्यान का यह पुराना रास्ता बलख के दक्षिणी दरवाजे से निकलकर बिना किसी कठिनाई के काराकोतल तक जाता है। यहाँ से कपिश के पठार तक तीन घाटियाँ हैं, जिन्हें पहाड़ी रास्ता छोड़ने के पहले पार करना पड़ता है।

बाम्यान के उत्तर में हिन्दूकुश और दम्बिखन में कोहबावा पड़ता है। यहाँ के रहनेवाले खास कर हजारा हैं। बाम्यान की अहमियत इसलिए है कि वह बलख और पेशावर के बीच में पड़ता है। बाम्यान का रास्ता इतना कठिन था कि उसपर रक्षा पाने के लिए ही, लगता है, व्यापारियों ने भारी-भारी बौद्धमूर्तियाँ बनवाईं।^३

बाम्यान छोड़ने के बाद दो नदियों और रास्तों का संगम मिलता है; इनमें एक रास्ता कोहबावा होकर हेलमंद की ऊँची घाटी की ओर चला जाता है। सुर्खाब नदी के दाहिने किनारे की ओर से होकर यह रास्ता उत्तर की ओर मुड़ जाता है और गोरबन्द होते हुए वह कपिश पहुँच जाता है।

बाम्यान, सालंग और खावक के मिलने पर काफिरिस्तान और हजारजात की पर्वतश्रेणियों के बीच में हिन्दूकुश के दक्षिणी पाद पर एक उपजाऊ इलाका है जो उत्तर में गोरबन्द और पंजशीर नदियों से और दक्षिण में काबुलरुद और लोगर से सींचा जाता है। यह मैदान बहुत प्राचीन काल से अपने व्यापार के लिए भी प्रसिद्ध था; क्योंकि इस मैदान में मध्य हिन्दूकुश के सब

१. महाभारत, २। ४८। १२

२. महाभारत, २। ४८। १३

३. फूरो, वही, पृ० २६

दरें खुलते हैं। कपिश से होकर भारत से मध्य एशिया का व्यापार भी चलता था। युवानच्वाङ्^१ के अनुसार कपिश में सब देशों की वस्तुएँ उपलब्ध थीं। बाबर का कहना है कि यहाँ न केवल भारत की ही, बल्कि खुरासान, रूम और ईराक की भी वस्तुएँ उपलब्ध थीं^२। अपनी भौगोलिक स्थिति के कारण इस मैदान में उस प्रदेश की राजधानी बनना आवश्यक था।

पाणिनि ने अपने व्याकरण (४-२-६६) में कापिशो का उल्लेख किया है तथा महाभारत और हिंदू-यवन सिकों पर भी कापिशो का नाम आता है। यह प्राचीन नगर गोरबन्द और पंजशीर के संगम पर बसा हुआ था; पर लगता है कि आठवीं सदी में इस नगर का प्रभाव घट गया; क्योंकि अरब भौगोलिक और मंगोल इतिहासकार काबुल की बात करते हैं। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि काबुल दो थे। एक बौद्धकालीन काबुल जो लोगर नदी के किनारे बसा हुआ था और दूसरा मुसलमानों का काबुल जो काबुल रुद पर बसा हुआ है। अमातुल्ला ने एक तीसरा काबुल दास्तुलथमान नाम से बसाना चाहा था, पर उसके बसने के पहले ही उन्हें देश छोड़ देना पड़ा। ऊँचाई के अनुसार काबुल की घाटी दो भागों में बँटी हुई है। एक भाग जो जलालाबाद से अटक तक फैला हुआ है, भौगोलिक आधार पर भारत का हिस्सा है; पर दूसरा ऊँचा भाग ईरानी पठार का है। इन दोनों हिस्सों की ऊँचाई की कमी-बेशी का प्रभाव उन हिस्सों के मौसम और वहाँ के रहनेवालों के स्वभाव और चरित्र में साफ-साफ देख पड़ता है।

काबुल से होकर भारतवर्ष के रास्ते काबुल और पंजशीर नदियों के साथ-साथ चलते हैं। पर प्राचीन रास्ता काबुल नदी होकर नहीं चलता था। गोरबन्द नदी के गर्त से बाहर निकलकर पंजाब जाने के पहले वह दक्षिण की ओर घूम जाता था। कापिशो से लम्पक होकर नगरहार (जलालाबाद) का प्राचीन रास्ता पंजशीर की गहरी घाटी छोड़ देता था। इसी तरह काबुल से जलालाबाद का रास्ता भी काबुल नदी की गहरी घाटी छोड़ देता था।

हमें इस बात का पता है कि आठवीं सदी में काबुल अफगानिस्तान की राजधानी था; पर टाकमी के अनुसार ईसा की दूसरी सदी में भी काबुल कहर या कबुर (१-१८-४) नाम से मौजूद था और इसका भग्नावशेष आज दिन भी लोगर नदी के दाहिने किनारे पर विद्यमान है। शायद अरबोशिया से बलख तक का सिकन्दर का रास्ता काबुल होकर जाता था। गोरबन्द नदी को एक पुल से पार करके यह रास्ता चारीकर पहुँचता है। खैरखाना पार करके यह रास्ता उपजाऊ मैदान में पहुँचता है जहाँ प्राचीन और आधुनिक काबुल अवस्थित हैं।

काबुल से एक रास्ता बुतखाक पहुँचता है और वहाँ से तैग-ए-गारु का गर्त पार करके वह महापथ से मिल जाता है। दूसरा रास्ता दाहिनी ओर पूरब की ओर चलता हुआ लताबन्द के कोतल में घुसता है और वहाँ से तेजिन नदी पर पहुँचता है। वहाँ से एक छोटा रास्ता करकचा के दरें से होकर जगदालिक के ऊपर महापथ से मिल जाता है, लेकिन प्रधान रास्ता समकोण बनाता हुआ तेजिन के उत्तर सेहबावा तक जाता है, उसके बाद वह दक्षिण-पूर्व की ओर घूमकर जगदालिक का रास्ता पार करता है। इसके बाद ऊपर-नीचे चलत हुआ वह सुर्व पुल पर सुर्व-आब नदी पार करता है और अन्त में गन्दमक पर वह पहाड़ी से बाहर निकल आता है। यहाँ से रास्ता उत्तर-पूर्व दिशा पकड़कर जलालाबाद पहुँच जाता है।

१. वाटर्स, आन युआनच्वाङ्, १, १२२

२. बेबरिज, बाबर्स मेतायर्स, पृ० १११

कापिशो से जलालाबादवाला रास्ता कापिशो से पूर्व की ओर चलता है, फिर दक्खिन-पूर्व की ओर मुड़ता हुआ वह गोरबन्द और पंजशीर की संयुक्तबारा को पार करके निजराओ, तगाओ और दोआब होता हुआ मंदावर के बाद काबुल और सुर्खुद नदियों को पार करके जलालाबाद पहुँच जाता है।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, जलालाबाद (जिसे युवान् च्वाब्^१ ने ठीक ही भारत की सीमा कहा है) के बाद एक दूसरा प्रदेश शुरू होता है। सिकन्दर ने मौर्यों से इस प्रदेश को जीता था; पर इस घटना के बीस वर्ष बाद सेल्यूकस प्रथम ने इसे मौर्यों को वापस कर दिया। इसके बाद यह प्रदेश बहुत दिनों तक विदेशी आक्रमणकारियों के हाथ में रहा; पर अन्त में काबुल के साथ वह मुगलों के अधीन हो गया। १८वीं सदी में नादिरशाह के बाद वह अहमदशाह दुर्रानी के कब्जे में चला गया और अँगरेजी सल्तनत के युग में वह भारत और अफगानिस्तान का सीमाशान्त बना रहा।

खिन्ध और जलालाबाद के बीच में एक पहाड़ आता है जो कुनार और स्वात की दुर्नें अलग करके पश्चिम में वृत्त बनाता हुआ सफेद कोह के नाम से दक्खिन और पश्चिम में जलालाबाद के सुबे को सीमित करता है।

गन्धार की पहाड़ी सीमा के रास्तों का कोई ऐतिहासिक वर्णन नहीं मिलता। एरियन का कहना है^२ कि सिकन्दर अपनी फौज के एक हिस्से के साथ काबुल नदी की बरह^३ और की सहायक नदियों की घाटियों में तबतक बना रहा जबतक कि काबुल नदी के दाहिने किनारे से होकर उसकी पूरी फौज निकत नहीं गई। कुछ इतिहासकारों ने सिकन्दर का रास्ता खैबर पर ढूँढ़ने का प्रयत्न किया है; पर उन्हें इस बात का पता नहीं था कि उस समय तक खैबर का रास्ता नहीं चला था। इस सम्बन्ध में यह जानने की बात है कि पेशावर पहुँचने के लिए खैबर पार करना कोई आवश्यक बात नहीं है। पेशावर की नौव तो सिकन्दर के चार सौ बरस बाद पड़ी। इसमें कोई कारण नहीं देव पड़ता कि अपने गन्तव्य पुष्करावती, जो उस समय गन्धार की राजधानी थी, पहुँचने के लिए वह सीधा रास्ता छोड़कर टेढ़ा रास्ता पकड़े। इसमें सन्देह नहीं कि उसने भिचनी दर्रे से, जो नगरहार और पुष्करावती के बीच में पड़ता है, अपनी फौज पार कराई।

भारत का यह महाजनपथ पर्वत-प्रदेश छोड़कर अटक पर खिन्ध पार करता है। लोगों का विश्वास है कि प्राचीनकाल में भी महाजनपथ अटक पर खिन्ध पार करता था, पर महाभारत में^४ उन्नाटक जिसकी पहचान अटक से हो सकती है, का उल्लेख होने पर भी यह मान लेना कठिन है कि महाजनपथ नदी को वहीं पार करता था, गोकि रास्ते की खवाली के लिए वहाँ द्वारपाल रखने का भी उल्लेख महाभारत में है। ऐसा न मानने का कारण यह है कि प्राचीनकाल में नदी के दाहिने किनारे पर उद्भांड [राजतरंगिणी], उदकभांड [युवान् च्वाब्], वेयंद [अतबीरुनी], ओहिंद [पेशावरी] अथवा उरुड एक अच्छा घाट था। फारसी में उसे आज दिन भी दर-ए-हिन्दी अथवा हिंद का फाटक कहते हैं। यहीं पर सिकन्दर की फौज ने नावों के

१. गट्स, वही,

२. एरियन, आनाबेसिस

३. महाभारत, २।१६।१०

पुल से नदी पार की थी। यहाँ युवान् च्वाङ् हाथी की पीठ पर चढ़कर मदी पार उतरा था तथा बाबर की फौजों ने भी इसी घाट का सहारा लिया था। अटक तो अकबर के समय में नदी पार उतरने का घाट बन पाया।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से महापथ का रास्ता तीन भागों में बाँटा जा सकता है—यथा
(१) पुष्करावती पहुँचने के लिए जो मार्ग सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों ने लिया,
(२) वह रास्ता, जो चीनी यात्रियों के समय पेशावर होकर उदकभाण्ड पर सिन्ध पार करता था और
(३) आधुनिक पथ, जो सीधा अटक को जाता है।

जलालाबाद से पुष्करावती (चारसदा) वाले रास्ते पर दक्का तक का रास्ता पथरीला है। उसके उत्तर में मोहमंद [पाणिनि, मधुमंत] और दक्षिण में सकेदकोह में शिनवारी कबीले रहते हैं। दक्का के बाद पूरब चलते हुए दो कोतल पार करके मिचनी आता है। मिचनी के बाद नदियों के उतार की बजह से प्राचीन जनपथ के रास्ते का ठीक-ठीक पता नहीं चलता; पर भाग्यवश दक्षिण-पूर्व की ओर घूमती हुई काबुल नदी ने प्राचीन महापथ के चिह्न छोड़ दिये हैं। यहाँ हम सोत के बायें किनारे चलकर काबुल और स्वात के प्राचीन संगम पर, जो आधुनिक संगम से आगे बढ़कर है, पहुँचते हैं। यहाँ पर गन्धार की प्राचीन राजधानी पुष्करावती थी जिसके स्थान पर आज प्राङ्, चारसदा और राजर गाँव हैं। यहाँ से महापथ सीधे पूरब जाकर होतीमर्दन जिसे युवाच च्याङ् ने पो-लु-चा कहा है और जहाँ शहबाज गढ़ी में अशोक का शिलालेख है, पहुँचता था। यहाँ से दक्षिण-पूर्व की ओर चलता हुआ महापथ उरड पहुँचता था। सिन्ध पार करके महाजनपथ तक्षशिला के राज्य में घुसकर हसन अन्डाल होता हुआ तक्षशिला में पहुँचता था।

काबुल से पेशावर तक का रास्ता बाद का है। किंवदन्ती है कि एक गडेरिये के रूप में एक देवता ने कनिष्क को संसार में सबसे ऊँचा स्तूप बनाने के लिए एक स्थान दिखलाया जहाँ पेशावर बसा। जो भी हो, ऐसे नीचे स्थान में जिसकी सिंचाई अफ़ोरी पहाड़ियों से गिरनेवाले बोटों, विशेष कर, बारा से होता है और जहाँ सोतहर्वी सदी तक बाघ और गैंडों का शिकार होता था, राजधानी बनाना एक राजा की सनक ही कही जा सकती है।

ईसा की पहली सदी से पेशावर राजधानी बन बैठा और इसीलिए उसे कापिशो से, जो भारतीय शक्तों की गर्मी की राजधानी थी, जोड़ना आवश्यक हो गया। यह पथ खँबर होकर दक्का पहुँचा और इसी रास्ते की रक्षा के लिए अंग्रेजों ने किले बनवाये। दक्का से जमरुद के किले का रास्ता, दक्का और मिचनी के रास्ते से कुछ दूर पर, उतना ही ऊँच-खावड़ है। इसी रास्ते पर पाकिस्तान और अफगानिस्तान की सीमा है। लंडी कोतल के नीचे अली मस्जिद है। अन्त में प्राचीन पथ आधुनिक रास्ते से होता हुआ पेशावर छावनी पहुँचता है।

तक्षशिला पहुँचने के लिए काबुल और स्वात की भिला धारा पार करनी पड़ती थी, पर खँबर के रास्ते ऐसा करना जरूरी नहीं था। पेशावर से पुष्करावती और होतीमर्दन होते हुए उरड का रास्ता दूर पड़ता था; पर उसपर हर मौसम में घाट चलते थे। नक्षो से पता चलता है कि काबुल नदी गन्धार के मैदान में आकर खुल जाती है। पूर्वकाल में कभी उसने अपना रास्ता किसी चौड़ी सतह में बदल दिया जिसका नतीजा यह हुआ कि स्वात के साथ उसका आधुनिक

संगम चीनी यात्रियों के समय के संगम के नीचे पड़ता है। पुष्करावती का अधःपतन भी शायद इसी कारण से हुआ हो।

बाबर ने पंजाब जाने के लिए एक सुगम घाट पार किया। इसके मानी होते हैं कि कोई दूसरा घाट भी था। कापिशी से पुष्करावती होकर तक्षशिला के मार्ग में बहुत-सी नदियाँ पड़ती थीं; लेकिन कापिशी और पुष्करावती के समा हो जाने पर जब महापथ काबुल और पेशावर के बीच चलने लगा तो उसका मतलब बहुत-से घाट उतरने से अपने को बचाना था। यह रास्ता काबुल नदी का दक्षिणी किनारा पकड़ता है, इसलिए आए-हाँ आप वह अटक की ओर, जहाँ सिन्धु नद सँकरा पड़ जाता है और पुल बनाने लायक हो जाता है, पहुँच जाता है।

प्राचीन राजपथों की एक खास बात थी कि वे प्राचीन राजधानियों को एक दूसरे से मिलाते थे। राजधानियाँ बदल जाने पर रास्तों के रुख भी बदल जाते थे। राजधानियों के बदलने के खास कारण स्वास्थ्य, व्यापार, राजनीति, धर्म, नदियों के फेर-बदल अथवा राजाओं की स्वेच्छा थी। राजधानियों के हेर-फेर कई तरह से होते थे। बलख की तरह हेर-फेर होने पर भी राजधानी एक ही स्थान के आस-पास बनती रही अथवा कापिशी की तरह वह प्राचीन नगरी के आसपास बनती रही। कभी-कभी जैसे दो बाम्यानों, दो काबुलों और तीन तक्षशिलाओं की तरह वह एक ही घाटी में बनती रही। कभी-कभी प्राचीन नगरों के अवनत होने पर नये नगर पड़ोस में खड़े हो जाते थे, जैसे, प्राचीन बलख की जगह मजार शरीफ, कापिशी की जगह काबुल, पुष्करावती की जगह काबुल, उरग की जगह अटक और तक्षशिला की जगह रावलपिण्डी।

अगर हम भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में हिन्दूकुश के उत्तरी और दक्षिणी रास्तों की जाँच-पड़ताल करें तो हमें पता चलता है कि सब युगों में रास्ते एक समान ही नहीं चलते थे। पहाड़ी प्रदेश में रास्तों में कम हेर-फेर हुआ है; पर मैदान में ऐसी बात नहीं है। उदाहरण के लिए बलख, बाम्यान, कापिशी, पुष्करावती और उद्भांड होकर तक्षशिला का रास्ता सिकन्दर और उसके उत्तराधिकारियों तथा अनेक बर्बर जातियों द्वारा व्यवहार में लाया जाता था। वही रास्ता आधुनिक काल में मजार शरीफ अथवा खानाबाद, बाम्यान या सालंग, काबुल, पेशावर तथा अटक होकर रावलपिण्डी पहुँचता है। मध्यकालीन रास्ता इन दोनों के बीच में मिल-जुलकर चलता था। पुष्पपुर की स्थापना के बाद ही प्राचीन महापथ का रुख बदला और धीरे-धीरे पुष्करावती के मार्ग पर आना-जाना कम हो गया। आठवीं सदी में कापिशी के पतन और काबुल के उत्थान से भी प्राचीन राजमार्ग पर काफी असर पड़ा। नवीं सदी में जब काबुल और खैबर का सीधा सम्बन्ध हो गया तब तो पुष्करावती का प्राचीन राजमार्ग बिलकुल ही ढीला पड़ गया।

इस प्राचीन महापथ का सम्बन्ध सिन्धु की तरफ बहनेवाली नदियों से भी है। टाल्मी के अनुसार, कुनार का पानी चित्राल की ऊँचाइयों से आता था और इसीलिए जलालाबाद के नीचे नाव चलना मुश्किल था। अब प्रश्न यह उठता है कि टाल्मी किसी स्थानीय अनुभूति के आधार पर ऐसी बात कहता है क्या; क्योंकि आज दिन भी पेशावरियों का विश्वास है कि स्वात नदी बड़ी है और काबुल नदी केवल उसकी सहायकमात्र है; उन दोनों के सम्मिलित स्रोत का नाम लखडई है, जिसका पंजहोरा से मिलने के बाद स्वात नाम पड़ता है। स्थानीय अनुभूति में तथ्य हो या न हो, काबुल के राजधानी बनते ही उसके राजनीतिक महत्त्व से काबुल नदी बड़ी मानी जानी लगी। प्राचीन कुभा यात्री काबुल नदी कहीं से निकलती थी और कहीं बहती थी, इसका ऐतिहासिक विवरण हमें प्राप्त नहीं होता; लेकिन यह खास बात है कि वह नदी प्राचीन मार्ग का अनुसरण करती

धी और काबुल नदी के लिए उसकी विचार-संगति की बोधक थी। अगर यह बात ठीक है तो कुमा नदी का नाम जलालाबाद के नीचे ही सार्थक होकर उस स्रोत के लिए भी सार्थक है जो प्राचीन राजधानियों के राजपथ को घेरकर चलता था। यह भी खास बात है कि कापिशी, लम्पक, नगरहार और पुष्करावती पश्चिम से पूर्व जानेवाली काबुल नदी पर पड़ते थे। दाहिने किनारे पर काबुल और लोगर का मिला-जुला पानी केवल एक सोते-सा लगता है; लेकिन कापिशी के ऊपर पंजशीर की महता घट जाती है और गोरबंद काबुल नदी के ऊपरी भाग का प्रतिनिधित्व करने लगती है। इस तरह बढ़कर गोरबंद पेशावर की ऊँचाइयों पर बहती हुई एक बड़ी नदी होकर सिन्ध से मिल जाती है।^१

बलख से लेकर तक्षिला तक चलनेवाले महापथ के बारे में हमें बौद्ध और संस्कृत-साहित्य में बहुत कम विवरण मिलता है। लेकिन भाग्यवश महाभारत में उस प्रदेश के रहनेवाले लोगों के नाम आये हैं, जिनसे पता लगता है कि भारतीयों को उस महापथ का यथेष्ट ज्ञान था। अर्जुन के दिग्विजयक्रम में^२ बाह्यिक के पूर्व बद्ध्याँ, बलौ और पामीर की घाटियों से होकर काशगर के रास्ते की ओर संकेत है। बद्ध्याँ के दृष्ट्यों का भारतीयों को पता था^३। कुन्दमान (म० भा० २।४=११३) शायद कुन्दुज की घाटी में रहनेवाले थे। इसी रास्ते से शायद लोग कंबोज भी जाते थे, जिसकी राजधानी द्वारका का पता आज दिन भी दरवाज से चलता है। महाभारत को शक, तुवार और कर्कों का भी पता था जो उस प्रदेश में रहते थे जिधमें बंत्तु नदी को पार करके सुग्य और शकद्वीप होते हुए महाजनपथ यूरेशिया के मैदान के महामार्ग से मिल जाता था (म० भा० २।४७।२५)। बलख से भारत के रास्ते पर कार्पासिक का बोध कपिश से होता है (म० भा० २।४७।७)। मध्य एशिया के रास्ते पर शायद काराकोरम को मेव और कुएनलुन को मंदर कहा गया है तथा खोतन् नदी को शीतोदा (म० भा० २-४८-२)। इस प्रदेश के किरंदर लोगों को ज्योह, पशुप और खस कहा गया है जिनसे आज दिन किरगिजों का बोध होता है। काशगर के आगे मध्य एशिया के महापथ पर चीनों, हूणों और शकों का उल्लेख है (म० भा० २।४७।१६)। इसी मार्ग पर शायद उत्तर कुश भी पड़ता था; जिसका अपभ्रंश रूप कोरैन, जिसकी पहचान चीनी इतिहास के लूलान से की जाती है,। शक भाषा का शन्द है।

भारतीयों को इस रास्ते का भी पता था जो हेरात से होकर बलूचिस्तान और सिन्ध जाता था। बलूचिस्तान में लोग खेती के लिए बरसात पर आश्रित रहते और बस्तियाँ अधिकतर समुद्र के किनारे होती थीं। हेरात के रहनेवाले लोग शायद हारहूर थे। परिसिन्धुप्रदेश में रहनेवाले वैरामकों (म० भा० २।४=११२) को जो बलूचिस्तान में रहते थे और जिनका पता हमें युनानी भौगोलिकों के रम्ब्रोया से मिलता है तथा पारद, वंग और कितव रहते थे (म० भा० २।४७।१०)। बलूचिस्तान का यह रास्ता कजान और मूला होकर सिन्ध में आता था। मूला के रहनेवालों को महाभारत में मौलिय कहा गया है और उनके उत्तर में शिवि रहते थे (म० भा० २।४=११४)।

१. फूले, वही, १, ५२

२. महाभारत २।२७।१२-२७

३. मोतीचन्द्र, वही, पृ० १८-५१

उत्तर-भारत की पथ-पद्धति

उत्तर-भारत के मैदानों में पेशावर से ही महाजनपथ पुरव की ओर जरा-सा दक्षिणभिमुख होकर चلتा है। सिन्धु के मैदान के रास्ते पंजाब की नदियों के साथ-साथ दक्षिण की ओर जरा-सा पश्चिमभिमुख होकर चलते हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि तक्षशिला होकर महाजनपथ काशी और मिथिला तक चلتा था। जातकों से पता चलता है कि बनारस से तक्षशिला का रास्ता घने जंगलों से होकर गुजरता था और उसमें डाकुओं और पशुओं का भय बराबर बना रहता था। तक्षशिला उस युग में भारतीय और विदेशी व्यापारियों का मिलन-केन्द्र था। बौद्ध-साहित्य से इस बात का पता चलता है कि बनारस, श्रावस्ती और सोरेय्य (सोरों) के व्यापारी तक्षशिला में व्यापार के लिए आते थे।

पेशावर से गंगा के मैदान की दो रास्ते आते हैं। पेशावर से सहारनपुर होकर लखनऊ तक की रेलवे लाइन उत्तरी रास्ते की द्योतक है और इस रास्ते से हिमालय का बहिर्गिरि कभी ज्यादा दूर नहीं पड़ता। यह रास्ता लाहौर को छूने के लिए वजोराबाद से दक्षिण जरा झुकता है, लेकिन वहाँ से जलन्धर पहुँचते-पहुँचते फिर वह अपनी सिधार्थ ठीक कर लेता है। इस पथ के समानान्तर दक्षिणी रास्ता चलता है जो लाहौर से रायबिड़, फिरोजपुर और भटिण्डा होकर दिल्ली पहुँचता है। दिल्ली में यह रास्ता यमुना पार करके दोआब में झुसता है और गंगा के दाहिने किनारे को पकड़े हुए इलाहाबाद पहुँच जाता है; जहाँ वह पुनः यमुना को पार करके गंगा के दक्षिण से होकर आगे बढ़ता है। लखनऊ से उत्तरी रास्ता गंगा के उत्तर-उत्तर चलकर तिरहुत पहुँचता है और वहाँ से कटिहार और पार्वतीपुर होकर आसाम पहुँच जाता है। दक्षिणी रास्ता इलाहाबाद से बनारस पहुँचता है और गंगा के दाहिने किनारे से भागलपुर होकर कलकत्ता पहुँच जाता है अथवा पटना होकर कलकत्ता चला जाता है।

इन दोनों रास्तों की बहुत-सी शाखाएँ हैं जो इन दोनों को मिलाती हैं। अयोध्या होकर बनारस और लखनऊ की ब्राह्मण-ताइन धतूरी और दक्षिणी रास्तों को मिलाने में समर्थ नहीं होती, क्योंकि बनारस के आगे गंगा काफ़ी चौड़ी हो जाती है और केवल अग्निवेत्र ही उत्तरी और दक्षिणी मार्गों को मिलाने में समर्थ हो सकते हैं। पुनों की कमी की वजह से तिरहुत, उत्तरी बंगाल और आसाम के रास्तों का केवल स्थानिक महत्त्व है। इनकी गणना भारत के प्रसिद्ध राजमार्गों में नहीं की जा सकती।

बनारस के नीचे गंगा तथा ब्रह्मपुत्र का काफ़ी व्यापारिक महत्त्व है। बालनदो से, जहाँ गंगा ब्रह्मपुत्र का संगम होता है, स्टीमर बराबर आसाम में डिब्रूगढ़ तक चलते हैं और बाद में तो वे सदिया तक पहुँच जाते हैं। देश के विभाजन ने आसाम और बंगाल के बीच आयात-निर्यात के प्राकृतिक साधनों में बड़ी गड़बड़ी डाल दी है। उत्तर-बिहार से होकर नई रेलवे लाइन भारत से बिना पाकिस्तान गये हुए आसाम को जोड़ती है; फिर भी आसाम का प्राकृतिक मार्ग पूर्वो पाकिस्तान होकर ही पड़ता है।

पेशावर-पार्वतीपुर के उत्तरी महापथ से बहुत-से उपपथ हिमालय को जाते हैं। ये उपपथ मालाकण्ड दर्रे के नीचे नौशेरा-दर्राई, सियालकोट-जम्मु, अमृतसर-पठानकोट, अंबाला-शिमला, लस्कर-देहरादून, बैलूनी-काठगोशम, हाजीपुर-रक्सौल, कटिहार-जोगबानी तथा गीतलदह-जयन्तिया

की ब्रांच-लाइनों द्वारा अंकित हैं। उसी तरह महापथ के दक्खिनी भाग से बहुत-से रास्ते फूटकर विन्ध्य पार करके दक्खिन की ओर जाते हैं। ये रास्ते उपपथ न होकर महापथ हैं। इनका वर्णन बाद में किया जायगा।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, पंजाब से सिन्ध के रास्ते नदियों के साथ-साथ चलते हैं। भटिंडा से एक रास्ता फूटकर सतलज के साथ-साथ जाता है; उसी तरह अटक से एक दूसरा रास्ता फूटकर सिन्धु के साथ-साथ चलता है। इन दोनों रास्तों के बीच में पाँच रास्ते हैं जो पंजाब की पाँचों नदियों की तरह एक बिन्दु पर मिलते हैं। सिन्धु-पथ नदी के दोनों किनारों पर चलते हैं और रोहरी और कोटरी पर पुलों द्वारा सम्बद्ध हैं।

सिन्ध की उत्तर-पश्चिमी पहाड़ियों पर कच्छी गंदाव के मैदान का खोंचा है, जहाँ प्राचीन समय में शिवि रहते थे। इसी मैदान से होकर सफ़र से बलूचिस्तान के दर्राँ को रेल गई है।

प्राचीनकाल में सिन्ध और पंजाब की नदियों में नावों से यातायात था। दारा प्रथम ने अपने राज्य के आरम्भ में निचले सिन्ध से होकर अरबसागर में पहुँचने का मन्सूबा बाँधा था; लेकिन ऐसा करने से पहले उसने उस प्रदेश की छानबीन की आज्ञा दी थी। अन्वेषक-रत्न के नेता स्काइलाक्स बनाये गये और उनका बेड़ा कश्मिरपुर (यूनानी कस्पपाइरोस) पर, जिसकी पहचान मुल्तान से की जानी है^१, उतरा। यहीं से ईरानियों का दूसरा धावा शुरू हुआ। मुल्तान के कुछ नीचे, चिनाव के बाएँ किनारे पर, ५१६ ई० पू० में दारा का बेड़ा पहुँचा और ढाई वर्ष बाद जब यह बेड़ा मिश्र में अपने राजा के पास आया तब उसने नील नदी और लालसागर के बीच नहर खोल दी थी। श्री फूरो के अनुसार यह यात्रा ईरान की खाड़ी और अरबसागर के बीच के समुद्री रास्ते को मिलाने के लिए आवश्यक थी। दारा के अधिकार में लालसागर और निचले सिन्ध के बन्दरगाहों के आते ही हिन्दमहासागर सुरक्षित हो गया और मिश्र के बन्दरों से ईरानी जहाज कुशलतापूर्वक सिन्ध के बन्दरगाहों तक आने लगे। पर सिन्ध पर ईरानियों और यूनानियों का अधिकार थोड़ा ही समय तक रहा। जब सिकन्दर के अनुयायी सिन्ध के निचले भाग में पहुँचे तो उन्हें वहाँ के ब्राह्मण-जनपदों का कठोर सामना करना पड़ा। कयास किया जा सकता है कि ईरानियों को भी कुछ ऐसा ही सामना करना पड़ा होगा। सिकन्दर की फौज के आगे बढ़ जाने पर पुनः ब्राह्मण-जनपद प्रबल हो उठे। सिकन्दर का नौकाध्वज मकदूनी नियर्क्स इस बात को स्वीकार करता है कि सिन्ध के रहनेवालों के प्रबल विरोध के कारण ही उसे सिन्ध जल्दी ही छोड़ देना पड़ा। भारत पर अपने धावों के बाद महमूद गजनी लौटने के लिए यही रास्ता पकड़ता था। सोमनाथ की लूट के बाद, गजनी लौटते समय, पंजाब की घाटियों के जाटों ने उसे खुरतंग किया। उन्हें सबक देने के लिए महमूद दूसरे साल लौटा और मुल्तान में १४०० नावों का एक बेड़ा तैयार किया; लेकिन वागी जाटों ने उसके जवाब के लिए ४००० नावों का बेड़ा तैयार किया।^२ आधुनिक काल में पंजाब की नदियों पर यातायात कम हो गया है; केवल सिन्धु पर ही सामान ढोने के लिए कुछ नावें चलती हैं।

यहाँ पर हम सिन्धु-गंगा के उत्तरी और दक्षिणी मार्गों की तुलना कर देना चाहते हैं। उत्तरी रास्ता पंजाब के उपजाऊ मैदान से होकर गुजरता है। इसके विपरीत, दक्खिनी रास्ता

१. फूरो, वही, पृ० १४

२. कैमिज हिस्ट्री, ३, पृ० २९

सूखे ऊँचे प्रदेश से होकर गुजरता है। भविष्य में जब भूगर्भ और डेराइस्माइलवाँ होकर गजनी और गोमल की तरफ रेल निकल जायगी तब इसका महत्त्व बढ़ जायगा। पर दिल्ली से लेकर बनारस तक दोनों ही मार्गों की अहमियत उपजाऊ मैदान में जाने से एक-सी है। फिर भी, उत्तरी रास्ता हिमालय प्रदेश का व्यापार सँभालता है और दक्षिणी रास्ता सिन्ध-प्रदेश का। बनारस के बाद, दक्षिणी रास्ते का उत्तरी रास्ते के बनिस्वत प्रभाव बढ़ जाता है; क्योंकि उत्तरी रास्ता तो आसाम की ओर रुख करता है; पर दक्षिणी रास्ता कलकत्ता से समुद्र की ओर जाता है। चीन में कम्युनिस्ट राज तथा तिब्बत और उत्तरी बर्मा पर उनके प्रभाव से उत्तरी रास्ते का महत्त्व किसी समय बढ़ सकता है।

पेशावर से बंगाल के रास्ते पर नदियों के सिवा सामरिक महत्त्व के तीन स्थल हैं; यथा, अटक और भेलम के बीच में नमक की पहाड़ियाँ, कुरुक्षेत्र का मैदान तथा बंगाल और बिहार के बीच राजमहल की पहाड़ियाँ। मैदान में नदियाँ विशेषकर बरसात में, यात-निर्यात में अड़चन पैदा करती हैं और, इसीलिए, प्राचीन जनपथ हिमालय के पास-पास से चलता था, जिससे नदी उतरने का सुभीता रहे। प्राचीन समय में ये घाट बढ़ते हुए शत्रुदलों को रोकने के लिए बड़े काम के थे।

अटक और भेलम के बीच का प्रदेश बड़े सामरिक महत्त्व का है; क्योंकि नमक की पहाड़ियाँ उपजाऊ सिन्ध-सागर-दोआब के उत्तरी भाग को नीचे से सूखे-सखे प्रदेश से अलग करती हैं। इसके ठीक उत्तर हजारों को रास्ता जाता है, तथा भेलम के साथ चलता हुआ रास्ता कश्मीर को।

खास पंजाब सतलज के पूर्वी किनारे पर समाप्त हो जाता है और वहीं फिरोजपुर और भटिन्डा की छावनियाँ दिल्ली जानेवाले रास्ते की रक्षा करती हैं। कुरुक्षेत्र का मैदान सिन्ध और गंगा की नदी-गच्छतियों के जलविभाजक का काम करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि कुरुक्षेत्र का मैदान बड़े सामरिक महत्त्व का है। इसके उत्तर में हिमालय पड़ता है और दक्षिण में मारवाड़ का रेगिस्तान। इन दोनों के बीच में एक तंग मैदान सतलज और यमुना के खादर जोड़ता है। पंजाब और दक्षिण के बीच का यही प्राकृतिक रास्ता है। अगर पंजाब से बढ़ती हुई शत्रुसेना सतलज तक पहुँच जाय तो भौगोलिक अवस्था के कारण उसे कुरुक्षेत्र के मैदान में आना होगा। कौरवों और पाण्डवों का महायुद्ध यहीं हुआ था तथा पृथ्वीराज और मुहम्मद गोरी के बीच भारत के भाग्य का फैसला करनेवाली तरावड़ी की लड़ाई भी यहीं लड़ी गई थी। पानीपत में बाबर द्वारा इब्राहीम के हराये जाने पर यहीं पुनः एक बार भारत के भाग्य का निबटारा हुआ। १८ वीं सदी में अहमदशाह अब्दाली ने यहीं मराठों को हराकर उनकी रीढ़ तोड़ दी। देश-विभाजन के बाद पश्चिमी पंजाब से भागते हुए शरणार्थियों ने भी इसी मैदान में इकट्ठे होकर अपनी जान और इज्जत की रक्षा की।

गंगा के मैदान के घाट भी उतना ही महत्त्व रखते हैं; जितना पंजाब की नदियों के घाट। दिल्ली, आगरा, कन्नौज, अयोध्या, प्रयाग, बनारस, पटना और भागलपुर नदियों के किनारे बसे हैं और उन नदियों के पार उतरने के रास्तों की रक्षा करते हैं। गंगा और यमुना के संगम पर प्रयाग तथा गंगा और सोन के संगम पर पटना सामरिक महत्त्व के नगर हैं, पर साथ-ही-साथ यह जान लेना चाहिए कि यमुना और उसकी सहायक नदियों पर प्रयाग तक लगनेवाले घाट तथा गंगा के दक्षिणी सिरे पर लगनेवाले घाट भीतर के लगनेवाले घाटों की अपेक्षा विशेष महत्त्व के

हैं। आगरा, धौलपुर, कालपी, प्रयाग और चुनार इसी श्रेणी में आते हैं। मालवा और राजस्थान का मार्ग यमुना को आगरा पर पार करता है तथा बुन्देलखण्ड और मालवा का रास्ता उसी नदी को कालपी पर। प्राचीनकाल में प्रयाग के कुछ ही ऊपर कौशाम्बी बसा था जहाँ भदोच से एक रास्ता आता था। कौशाम्बी के नीचे गंगा और यमुना पर खूब नावें चलती थीं। इसका स्थान अब प्रयाग ने ले लिया है।

उत्तरप्रदेश और बंगाल से आनेवाली सेनाओं के मिलने का प्राकृतिक स्थान बिहार में बक्सर है; क्योंकि इसके बाद गंगा इतनी चौड़ी हो जाती है कि वह केवल अग्निबोटों से ही पार की जा सकती है। उद्दईभद्र द्वारा पाटलिपुत्र की नाव डालना भी इसी मतलब से था कि गंगा के घाट की लिच्छवियों के बढ़ते हुए प्रभाव से रक्षा की जा सके। पटना के आगे दक्षिण बिहार की पहाड़ियों गंगा के साथ-साथ बंगाल तक बढ़ जाती हैं और इसीलिए बिहार से बंगाल का रास्ता एक सँकरी गली से होकर निकलता है।

हमने ऊपर उत्तर भारत की पथ-पद्धति का सरसरी दृष्टि से एक नक्शा खींचा है और यह भी बतलाने का प्रयत्न किया है कि ये रास्ते किन भौगोलिक परिस्थितियों के अधीन होकर चलते हैं, पर यहाँ हम इस बात पर जोर देना चाहते हैं कि जिन रास्तों का हमने ऊपर वर्णन किया है उनके विकास में हजारों वर्ष लग गये होंगे। हमें पता चलता है कि ईसा-पूर्व पाँचवीं सदी या उसके कुछ पहले भी उत्तरी और दक्षिणी महाजनपथ विकसित हो उठे थे। इस बात की भी सम्भावना है कि इन्हीं रास्तों से होकर उत्तर-पश्चिम से आर्य भारत में भूस्थापना के लिए आगे बढ़े। हम ऊपर बाढ़ीक-पुष्करावती, काबुल-पेशावर तथा पेशावर-पुष्करावती-तक्षशिला के रास्तों के टुकड़ों की खानबीन कर चुके हैं। और यह भी बता चुके हैं कि महाभारत ने कहाँ तक उन सड़कों के नाम छोड़े हैं। बौद्धपालि-साहित्य में बलख से तक्षशिला होकर मथुरा तक के राजमार्ग का बहुत कम विवरण है। भाग्यवश, रामायण तथा मूलसर्वास्तिवादियों के 'विनय' में तक्षशिला से लेकर मथुरा तक चलनेवाले रास्ते का अच्छा विवरण है।^१ मूलसर्वास्तिवादियों के विनय से पता चलता है कि जीवक कुमारमृत्यु तक्षशिला से भद्राकर, उदुम्बर और रोहीतक होते हुए मथुरा पहुँचा। श्रीप्रिजलुस्की ने भद्राकर की पहचान साकल यानी, सियालकोट से की है। उदुम्बर पठानकोट का इलाका था और रोहीतक आजकल का रोहतक है। चीनी यात्री चेमाङ् ने इसी रास्ते पर अग्रोतक का नाम भी दिया है जिसकी पहचान रोहतक जिले में अग्रोहा से की जा सकती है।^२

ऐसा मान्य पड़ता है कि इस सड़क पर औदुम्बरों का काफी प्रभाव था जो कि उनकी भौगोलिक स्थिति की वजह से कहा जा सकता है। पठानकोट के रहनेवाले उदुम्बर मगध और कश्मीर के बीच के व्यापार में हिस्सा बँटाते थे। काँगड़ा के व्यापार में भी उनका हिस्सा होता था; क्योंकि आज दिन भी चम्बा, नूरपुर और काँगड़ा की सड़कें यहाँ मिलती हैं। देश के बँटवारे के बाद पठानकोट और जम्मू के बीच की नई सड़क भारत और कश्मीर की घाटी के जोड़ने का एकमात्र रास्ता है। प्राचीन समय में इस प्रदेश में बहुत अच्छा ऊनी कपड़ा भी बनता था जिस कोटुंबर कहते थे।

१. गिजगिट टेबु, २, २, ५-३३-३५

२. बुनाल आशियतीक, १९२६, पृ० ३-७

साकल यानी आधुनिक सिवालकोट, प्राचीन समय में मद्रों की राजधानी था ^१ । इस नगर को मिथिल-प्रान में पुष्पभेदन कहा गया है । पुष्पभेदन में बाहर से थोक माल की सुहरबन्द गठरियाँ उतरती थीं और वहाँ गठरियाँ तोड़कर उनका माल फुटकरियों के हाथ बेच दिया जाता था ।

पठानकोट-रोहतकवाले हिस्से पर, महाभारत के अनुसार बहुयान्यक (लुधियाना), शैरोषक (गिरवा) और रोहीतक पड़ते थे (म० भा० २।२६।५-६) । महाभारत को रोहतक के दक्षिण पड़ने वाले रेगिस्तानी इलाकों का भी पता था । रोहतक से होकर प्राचीन महापथ मथुरा चला जाता था जो प्राचीन भारतवर्ष में एक बहुत बड़ा व्यापारी नगर था ।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, रामायण में (२।७४।११-१५) भी पश्चिम पंजाब से लेकर अयोध्या तक के प्राचीन महापथ का उल्लेख है । केकय से भरत को अयोध्या लाने के लिए दून अयोध्या के बाद गंगा पार करके हस्तिनापुर (हसनापुर, मेरठ जिला) पहुँचे । उसके बाद वे कुश्नत्र आये । वहाँ वाष्णी तीर्थ देखकर उन्होंने सरस्वती नदी पार की । उसके बाद उत्तर की ओर चलते हुए उन्होंने शरदंडा (आधुनिक सरहिंद नदी) पार की । आगे बढ़कर वे भूमिगों के प्रदेश में पहुँचे और शिवालिक के पार की पहाड़ियों पर उन्होंने सतलज और व्यास को पार किया । इस तरह चलते हुए वे अजकूला नदी (आधुनिक आजी) पर बसे हुए साकल नगर में आये और वहाँ से तक्षिला के रास्ते से केकय की राजधानी गिरिव्रज, जिसकी पहचान जलालपुर के पास गिर्यक से की जाती है, पहुँचे ।

मथुरा से लेकर राजगृह तक महाजनपथ का अन्ध्रा वर्णन बौद्ध-साहित्य में मिलता है । मथुरा से यह रास्ता बेरंजा, सोरेय्य, संकिस्स, कणकुज होते हुए पयागतिथ्य पहुँचता था जहाँ वह गंगा पार करके बनारस पहुँचता था ^२ । इसी रास्ते पर वरणा (वारन-बुलन्दशहर) और आलवी (अरवल) भी पड़ते थे । बेरंजा की ठीक-ठीक पहचान नहीं हुई है; लेकिन यह जगह शायद धौलपुर जिले में बारी के पास कहीं रही होगी जहाँ से अश्वमेधनी के समय में महाजनपथ का एक खण्ड शुरू होता था । अंगुत्तरनिकाय में कहा गया है कि बुद्ध ने बेरंजा के पास सब्बक पर भोज को उपदेश दिया ^३ । सोरेय्य की पहचान एग जिले के प्रसिद्ध तीर्थ सोरों से की जाती है । इस नगर का तक्षशिला के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था ^४ । संकिस्स की पहचान फर्रुखाबाद जिले के संकीसा गाँव से की जाती है । बौद्ध-साहित्य के अनुसार थावस्ती से यह तीस योजन पर पड़ता था । रेवत थेरा, सोरेय्य (सोरों) से सहजाति के रास्ते पर (भीम, इलाहाबाद) संकिस्स, कणकुज, उदुम्बर और अमलपुर होकर गुजरे । आलवक, थावस्ती से तीस योजन और राजगृह के रास्ते पर, बनारस से दस योजन पर था ^५ । कहा जाता है कि एक समय बुद्ध थावस्ती से कीडगिरि (केराकत, जौनपुर जिला, उत्तरप्रदेश) पहुँचे । वहाँ से आलवी होते हुए अन्त में राजगृह आ पहुँचे ^६ । कौशाम्बी साथी का प्रधान अग्ना था और यहाँ से कोशल और मगध को बराबर रास्ते

१. मोतोचन्द, वही, २, पृ० ११-१६

२. विनय, ३, २

३. डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स, देखो बेरंजा

४. धम्मपद अट्ठकथा १, १२३

५. वही, ३, २२४

६. विनय, २, १७०-७१

चला करते थे।^१ नदी के रास्ते बनारस की दूरी यहाँ से तीस योजन थी। माहिष्मती होकर दक्षिणपथवाला रास्ता कौशाम्बी होकर गुजरता था।^२

पूर्व-पश्चिम महाजनपथ पर, जिसे पालि-साहित्य में पुब्वन्ता-अपरन्त कहा गया है, बनारस एक प्रधान व्यापारिक नगर था (जा० ४, ४०५, गा० २४४)। इसका सम्बन्ध गन्धार और तक्षशिला से था (धम्मपद, अट्ठकथा, १, १२३)। तथा सोनीरवाले रास्ते से यहाँ घोड़े और खच्चर आते थे।^३ उत्तरापथ के सार्थ बहुधा बनारस आते थे।^४ बनारस का चेदि (बुन्देलखण्ड) और उज्जैन के साथ, कौशाम्बी के रास्ते, व्यापारिक सम्बन्ध था।^५ यहाँ से एक रास्ता राजगृह को जाता था^६ और दूसरा श्रावस्ती को। श्रावस्तीवाला रास्ता कीटगिरि होकर जाता था। वेरंजा से बनारस को दो रास्ते थे। सोनैय्यवाला रास्ता पेचीदा था, लेकिन दूसरा रास्ता गंगा को प्रयाग में पार करके, सीधा बनारस पहुँच जाता था। बनारस से महाजनपथ, उक्केल (सोनपुर, बिहार) पहुँचता था और वहाँ से वैशाली (बसाइ— जिला मुजफ्फरपुर, बिहार), जहाँ श्रावस्ती से राजगृह के रास्ते के साथ वह मिल जाता था।^७ बनारस और उक्केल (गया) के बीच भी एक सीधा रास्ता था। बनारस का अधिक व्यापार गंगा से होता था। बनारस से नावें प्रयाग जाती थीं और वहाँ से यमुना के रास्ते इन्द्रप्रस्थ पहुँचती थीं।^८

उत्तरापथ से दूसरा रास्ता कोसल की राजधानी श्रावस्ती को आता था। यह रास्ता, जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, सहारनपुर से लखनऊ होकर बनारस को रेल का रास्ता पकड़ता था। लखनऊ से यह रास्ता गोंडे की ओर चला जाता था। इस रास्ते पर कुरुजांगल, हस्तिनापुर और श्रावस्ती पड़ते थे।

श्रावस्ती से राजगृह का रास्ता वैशाली होकर जाता था। पर्याएवग^९ में श्रावस्ती और राजगृह के बीच निम्नलिखित पड़ाव दिये हैं—यथा सेतव्या, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा और भोगनगर। उपर्युक्त पड़ावों में सेतव्या, जो जैन-साहित्य में केयड्वाड की राजधानी कही गई है।^{१०}, सहेठ-महेठ, यानी श्रावस्ती के ऊपर पड़ती थी। ताप्ती नदी पर नेपालगंज स्टेशन से कुछ दूर नेपाल में बालापुर के पास श्री० बी० स्मिथ को एक प्राचीन नगरी के भग्नावशेष मिले थे (जे० आर० ए० एस०, १८६८, पृ० ५२७ से) जिन्हें उन्होंने श्रावस्ती का भग्नावशेष मान लिया, पर श्रावस्ती तो सहेठ-महेठ है। बहुत सम्भव है कि बालापुर के भग्नावशेष सेतव्या के हों।

१. विनय, १, २५७

२. सुत्तनिपात, १०१०-१०१३

३. जा०, १, १२४, १७८, १८१; २, ३१, २८७

४. दिव्यावदान, पृ० २२

५. जा०, १, १२३-२४

६. विनय, १, २१२

७. विनय, १, २२०

८. जा० ६, ४४७

९. डिक्शनरी ऑफ पाजि प्रापरनेम्स २, ११२९

१०. जैन, लाइफ इन एंशेंट इंडिया एजड डिपिकटेड इन जैन केनन्स, पृ० २१४, बंबई, १९४०

पावा की पहचान गोरखपुर जिले की पड़रौना तहसील के पपउर गाँव से की जाती है। वैशाली में श्रावस्तीवाला उत्तरी रास्ता और बनारसवाला दक्खिनी रास्ता मिल जाते थे। प्रधान रास्ता तो चंपा (भागलपुर) को चला जाता था। पर एक दूसरा रास्ता दक्षिण की ओर राजगृह की तरफ मुड़ जाता था। श्रावस्ती से साकेत होकर कौशाम्बी को भी एक रास्ता था। विशुद्धि मग्ग (पृ० २६०) के अनुसार श्रावस्ती से साकेत सात योजन पर स्थित था और घोड़ों की ढाक से यह रास्ता एक दिन में पार किया जा सकता था। इस रास्ते पर डाकू लगते थे और राज्य की ओर से यात्रियों के लिए रक्षकों का प्रबन्ध था।^१

श्रावस्ती (सहैठ-महैठ, गोंडा जिला, उत्तर प्रदेश) प्राचीन काल में एक मशहूर व्यापारिक नगरी थी और यहाँ के प्रसिद्ध सेठ अनाथ पिण्डिक बुद्ध के अनन्य सेवक थे। उपनगर में बहुत-से निषाद रहते थे जो शायद नाव चलाने का काम करते थे।^२ नगर के उत्तरी द्वार से एक रास्ता पूर्वी भदिया (मुंगेर के पास) जाता था। यह सड़क नगर के बाहर अचिरावती को नावों के पुल से पार करके आगे बढ़ती थी। श्रावस्ती के दक्खिनी फाटक के बाहर खुले मैदान में फौज पड़ाव डालती थी। नगर के चारो फाटकों पर चुंगीघर थे।

पालि-साहित्य में भिन्न-भिन्न नगरों से श्रावस्ती की दूरी दी हुई है जिससे उसका व्यापारिक महत्त्व प्रकट होता है। श्रावस्ती से तच्चशिला १६२ योजन पर थी, संकिस्स (संकीसा) ३० योजन, साकेत (अयोध्या) ६ योजन, राजगृह ६० योजन, मच्छिकादण्ड ३० योजन, सुप्पारक (सोपारा) १२० योजन, अग्गालव ३० योजन, उप्पनगर १२० योजन, कुररघर १२० योजन, अंगुलिमाल २० योजन और चन्द्रभागा नदी (चेनाव) १२० योजन, पर श्रावस्ती से इन स्थानों की ठीक-ठीक दूरी इसलिए निश्चित नहीं की जा सकती; क्योंकि प्राचीन भारत में योजन की माप निर्धारित नहीं थी। अगर हम योजन को आठ अंग्रेजी मील के बराबर भी मान लें तब भी श्रावस्ती से उपर्युक्त स्थानों की नक्शे पर दी गई दूरियाँ ठीक नहीं बैठतीं।

श्रावस्ती से महाजनपथ वैशाली पहुँचकर पूरब चलता हुआ भदिया (मुंगेर) पहुँचता था और फिर प्रसिद्ध व्यापारिक नगर चम्पा। यहाँ से वह कजंगल (काँकजेल, राजमहल, बिहार) होते हुए बंगाल में घुसकर ताम्रलिप्ति (तामलुक) पहुँच जाता था।

वैशाली से दक्षिण जानेवाली महापथ की शाखा पर अनेक पड़ाव थे जिनपर बुद्ध राजगृह से कुसीनारा की अपनी अंतिम यात्रा में ठहरे थे।^३ वे राजगृह से अंबलटिठक और नालन्दा होते हुए पाटलिग्राम में गंगा पार कर कोटिगाम और नादिका होते हुए वैशाली पहुँचे थे। यहाँ से श्रावस्ती का रास्ता पकड़कर मण्डगाम, हत्थिगाम, अम्बगाम, जम्बुगाम, भोगनगर तथा उत्तर पावा (पपउर, पड़रौना तहसील, गोरखपुर) होते हुए वे मल्लों के शालकुंज में पहुँचे थे। गंगा के मैदान में उत्तरी और दक्षिणी रास्तों के उपर्युक्त वर्णन से हम प्राचीन काल में उनकी चाल का पता लगा सकते हैं। महाजनपथ तच्चशिला से साकल, पठानकोट होता हुआ रोहतक पहुँचता था। पानीपत के मैदान में उसकी दो शाखाएँ हो जाती थीं। दक्षिणी शाखा थूणा (थानेसर), इन्द्रप्रस्थ होकर मथुरा, सोरेस्थ (सोरों), कपिल, संकिस्स (संकीसा), कण्णकुज

१. 'डिक्शनरी', २, १०८४

२. राहुज, पुरातत्त्वनिबंधावली, पृष्ठ, ३३-३२, एलाहाबाद १९३६

३. 'डिक्शनरी', २, ७२३

(कन्नौज) होते हुए आलवी (अरवल) पहुँचती थी। गंगा के दाहिने किनारे-किनारे चतता हुआ रास्ता नदी को प्रयाग में पार करके बनारस पहुँचता था। प्रयाग के पास कौशाम्बी से एक रास्ता साकेत होकर थावस्ती चला जाता था; पर प्रधान पथ उत्तर-पूरुब की ओर चलते हुए उकचेल (सोनपुर) पहुँचता था और वहाँ से वैशाखी जहाँ वह उत्तरी रास्ते से मिल जाता था। यह उत्तरी रास्ता अम्बाजा होते हुए हरितानपुर पहुँचता था। उसके बाद रामगंगा पार करके वह साकेत पहुँचता था और उत्तर जाते हुए थावस्ती से होकर कपिलवस्तु । वहाँ से दक्षिण-पूर्वी रुख पकड़कर यावा और कुशीनारा होता हुआ रास्ता वैशाखी पहुँचकर दक्षिण की रास्ते से मिल जाता था। फिर यहाँ से दक्षिण-पूर्वी रुख लेकर वह भदिया, चम्पा, कजंगल होता हुआ ताम्रलिति पहुँचता था। वैशाखी से दक्षिण राजगृह का रास्ता पाटलिप्राम, उल्लेख और गोरखगिरि (बराबर की पहाड़ी) होता हुआ राजगृह पहुँचता था। कुल्लेख से राजगृह के इस रास्ते का उल्लेख महाभारत (म० भा० २।१८।१९-२०) में भी है। कृष्ण और भीम इसी रास्ते से जरासन्ध के पास राजगृह पहुँचे थे। महाभारत के अनुसार वह रास्ता कुल्लेख से आरम्भ होकर कुल्लेख होकर तथा सरयु पार करके पूर्वकोशल (शायद कपिलवस्तु) होकर मिथिला पहुँचता था। इसके बाद गंगा और सोन के संगम को पार करके वह गोरखगिरि पहुँचता था जहाँ से राजगृह साफ-साफ दिखलाई देता था।

चीनी यात्री भी उत्तर-भारत की पथ-पद्धति पर काफी प्रकाश डालते हैं। फाहियेन (करीब ४०० ई०) और सुंग्युन (करीब ५२५ ई०) उड़ीयान के रास्ते भारत में घुसे; पर युवानच्वाङ् ने बलख से तक्षशिला का सीधा रास्ता पकड़ा और लौटते समय वे कन्धार के रास्ते लौटे। तुर्कान और कपिशि के बीच का इलाका उस समय तुर्कों के अधीन था। युवानच्वाङ् बलख, कपिशि, नगरहार, पुषपुर, पुष्करावती और उदमारण होते हुए तक्षशिला पहुँचे।

चौदह बरस बाद जब युवानच्वाङ् भारत से चीन को लौटे तो वे उदमारण में कुछ समय तक ठहरे। फिर वहाँ से लम्पक (लगमान) होते हुए खुर्रम की घाटी से होकर वणु (बन्नु) के दक्षिण में पहुँचे। वणु या 'फतन' में उस युग में वजीरिस्तान के सिवाय गोमल और उसकी दो सहायक नदियाँ म्फोव (यम्बावती) और कन्दर की घाटियाँ भी शामिल थीं। वहाँ से २००० ली चलने के बाद उन्होंने एक पर्वतमाला (तोबा-काकेर) और एक बड़ी घाटी (गजनी, तरनाक) पर भारतीय सीमा पार की और किलात-ए-गिलजई के रास्ते वह त्वाओ-फिउ-त्स यानी जागुइ (बाद की जगुरी) पहुँचे। जागुइ के उत्तर का प्रदेश फो-लि-शि-तंग-ना अथवा वृजिस्थान था जिसका नाम आज भी उज्जिस्तान अथवा गजिस्तान में बच गया है।^१

युवानच्वाङ् के यात्रा-विवरण से इस बात का पता नहीं चलता कि उन्होंने पश्चिम का कौन-सा रास्ता लिया और वह कपिश के रास्ते से कहाँ मिलता था। श्री फूरो का खयाल है कि उनका रास्ता अरंगदाब के उद्गम से दशत-ए-नावर और बोक्न के दर्रे से होता हुआ लोगर अथवा उसकी सहायक नदी खावत की ऊँची घाटी पर पहुँचता था।^२ यहाँ से कपिश पहुँचने के लिए उन्होंने उत्तर-पूर्वी रुख लिया और उनका रास्ता हेरात-काबुल के रास्ते से हज़ारजात में जलरेज पर अथवा कन्धार-गजनी-काबुल के रास्ते से मैदान पर आ मिलता। काबुल से वे पगमान के बाहर पहुँचे

१. फूरो, वही, पृ० २३१

२. फूरो, वही, पृ० २३१

और फिर उत्तर का रुख करके उन्होंने कपिश की सीमा पर अनेक पर्वत, नदियाँ और कस्बे पार किये। आधुनिक भौगोलिक ज्ञान के आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उन्होंने हिंदूकुश के दक्खिन पहुँचने के लिए पगमान का पूर्वी पाद पार किया। इस रास्ते पर उन्हें यह कठिन दर्रा मिला जिसकी पहचान फ़ोशे खाबक से करते हैं। जो भी हो, युवानच्चाङ्ग इस रास्ते से अंधराब की घाटी में पहुँचे और वहाँ से उत्तर के रुख में खोस्त होते हुए वे बदरशाँ और वलों से पामीर पहुँचे।

भारत के भीतर यात्रा में युवानच्चाङ्ग ने गन्धार में पहुँचकर बहुत-से संधाराम और बान्दतीर्थ देखने के लिए अनेक रास्ते लिये। गन्धार से वे उड्डियान (स्वत) की राजधानी मंग-की यात्री मंगलोर पहुँचे।^१ इस प्रदेश की सैर करके उत्तर-पूर्व से वे दोरेल में छुसे।^२ यहाँ से कठिन पहाड़ी यात्रा में भूलों से सिन्धु पार करके वे बोलोर पहुँचे।^३ इसके बाद वे पुनः उदभाण्ड लैंड आये और वहाँ से तक्षशिला पहुँचे। तक्षशिला के उरवा (हजारा जिला) के रास्ते वे कश्मीर पहुँचे। वहाँ से वे एक कठिन रास्ते से पूँछ पहुँचे और पूँछ से राजोरी होते हुए वे कश्मीर के दक्खिन-पश्चिम में पहुँचे।^४ कश्मीर जाने के लिए बाद में मुगलों का यही रास्ता था। राजोरी से दक्खिन-पूर्व में जाकर वे एक देश पहुँचे और दो दिनों की यात्रा के बाद व्यास पार करके वे साकल पहुँचे।^५ यहाँ से वे चीनमुक्ति या चीनपति, जहाँ कनिष्क ने चीन के कैरी रखे थे और जिसकी पहचान कसूर से २७ मील उत्तर पत्ती से की जाती है, पहुँचे।^६ यहाँ से तमसावन होते हुए वे उत्तर-पूरब में जालन्धर पहुँचे। यहाँ से कुनू की यात्रा करके वे पार्थात्र पहुँचे जिसकी पहचान अभी नहीं हो सकी है। यहाँ से वे कुरुक्षेत्र होते हुए मथुरा आये।

तक्षशिला और मथुरा के बीच महापथ के उपयुक्त विवरण से यह साफ हो जाता है कि ७ वीं सदी में भी महाजनपथ का रुख वही था जो बौद्धकाल में; गो कि उसपर पड़नेवाले बहुत-से नाम, शताब्दियों में राजनैतिक कारणों से, बदल गये थे।

युवानच्चाङ्ग की यात्रा का दूसरा मार्ग स्थानेश्वर (थानेसर) से शुरू होता है। यहाँ से वह उत्तर-पूर्व में सु-लुकिन होते हुए रोहिलखण्ड में मतिपुर पहुँचे।^७ यहाँ के बाद गोविषाण (काशीपुर, कुमाऊँ) और उसके बाद दक्खिन-पूर्व में अहिच्छत्र पड़ा।^८ इसके बाद दक्खिन में विलसाण (अतरजी खेड़ा, एटा जिला, यू० पी०)^९ पड़ा और इसके बाद सेकास्य या संकीस; इसके बाद, कान्गकुब्ज होते हुए वे अयोध्या पहुँचे^{१०} और वहाँ से अयमुख और प्रयाग होते हुए वे विशोक पहुँचे।

चीनी यात्री के रास्ता हेर-फेर कर देने से उपयुक्त यात्रा गड़बड़-सी लगती है। थानेसर से अहिच्छत्र तक तो उन्होंने उत्तरी पथ पकड़ा, पर उसके बाद कन्नौज से दक्खिनी रास्ते से वे प्रयाग

१. वाटर्स, वही, पृ० १, २२७
२. वही, २३६—४०
३. वही, १, २८६ से
४. वही, १, २६४
५. वही, १, २२२
६. वही, ३६२-३६३

७. वही, २३६
८. वही १, २८३-८४
९. वही, १, २६२ से
१०. वही, १, ३१७
११. वही, ३३०-३३१
१२. वही, ३६४

पहुँचे, पर विशेष से, जिसकी पहचान शायद लङ्गन क्रान्ति से ही जा सकती है, वे फिर उत्तरी मार्ग पर होकर श्रावस्ती पहुँचे और वहाँ से कपिलवस्तु जो ७ वीं सदी में पूरा उजाड़ हो चुका था।^२ कपिलवस्तु के पास लुम्बिनी होकर वे रामग्राम पहुँचे और वहाँ से कुशीनारा।^३

ऊपर दक्षिण मार्ग से, हम अपने यात्री की यात्रा प्रयाग तक, जहाँ से गंगा पार करके बनारस पहुँचा जाता था, देख चुके हैं। कुशीनारा से बनारस पहुँचकर हमारे यात्री ने बिहार की तरफ यात्रा की। वे बनारस से गंगा के साथ-साथ, चान-चु प्रदेश, जिसकी पहचान महाभारत के कुमार विषय ४ से की जा सकती है और जिसमें उत्तर प्रदेश के गाजीपुर और बलिया जिले पड़ते हैं, पहुँचे। यहाँ से आगे बढ़ते हुए वे वैशाली पहुँचे।^४ यहाँ नैपाल की यात्रा करके वापस आये और फिर पाटलिपुत्र आये।^५ पाटलिपुत्र से उन्होंने गया और राजगृह की यात्रा की।

शायद फिर वे राजगृह से वैशाली लौटे और महापथ पकड़कर चम्पा (भागलपुर, बिहार) ७ होते हुए कज्जंग (कंजोत, राजपहल, बिहार) पहुँचे और यहाँ से उत्तरी बंगाल में पुण्ड्रवर्धन होते हुए ताम्रलिप्ति पहुँचे।^८

उपर्युक्त विवरण से हमें पता चलता है कि सातवीं सदी में भी वे ही रास्ते चलते थे जो ई. पू. पाँचवीं सदी में। ईसा की ग्यारहवीं सदी में भी भारत की पथ-पद्धति वही थी, गो कि इस युग में उसपर के बहुत-से प्राचीन नगर नष्ट हो गये थे और उनकी जगह नये नगर बस गये थे। ग्यारहवीं सदी की इस पथ-पद्धति में, अलबीरनी के अनुसार, ९ पन्द्रह मार्ग आते थे जो कन्नौज, मथुरा, अनहिलवाड़, धार, बाड़ी और बयाना से चलते थे। कन्नौजवाला रास्ता प्रयाग होते हुए उत्तर का रुख पकड़कर ताम्रलिप्ति पहुँचता था और यहाँ से समुद्र का किनारा पकड़कर कांची से होकर सुदूर दक्षिण पहुँचता था। कन्नौज से प्रयाग तक के रास्ते पर निम्नलिखित पड़ाव पड़ते थे यथा जाजमऊ, अमपुरी, कड़ा और ब्रह्मशिला। यह बात साफ है कि यह रास्ता दक्षिणी रास्ते के एक भाग की ओर संकेत करता है। बाड़ी (बोतपुर की एक तहसील) से गंगासागर के महापथ में हम उत्तरी महापथ के चिह्न पा सकते हैं। बाड़ी से रास्ता अयोध्या होते हुए बनारस पहुँचता था और यहाँ दक्षिणी मार्ग के साथ होकर उत्तर-पूर्व के रुख में सरवार (गोरखपुर, उत्तर प्रदेश) होकर पटना, मुंगेर, चम्पा (भागलपुर), दुगमपुर होते हुए गंगासागर जहाँ गंगा समुद्र से मिलती है, पहुँचता था। कन्नौज से एक रास्ता (नं ४) आसी (अलीगढ़, उत्तर प्रदेश), जन्द्रा (?) और राजौरी होते हुए बगाना (भरतपुर, राजस्थान) पहुँचता था। नं० १४ की यात्रा कन्नौज से पानीपत, अटक, काबुल से गजनी तक चलती थी। नं० १५ की यात्रा की सड़क बरामूना से आदिस्थान तक की थी। नं० ५ की यात्रा कन्नौज से कामरूप, नेपाल और तिब्बत की सीमा को जाती थी। स्पष्ट है कि यह यात्रा गंगा के मैदान की उत्तरी सड़क से होती थी।

सुगल-काल में उत्तर-भारत की पथ-पद्धति का पता हमें डब्लू. फिच, तार्नियर, टोफेन थालर और चहार्गुत्तशन से लगता है। रास्तों पर पड़नेवाले पड़ावों के नाम यात्रियों ने भिन्न-भिन्न

१. वही, ३७७

२. वही, २, २४

३. वही, २, ६३

४. वही, २, १८१

५. सचाज, इंडिया; १, पृ० २०० से

६. वही, २, १ से

७. वही, २, २६, म० भा०, २११।१

८. वही, २, ८३ से

९. वही, २, १८६

दिये हैं जिनका कारण यह है कि वे स्वयं भिन्न-भिन्न पहाड़ों पर ठहरे। चहारमुखरान में ऐसे २४ रास्तों का उल्लेख है; पर वास्तव में, वे रास्ते महापथों के टुकड़े ही थे।

मुगल-काल में महापथ काबुल से आरम्भ होकर बेराम, जगदालक, गण्डमक, जलालाबाद, और अलीमरिब होते हुए पेशावर पहुँचता था। यहाँ से यह अटक के रास्ते हुसैन अब्दाल होते हुए रावलपिण्डी पहुँचता था। यहाँ से रोहतास और गुजरात होकर यह लाहौर आता था।^१ काबुल से एक रास्ता, चारिकार के रास्ते, गौरबन्द और तलीकान होकर बदख्शान पहुँचता था।

खुरो को बगवत दवाने के बाद जहाँगीर ने काबुल से लाहौर तक इसी रास्ते से सफर किया था।^२ चहारमुखरान^३ ने इस रास्ते पर बहुत-से पहाड़ों के नाम दिये हैं। लाहौर से काबुल का यह रास्ता शाहदौला पुल से रावी पार करके खन्खरचीमा (गुजरानवाला से १०^१/_२ मील उत्तर) पहुँचता था, फिर बजीराबाद के बाद, चेनाब पार करके गुजरात जाता था; गुजरात के बाद मेजम पार करना पड़ता था और रावलपिण्डी के बाद अटक पर सिंधु पार किया जाता था; अन्त में, पेशावर होकर काबुल पहुँचा जाता था।

लाहौर से कश्मीर का रास्ता गुजरात तक महापथ का ही रास्ता था। यहाँ से कश्मीर का रास्ता फूटकर भीमबर, नौशेरा, राजोरी, बाना, शादीमर्ग और होरपुर होते हुए धीनगर पहुँचता था। राजोरी से पहुँच होते हुए भी एक रास्ता बारामूला को जाता था। आज दिन भी यह रास्ता चलता है और कश्मीर के प्रश्न को लेकर इसी पर काफी घमासान हुई थी। टॉर्नेनथालर के अनुसार १८वीं सदी के अन्त की अराजकता के कारण व्यापारी कश्मीर जाने के लिए नजीबगढ़ आजमगढ़, धरमपुर, सहारनपुर, ताजपुर, नहान, बिलावपुर, हरीपुर, मकरोडा, भिखली, भरवा और कड़वार होकर धुमावदार, पर सत्तामन रास्ते को पकड़ते थे। शिमला की पहाड़ियों के बीच से होकर जानेवाला यह रास्ता व्यापारियों को लूटपाट से बचाता था।

लाहौर से मुल्तान का रास्ता औरंगाबाद, नौशहरा, चौकीफतू, हक्का और तुलुम्ब होकर गुजरता था।^४

लाहौर से दिल्ली तक का रास्ता पहले होशियारनगर, नौरंगाबाद और फतेहगढ़ होते हुए मुल्तानपुर पहुँचता था, जहाँ शहर के पश्चिम कालना नदी पर और उत्तर में सतलज पर पाट लगते थे। वहाँ के बाद जहाँगीरपुर पर सतलज की पुरानी सतह मिलती थी और उसके बाद किलौर और लुधियाना आते थे। यहाँ से सड़क, सरहिन्द, अम्बाला, थानेसर, तराबकी, कर्नाल, पलौपत और सोनीपत होते हुए दिल्ली पहुँचती थी।^५

दिल्ली से आगरे की सड़क बहापुत, बरपुर, बल्लभगढ़, पलवल, मथुरा, नौरंगाबाद, फरहसराय और गिकन्दरा होकर आगरा पहुँचती थी। दिल्ली-मुरादाबाद - बनारस - पटनावाला रास्ता गाजिपूरीनगर, दासना, हापुड, बागसर, गडमुहम्मद और अमरोडा होकर मुरादाबाद पहुँचता था। मुरादाबाद से बनारस तक के पहाड़ों का उल्लेख नहीं मिलता। बनारस से सड़क

१. डब्लू. फास्टर, जबॉ ट्रावेल इन इंडिया, पृ० १६१ से, खंडन, १९२१

२. तुषूक, १, पृ० २० से

३. जे० सरकार, इंडिया आफ औरंगाजेब, पृ० सी से, कलकत्ता, १६०१

४. वही, पृ० CVI-CVII

५. वही, पृ० XCVIII से

गंजीपुर होकर बम्सर पहुँचती थी जहाँ सात मील दक्खिन में, गंगा पार करके रानीसागर होकर पटना पहुँचती थी।^१ तावर्नियर के अनुसार^२ आगरा-पटना-ढाकावाली सड़क आगरा से फिरोजाबाद, इटावा तथा औरंगाबाद होते हुए एताहाबाद पहुँचती थी। एताहाबाद में मासूल जमा करने के बाद सूबेशर से दस्तक लेकर गंगा पार करके जगदीशधराय होते हुए व्यापारी बनारस पहुँचते थे। गंगा पार करते समय यात्रियों के माल की आन-बीन होती थी और उनसे चुंगी वसूल की जाती थी। बनारस से सैय्यदराजा और मोहन की सराय होकर रास्ता पटना की ओर जाता था। कर्मनासा नदी खुरमाबाद में और सोन सासाराम में पार की जाती थी। इसके बाद दाऊदनगर और अरवल होते हुए पटना आ पहुँचता था। पटना से ढाका के लिए तावर्नियर ने नाव ली तथा बाढ़, क्यूल, भागलपुर, राजमहल होते हुए वह हाजरापुर पहुँचा। यहाँ से ढाका ४५ कोस पड़ता था। लौटते समय तावर्नियर ढाका से कासिमबाजार होते हुए नाव से हुगली पहुँचा।

मुगल-काल में उत्तर भारत की पथ-पद्धति से हम इस नतीजे को पहुँचते हैं कि सिवाय कुछ उपपथों के मध्यकालीन पद्धति से उसमें बहुत कम हेर-फेर हुआ। काबुल से पेशावर तक सीधा रास्ता था। काबुल से गजनी होकर कन्धार का रास्ता चलता था। लाहौर से गुजरात होकर कश्मीर का रास्ता था। पेशावर-बंगाल पथ का दिल्ली-लाहौर खरड वही रुज लेता था जो प्राचीनकाल में। गंगा के मैदान का उत्तरी पथ दिल्ली से मुरादाबाद होकर पटना जाता था। दिल्ली से मुल्तान को भी सड़क चलती थी। पर मध्यकालीन और मुगलकालीन पथ-पद्धतियों में केवल एक फर्क था और वह यह था कि मुगल-युग की सड़कें उन शहरों से होकर गुजरने लगी थीं जो मुक्तमानी सल्तनत में बने और फूले-फूले, और भारत की पथ-पद्धति का इतिहास देखते हुए यह ठीक ही था।

दक्षिण और पश्चिम भारत की पथ-पद्धति

वास्तव में सतपुड़ा की पहाड़ियाँ और विन्ध्यपर्वतश्रेणी उत्तर-भारत को दक्खिन और सुदूर-दक्षिण से अलग करती हैं। विन्ध्यपर्वत अपने प्राकृत सौन्दर्य के साथ-साथ अपने उन पथों के लिए भी प्रसिद्ध है जो उत्तर भारत को पश्चिम किनारे के बन्दरों और दक्षिण के प्रसिद्ध नगरों से जोड़ते हैं। पश्चिम से पूर्व चलते हुए इन राजमार्गों में चार या पाँच जानने लायक हैं।

मारवाड़ के रेगिस्तान और कच्छ के रन की भौगोलिक परिस्थिति के कारण गुजरात और सिन्ध के बीच का रास्ता बड़ा कठिन है। इसीलिए प्राचीन काल में पंजाब और गुजरात के बीच का रास्ता मालवा से होकर जाता था; लेकिन कभी-कभी महमूद-जैसे बड़े विजेता काठियावाड़ का रास्ता कम करने के लिए सिन्ध और मारवाड़ होकर भी गुजरते थे। पर गुजरात और सिन्ध के बीच का रास्ता मामूली तौर से समुद्र से होकर था।

आलावला की पहाड़ियों की तरह दिल्ली-अजमेर-अहमदाबाद का रास्ता मध्य राजस्थान को काटता हुआ आलावला के पश्चिम पाद के साथ अजमेर के आगे तक जाता है। यही रास्ता राजस्थान और दक्खिन के बीच का प्राकृतिक पथ है।

१. वही, पृ० CIX

२. तावर्नियर, ट्रावेल्स, पृ० १११-१०

मथुरा-आगरावाला रास्ता चम्बल की घाटी के ऊपर होते हुए उज्जैन को जाता है और फिर नर्मदा की घाटी में। दक्खिन जानेवाले प्राचीन राजमार्ग का भी यही रुख था। खण्डवा और उज्जैन के बीच जहाँ रेल नर्मदा को पार करती है वहाँ माहिष्मती नगरी थी जिसे अब महेसुर कहते हैं। शायद आर्यों की दक्षिण में बसने वाली यह पहली नगरी है। यह नर्मदा पर उस जगह बसी है जहाँ पर विन्ध्य-पर्वत का गूजरीबाट और सतपुड़ा का सैन्यबाघाट विन्ध्य के दक्षिण जाने के लिए प्राकृतिक मार्ग का काम देते हैं। सतपुड़ा पार करने के बाद दूसरी ओर ताप्ती नदी पर बुरहानपुर पड़ता है। वहाँ से ताप्ती घाटी के साथ-साथ खानदेश होता हुआ एक रास्ता पश्चिमी घाट को पार करके सूरत जाता है और दूसरा रास्ता पूना की घाटी के ऊपर से होता हुआ बरार और गोदावरी की घाटी को चला जाता है।

उज्जयिनी प्राचीन अवन्ती की राजधानी थी। पूर्वो मालवा को आकर कहते थे और इसकी राजधानी बिदिशा थी जिसे आज लोग भेलसा के नाम से जानते हैं। प्राचीन महापथ की एक शाखा भककच्छ और सुपारक के प्राचीन बन्दरगाहों से होती हुई उज्जैन के रास्ते मथुरा पहुँचती थी। महापथ की दूसरी शाखा बिदिशा से बेटवा की घाटी होती हुई कौशाम्बी पहुँचती थी। इस प्राचीन पथ का रुख हम भेलसा से भौंसी होते हुए कालपी के रेल-पथ से पा सकते हैं। इसी रास्ते की गोदावरी के किनारे रहनेवाले ब्राह्मण तपस्वी के शिष्यों ने पकड़ा था। बौद्ध साहित्य में यह कथा आई है कि 'बावरी ने एक ब्राह्मण के शाप का अर्थ समझने के लिए अपने शिष्यों को बुद्ध के पास भेजा था। उसके शिष्यों ने आलस्य से अपनी यात्रा आरम्भ की। वहाँ से वे पतिट्ठान (पैठन-हैदराबाद प्रदेश), महिस्सति (महेसुर-मध्यभारत), उज्जैणी (उज्जैन-मध्य भारत) गोनद, वेदसा (भेलसा-मध्यभारत), वन सङ्घ होते हुए कौशाम्बी पहुँचे। मथुरा-आगरा के दक्खिन कानपुर और प्रयाग तक नीचे देखने से पता चलता है कि बेटवा, टोंस और केन के मार्ग एक दूसरे रास्ते की ओर इशारा करते हैं। केन और टोंस के बीच में विन्ध्यपर्वत की पन्ना श्रृंखला सैकरी पड़ जाती है। उसे पार करके गोन और नर्मदा के जल-विभाजक और जबलपुर तक आसानी से पहुँचा जा सकता है। जबलपुर के पास तेवर चेदियों की प्राचीन राजधानी थी। प्रयाग से जबलपुर का रास्ता बुन्देलखण्ड के महामार्ग का द्योतक है। जबलपुर के कुछ ही उत्तर कटनी से एक दूसरा मार्ग छत्तीसगढ़ को जाता है। जबलपुर से एक रास्ता बेन गंगा का रुख करते हुए गोदावरी की घाटी को जाता है। जबलपुर का खास रास्ता नर्मदा घाटी के साथ-साथ चलता हुआ भेलसा के रास्ते इटारसी पर मिलता है और उज्जैन-माहिष्मती का रास्ता खण्डवा पर।

विन्ध्यपर्वत की पथ-पद्धति दक्खिन में समाप्त हो जाती है। मालवा और राजस्थान से होकर दिल्ली और गुजरात का रास्ता बरौदा के बाद समुद्र के किनारे से दक्षिण की ओर जाता है; पर इसका महत्त्व समुद्र और मैदान के बीच सहायि की दीवार आ जाने से बहुत कम हो जाता है। चम्बई के बाद तो यह रास्ता उपपथों में परिणत हो जाता है।

मालवा का रास्ता सहायि को नासिक के पास नाना घाट से पार करता है और वहाँ से सोपारा चला जाता है।

प्रयाग से जबलपुर का बुन्देलखण्ड-पथ नागपुर आकर आगे गोदावरी की घाटी पकड़-

कर आन्ध्रदेश पहुँच जाता है। बस्तर और मैकाल की पहाड़ियों के घने जंगलों की वजह से यह रास्ता बहुत नहीं चलता था।

दक्षिण-भारत के पथ नदियों के साथ-साथ चलते हैं। पहला रास्ता मनमाड से समुद्री-पट्टम के रेलमार्ग के साथ चलता है। दूसरा पूना से काण्जीवरम् को जाता है, तीसरा गोवा से तम्जोर-नेगापटन, चौथा कालीकट से रामेश्वरम् और पाँचवाँ रास्ता केवल एक स्थानिक मार्ग है; पर चौथा रास्ता पालघाट को पार करता हुआ मालाबार और कोतमण्डल के बीच का खास महापथ है। पहले तीन रास्तों का काफी महत्व था।

मनमाड से दक्षिण-पूर्व जाता हुआ रास्ता कन्नियट और बालाघाट की पर्वत-शृङ्खलाओं को पार करके गोदावरी की घाटी में घुस जाता है। दौलताबाद, औरंगाबाद और जालना होते हुए यह रास्ता नामदेड में गोदावरी को छूता है और उसके साथ कुछ दूर तक जाकर वह उसे बाधे किनारे से पार करता है। रेल यहाँ से दक्षिण हैदराबाद को घुने के लिए मुक जाती है, लेकिन हैदराबाद के उत्तर में वारंगल तक प्राचीन पथ अपने शीघे रास्ते पर मुक जाता है और विजयवाड़ा जाकर बंगाल को काशी की ओर ले जाता है। सुत्तनिपात से^१ यह पता लगता है कि ई. पू. पाँचवीं सदी में यह रास्ता खूब चलता था। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, कावेरी के शिष्य गोदावरी की घाटी के मध्य में स्थित अस्सक से चलकर प्रतिष्ठान पहुँचे और वहाँ से माहिष्मती और उज्जयिनी होते हुए बिडिगा पहुँचे।

पूना से चलनेवाला रास्ता सञ्जादि के अहमदनगर बाहु की ओर जाकर फिर दक्षिण की ओर गोलकुण्डा के पठार की तरफ चला जाता है। भीमा के साथ-साथ चलता हुआ यह रास्ता भीमा और कृष्णा के संगम तक जाता है। इसके बाद वह कृष्णा-तुंगभद्रा के दोआब के पूर्वी तिर्रे पर जाता है और फिर नालमल्ल के पश्चिम में निकल जाता है। इसके बाद वडपेन्नार के साथ-साथ चलकर यह पूर्वो-प्रायः पार करके समुद्र के किनारे पहुँच जाता है।

दक्षिण का तीसरा रास्ता महाराष्ट्र के दक्षिणी तिर्रे से चलकर कृष्णा-तुंगभद्रा के बीच से होते हुए सोती तुंगभद्रा को विजयनगर में पार करके दूसरे रास्ते को पकड़ लेता है या दक्षिण-पश्चिम चलते हुए तुंगभद्रा की हरिहर में पार करके मैसूर में घुसता है और कावेरी के साथ-साथ आगे बढ़ता है।

इतिहास इस बात का प्रमाण है कि ये रास्ते आपस की लड़ाई-भिडार्ड, व्यापार और सांस्कृतिक आदान-प्रदान के प्रधान जरिये थे, फिर भी इन ऐतिहासिक पथों का विशेष विवरण इतिहास अथवा शिलालेखों से प्राप्त नहीं होता। पश्चिम और दक्षिण भारत की पथ-प्रकृति के कुछ टुकड़ों का ऐतिहासिक वर्णन हमें अत्रबोनी से मिलता है। बयासा होकर मारसाह के रेगिस्तान से एक लड़क भाड़ी होती हुई लहरी बन्दर, यानी कराची पहुँचती थी।^२ दिल्ली-अजमेर-अहमदाबाद का रास्ता कन्नौज-बयाना के रास्ते के रुत में ही था।^३ मथुरा-मालवा का रास्ता मथुरा और धारवाडे रास्ते से संकेतित है। उज्जैन होकर बयाना से धार तक एक दूसरा रास्ता भी था। पहला रास्ता, सेण्ड्रल रेलवे से, मथुरा से भोजाल और उसके बाद उज्जैन

१. सुत्तनिपात, गाथा, ४०११, १०१०-१०१२

२. सञ्जाद, वही, १, २१६-२१७

३. वही, १, २०२

तथा 'दौर' से धार, इससे संकेतित है। धार का दूसरा रास्ता वेस्टर्न रेलवे के उस पथ से संकेतित है जो भरतपुर से नागदा जाता है और वहाँ से छोटी लाइन होकर उज्जैन और इन्दौर होता हुआ धार पहुँचता है। धार से गोदावरी ओर धार से धाना के पथ वेस्टर्न रेलवे की मनमाड से नागिक और धाना की लाइन से संकेतित है।

मुगल-काल में, उत्तर-भारत से दक्खिन, गुजरात तथा दक्षिण-भारत की सड़कों पर काफ़ी आमदराफ्त थी। दिल्ली से अजमेर का रास्ता सराय अजलावदी, पटौरी, रेवाड़ी, कीड, चुम्सर और सरसरा होकर अजमेर पहुँचती थी। ईलिक्ट (भा० ५) के अनुसार अजमेर से अहमदाबाद को तीन सड़कें थी—यथा, (१) जो मेड़ता, सिरोंही, पट्टन और दीसा होकर अहमदाबाद पहुँचती थी,^२ (२) जो अजमेर, मेड़ता, पाली, भगवानपुर, भालोर और पट्टनवाल होते हुए अहमदाबाद पहुँचती थी, और (३) जो अजमेर से भालोर और हैबतपुर होती अहमदाबाद पहुँचती थी।

सत्रहवीं सदी में बुरहानपुर और सिरोंज होकर सूरत-आगरा सड़क बहुत ही प्रसिद्ध थी, क्योंकि इसी रास्ते उत्तर-भारत का माल सूरत के बन्दर में उतरता था। तावर्नियर और पौडर मण्डी इस रास्ते पर बहुत-से पहाड़ों का उल्लेख करते हैं। सूरत से चलकर नवापुर होते हुए यह सड़क नन्दुरवार होकर बुरहानपुर पहुँचती थी। बुरहानपुर उस युग में एक बड़ा व्यावसायिक केन्द्र था जहाँ से कपड़ा ईरान, तुर्की, रूस, पोलैंड, अरब और मिस्र तक जाता था। बुरहानपुर से रास्ता इक्कावर, विहोर होता हुआ सिरोंज पहुँचता था जो इस युग में अपनी कपड़े की छपाई के लिए प्रसिद्ध था। सिरोंज से यह रास्ता सीकरी बालियर होते हुए धोलपुर पहुँचता था और वहाँ से आगरा।

सूरत से अहमदाबाद होकर भी एक रास्ता आगरा तक चलता था।^३ सूरत से बहौदा और नजियाद होकर अहमदाबाद पहुँचा जा सकता था। अहमदाबाद और आगरा के बीच की प्रसिद्ध जगहों में मेसाणा, सोधपुर, पालनपुर, भिजमाल, जालोर, मेड़ता, डिंडौन, बयाना और फतहपुर-सीकरी पड़ते थे।

तावर्नियर दक्खिन और दक्षिण भारत की सड़कों का भी अच्छा वर्णन करता है, जो कि उनपर पड़नेवाले बहुत-से पहाड़ों की पहचान नहीं हो सकती। सूरत और गोलकुण्डा का रास्ता बारडोली, पिम्पलनेर, देवगाँव, दौलताबाद, औरंगाबाद आदी, नाबेंड होकर था। सूरत और गोवा के बीच का रास्ता डमन, बर्गई, नील, डामोत, राजापुर और वेनरखुला हाकर था।^४

गोलकुण्डा से मसलीपट्टम सी मील पड़ता था, पर हीरे की खानों से होकर जाने में दूरी एक सौ बारह मील हो जाती थी। सत्रहवीं सदी में मसलीपट्टम बंगाल की खाड़ी में एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था जहाँ से पेगू, स्याम, आराकान, बंगाल, कोचीन, चाइना, मका, हुरसुज, माडागास्कर, सुमात्रा और मनीला को जहाज चलते थे।^५

सत्रहवीं सदी में दक्षिण की सड़कों की हालत बहुत खराब थी; उनपर छोटी बैलगादियाँ

१. सरकार, वही CVII

२. तावर्नियर, वही पृ० ४८-६२

३. वही, पृ० ६६-७१

४. वही, पृ० १४२-१४३

५. वही, पृ० १०२

भी बहुत कठिनाई से चल सकती थीं और कभी-कभी तो गाड़ी के पुरबे अलग करके ही वे उन सबकों पर जा सकती थीं। गोलकुण्डा और कन्याकुमारी के बीच की सड़क की भी यही अवस्था थी। इसपर बैतगाड़ियाँ नहीं चल सकती थीं, इसलिए बैल और घोड़े माल खोने के और सवारी के काम में लाये जाते थे। सवारों के लिए पालकियों का भी खूब उपयोग होता था।

भारतवर्ष की उपर्युक्त पथ-पद्धति में हमने उसके ऐतिहासिक और भौगोलिक पहलुओं पर एक सरसरी नजर डाली है। आगे चलकर हम देखेंगे कि इन सबकों के द्वारा न केवल आन्तरिक व्यापार और संस्कृति की वृद्धि हुई; वरन् उन सबकों के ही सहारे हम विदेशों से अपना सम्बन्ध बराबर कायम करते रहे। देश में पथ-पद्धति का विकास सभ्यता के विकास का माप-दण्ड है। जैसे-जैसे महाजनपदों से अनेक उगम निकलते गये, वैसे-ही-वैसे सभ्यता भारतवर्ष के कोने-कोने में फैलती गई और जब इस देश में सभ्यता पूरे तौर से छा गई, तब इन्हीं स्थल और जलमार्गों के द्वारा उस सभ्यता का विकास वृद्धतर भारत में हुआ। हम आगे चलकर देखेंगे कि अनेक युगों तक भारत के महापथों और उनपर चलनेवाले विजेताओं, व्यापारियों, कलाकारों, भिक्षुओं इत्यादि ने किस तरह इस देश की संस्कृति को आगे बढ़ाया।

दूसरा अध्याय

वैदिक और प्रतिवैदिक युग के यात्री

आरम्भ से ही यात्रा, चाहे वह व्यापार के लिए हो अथवा किसी दूसरे मतलब के लिए, सम्भ्यता का एक विशेष अंग रही है। उन दिनों भी, जब संस्कृति अपने बचपन में थी, आर्यों यात्रा करते थे, भले ही उनकी यात्राओं का उद्देश्य आज दिन के यात्रियों के उद्देश्य से भिन्न रहा हो। बड़े-बड़े पर्वत, घनघोर जंगल और जलते हुए रेगिस्तान भी उन्हें कभी यात्रा करने से रोक नहीं सके। अधिकतर आदिम मनुष्यों को यात्राओं का उद्देश्य ऐसे स्थान की खोज थी जहाँ वे आसानी से खाने-पीने की चीजें, जैसे फल, और जानवर तथा अपने डोर-बैंगरों के चराने के लिए चरागाह और रहने के लिए गुफाएँ पा सकते थे। अगर भूमि के बंजर हो जाने से अथवा आबूढ़वा बदल जाने से उनके जीवन-यापन में बाधा पहुँचती थी तो वे नई भूमि की तलाश में वनों और पहाड़ों को पार करते हुए आगे बढ़ते थे।

मनुष्य अपनी फिरदर-अवस्था में अपने पशुओं के लिए चरागाह ढूँढ़ने के लिए हमेशा घूमता रहता था। मनुष्य के इतिहास में बहुत-से ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनसे पता चलता है कि आबूढ़वा बदल जाने से जीवन-यापन में कठिनाई आ जाने के कारण मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा के लिए सुदूर देशों का सफर करने में भी नहीं हिचकता था। हमें इस बात का पता है कि ऐतिहासिक युग में भी शक, जलते हुए रेगिस्तान और कठिन पर्वतों की परवा किये बिना, ईरान और भारत में घुसे। आर्य जिनकी संस्कृति की आज हम तुहाई देते हैं, शायद इसी कारण से घूमने-घामने यूरोप, ईरान और भारत में पहुँचे। अपने इस घूमने-फिरने की अवस्था में आदिम जातियों ने वे नये रास्ते कायम किये जिनका उपयोग बराबर विजेता और व्यापारी करते रहे।

मनुष्य-समाज की कुरकावस्था ने उसे जंगलीपन से निकालकर उसका उस भूमि के साथ सामन्ध्य कर दिया जो उसे जीवन-यापन के लिए अन्न देती थी। इस युग में मनुष्य की जीविका का साधन ठीक हो जाने से उसके जीवन में एक स्थायित्व की भावना आ गई जिसकी वजह से वह समाज के संगठन की ओर रुख कर सका। खेती के साथ उसका जीवन अधिक पेशीदा हो गया और धीरे-धीरे वह समाज में अपनी जिम्मेदारी समझता हुआ उसका एक अंग बन गया। ऐसे समय हम देखते हैं कि उसने व्यापार का सहारा लिया, मो कि इसके मानो वह नहीं होते कि अपनी फिरदर-अवस्था में वह व्यापारी नहीं था, क्योंकि पुरातत्त्व इस बात का प्रमाण देता है कि मनुष्य अपनी प्राथमिक अवस्थाओं में व्यापार करता था और एक जगह से दूसरी जगह में सीमित परिमाण में वे वस्तुएँ आती-जाती थीं। कहने का मतलब तो यह है कि ऐतिहासिक युग में प्राथमिक व्यापार को नई उत्तेजना मिली; क्योंकि अपने खाने-पीने के सामान से निश्चिन्त होने से मनुष्य को गहने-कपड़े तथा कुलु औजार और हथियार बनाने के लिए धातुओं की चिन्ता हुई। आरम्भ में तो व्यापार जाने हुए प्रदेशों तक ही सीमित था; पर मनुष्य का अदम्य

साहस बहुत दिनों तक रुक नहीं सकता था और इसीलिए उसने नये-नये रास्तों और देशों का पता लगाना शुरू किया जिससे भौगोलिक ज्ञान की अभिवृद्धि से सम्भवा आगे बढ़ी। पर उस युग में यात्रा करना नहीं थी। डाकूओं और जंगली जानवरों से घनघोर जंगल भरे पड़े थे, इसलिए उनमें अकेले-दुकेले यात्रा करना कठिन था। मनुष्य ने इस कठिनाई से पार पाने के लिए एक साथ यात्रा करने का निश्चय किया और इस तरह किसी सुदूर भूत में सार्थ की नींव पड़ी। बाद में तो यह सार्थ दूर के व्यापार का एक साधन बन गया। सार्थवाह का यह कर्तव्य होता था कि वह सार्थ की डिमांड करके उसे गन्तव्य स्थान तक पहुँचावे। सार्थवाह इसी व्यापारी होने के सिवा अन्धड़ा पशु-पक्षी होता था। वह अपने साथियों में आज्ञाकारिता देखना चाहता था। आज का युग रेल, मोटर तथा समुद्री और हवाई जहाजों का है, फिर भी, जहाँ सम्भवा के साधन नहीं पहुँच सके हैं वहाँ सार्थवाह अपने कारवाँ बँट ही चलते हैं जैसे हजार वर्ष पहले। कुछ ही दिनों पहले, शिकारपुर के साथ (सार्थ के लिए तिब्बती शब्द) चीनी तुर्किस्तान पहुँचने के लिए काराकोरम को पार करते थे और आज दिन भी तिब्बत का व्यापार सार्थों द्वारा ही होता है।

भारत तथा पाकिस्तान की पशु-पक्षि और व्यापार के इतिहास के लिए हमें अपनी नजर सबसे पहले पश्चिम भारत, विशेषकर सिन्ध और बलूचिस्तान की प्राचीन खेतिहर बस्तियों पर डालनी होगी। पाकिस्तान का वह अंश, जिसमें बलूचिस्तान, मकरान और सिन्ध बसते हैं, आज दिन पथरीला और रेगिस्तानी इलाका है। सिन्ध का पूर्वी हिस्सा सूफर के बौध से उन्जाऊ हो गया है; पर मकरान का समुद्री किनारा रेगिस्तानी है जिसके बाँधे टेढ़े-मेढ़े पहाड़ उठे हुए हैं जिनमें नदियों की धाटियों (जैसे नाल, हव और मरक़ा की) एक दूसरे से अलग पड़ी हैं और इसीलिए पूर्व से पश्चिम के रास्तों की निश्चित मार्गों से, मूला या गज के दरा से होकर, सिन्ध के मैदान में आना पड़ता है। कलात के आस-पास पर्वतमाला सँकरी हो जाती है और बोलन दर्रे से होकर प्राचीन मार्ग पर क़ेड़ा स्थित है। यही रास्ता भारत को कन्वार से मिलाता है। नहर के इलाकों को छोड़कर सिन्ध रेगिस्तान है जहाँ सिन्धु नदी बराबर अपना बहाव और मुहाने बलती रहती है। प्रकृति की इतनी नाराजगी होते हुए भी इसी प्रदेश में भारत की सबसे प्राचीन खेतिहर-बस्तियों के भग्नावशेष, जिनका समय कम-से-कम ई० पू० ३००० है, पाये जाते हैं। इन अवशेषों से पता चलता है कि शायद बहुत प्राचीन काल में इस प्रदेश की आबादी आज से कहीं सुलभ थी। हड़प्पा-संस्कृति के अवशेषों से तो इस बात की पुष्टि भी होती है। दक्षिण बलूचिस्तान की आबादी के बारे में तो कुछ अधिक नहीं कहा जा सकता, पर उस प्रदेश में प्राचीन काल में अनेक बस्तियों के होने से यही नतीजा निकाला जा सकता है कि उस काल में वहाँ कुछ अधिक बरसात होती रही होगी जिससे लोग गहराई में पानी इकट्ठा करके सिंचाई करते थे।

'क़ेड़ा-संस्कृति' का, जो शायद सबसे प्राचीन है, हमें अधिक ज्ञान नहीं है; पर इतना तो कहा जा सकता है कि उस संस्कृति की विशेषता एक तरह के मट्टमैले पीले मिट्टी के बरतन हैं जिनका संबंध ईरान के फार्स इलाके से मिले हुए बरतनों से है। यह साक्ष्य किसी सुदूरपूर्व में भारत और ईरान के सम्बन्ध का द्योतक है। अमरी-नाल संस्कृति की मिली हुई वस्तुओं के आधार पर

इस संस्कृति का सम्बन्ध हड़प्पा और दूसरे देशों से स्थापित किया जा सकता है। लाजवर्द अफगानिस्तान या ईरान से आता था। कच्चे शीशे की गुरियों और खेददार बटवरों से इसका सम्बन्ध हड़प्पा-संस्कृति से स्थापित होता है।^१

कुल्ली-संस्कृति का सम्बन्ध—बैलगाड़ी की प्रतिकृतियों, और मुलायम पत्थरों से कटे वस्तुओं से जिनमें शायद अंजन रखा जाता था तथा और दूसरी चीजों से—हड़प्पा-संस्कृति से स्थापित होता है। श्री भिगड का अनुमान है कि शायद हड़प्पा के व्यापारी^२ दक्षिण बलूचिस्तान में जाते थे; पर उनका वहाँ ठहरना एक कारवों के ठहरने से अधिक महत्त्व का नहीं था। इस बात का सबूत है कि सिन्ध और बलूचिस्तान में व्यापार चलता था तथा बलूचिस्तान की पहाड़ियों से मात और कभी-कभी आदमी भी सिन्ध के मैदान में उतरते थे। इस देश के बाहर कुल्ली-संस्कृति का सम्बन्ध ईरान और ईराक से था। अब यह प्रश्न उठता है कि सुमेर के साथ दक्षिण बलूचिस्तान का सम्बन्ध स्थलमार्ग से था अथवा जलमार्ग से? क्या सुमेरियन जहाज दश्त नदी पर लंगर डालकर लाजवर्द और सोने के बड़े मुग्नित द्रव्यों से भरे पत्थर के बरतन ले जाते थे अथवा सुमेर के बन्दरों में विदेशी जहाज लगते थे? इस बात का कुछ सबूत है कि सुमेर में बलूचों व्यापारी अपना एक अलग समाज बनाकर रहते थे। अपने रीति-रिवाज बरतते थे और अपने देवताओं की पूजा करते थे। एक बरतन पर वृष-पूजा अंकित है जो सुमेर में कहीं नहीं पाई जाती। सूसा की कुछ मुद्राओं पर भी भारतीय बैल के चित्रण हैं। पर सुमेर के साथ यह व्यापारिक सम्बन्ध दक्षिण बलूचिस्तान से ही था, हड़प्पा-संस्कृति अथवा सिन्ध की घाटी के साथ नहीं। इन प्रदेशों के साथ तो सुमेर का सम्बन्ध करीब ५०० वर्ष बाद हुआ। यह भी पता लगता है कि यह व्यापारिक सम्बन्ध समुद्र के रास्ते था, स्थल के रास्ते नहीं; क्योंकि कुल्ली-संस्कृति का सम्बन्ध पश्चिम में ईरानी मकरान में स्थित बामपुर और ईरान के सूबे फार्स के आगे नहीं जाता।^३

उत्तरी बलूचिस्तान में, सावकर भीच नदी की घाटी में, संस्कृतियों का एक समूह था जिनका मैत, लाल वस्तुओं की वजह से, ईरान की लाल वस्तुयुक्त सभ्यता से खाना है। कुछ वस्तुओं से, जैसे छाप, मुद्रा, लखित गुरिया इत्यादि से, हड़प्पा-संस्कृति के साथ उत्तरी बलूचिस्तान की संस्कृतियों का सम्बन्ध स्थापित होता है।^४ रानापुरगढ़ की खुदाई से पता चलता है कि ई० पू० १५०० के करीब किसी विदेशी जाति ने उत्तरी बलूचिस्तान की बस्तियों को जला डाला। इस सम्बन्ध में हम आगे जाकर कुछ और कहेंगे।

मोहेंजोदड़ो और हड़प्पा से मिले पुरातात्विक अवशेष भारत की प्राचीन सभ्यता की एक नई झलक देते हैं। बलूचिस्तान से सिन्ध और पंजाब में आकर हम व्यापारिक बस्तियों की जगह एक ऐसी नागरिक सभ्यता का पता पाते हैं जिसमें बलूचों सभ्यताओं की तरह हेर-फेर न होकर एकीकरण था। यह सभ्यता मकरान से लेकर काठियावाड़ तक और उत्तर की ओर हिमालय के पारंपर्वतों तक फैली थी। इस सभ्यता की अधिकतर बस्तियाँ सिन्ध में थीं

१. वही, ४३-६४

२. वही, २, ११३-११४

३. वही, २, ११७-११८

४. वही, २, १२८-१२९

और इसका उत्तरी नगर पंजाब में हड़प्पा और दक्षिणी नगर सिन्धु पर मोहेनजोदड़ो था। इन नगरों की विरासत से ही यह अनुमान किया जा सकता है कि लोगों के कृषि-धन से इतनी बचत हो जाती थी कि वह शहरों में बची जा सके। हड़प्पा-सभ्यता से मिले पशु-चित्रों और हड्डियों के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि उस काल में सिन्ध की जल-वायु कहीं अधिक नम थी जिसके फलस्वरूप वहाँ जंगल थे जिनकी लकड़ियाँ ईंटें छँकने के काम में आती थीं।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, हड़प्पा और मोहेनजोदड़ो बड़े व्यापारिक शहर थे। लोग से ऐसा पता चलता है कि इन शहरों का व्यापार चताने के लिए बहुत-से छोटे-छोटे शहर और बाजार थे। ऐसे चौदह बाजार हड़प्पा से सम्बन्धित थे और सत्रह बाजार मोहेनजोदड़ो से। उत्तर और दक्षिण बलूचिस्तान के कुछ बाजारों में भी हड़प्पा-मोहेनजोदड़ो के व्यापारी रहते थे। ये बाजार खुले होते थे पर मुख्य शहरों में शहरपनाहें थीं। नदियाँ उत्तर और दक्षिण के नगरों को जोड़ती थीं तथा छोटे-छोटे रास्ते बलूचिस्तान को जोते थे।

हम ऊपर देत चुके हैं कि दक्षिण बलूचिस्तान और सुमेर में करीब २००० ई० पू० में व्यापारिक सम्बन्ध था; पर सिन्ध से दक्षिण बलूचिस्तान का सम्बन्ध समुद्र से न होकर स्थल-मार्ग से था। इसका कारण सिन्ध का इतना-बड़ना मुदाना हो सकता है जिसकी वजह से वहाँ बन्दरगाह बनना मुश्किल था। शायद इसीलिए कुश्ती के व्यापारी स्थल-मार्ग द्वारा आये हुए सिन्धी माल को मकरान के बन्दरगाहों से पश्चिम की ओर ले जाते थे। जो भी हो, हड़प्पा-संस्कृति और बाबुली-संस्कृति का सीधा मेल करीब ई० पू० २३०० में हुआ।

हड़प्पा-संस्कृति में व्यापार का क्या स्थान था और वह किन स्थानों से होता था—इसका पता हम मोहेनजोदड़ो और हड़प्पा से मिले रत्नों और धातुओं की जाँच-पड़ताल के आधार पर पा सकते हैं। शायद बलूचिस्तान से सेलजरी, अलबास्टर और स्टैड्राइट आते थे और अफगानिस्तान या ईरान से चाँदी। ईरान से शायद सोना भी आता था; चाँदी, शीशा और रौंदा तो वहाँ से आते ही थे। फिरोजा और लाजवर्द ईरान अथवा अफगानिस्तान से आते थे। हेमिट्राइट फारस की खाड़ी में हुरमुज से आता था।^१

दक्खिन में शायद काठियावाड़ से शंख, अकीक, रक्तमणि, करकेतन (ब्यानिस्त), केलेसिडनी और शायद स्कटिक आता था। करान्ची अथवा काठियावाड़ से एक तरह की सूखी मक्खली आती थी।

सिन्ध नदी के पूर्व, शायद राजस्थान से, ताँबा, शीशा, जेस्पर (ज्योतिरस), ब्लडस्टोन/हिरी चाल-सिडनी और दूसरे पत्थर मन्के बनाने के लिए आते थे। दक्खिन से जमुनिवा और नीलगिरि से अग्नेजनाईट आते थे। कश्मीर और हिमालय के जंगलों से देवदार की लकड़ी तथा दवा के लिए शिलाजीत और बारहसिंह की सींगें आती थीं। शायद पूर्वी तुर्किस्तान से पाम्पार, और कर्मा से यशब आता था।

उपयुक्त वस्तुओं के व्यापार के लिए शहरों में व्यापारी और एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाने-ले आने के लिए सार्ववाह रहे होंगे जिनके ठहरने के लिए शायद पथों पर पड़ाव रहे होंगे। माल ढोने के लिए ऊँठ व्यवहार में आते होंगे, पर पहाड़ी इलाके में शायद लट्ठ, टट्टुओं से काम चलता हो। भूकर से तो एक बोझ की काठी की मिट्टी की अतिरिक्ति मिली है। यह भी

१. मेके, दि इण्डस सिविलिजेशन, पृष्ठ १८ से; पिंगोड, वही पृष्ठ, १०४ से

सम्भव है कि पहाड़ी रास्तों में बकरों से माल डोया जाता हो। बाद के साहित्य में तो पर्वतीय प्रदेश में अजपथ का उल्लेख भी आया है।

✓ हड़प्पा-संस्कृति में धीमी गतिवाली बैलगादियों का काफी जोर था। बैलगाड़ी की बहुत-सी मिट्टी की प्रतिष्ठितियाँ मिलती हैं। उनमें और आज की बैलगादियों में बहुत कम अन्तर है। आज दिन भी सिन्ध में बैती ही बैलगादियाँ चलती हैं जैसी कि आज से चार हजार वर्ष पहले।

✓ इस बात में कोई सन्देह नहीं होना चाहिए कि हड़प्पा-संस्कृति के युग में नदियों पर नावें चला करती होंगी, पर हमें नाव के केवल दो चित्रण मिलते हैं; एक नाव तो एक ठीकरे पर खोबहर बना दी गई है, इसका आगा और पीछा ऊँचा है और इसमें मस्तूल और फहराता हुआ पाल भी है, एक नाविक लम्बे डोंडे से उसे से रहा है। (आ० १) दूसरी नाव एक मुद्रा पर खड़ी हुई है, इसका आगा और पीछा काफी ऊँचा है और नरकृत का बना हुआ माजूम पड़ता है। नाव के मध्य में एक लोखंडा कमरा अथवा मन्दिर है जो नरकृत का बना हुआ है। एक नाविक गलही पर एक ऊँचे चतुरे पर बैठा हुआ है (आ० २)।^१ ऐसी नावें प्रागैतिहासिक मेसोपोटामिया में भी चलती थीं तथा प्राचीन मिछी नावों की भी कुछ ऐसी ही शफल होती थी।

इस मुद्रा पर बनी हुई नाव में मस्तूल न होने से इस बात का बिद्वानों को सन्देह होता है कि शायद ऐसी नावें नदी ही पर चलती हों, समुद्र पर नहीं। पर डा० मैके^२ का यह विचार है कि बहुत सवृत होने पर भी यह कहा जाता है कि हड़प्पा-संस्कृति के युग में सिन्ध के मुहाने से निकलकर जहाज बलूचिस्तान के समुद्री किनारे तक जाते थे। आज दिन भी भारत के पश्चिमी समुद्री किनारे के बन्दरों से बहुत-सी देशी नावें भारत की और अदन तक जाती हैं। अगर ये रही नावें आजकल समुद्रयात्रा कर सकती हैं तो इसमें बहुत कम सन्देह रह जाता है कि उस काल में भी नावें समुद्र का सफर कर सकती थीं, क्योंकि यह बात कपास के बाहर है कि उस समय की नावें आजकल की नावों से बदतर रही होंगी। यह भी सम्भव है कि विदेशों जहाज भारत के पश्चिमी समुद्र-तट के बन्दरगाहों पर आते रहे हों।

विदेशों के साथ हड़प्पा-संस्कृति के व्यापार की पूरी कहानी का पता हमें केवल पुरातत्त्व से ही नहीं मिल सकता; क्योंकि पुरातत्त्व तो हमें नष्ट न होनेवाली वस्तुओं का ही पता देता है। उदाहरण-स्वरूप, हमें भाग्यवश यह तो पता है कि हड़प्पा-संस्कृति की कपास का पता था, पर इस देश से बाहर कितनी कपास जाती थी इसका हमें पता नहीं है और इस बात का भी पता नहीं है कि सुमेर में रहनेवाले भारतीय व्यापारी वहाँ से कौन-सी वस्तुएँ इस देश में लाते थे। अभिलेखों के न होने से, यह भी नहीं कहा जा सकता कि ई० पू० दूसरी सहस्रवर्षी में भारत से पश्चिम की उसी तरह मसाले और सुगन्धित द्रव्य जाते थे कि नहीं, जैसे कि बाद में। श्री पिगोट^३ का खवाल है कि शायद दक्षिण सार्थसाहज्यों से लौटते हुए व्यापारी अपने साथ विदेशी दासियाँ भी लाते थे।

हड़प्पा-संस्कृति की एक विशेषता उसकी शिथिल मुद्राएँ हैं। इन मुद्राओं को इस युग के

१. ई० मैके, फर्दर एक्सपेक्वेन्स एट् मोहेन-जो-दड़ो, भा० १, पृ० ३४०—

४१ प्ले ७६ ए०, साकृति १

२. मैके, दी इयक्स बैडी सिचिजाइजेशन, पृ० १६७—२८

३. पिगोट, वही, पृ० १७७—७८

लाये ? श्री पिगोट का विचार है कि अन्तिम बात ही ठीक है । * उनके अनुसार, नवागन्तुक, जो शायद लड़ाकुओं के दल थे, अपने साथ केवल हथियार लाये । बलूचिस्तान में इस सभ्यता की प्रतिच्छाया हम हड़प्पा-संस्कृति के बादवाले स्तरों में भी पाते हैं जिनमें हमें बलूची संस्कृतियों की वस्तुएँ अधिक मिलती हैं । श्री पिगोट का खयाल है कि बोलन, लाकड़सी और गजघाटी के रास्तों से भागते हुए शरणार्थी ही ये सामान लाये, पर वे शरणार्थी सिन्ध में आकर भी शान्ति न पा सके । पश्चिम के आक्रमणकारी, जिनकी वजह से वे भागे थे, सिन्ध के नगरों की लूट के लिए आगे बढ़े । वे किस तरह मोहेनजोदड़ो, भूकर, और लोहुमजोड़ो को नाश करके उनमें बग गये, इसकी कथा हमें पुतातत्व से मिलती है ।

इस नवागन्तुक संस्कृति का नाम भूकर-संस्कृति दिया गया है । चहुँजोड़ो के द्वितीय स्तर में यह पता चलता है कि भूकर-संस्कृति के लोग मिट्टी की मोपड़ियों में रहते थे, उनके घरों में आतिशय थे, उनके आराधन के सामान सीवे-पादे थे, तथा उनकी मुदाएँ हड़प्पा की मुदाओं से भिन्न थीं । इन मुदाओं का सम्बन्ध पश्चिमी एशिया की मुदाओं से मिलता है । हड्डी के सुए भी किसी बर्बर-सभ्यता की ओर इशारा करते हैं ।

जब हम मोहेनजोड़ो की तरफ अपना ध्यान ले जाते हैं तो पता चलता है कि उस नगर के अन्तिम इतिहास का मसाला चहुँजोड़ो की अपेक्षा कम है, पर कुछ बातों से उस काल की गड़बड़ी का पता चलता है । शायद इन्हीं बातों में हम गहनों का गाड़ना भी रख सकते हैं । लगता है, त्रिपत्ति की आशा का से लोग अपना माल-मत्ता छिपा रहे थे । बाद के स्तरों में अधिक शस्त्रों के मिलने से भी यह पता लगता है कि उस समय खतरा बढ़ गया था । कुछ ऐसे शस्त्र भी मोहेनजोड़ो से मिले हैं जो शायद बाहर से आये थे । हड़प्पा की एक कब्रगाह से मिले हुए मिट्टी के बरतनों से भी यह पता लगता है कि उन बरतनों के बनानेवाले कहीं बाहर से आये थे । उन बरतनों पर बने हुए पशु-पक्षियों के अलंकार हड़प्पा-संस्कृति के पहले स्तरों से मिले हुए मिट्टी के बरतनों पर के अलंकारों से सर्वथा भिन्न हैं, गोकि उन अलंकारों का थोड़ा-बहुत सम्बन्ध ईरान में समर्रा में मिले हुए बरतनों से किया जा सकता है ।

खुर्रम नदी की घाटी से मिली हुई एक तलवार भारत के लिए एक नई वस्तु है, गोकि ऐसी तलवार युरप में बहुत मिलती हैं । इस तलवार का समय युरप से मिली हुई तलवारों के आधार पर ईसा-पूर्व दूसरी सहस्राब्दी में निश्चित कर सकते हैं । राजनपुर (पंजाब) से मिली हुई एक तलवार की शक लूरीस्तान से मिली हुई तलवारों की शक से मिलती है और इसका समय ईसा-पूर्व लगभग १५०० होना चाहिए । गंगा की घाटी और राँची के आस-पास से मिले हुए हथियारों का भी सम्बन्ध हड़प्पा के हथियारों से है । श्री पिगोट का यह विचार है कि ये हथियार बनानेवाले कदाचित् पंजाब और सिन्ध से शरणार्थी होकर आये थे ।*

उपयुक्त प्रमाणों से यह पता चल जाता है कि ईसा-पूर्व १५०० के आस-पास एक नई जाति उत्तर-पश्चिम से भारत में घुसी जिसने पुरानी बस्तियों को बरबाद करके नई बस्तियाँ बनाईं । इस नई जाति का आगमन केवल भारतवर्ष तक ही नहीं सीमित था—मेसोपोटामिया में भी इसका असर देख पड़ता है । इसी युग में एशिया-माइनर में खत्ती साम्राज्य की स्थापना हुई । शाम और

१. पिगोट, वही, पृ० २२० से

२. वही, पृ० २१८

उत्तर ईरान में भी इन नये आनेवालों के वि० देवते हैं। शायद इन नये आनेवालों का सम्बन्ध आर्यों से रहा हो।

आर्य कहीं के रहनेवाले थे, इसके बारे में बहुत-सी रायें हैं, पर आधुनिक लोगों से कुछ ऐसा पता लगता है कि भारतीय भाषाएँ, दक्खिन रुख और कैस्पियन समुद्र के पूर्व के मैदानों में परिवर्धित हुईं। दक्खिन रुख में ई० पू० दूसरी और तीसरी सहस्राब्दियों में केतिहर-बस्तियों थीं जिनमें योद्धाओं और सरदारों का खास स्थान था। कुछ ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि ई० पू० दो हजार के करीब दक्खिन रुख से तुर्किस्तान तक फैले हुए कबीलों का एक बीना-बाला-सा संगठन था जिसकी सांस्कृतिक एकता भाषा और कुछ किस्म की कारीगरियों पर अवलम्बित थी। करीब ई० पू० सोलहवीं शती में भारोपीय नासोंवाले कभी लोगों ने बाबुल पर हमला किया। यही समय है। जब कि भारोपीय जातियों के कफिले नई जगहों की तलाश में आगे बढ़े। सुगहाजबुर्दे से मिलनेवाली मिट्टी की पट्टियों के लेखों से यह पता लगता है कि ई० पू० चौदहवीं और पन्द्रहवीं शदियों में एशिया-माइनर में अर्य-देवता मित्र, वरुण, इन्द्र और नासत्य की पूजा होती थी। सुगहाजबुर्दे से ही एक किताब के कुछ अंश मिले हैं, जिनमें षोडश दीवाने की विद्या का उल्लेख है। इनमें एकवचन, त्रिवचन इत्यादि संस्कृत शब्द आये हैं। पुरातरुन के आधार पर ये ही दो ज्ञात हैं जो भारोपीयों को ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में भारत के पाग लाते हैं। ईरान और भारत में तो आर्यों के अस्तोत्र केवल, मौखिक अनुश्रुतियों द्वारा बचे, अरस्ता और ऋग्वेद में हैं। ऋग्वेद के आधार पर ही हम आर्यों की भौतिक संस्कृति की एक तस्वीर खड़ी कर सकते हैं। ऋग्वेद का समय अधिकतर संस्कृत-विद्वानों ने ई० पू० द्वितीय सहस्राब्दी का मध्य भाग माना है। हम ऊपर देव तुके हैं कि करीब-करीब इसी समय उत्तर-पश्चिम से आक्रमणकारी, चाहे वे आर्य रहे हों या नहीं, भारत में हुंसे। ऋग्वेद से पता चलता है कि इन आर्यों की दासों से लड़ाई हुई जिन्हें ऋग्वेद में बहुत-कुछ भला-बुरा कहा गया है। इतना होते हुए भी यह बात तो साफ हो गई कि आर्यों से लड़नेवाले दाम बर्बर न होकर सभ्य थे और वे किलों में रहनेवाले थे। इन दासों को नये जोशवाले आर्यों का सामना करना पड़ा। घाँटि-पीरि आर्यों ने दासों के नगरों को नष्ट कर दिया। किता गिराने से ही आर्यों के देवता इन्द्र का नाम पुरन्दर पड़ा। इन आर्यों का सबसे बड़ा लड़ाई का साधन घोड़ा था। युद्धचरों और रथों की तेज मार के आगे दासों का लड़ा रहना असम्भव हो गया। रथ सबसे पहले कब और कहीं बने, इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं लगता, लेकिन प्राचीन समय में घोड़ों और मर्दों से बॉने जानेवाले दो पहियेवाले रथ था तुके थे। ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में, एशियामाइनर में भी घोड़ों से चलनेवाले रथ का आविर्भाव हो चुका था। बुनान तथा मित्र में भी रथ का चलन ई० पू० १२०० के करीब हो चुका था। तिनार करने पर ऐसा पता चलता है कि शायद सुमेर में सबसे पहले रथ की आविष्कार हुई। बाद में भारोपीय लोगों ने रथ की उत्पत्ति की और उसमें षोडश लगाये। आर्यों के रथ का शरीर धुरे से चमके के पटों से बँधा होता था। पहियों में आटे होते थे जिनकी संख्या चार से अधिक होती थी। षोडश एक जोत में जुड़ते थे। रथ पर दो आरमी बैठते थे, योद्धा और सारथी। योद्धा बाईं और बैठता था और सारथी लड़ा रहता था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, विद्या कुछ दूरे नगरों की छोड़कर भारत में आर्यों के आवागमन के बहुत कम चिह्न बच गये हैं। इसलिए उनके सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का पता हमें ऋग्वेद से चलता है। वेदों में आर्य बड़ी शैली से कहते हैं कि उन्होंने दासों को

जीत लिया और यह हो भी सकता है कि उन्होंने दास-संस्कृति को उखाड़ फेंका, फिर भी, उस प्राचीन संस्कृति की बहुत-सी बातों को आर्यों ने अपनाया जिनमें जड़ पदार्थों की पूजा इत्यादि बहुत-से धार्मिक विश्वास भी सम्मिलित हैं।

अब प्रश्न यह उठता है कि भारत में आने के लिए आर्यों ने कौन-सा मार्ग ग्रहण किया। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, अगर ई० पू० पन्द्रह सौ के करीब बलूचिस्तान और सिन्ध में आनेवाली एक नई जाति आर्यों से सम्बन्धित थी, तो हमें मानना पड़ेगा कि कदाचित् बलूचिस्तान और सिन्ध के रास्ते, पश्चिम से, आर्य इस देश में घुसे। पर अधिकतर विद्वानों ने, इस आधार पर कि ऋग्वेद में पूर्वी अफगनिस्तान और पंजाब की नदियों का कुछ उल्लेख है, उनके आने का पथ उत्तर-पश्चिम सीमाप्रान्त से होकर माना है। आर्यों के पथ की ऐतिहासिक और भौगोलिक छान-बीन श्री फ़ूरो ने की है। उनकी जाँच-पड़ताल का आधार यह है कि पश्चिम से सब रास्ते बलख से होकर चलते थे और इसलिए आर्य भी इसी पथ से होकर भारत पहुँचे होंगे।^१

श्री फ़ूरो के अनुसार आर्य बलख से हिन्दूकुश होते हुए भारत आये। दक्खिनी रुस और पूर्वी कैस्पियन समुद्र की ओर से बढ़ते हुए आर्य अपने डोर-ढंगरों के साथ शिकार खेलते हुए और खेती करते हुए शायद कुछ दिनों तक बलख में ठहरे। कुछ तो यहीं बस गये, पर बाकी आगे बढ़े। ऐसा मान लिया जा सकता है कि हिन्दूकुश के पार करने के पहले हथियारबन्द धावेमारों ने उसके दर्रे की छान-बीन कर ली होगी और अपने गन्तव्य स्थानों का भी पता लगा लिया होगा। आर्यों का आगे बढ़ना कोई नाटकीय घटना नहीं थी; वे लड़ते-भिड़ते धीमे-धीमे आगे बढ़े होंगे। पर जैसा हम देख आये हैं, वे कुछ दिनों में सिन्ध और पंजाब में बस गये होंगे। भारत के मैदानों में उनका उतरना उच्च एशिया के किरन्दरों के भारतीय मैदानों में उतरने की एक सामयिक घटना-मात्र थी। छोटे-छोटे पहाड़ों पर कई दिनों अथवा हफ्तों तक सार्यों का ठहरना, महीनों और बरसों तक फौजों का आसरा देवना तथा कई पुरत के बाद जाति के मतुष्यों का आगे कदम रखना, ये सब बातें एक विशाल जाति के स्थानान्तरण में निहित हैं। हमें यह भी जान लेना चाहिए कि अफगनिस्तान के कबीले अपनी स्त्रियों, बच्चों, डेरों तथा सरो-सामान के साथ आगे बढ़ते हैं। यह मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि इसी तरह आर्य भी आगे बढ़े होंगे।

श्री फ़ूरो^२ ने आर्यों की प्रगति का एक सुन्दर दिमागी खाका खींचा है। उनके अनुसार, एक दिन, वसन्त में, जब स्रोतों में काफी पानी हो चला था, एक बड़ा कबीला अथवा खेल, खोजियों की सूचना के आधार पर, आगे बढ़ा। पर्वत-प्रदेश में खाने के लिए उनके पास सामान था। अपने रथ उन्होंने पीछे छोड़ दिये, पर बच्चे, मेमने, डेरे, तम्बू और रसद के सामान उन्होंने बकरों, गश्दों और बैलों पर लाद लिये। सरदार और बूढ़े केवल सवारियों पर चले, बाकी आदमी अपनी सवारियों की बागडोर पकड़े हुए आगे बढ़े। सार्थ के पक्षों की रक्षा करते हुए आगे-आगे योद्धा चलते थे। उन्हें बराबर इस बात का डर बना रहता था कि हजार-जात में रहनेवाले किरात कहीं उनपर हमला न कर दें।

रास्ता बन जाने पर और उनपर दोस्त कबीलों के बस जाने पर दूसरे कबीले भी पीछे-पीछे आये जिनसे कालान्तर में भारत का मैदान पट गया। स्वभावतः पहले के बसनेवालों

१. फ़ूरो, वही पृ० १८२ से

२. फ़ूरो, वही, भा० २, पृ० १८४-१८५

और बाद के पहुँचनेवालों में बढ़ाऊँरी होती थी। इसके फलस्वरूप वे नवागन्तुक कभी-कभी गाँवों में भी अपने भित्र खोजते थे। ऋग्वेद में इस भ्रातृयुद्ध को गूँज मिलती है। पंजाब के बसाने के बाद आर्यों के काफ़िले आने बन्द हो गये।

ऐतिहासिकों और भाषाशास्त्रियों के अनुसार आर्यों के आगे बढ़ने में चार पड़ाव स्थिर किये जा सकते हैं; यथा, (१) सप्तसिन्धु या पंजाब, (२) ब्रह्मदेश (गंगा-यमुना का दोआब), (३) कोसल, (४) मगध। शायद बल्लभ और सिन्धु के बीच में पहला अड़्डा कापिशी में बना, दूसरा जलालाबाद में, तीसरा पंजाब में। यहाँ यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि केवल एक ही मार्ग से कैसे इतने आदमी पंजाब में आये और कालान्तर में सारे भारत में फैल गये। इस प्रश्न का उत्तर उस पथ के भौगोलिक आधारों को लेकर दिया जा सकता है।

हमें इस बात का पता है कि आर्यों के आने के दो पथ थे। सीधा रास्ता कुभा के साथ-साथ चलता था। इस रास्ते से नवागन्तुकों में से जलद्वज आदमी आते थे। दूसरा रास्ता कपिशा से कन्धारवाला था जिससे होकर बहुत-से छोटे-छोटे पथ पंजाब की ओर फूटते थे। उनमें से खास-खास सिन्धु नदी पहुँचने के लिए खुर्रम और गोमल के दाहिने हाथ की सहायक नदियों की घाटियों को पार करते थे। विद्वानों का विचार है कि इस रास्ते का पता वैदिक आर्यों को था, क्योंकि इस रास्ते पर पड़नेवाली नदियों का ऋग्वेद के एक सूत्र (१०।७५) में उल्लेख है। जैसे-जैसे आर्य भारत के अन्दर घँवते गये, वे नई नदियों को भी अपनी चिरपरिचित नदियों का नाम देने लगे। उदाहरणार्थ, गोमती गंगा की सहायक नदी है और सरस्वती जो पंजाब की पूर्वी सीमा को निर्धारित करती है, हरहूँती के नाम से कन्धार के मैदान को घँवती थी। ऋग्वेद के उपर्युक्त सूत्र में गोमती से गोमल का उद्देश्य है। कन्धार का मैदान बहुत दिनों तक भारत का ही अंश माना जाता था और पहालव लोग उसे गौर भारत कहते थे। इस बात का क्यास किया जा सकता है कि कुभा (काबुल) कुमु (खुर्रम) और गोमती (गोमल) से होकर सबसे दक्खिन का रास्ता बोलन से होकर मोहेनजोदड़ो पहुँच जाता था। श्री फ़्लो का कहना है कि इस निश्चय तक पहुँचने के पहले हमें सोचना होगा कि इस रास्ते पर कोई बहुत बड़ी प्राकृतिक कठिनाई तो नहीं है। बाद में इस रास्ते से बहुत-से लोग आते-जाते रहे। पर इस रास्ते को आर्यों का रास्ता मान लेने में जाति-शास्त्र की कठिनाई सामने आती है। सिन्ध की जातियों के अध्ययन से यह पता चलता है कि भारतीय आर्य उत्तर से आये और उन्होंने बोलन दर्रेवाले मार्ग का कम उपयोग किया। पर, जैसा हम ऊपर देख आये हैं, बलूचिस्तान के भग्नाशेष तो यही बताते हैं कि यह मार्ग प्रागैतिहासिक काल में काफ़ी प्रचलित था तथा हड़प्पा-संस्कृति को समाप्त करनेवाली एक जाति, जो चाहे आर्य रही हो या न रही हो, इसी रास्ते से सिन्ध में घुसी। सरस्वती और हवद्वाती नदियों के सूखे पाटों की खोज से श्री अमलानन्द घोष भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सिन्धु-सभ्यता का अक्स इन नदियों तक फैला था। अगर यह बात सत्य है तो यह मानने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि सिन्ध से होकर आर्य पूर्वी पंजाब और बीकानेर-रियासत में घुसे और उस प्रदेश की सभ्यता को उखाड़कर अपना प्रभाव जमाया। श्री फ़्लो की मान्यता तभी स्वीकार की जा सकती है जब यह सिद्ध किया जा सके कि बल्लभ, कापिशी और पुष्करावती होकर तक्षिला जानेवाले मार्ग पर ऐसे प्राचीन अवशेष मिलें, जिनकी समकालीनता आर्यों से की जा सकती हो।

भारतीय और ईरानी आर्य किस समय अलग हुए, इसका तो ठीक-ठीक पता नहीं लगता ; पर शायद यह पटना ई० पू० दूसरी सहस्राब्दी में घटी होगी । इतिहास में बताया है कि अफगानिस्तान के उत्तर और पश्चिम में, यथा गुग्ग, काईकोक, मर्ग, अरिय तथा ईरान प्रदेशों में ईरानी बस गये और अफगानिस्तान के दक्षिण-पूर्व प्रदेश में भारतीय आर्य । कंधार प्रदेश में तथा हिन्दुकुश और सुतेमान के बीच के प्रदेश में भी आर्य आ गये ।

ईरानी रेगिस्तान तूत और भारतीय रेगिस्तान थार के बीच का प्रदेश, प्राचीन भारतीयों और ईरानियों के बीच बराबर एक मगई का कारण बना रहा । हेलेमन्द और सिन्धु नदी की घाटियों के पूर्वी हिस्से का भारतीयकरण हो गया था । हमें पता है कि मौर्वी के युग में अरिस्त्रोने का अधिकतर भाग भारतीय राजनीति के प्रभाव में था तथा ईरान के बार्शाह अपना प्रभाव पंजाब और सिन्ध पर बढ़ाने के लिए तत्पर रहते थे । यह बात-प्रतिपक्ष बहुत दिनों तक चतता रहा । पर अन्त में सुतेमान पर्वत भारतीयों और ईरानियों के बीच की सीमा बन गया । सिन्ध तथा परिस्तिन्धु प्रदेश के लोगों के बीच में जातीय विषमता का उल्लेख भविष्यपुराण (प्रतिमर्गपर्व, अध्याय २) में हुआ है । इसमें कहा गया है कि राजा शालिवाहन ने बज्र इत्यादि जीतकर आर्यों और स्तेच्छों यानी ईरानियों के बीच की सीमा कायम कर दी । इस सीमा के कारण सिन्ध तो आर्यों का निवासस्थान रह गया ; पर परिस्तिन्धु प्रदेश ईरानियों का घर बन गया । इन प्रदेशों की सीमाओं पर जातियों मिली-जुली हैं । ईरान के पठार के कथित भाग पर समय-समय पर फिरन्दों के आये होते रहे हैं और इसी कारण से हम उनके जीवन, आवास, संस्कृति और भिन्न-भिन्न बोलियों पर इसका स्पष्ट प्रभाव देखते हैं । दूसरी ओर सिन्धु की घाटी में पहले से ही एक मजबूत संस्कृति थी जो भौगोलिक और जाति-शास्त्र के दृष्टिकोण से गंगा की घाटी और दक्षिण के रहनेवालों की संस्कृति से अलग बनी रही ।

वैदिक आर्य पहले पंजाब में रहे, पर बार में, कुरुक्षेत्र का प्रदेश बहुत दिनों तक उनका अड्डा बना रहा । आबादी की अधिकता, आबहवा में कैराल अथवा जीने की स्वाभाविक इच्छा से आर्य आगे बढ़े और इस बढ़ाव में अश्व और अथर्वियों के पथकृतों ने बड़ा काम किया ।^१ अग्नि के साथ पथकृत शब्द व्यवहार होने से शायद उत्तर भारत में वैदिक संस्कृति के प्रतीक यज्ञ के बढ़ाव की ओर इशारा है । पथकृत के रूप में अग्नि का उल्लेख शायद वनों को जताकर मार्ग-पद्धति कायम करने की ओर भी इशारा करता है । एक बहुत बड़े पथकृत विदेह माधव थे जिनको कहानी शतपथ-ब्राह्मण^२ में सुरजित है । कहानी यह है कि सरस्वती के किनारे वैदिक धर्म की पनाका फहराते हुए अपने पुरोहित गौतम राहुगण तथा वैदिक धर्म के प्रवीण, अग्नि के साथ, विदेह माधव आगे चले पड़े । नदियों को सुझाते हुए तथा वनों को जलाते हुए वे तीनों सशनीरा (आधुनिक मण्डक) के किनारे पहुँचे । कथा-काल में उस नदी के पार वैदिक संस्कृति नहीं पहुँची थी, पर शतपथ के समय, नदी के पार ब्राह्मण रहते थे तथा विदेह वैदिक संस्कृति का एक केन्द्र बन चुका था । विदेह माधव के समय में सशनीरा के पूर्व में खेती नहीं होती थी और जमीन दल श्लों से भरी थी, पर शतपथ के समय वहाँ खेती होती थी । कथा के अनुसार, जब विदेह माधव ने अग्नि से उसका स्थान पूछा तो उसने पूर्व की ओर इशारा किया । शतपथ के समय सशनीरा कोयल और विदेह के बीच सीमा बनाती थी ।

१. अ० वे०, २।२१।६ ; ६।२१।१२ ; अ० वे०, १८।२।२३

२. शतपथ ब्रा०, १।१।१।१०-११

देवर के अनुसार^१ उपर्युक्त कथा में आर्यों के पूर्व की ओर बढ़ने के एक के बाद दूसरे पड़ाव दिखे हुए हैं। पहले-पहल आर्यों की बस्तियाँ पंजाब से सरस्वती तक फैली थीं। इसके बाद उनकी बस्तियाँ कोकिलों और विदेहों की प्राकृतिक सीमा सदा नीरा तक बढ़ी। कुछ दिनों तक तो आर्यों की सदा नीरा के पार जाने की हिम्मत नहीं पड़ी, पर शतपथ के युग में वे नदी के पूर्व में पहुँचकर बस चुके थे।

उपर्युक्त कथा में सरस्वती से सदा नीरा तक विदेह माथव के पथ के बारे में और कुछ नहीं दिया है। शायद यह सम्भव भी नहीं था; क्योंकि सरस्वती और सदा नीरा के बीच के मार्ग, यानी, आधुनिक उत्तर प्रदेश में उस समय आर्य नहीं बसे थे तथा बड़ी नगरियाँ और मार्ग तब तक नहीं बने थे। पर इस बात की पूरी सम्भावना है कि विदेह माथव में जो रास्ता जंगलों के बीच काट-झाँट और जलाकर बनाया वही रास्ता ऐतिहासिक युग में गंगा के मैदान में आस्ती से बैराली तक का रास्ता हुआ। गंगा के मैदान का दुम्बिनी रास्ता शायद काशी के संस्थापक कार्यों ने बनाया।

वैदिक साहित्य से इस बात का पता चलता है कि आर्य प्रागैतिहासिक युग से चलनेवाले छोटे-मोटे जंगली रास्तों, ग्रामपथों और किसी तरह के कारवाँ-पथों से बहुत दिनों तक सन्तुष्ट नहीं रहे। ऋग्वेद और बाद की संहिताओं में भी हम लगभग सड़कों (मार्गों) से वादा का उल्लेख पाते हैं^२ जिनपर श्री सरकार के अनुसार रथ चल सकते थे।^३ ऋग्वेद से लेकर बार तक आनेवाले सेतु शब्द से शायद पानीभरे इलाके को पार करने के लिए बन्दर का तात्पर्य है; पर डा० सरकार इसका अर्थ पुल या पुलिया करते हैं।^४ बाद में चलकर ब्राह्मणों में^५ हम महापथों द्वारा ग्रामों का सम्बन्ध होते देखते हैं; पुलिया की शायद बहुत^६ कहते थे। अथर्ववेद में^७ इस बात का उल्लेख है कि गाड़ी चलनेवाली सड़कें बगल के रास्तों से ऊँची होती थीं, इनके दोनों ओर पेड़ लगे होते थे। ये नगरों और गाँवों से होकर गुजरती थीं। और उनपर कमी-कमी खम्भों के जोड़े होते थे। जैसा डा० सरकार का अनुमान है, शायद इन खम्भों का उद्देश्य नगर के काटक से हो। जैसा कि उन्होंने एक फुटनोट में कहा है,^८ उनका तात्पर्य राजपथों पर चुन्नी वसूल करने के लिए रोक भी हो सकता है। यह भी सम्भव है कि उनका मतलब मील के पथरों से हो जिन्हें मैगास्थनीज ने पटलिपुत्र से गम्वार तक चलनेवाले महामार्ग पर देखा था। ऋग्वेद^९ के प्रथम अध्याय प्रथम से मतलब शायद सड़कों पर बने शिथामयूह से हो, जहाँ यात्री को

१. इण्डिये स्टूडियन, १, पृ० १७० से

२. ऋ० वे०, १०।१०।४-६; ऐ० ब्रा० ७।१५; काटक सं०, २०।१४; अ० वे० मा० २२—परिरच्चा

३. सुविमलचन्द्र सरकार, सप्त आसपेक्ट्स ऑफ दि इण्डियन सोशल लाइफ ऑफ इण्डिया, पृ०-१४, लंडन, १९२८

४. वही पृ०-१४

५. ऐ० ब्रा०, ७।१०.८; सुन्दोस्य उप० मा० ६।२

६. पंचविंश ब्रा०, १।१।४

७. अ० वे०- १७।१।६३; १७।२।९—६

८. सरकार, वही, पृ० १४, फु० नो० ६

९. ऋ० वे०, १।१६६।६

विश्राम और भोजन मिलता था। अथर्ववेद (१४।२।६) में वधु के रास्ते में तीर्थ के उल्लेख से शायद घाट पर विश्रामगृह से मतलब है। अथर्ववेद में पहले आवश्यक का मतलब शायद अतिथिगृह होता था; पर बाद में, वह घर का पर्यायवाची हो गया। अगर डा० सरकार की यह व्यवस्था ठीक है^१ तो आवश्यक एक विश्रामालय था जो कि यह आवश्यक नहीं है कि वह सड़कों पर ही रहता हो।

वैदिक साहित्य से हमें इस बात का पूरा पता चलता है कि यात्रियों के आगे बढ़ने में उनकी गतिशीलता और मजबूती काफ़ी सहायक होती थी। जंगलों के बीच रास्ते बनाने के बाद धूँते हुए अग्निश्रियों और व्यापारियों ने वैदिक सभ्यता का प्रचार किया। ऐतरेय^२ ब्राह्मण का चरैवेति मन्त्र आध्यात्मिक और आधिभौतिक उन्नति के लिए गतिशीलता और यात्रा पर जोर देता है।^३ अथर्ववेद^४ रास्ते पर के लगनेवाले डाकूओं को नहीं भूलता। एक जगह जंगली जानवरों और डाकूओं से यात्री की रक्षा के लिए इन्द्र की प्रार्थना की गई है।^५ एक दूसरी जगह सड़कों पर डाकूओं और भैरवियों का उल्लेख है और यह भी बतलाया गया है कि सड़कों पर निपाद और दूसरे डाकू (सेतग) व्यापारियों को फँस लेते थे और उन्हें लुटने के बाद गड़ों में फेंक देते थे।^६

अमान्यवश वैदिक साहित्य से हमें इतनी सामग्री नहीं मिलती कि हम तत्कालीन यात्रा का रूप खड़ा कर सकें; लेकिन ऐसा माजूम पड़ता है कि लोग शायद ही कभी अकेले यात्रा करते थे। रास्ता में खाना न मिलने से यात्री अपना खाना स्वयं ले जाते थे। ऐसा माजूम पड़ता है कि यात्रियों के लिए खाना कभी-कभी बहैमियों पर बोया जाता था।^७ खाने का जो सामान यात्री अपने साथ ले जाते थे उसे अवस कहते थे।^८

उन दिनों जहाँ कहीं भी यात्री जाते थे उनकी बड़ी खातिर होती थी। जैसे ही यात्री अपनी गाड़ी से बैठ खोलता था, अतिथेय (भेजवान) उसके लिए पानी लाता था।^९ अगर अतिथि कोई खास आदमी हुआ तो घर-भर उसकी खातिर के लिए तैयार हो जाता था। अतिथि का स्वागत धर्म का एक अंग था और इसलिए लोग उसकी भरपूर खातिर करते थे।

इस बात में जरा भी सन्देह नहीं कि वैदिक युग में व्यापारी लम्बी यात्राएँ करते थे जिनका उद्देश्य तरह-तरह से पैसा पैदा करना,^{१०} फायदे के लिए पूँजी लगाना^{११} और लाभ के लिए दूर देशों में मातृ भेजना था।^{१२} तत्कालीनों की परवाह न करते हुए वैदिक युग के व्यापारी स्थल

१. सरकार, वही, पृ० १२
२. ऐतरेय ब्रा०, ७।१४
३. अ० वे०, १२।१।४०
४. अ० वे०, ३।२; ४।०
५. ऐ० ब्रा०, ८।११
६. वाज० सं०, २।६१
७. श० ब्रा०, २।१।२।१३
८. श० ब्रा०, ३-४-१-५
९. अ० वे०, ३।११।८।३
१०. अ० वे० ३।१५।१
११. अ० व०, ३।१२।४

और समुद्री मार्ग से भारत का आन्तरिक और बाहरी व्यापार जारी रखे हुए थे। पण्डित युधि के धनी व्यापारी थे। शायद वे अपनी कंचूरी से ब्राह्मणों के शत्रु बन गये थे और इसीलिए उन्हें वैदिक मन्त्रों में खरी-बोड़ी सुनाई गई है।^१ कुछ मन्त्रों में पण्डितों के मारने के लिए देवताओं का आह्वान किया गया है। कभी-कभी तो उन बेचारों को अपना कंचूरी के कारण जान भी गँवानी पड़ती थी। कहीं-कहीं वे वैदिक यज्ञों के विरोधी माने गये हैं। पण्डितों में वृषु का विशेष नाम था। एक मन्त्र में उन्हें सुदुल्लो (बेकनाद) कहा गया है, दूसरी जगह वे दुस्मन माने गये हैं और तीसरी जगह उन्हें पूँजीपति—प्रधिन (पश्चिमी हिन्दी में गध पूँजी को कहते हैं) कहा है। वे कभी-कभी गुलाम भी कहे गये हैं^२।

उपरोक्त उद्धरणों से ऐसा मालूम पड़ता है कि शायद पण्डित अनार्य व्यापारी थे और उनका वैदिक धर्म में विश्वास न होने से इतनी छीछालेदर थी। कुछ लोगों का विश्वास है कि पण्डित शायद किनीशिया के रहनेवाले व्यापारी थे, पर ऐसा मानने के लिए प्रमाण कम हैं। हम ऊपर देव आख्ये हैं कि जिस समय आर्यों का भारत में आगमन हुआ उस समय देश का अधिकतर व्यापार हड़प्पा-संस्कृति तथा बलूचिस्तान के लोगों के हाथ में था। बहुत सम्भव है कि वेदों में इन्हीं व्यापारियों की ओर संकेत है। यह बात साफ है कि वे व्यापारी वैदिक धर्म नहीं मानते थे, इसलिए आर्यों का उनपर रोष था।

ऋग्वेद में व्यापारियों के लिए साधारण शब्द वणिज् है^३। व्यापार अरुला-बदली से चलता था गोकि यह कहना कठिन है कि व्यापार किन वस्तुओं का होता था। अथर्ववेद^४ से शायद इस बात का निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दुर्वा (एक तरह का ऊन का कपड़ा) और पयस (चमड़ा) का व्यापार होता था। तत्कालीन व्यापार में मोल-भाव काफी होता था। वस्तु-विनिमय के लिए गाय, बाद में, शतमान सिक्के का उपयोग होता था।

यह कहना मुश्किल है कि वैदिक युग में श्रेष्ठ या सठ होते थे अथवा नहीं। पर, ब्राह्मणों^५ में तो सठों का उल्लेख है। शायद वे निगम के चौधरी रहे हों। उसी प्रकार वैदिक साहित्य से सार्धबाह का भी पता नहीं चलता और इस बात का भी उल्लेख नहीं है कि माल किस तरह एक जगह से दूसरी जगह ले जाया जाता था। पर इसमें सन्देह की कम सुजाइश है कि माल सार्ध ही डोले रहे होंगे, क्योंकि सबक की कठिनाइयों उन्हीं के बस की बात थी।

विद्वानों में इस बात पर काफी बहस रही है कि आर्यों को समुद्र का पता था अथवा नहीं। पर यह बहस उस युग की बात थी जब हड़प्पा-संस्कृति का पता तक न था। जैसा हम पहले देव चुके हैं, दक्षिणी बलूचिस्तान से ई० पू० ३००० के करीब भी सुमेर के साथ समुद्री व्यापार चलता था। मोहेन-जो-दड़ो से तो नाव की दो आकृतियाँ ही मिली हैं। हमें अब यह भी मालूम पड़ता जा रहा है कि वैदिक आर्यों का हड़प्पा-संस्कृति से संयोग हुआ; फिर

१. अ० वे०, १३३१३; ४१२मा०, अ० वे०, २१११०; २०१२मा०

२. वैदिक इंडेक्स, भा० १, पृ० ४०१ से ७३

३. अ० वे०, १११३१११; २१४२१६

४. अ० वे०, ४१०१६

५. ऐ० भा०, ३१३०, कौषीतकी भा०, २मा०

भी, अगर उन्हें समुद्र न मातृम हुआ हो तो आश्चर्य की बात होगी। ऋग्वेद में ^१ समुद्र के रत्न, मोती का व्यापार, समुद्री व्यापार के फायदे तथा भुज्यु वी कहानी^२, ये सब बातें वैदिक आर्यों के समुद्र-ज्ञान की इतना साफ करती हैं कि बहस की गुंजाइश ही नहीं रह जाती। बाद की संहिताओं में समुद्र का और साफ उल्लेख है। तैत्तिरीय संहिता^३ स्पष्ट रूप से समुद्र का उल्लेख करती है। ऐतरेय ब्राह्मण^४ में समुद्र को अतल और भूमि का पोषक तथा शतपथ में ^५ प्राच्य और उदीच्य वाद के रत्नाकर (अरवसागर) और महोदधि (बंगाल की खाड़ी) के लिए आये हैं।

✓ ऋग्वेद ^६ और बाद की संहिताओं ^७ के अनुसार समुद्री व्यापार नाव से चतता था। बहुधा नौ शब्द का व्यवहार नदियों में चलनेवाली छोटी नावों के लिए होता था। 'नौ' शब्द का प्रयोग बेड़े (दाहनों का) ^८ यानी मदास के समुद्रतट पर चलनेवाली कट्टुमारम् और टोनी नावों के लिए भी होता था।

बहुतों की राय है कि वैदिक साहित्य में मस्तूल और पाल के लिए शब्द न होने से वैदिक आर्यों को समुद्र का पता नहीं था, पर इस तरह की बातों में कोई तथ्य नहीं है; क्योंकि वेद कोई कोप तो हैं नहीं कि जिनमें सब शब्दों का खाना जरूरी है। जो भी हो, संहिताओं में कुछ ऐसे उल्लेख हैं जिनसे समुद्रयात्रा की ओर इशारा होता है। ऋग्वेद में ^९ फायदे के लिए समुद्रयात्रा का उल्लेख है। एक जगह अश्विनो द्वारा एक सौ डोंड़ोंवाले डूबते हुए जहाज से भुज्यु की रक्षा का उल्लेख है। ^{१०} बुहलर के अनुसार यह घटना हिन्दमहासागर में भुज्यु की किसी यात्रा की ओर इशारा करती है जिसमें उसका जहाज टूट गया। ^{११} उसके जहाज में सौ डोंड़ लगते थे। ^{१२} जब वह इस दुर्घटना में पड़ा तो उसने किनारे का पता लगाने के लिए पत्थियों को छोड़ा। ^{१३} जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, बाबुली गिलगमेश की कहानी में दिशाकाकों का उल्लेख है तथा जातकों में जहाजों के साथ 'दिशाकाक' रखने के उल्लेख हैं। वैदिक युग में वृषु भी एक बड़ा समुद्री व्यापारी था। ^{१४}

-
१. ऋ० वे०, १।४७।६; ७।१।७
 २. ऋ० वे०, १।४८।३; २६।२; ४।२६।६
 ३. तै० सं०, २।४।८।२
 ४. ऐ० ब्रा०, ३।३१।७
 ५. श० ब्रा०, १।६।३।१।१
 ६. ऋ० वे०, १।१३।१।२; २।३१।४
 ७. अ० वे० २।३६।२; २।११।८
 ८. ऋ० वे०, १०।१२।१३
 ९. ऋ० वे०, १।२६।२; ४।२५।३
 १०. ऋ० वे०, १।११६।३ से; वैदिक इंडेक्स, १, ४६१-६२
 ११. वैदिक इंडेक्स, २, १०७-१०८
 १२. ऋ० वे०, १।११६।२
 १३. ऋ० वे०, ६।१२।२
 १४. ऋ० वे०, ६।४२।३।३-३३

वेदों में नाव-सम्बन्धी बहुत-से शब्द आये हैं। यमुन^१ शायद एक वेड़ा था तथा म्रव^२ शायद एक तरह की नाव थी। अरित्र डोंड़ को कहते थे। ऋग्वेद और बाजसनेयी संहिता में^३ सौ डोंड़वाले जहाज का उल्लेख है। डोंड़ चलानेवाले अरितृ और नाविक नावजा^४ थे। नौमण्ड शायद लंगर था^५ और शंविन शायद नाव हटाने की लग्घी।^६

हम ऊपर देव आये हैं कि ई० पू० तीसरी और दूसरी सहस्राब्दियों में बलूचिस्तान और सिन्ध का समुद्र के रास्ते व्यापारिक सम्बन्ध था। बाबुली और असीरियन साहित्यों में सिन्धु एक तरह का कपड़ा था जो हिरोडोटस के अनुसार मिस्र, लेवेंट और बाबुल में प्रचलित था। हिरोडोटस उस कपड़े को सिंडन कहता है। सेस^७ के अनुसार सिन्धु सिन्ध का बड़ा कपड़ा था, पर इस मत के केनेडी और दूसरे बड़े विरोधी थे।^८ उनके मत के अनुसार सिन्धु-सिंडन किसी वनस्पतिविशेष के रेशे से बना एक तरह का कपड़ा था। पर यह सब बहस मोहेन-जो-दड़ो से सूती कपड़े के टुकड़ों के मिलने से समाप्त हो जाती है और यह बात प्रायः निश्चित हो जाती है कि सिन्धु सिन्ध का बना सूती कपड़ा ही था जो शायद समुद्री रास्ते से बाबुल पहुँचता था।

कुछ समय पहले कुछ विद्वानों की यह राय थी कि वैदिक युग में भारतीयों का बाहर के देशों से सम्बन्ध नहीं था। उत्तरमद्र और उत्तरकुरु भी जिनकी पहचान मीडिया और मध्य-एशिया में लूलान के प्राचीन नाम क्रौरैन से की जाती है, काश्मीर में रखे गये। पर जैसा हम ऊपर देव आये हैं, अनेक कठिनाइयों के होते हुए भी, वैदिक आर्य समुद्र-यात्रा करते थे तथा भुज्य और वृवु-जैसे व्यापारी इस देश से दूसरे देशों का सम्बन्ध स्थापित किये हुए थे। अभाम्यवश हमें विदेशों के साथ इस प्राचीन सम्बन्ध के पुरातात्विक प्रमाण बहुत नहीं मिलते, पर वेदों में, विशेषकर अथर्ववेद में, कुछ शब्द ऐसे आये हैं जिनसे यह पता चलता है कि शायद वैदिक युग में भी भारतीयों के साथ बाबुल का सम्बन्ध था। लोकमान्य तिलक ने सबसे पहले इन शब्दों पर, जैसे तैमात, अलगी-विलगी, उरुगूला और ताबुवम^९ के इतिहास पर प्रकाश डाला और यह बताया कि ये शब्द बाबुली भाषा के हैं। इसमें कोई शक नहीं कि ये शब्द बहुत प्राचीन काल में अथर्ववेद में घुस पड़े। इस बात में भी सन्देह है कि इन शब्दों का ठीक-ठीक अर्थ समझा जाता था या नहीं। सुवर्ण मना ऋग्वेद में एक बार आया है। इसका सम्बन्ध असीरी मनेह से हो सकता है। उपर्युक्त बातों से भी भारत का बाबुल के साथ व्यापारिक सम्बन्ध का पता चलता है।

१. ऋ० वे०, ८।१६।१४

२. ऋ० वे०, १।१८२।५

३. ऋ० वे०, १।१६।५ ; वा० सं०, २।१०

४. शतपथ ब्रा०, २।३।३।५

५. शतपथ ब्रा०, २।३।३।१५

६. अ० वे०, ६।२।६

७. हिबर्ट लेक्चर्स, पृ० १३८, लंडन, १८८०

८. जे० आर० ए० स० १८६८, पृ० २५२-५३

९. अ० वे०, ५।१३।६-१०

१०. ऋ० वे०, ८।७८।२

जो भी हो, ई० पू० १० वीं सदी में तो विदेशों के साथ भारत के व्यापार का, जिसमें अरब बिचवई का काम करते थे, अच्छी तरह से पता चलता है। शायद १० सदी ई० पू० में, इन्हीं अरबों की मारफत, मुलेमान को भारतीय चन्दन, रत्न, हाथीदंत, बंदर और मोर मिले। भारत से जाने की वजह से ही शायद हेब्रू शक्ति [इम्] (मोर) की व्युत्पत्ति तामिल तोकैसे, हेब्रू अहल की तामिल अहिल से, हेब्रू अलमुग की संस्कृत अलु से, हेब्रू कोफ (बंदर) की संस्कृत कपि से, हेब्रू शेन हबिन (हाथीदंत) की संस्कृत छंदत से, हेब्रू सादेन की यूनानी सिरेन और संस्कृत सिन्धु से की जाती है।^१

यह भी सम्भव है कि ईसा-पूर्व ६वीं सदी में भारतीय हाथी असीरिया जाते थे। शाल मनेसर तृतीय (= ५८८-५८२ ई० पू०) के एक सूचिकाद्वारस्तम्भ पर दूसरे जानवरों के साथ भारतीय हाथी का भी चित्र बना हुआ है। लेख में उसे बजियाति कहा गया है जो शायद संस्कृत वासिता का रूप हो, जिसके मानी हथिनी होता है। विद्वानों की राय है कि भारतीय हाथी असीरिया को हिन्दूकुश मार्ग से होकर जाते थे।^२

भारत के साथ असीरिया के व्यापारिक सम्बन्ध का इस काल से भी पता चलता है कि असीरिया के राजा सेजेचेरीब ने (ई० पू० ७०४-६८१) अपने उपवन में कपास के पौधे लगाये थे।^३ नेबुशदनेजार (६०४-५६१ ई० पू०) के महल में सिन्धु के शहतीर मिले हैं। ऊर में नबोदिन (ई० पू० ५५५-५३८) द्वारा पुनर्निर्मित चन्द्रमन्दिर में भारतीय सागवान के शहतीर मिले जो शायद वहाँ पश्चिमी भारत से लाये गये थे।^४

बाबुल में दक्षिण भारतीयों की अपनी एक बस्ती थी। निपुर के मुरुशु की कोठी के हिसाब की मिट्टी की तख्तियों से यह पता चलता है कि वह कोठी भारतीयों के साथ व्यापार करती थी।^५ इसी व्यापारिक सम्बन्ध से कुछ तामिल शब्द—जैसे अरसि (नाव), यूनानी ओरिजा, कहर (शलचीनी), यूनानी कार्पिन; इजिप्तेर (सोंठ), यूनानी जिगिबेरोस; पिप्पी (बड़ी पीपल), यूनानी पेपेरो तथा संस्कृत बैह्य (बिलौरी), यूनानी बेरिल्लोस—यूनानी भाषा में आये।

हम ऊपर देख चुके हैं कि वैदिक युग में समुद्रयात्रा विहित थी। पर सूत्रकाल में शायद जात-पात और छुआछूत के विचार से समुद्रयात्रा का निषेध हुआ। बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार^६ उत्तर के ब्राह्मण समुद्रयात्रा करते थे; पर शास्त्रविहित न होने से समुद्रयात्री जात-बाहर माने जाते थे। मनु भी^७ शायद समुद्रयात्रा के पक्षपाती नहीं थे, क्योंकि वे समुद्रयात्री के साथ कन्या के विवाह का आदेश नहीं देते। पर उपर्युक्त निषेध शायद ब्राह्मणों तक ही सीमित थे। बौद्ध-साहित्य से तो पता चलता है कि समुद्रयात्रा एक साधारण बात थी।

१. आई० एच० क्यू० २ (१८२६), पृ० १४०

२. जे० आर० ए० एस्०, १८८८, पृ० २१०

३. जे० आर० ए० एस्०, १८१०, पृ० ४०३

४. जे० आर० ए० एस्०, १८८८, पृ० १६६ से

५. जे० आर० ए० एस्०, १८१०, पृ० २३०

६. बौ० ध० सू०, ११।१२४

७. मनुस्मृति, २।१।२२

तीसरा अध्याय

ई० पू० पाँचवीं और छठी सदियों के राजमार्ग पर विजेता और यात्री

हम दूसरे अध्याय में देख चुके हैं कि भारतीय कार्य किस तरह इस देश में बड़े और संगठित हुए; पर पुरातत्त्व की सहायता न मिलने से अभी तक उनका इतिहास अधूरा और गड़बड़ है। वैज्ञानिक इतिहास के दृष्टिकोण से तो भारत का इतिहास हखामनी-शक्ति द्वारा सिन्ध और पंजाब के कुछ भाग पर अधिकार और सिकन्दर की विजय-यात्रा से ही शुरू होता है। उनसे हमें पता चलता है कि बल्लभ से तक्षशिलावासी सड़क पर आर्यों के कफिलों का आना कभी का बन्द हो चुका था तथा राजनीतिक विजय का युग आरम्भ हो चुका था। भारत पर ये चढ़ाईयाँ हखामनीयों के समय से आरम्भ होकर शक, पल्लव, कुषाण, हूण, तुर्क और मुगल-शक्तियों द्वारा बराबर जारी रहीं। इस अध्याय में हम भारत के प्राचीन अभिजातों की ओर अपनी दृष्टि डालेंगे।

कुरुष और दारा प्रथम की चढ़ाईयाँ राजनीतिक थीं। कुरुष के धावे सीर दरिया तक और दारा के धावे सिन्धु तक हुए। छिनी प्रसंगवश कुरुष को कपिशों तक आया हुआ मानता है और हिरोडोटस दारा के धावे हिन्दमहासागर तक मानता है। श्री फूरो^१ का विश्वास है कि सिकन्दर के धावे इन्हीं राज्यों के धावों पर आधारित थे। इस राय के समर्थन में श्री फूरो का कहना है कि सिकन्दर ईरानियों से इतना प्रभावित था कि उसने दारा तृतीय के धर्म तथा राज-काज के तरीकों को अपनाया। शायद हखामनीयों से मिली राज्यसीमा के पुनः स्थापन के लिए यह आवश्यक भी था। श्री फूरो का विचार है कि ग्यास के आगे सिकन्दर के विप्राहियों ने आगे बढ़ने से इसलिए नहीं इनकार किया कि वे थक गये थे; बल्कि इसलिए कि प्राचीन ईरानी साम्राज्य की सीमा वे स्थापित कर चुके थे और उसके आगे बढ़ने की कोई जरूरत नहीं थी। घबराकर और गुस्से में आकर जब सिकन्दर सिन्धु के रास्ते लौटा, तब भी, वह दारा प्रथम की फौज का रास्ता ले रहा था।

यहाँ ईरानियों द्वारा गन्धार-विजय के बारे में कुछ जान लेना आवश्यक है। हखामनी अभिलेखों से हमें पता चलता है कि यह घटना ५२० ई० पू० में अथवा उसके पहले घटी होगी। सिन्धु शाह ईरानियों के कब्जे में ५१७ या ५१६ ई० पू० में आया। हखामनीयों द्वारा सिन्धु-विजय को श्री फूरो दो भागों में बाँटते हैं। कुरुष (५५२-५३० ई० पू०) ने अपने पहले धावे में कपिश की राजधानी समाप्त कर दी; फिर शायद महापथ से आगे बढ़कर उसने गन्धार जीता, जो उसके राज का एक सूबा हो गया। उस समय गन्धार की सीमा पश्चिम में उषरि-शयेन यानी हिन्दुकुश के पार तक पहुँचती थी, और दक्षिण में निचले पंजाब तक, जिसमें

यूनानियों का कस्पाइरोस (कस्सपपुर) यानी मुस्तान था। पूर्व में उसकी सीमा रावलपिण्डी और मेलम के जिलों के साथ तत्कालीन राज में शामिल थी। यह भी मार्ग की बात है कि स्लावों के अनुसार चेनाब और रावी के बीच का दोआब भी गन्धार से कहा जाता था। गन्धार की उपर्युक्त सीमाओं से हमें पता चलता है कि उसमें कपिश से पंजाब तक फैला हुआ सारा प्रदेश आ जाता था।

अपने लम्बे निर्गमन-मार्गों की रक्षा के लिए दारा प्रथम ने निचली सिन्धु जीतकर अरबसागर पहुँचने का निश्चय किया और शायद इसी उद्देश्य को लेकर उसने स्काइलेक्स को सिन्ध की खोज के लिए भेजा। उसका बेड़ा कस्सपपुर यानी मुस्तान से चला। यहाँ नगर के कुछ नौसे, चेनाब के बाएँ किनारे पर दारा का बेड़ा तैयार हुआ जो हाई बरस के बाद मेलम में दारा से जाकर मिला। अपनी यात्रा में इस बेड़े ने शायद लातसागर पर के मिस्री बन्दर तथा पश्चिम भारत के बन्दरों की यात्रा निरावद कर दी जिसके कलस्वस्थ अज्ञात और दजला के मुहाने से लेकर सिन्धु के मुहाने तक का समुद्री किनारा उसके बश में आ गया और हिन्दमहासागर की शान्ति सुरक्षित हो गई।

पर इतिहास हमें बतलाता है कि सिन्ध पर ईरानियों का अधिकार कुछ थोड़े ही काल तक था। जैसा हमें पता है, सिन्धु के ऊपरी रास्ते में निकन्दर की अधिक तकलीफ नहीं उठानी पड़ी; पर सिन्धु के निचले भाग में उसे ब्राह्मणों का खल्ल मुकामला करना पड़ा। इसी आधार पर हम कह सकते हैं कि शायद ईरानियों के समय भी ऐसी ही घटना घटी होगी।

यहाँ हखामनियों के पूर्वी प्रदेशों के बारे में भी कुछ जान लेना आवश्यक है। इनकी एक तालिका हिरोडोटस (३।८६ से) ने दी है जिसकी तुलना हम दारा के लेखों में आये प्रदेशों से कर सकते हैं। इन प्रदेशों के नाम जातियों अथवा शासन-राज्यों पर आधारित हैं। "

अभिलेखों और हिरोडोटस में आये प्रदेशों के नामों की जाँच-पड़ताल से यह पता चलता है कि उनके समूह बनाने में विचारे हुए कबीलों से मालगुजारी वसूल करने की सुविधा का अधिक ध्यान रखा गया था। जैसे १६ वें प्रदेश में सब सूबे पार्थव, अरिय, खोरास्म, दंग और सुथ थे; १२ वें प्रदेश में बलख (मर्ग के साथ) था; २० वें प्रदेश, अर्थात् दंग में हामून का दलदली हिस्सा, पूर्वी सगरती यानी ईरानी कोहिस्तान के फिरन्दर तथा फारस की खाड़ी पर रहनेवाले कुछ कबीले थे। भारतीय और बतूची १७ वें प्रदेश में थे। अभिलेखों में मकों का बराबर उल्लेख है, उनका प्रदेश सिन्ध की सीमा पर था। हिरोडोटस के समय में मुकोइ १४ वें प्रदेश में थे। हिरोडोटस बतूचिस्तान का प्रचलित नाम न देकर उसे भीतरी परिकल्प प्रदेश कहता है। ७ वें प्रदेश में गन्धार और सतगिद (प्रा० ई० अथगुरा) शामिल थे। अथगुरा प्रदेश हजाराजान के पर्वतों में था तथा इसके साथ दर्रा और अप्रीतियों (अप्रीतियों) का सम्बन्ध था। पन्द्रहवें प्रदेश का ठीक विवरण नहीं मिलता। पन्ध्र की तरह अरबोस उस समय मशहूर नहीं मान्य पड़ता। पन्ध्र से हिरोडोटस (३।१०२; ४।४४) का उद्देश्य मुस्तान से पश्चिम सुतेमान पर्वत से है। पन्ध्र की जगह राक और कस्पों के आने से कुछ सुविधा पैदा होती है; क्योंकि १० वें प्रदेश में कस्प कस्पिन समुद्र के पास आते हैं तथा राक

शकस्तान में। श्री कृष्ण * १५ वें प्रदेशों के कस्बों की पहचान मुतलान, जिसका नाम शायद कस्वपुरी था, के रहनेवालों से करते हैं, जो बाद में खुद कमालव कहलाये। शकों की पहचान शकस्तान के हौमवर्गी शकों से की जा सकती है।

हेकतल के अनुशार कस्वपुर (कस्वपुर) गन्धार में था पर हिरोडोटस उसे दूसरे प्रदेश में रखता है। इस अवगमनरूप को इटाने के लिए यह मान लिया जा सकता है कि दास प्रथम द्वारा निर्मित अफगानिस्तान और पंजाब प्रदेश चरस और अर्तचरस प्रथम द्वारा दो समान भागों में फिर से बाँटे गये। लगता है, उस समय गन्धार निक्ले पंजाब से अलग करके शकस्तान से जोड़ दिया गया था। यह वैद्वारा भौगोलिक आधार पर किया गया था। पंजाब प्राकृतिक रूप से नमक की पहाड़ियों द्वारा विभाजित है। उसके उत्तर में इतिहास-प्रसिद्ध महापर्व पेशावा, राकतपिखी, लाहौर और दिल्ली होते हुए गंगा के मैदान को एशिया के ऊँचे भागों से मिलाता है, पर दक्खिन-पंजाब के भाग का विबाध गन्धार और हेराल होकर पश्चिम के साथ दूसरा सम्बन्ध नहीं था। इस भूमि का दो प्रदेशों में विभाजन था जिनमें एक के अन्दर काबुल की घाटी और पंजाब का ऊँचा हिस्सा आ जाता था तथा दूसरे में हेलमंद की घाटी और निक्ला पंजाब। इस तरह का पथ-विभाजन सबको के भौगोलिक नियमों के अनुशार ही है।

जिस समय इलामनी सिन्ध और गन्धार में अपनी शक्ति बढ़ा रहे थे उस समय पूर्वी पंजाब से लेकर सारे भारत में किसी विदेशी आक्रमण का पता नहीं था। यह समय बुद्ध और महावीर का था जिन्होंने वैदिक सनातन धर्म के प्रति बगावत का झण्डा उठाया था। ईसा की सातवीं सदी पूर्व में भी देश सोलह महाजनपदों में विभाजित था। इन जनपदों में लड़ाइयाँ भी होती थीं; पर आपस में सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध कभी नहीं टूटा। इन महाजनपदों के नाम थे—(१) अंग, (२) मगध, (३) काशी, (४) कोशल, (५) वज्जि, (६) मल्ल, (७) चेदि, (८) वंश, (९) कुड, (१०) पंचाल, (११) मत्स्य, (१२) शूरसेन, (१३) अस्मक, (१४) अवन्ती, (१५) गन्धार और (१६) कम्बोज २। ईसा-पूर्व ६ठी शताब्दी में राजनीतिक स्थिति कुछ बदल गई थी; क्योंकि कोशल ने काशी को अपने साथ मिला लिया था और मगध ने अंग को।

बुद्ध के काल में हम दो बड़े साम्राज्य और कुछ छोटे राज्य तथा बहुत-से गणतन्त्र पाते हैं। शाक्यों की राजधानी कपिलवस्तु में, वृत्तियों की राजधानी अवन्तिकाप में, कातामों की राजधानी किस्वपुर में, भगों की राजधानी सुंसारगिरि में, कोतियों की राजधानी रामग्राम में, मल्लों की राजधानी पाव-कुशीनारा में और तिच्छवियों की राजधानी वैशाली में थी। इन दस गणों की स्थिति कोउत के पूर्व गंगा और पहाड़ों के बीच के प्रदेश में थी। शाक्यों का प्रदेश हिमालय की ढाल पर था जोकि उत्तरी ठीक-ठीक सीमा का पता नहीं लगता। इनकी प्राचीन राजधानी कपिलवस्तु आज दिन नेपाल में त्रितीराकोट के नाम से प्रसिद्ध है। वृत्तियों और कातामों के प्रदेशों के बारे में हमें अधिक पता नहीं है, पर इतना कहा जा सकता है कि इनके गण कपिलवस्तु से वैशाली जानेवाली सड़कों पर बसे थे। कोतिय लोग शाक्यों के पड़ोसी थे तथा रोहिणी नदी उनके राज्यों के बीच की सीमा थी। मल्लों की दो शाखाएँ थीं जिनकी राजधानी पावा (पण्डर) और कुशीनारा

१. वही, १, पृ० ११८

२. अंगुत्तरनिकाय १। २१३; ४। २२२; २२६। २६०

थी। कपिलवस्तु वैशाखी सबक पर गोरखपुर जिले के पड़ौसी तहसील में स्थित है। वज्जी लोगों के कब्जे में उत्तरविहार का अधिकतर भाग था और उनकी राजधानी वैशाखी में थी।

इस बात में बहुत कम सन्देह है कि बुद्ध के जीवनकाल में कोसलों का राज्य सबसे बड़ा था और इसे लिच्छवियों और मगध के अजातशत्रु का सामना करना पड़ता था। शम्भ्यों, कोलियों और मल्लों के गणतन्त्र, कोसल के पूर्व होगे थे, मगध के प्रभाव में थे। दक्षिण में कोसल की सीमा काशी तक पहुँचती थी जहाँ शायद काश्यों के लोगों का मान रखने के लिए प्रत्येनजित का छोटा भाई ठीक उसी तरह काशिराज बना हुआ था जैसे मगध द्वारा अंग पर अधिकार हो जाने के बाद ही वम्पा में अंगराज नाम से राजे बने हुए थे।^१ पश्चिम में कोसल की सीमा निर्धारित करना कठिन है। उस काल में लखनऊ और बरेली जिलों के उत्तरी भाग जंगलों से ढँके हुए थे; पर हमें मालूम है कि गंगा के मैदान का उत्तरी पथ इस प्रदेश से होकर निकलता था। इसलिए सम्भव है कि यहाँ नगर रहें हों। बौद्धसाहित्य में उत्तरपंचाल का उल्लेख न होने से यह सम्भव है कि गंगा नदी पश्चिम में भी कोसल तथा उसके प्रभाव में दूसरे गणों की सीमा बाँधती थी।^२

बुद्ध के समय में प्रत्येनजित कोसल के राजा थे। अजातशत्रु ने उन्हें एक बार हराया था; पर उन्होंने उस हार का बदला बाद में ले लिया। प्रत्येनजित को उसके बेटे विहङ्गम ने गद्दी से उतार दिया। वह राजपूत में अजातशत्रु से सहायता माँगने गया और वहाँ उसकी मृत्यु हो गई। अपनी बेइज्जती का बदला लेने के लिए विहङ्गम ने शम्भ्यों के देश पर हमला कर दिया तथा पूर्वों, वन्धों और क्षत्रियों तक को नहीं छोड़ा और उसी समय शम्भ्यों का अन्त हो गया। विहङ्गम को भी इस अत्याचार का बदला मिला। कपिलवस्तु से लौटते हुए वह अपनी सेना के साथ अचिरावती में डूब गया। कोसल का अन्त हो गया तथा मगध ने उसे धीरे-धीरे हथिया लिया।

कोसल के प्रत्येनजित और वत्स के उदयन की तरह मगध के बिम्बसार बुद्ध के समकालीन थे। अंगुत्तराग (गंगा से उत्तर भागलपुर और मुँगेर जिले) उस समय उसके कब्जे में था तथा पूर्व और दक्षिण में उसके राज्य का कोई सामना करनेवाला नहीं था। पितृहन्ता अजातशत्रु के समय मगध के तीन शत्रु थे। हम कोसल के बारे में ऊपर कह आये हैं। उस समय लिच्छवी भी इतने प्रबल हो गये थे कि उनके लिपाही गंगा पार करके मगध के प्रदेश पाटलिपुत्र को पहुँच जाते थे और वहाँ महीनों ठिके रहते थे।^३ अजातशत्रु और लिच्छवियों के बीच की दुश्मनी का मुख्य कारण वह शुरू था जो मगध और वज्जी प्रदेशों की सीमा पर चलनेवाले पहाड़ी रास्ते पर लगता था। शायद यहाँ उस रास्ते से संकेत है जो जयनगर होकर धनकुटा तक चलता है।^४ यह दुश्मनी इतनी बढ़ गई थी कि हम महापरिनिब्बान सुत्तन्त में अजातशत्रु को वज्जियों पर धावा करने की इच्छा की बात सुनते हैं और इसी इरादे को लेकर उठने पाटलिप्राय के दक्षिण में एक किला बनवाया। यही ग्राम शायद

१. राहुल साँझ्यायन, बुद्धचर्या पृ० ३००

२. राहुल साँझ्यायन, मज्झिमनिकाय, पृ० ७, बनारस, १९१३

३. राहुल, बुद्धचर्या, पृ० २२७

४. वही, पृ० २२०

उस समय मगधों और बज्जियों की सीमा था। इस घटना के तीन ही वर्ष बाद अजातशत्रु के मन्त्री वत्सकार के प्रद्युम्नों से वैशाली का पतन हुआ। अजातशत्रु का तीसरा प्रतिस्पर्धी अवन्ती का चंडप्रद्योत था जिसका इरादा राजशुद्ध पर धावा करने का था। इस बात का पता नहीं है कि अवन्ती और मगध की सीमाएँ कहाँ मिलती थीं; पर शासक यह जगह पलामऊ जिले में थी। जो भी हो, यह तो निश्चय है कि दोनों की प्रतिस्पर्धा गंगा की घाटी हस्तगत करने के लिए थी। यह स्वाभाविक है कि वत्सराज उदयन का अपने समुद्र, अवन्ती के प्रद्योत, के साथ अन्तर्ज्ञा ताल्लुक था। प्रद्योत का पौत्र बोधिकुमार मगध पर धावा बोलने के लिए सुसुमारगिरि यानी चुनार पर डेरा डाले हुए था और यह सम्भव है कि प्रद्योत भी उसी रास्ते आया हो। जो भी हो, यह बात साफ है कि बुद्ध के समय में अवन्ती और मगध के राज्य उत्तर भारत में अपनी धाक जमा लेने के किराक में थे; पर बज्जियों के हारने के बाद अजातशत्रु का पलड़ा भारी हो गया और इस तरह मगध उत्तर भारत में एक महान् साम्राज्य बन गया।^१ अजातशत्रु के पुत्र और उत्तराधिकारी उदयीभद्र ने गंगा के दक्षिण में कुशमपुर अथवा पाटलिपुत्र नगर बसाया। यह नया नगर शासक अजातशत्रु के किले के आसपास ही कहीं बसाया गया था। अपने बचने के बाद से ही यह नगर व्यापार और राजनीति का एक बड़ा भारी केन्द्र बन गया।

उत्तर भारत में उस समय एक दूसरी बड़ी शक्ति वंश अथवा वत्स थी। इस राज्य के पूर्व में मगध और दक्षिण में अवन्ती पड़ते थे। वत्सप्रदेश में चेदि और भर्गु राज्यों के भी कुछ भाग आ जाते थे। उसके पश्चिम में पंचाल पड़ता था जिसपर शासक वत्सों का अधिकार था। वत्स के पश्चिम में सौरसेनप्रदेश पर प्रद्योत के नाती मासुर अवन्तिपुत्र राज्य करते थे। उसके उत्तर में धुरतकोटित का राजा एक कुरु था और इसलिए उदयन का ही जात-भाई था। उपर्युक्त सबूतों से यह पता चल जाता है कि वत्स कोसल के ही इतना बड़ा राज्य था। जिस तरह मगध कोसल को खा गया उसी तरह वत्स अवन्ती का शिकार बना। इसके फलस्वरूप केवल अवन्ती और मगध के राज्य एक दूसरे की प्रतिस्पर्धा के लिए बाकी बच गये।^२

ऊपर हमने गंगा की घाटी तथा मालवा के कुछ राज्यों का वर्णन किया है; पर, जैसा हम ऊपर देख आये हैं, सोलह महाजनपदों में गन्धार और कम्बोज भी थे। बौद्ध-साहित्य से पता लगता है कि गन्धार के राजा पुष्करवारी थे। अगर, जैसा कि श्री पूरे का अनुमान है, हजामनी व्यास नदी तक यह आये थे तो पुष्करवारी से उनका मुठभेड़ होना जरूरी था, लेकिन ऐसी किसी मुठभेड़ का बौद्ध-पालि-साहित्य में उल्लेख नहीं है। यहाँ हम बौद्ध-संस्कृत-साहित्य की एक कथा की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं। कथा यह है कि जीवक कुमारसूत्य वैद्यक पढ़ने के लिए तक्षशिला पहुँचे। जब वे तक्षशिला में थे तो पुष्करवारी के राज्य पर प्रत्यंतिक पालदव नामक खों ने आक्रमण किया; पर जीवक कुमारसूत्य की मदद से यह आक्रमण रोकता जा सका और खों हराये जा सके।^३ प्रश्न यह उठता है कि ये खों कौन थे। बहुत सम्भव है कि इस कथा में कदाचित्त द्वारा प्रथम के बड़ाव की ओर संकेत हो।

१. राहुल सांकृत्यायन, मज्झिमनिकाय, पृ० ५

२. राहुल, वही, पृ० ५ से

३. मित्रागिठ टेक्स्ट, पा० ३, २, पृ० ३१-३२

बौद्ध-साहित्य को कम्बोज का भी थोड़ा-बहुत ज्ञान था और वहाँ के रहनेवालों के रीति-रिवाजों से भी वे परिचित थे। पर बुद्ध के समय कम्बोज का भारतवर्ष के अधीन होना एक विवादास्पद प्रश्न है।

ऊपर हमने पंजाब और मध्यदेश के गणों और राज्यों का एक सरसरी तौर पर इतिहास इसलिए दे दिया है कि उसके द्वारा हमें महापथ का इतिहास समझने में आसानी पड़ सके। बौद्ध-साहित्य के आधार पर हम कह सकते हैं कि बुद्ध के समय महापथ कुषप्रदेश से उठता था तथा उत्तरप्रदेश में उत्तरपंचाल, यानी बरेली जिले से घँसता हुआ वह कोसलप्रदेश में होता उसके अधिकारी राज्यों, जैसे शाक्यों और मल्लों के देश से होकर सीधे कपिलवस्तु पहुँच जाता था। कपिलवस्तु के ध्वंस हो जाने पर श्रावस्ती से कपिलवस्तुवाले राजमार्ग की महत्ता कम हो गई और धीरे-धीरे शाक्यों के प्रदेश को तराई के जंगलों ने घेर लिया। मगध-साम्राज्य में कोसल और वज्जी-जनपदों के मित जाने से उत्तर प्रदेश से लेकर कज्जल तक का महापथ मगध के अधिकार में आ गया। गंगा के मैदान का दक्षिणी पथ इन्द्रप्रस्थ से मथुरा होता हुआ इलाहाबाद के पास कौशाम्बी पहुँचता था और वहाँ से चुनार आता था। सड़क के इस भाग पर वस्त्रों का प्रभाव था। वस्त्रों की राजधानी कौशाम्बी से एक सीधा रास्ता उज्जैन को जाता था। वस्त्रों के पतन के बाद मथुरा से उज्जैन जानेवाला रास्ता अवन्ती के अधिकार में आ गया। अजातशत्रु के कुछ ही दिनों बाद यह अवसर आया जब मध्यदेश की पथ-पद्धतियाँ मगध तथा अवन्ती के साम्राज्यों में घँट गईं।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं; सेल्लह महाजनपदों की आपस की लड़ाई का कारण राजनीतिक था, पर उसमें आर्थिक प्रश्न भी आते होंगे, इसमें सन्देह नहीं। उज्जैन होकर भारत के पश्चिमी समुद्र-तट पर जानेवाली सड़क अवन्ती के हाथ में थी तथा कौशाम्बी और प्रतिष्ठान के रास्ते पर भी उनका जोर चलता था। इस तरह रास्तों पर अधिकार करके, अवन्ति मगध का व्यापार पश्चिम और दक्षिण भारत से रोक सकती थी; उसी तरह, गंगा के मैदान के उत्तरी तथा दक्षिणी सड़क के कुछ भाग मगध-साम्राज्य के हाथ में होने से, अवन्तिवालों के लिए काशी और मगध का लाभदायक व्यापार कठिन था।

२

ऊपर हम उत्तर भारत की पथ-पद्धति की ऐतिहासिक विवेचना कर आये हैं, पर मागा का महत्व केवल राजनीतिक ही न होकर व्यापारिक भी है। पालि-साहित्य में सड़कों पर होनेवाली घटनाओं और साहसिक कार्यों के अनेक उल्लेख हैं जिनसे पता चलता है कि इस देश के व्यापारी और यात्री कितने जीवन्तवाले होते थे।

लगता है, पाणिनि के युग में ही भारतीय पथों को अनेक श्रेणियों में बाँट दिया गया था। पाणिनि के एक सूत्र “उत्तरपथेनाहृतम्” (५।१।७७) की व्याख्या करते हुए पतंजलि कात्यायन का एक वार्तिक “अजपथशंकुपथाभ्यांच” देते हैं। इस वार्तिक के अनुसार अजपथ और शंकुपथ (आने-जानेवाले व्यक्ति और वस्तु के बोधक शब्द) से आजपथिक और शंकुपथिक बनते हैं। स्थलपथ से मधुक और मरिच आते थे; “मधुकरमरिचयोरणस्थलात्”—अर्थात्, सड़क से आनेवाले मधुक और मरिच के लिए स्थलपथ विशेषण होता था। हेमचन्द्र के अनुसार मधुक शब्द राँगे के लिए भी आता था (एतद् आशियातीक, भा० २, पृ० ४६, पारी, १६२५)।

अथपथ—अर्थात् वह पथ जिसपर केवल बकरे चल सकें—का उल्लेख पाणिनि के गणपाठ (५।३।१००) में भी आता है। इसके साथ-साथ देवपथ, हंसपथ, स्थतपथ, करिष्य, राजपथ, शंकुपथ के भी उल्लेख हैं। हम आगे चलकर देखेंगे कि इन पथों पर यात्री कैसे यात्रा करते थे।

जातकों में अनेक तरह की सड़कों के उल्लेख हैं गोकि यह कहना मुश्किल है कि उनमें क्या अन्तर था; पर यह तो स्पष्ट है कि सड़कें कच्ची होती थीं। बड़ी सड़कों (महामग, महापथ, राजमग) की तुलना उपमार्गों से करने से यह भी पता चलता है कि कुछ सड़कें बनाई भी जाती थीं, केवल अनारन यात्रा से पिड़कर स्वयं हो नहीं बन जाती थीं। सड़कें अधिकतर ऊबड़-खाबड़ और साफ-सुथरी नहीं होती थीं।^१

वे अक्सर जंगलों और रेगिस्तानों से होकर गुजरती थीं तथा रास्ते में अक्सर भुलमरी, जंगली जानवर, डाकू, भूत-प्रेत और जहरीले पौंदे मिलते थे।^२ कभी-कभी हथियारबंद डाकू यात्रियों के कपड़े-सत्ते तक धरवा लेते थे।^३ जंगली (अष्टवीमुखवासी) लोग बहुधा साव्यों को कठिन मार्गों पर रास्ता दिखताते थे और उसके लिए उन्हें पर्याप्त पुरस्कार मिलता था।^४

जब इन सड़कों पर कोई बड़ी सेना चलती थी तो सड़क ठीक करनेवाले मजदूर उसके साथ चलते थे। रामायण^५ में इस बात का उल्लेख है कि जब भरत चित्रकूट में राम से मिलने के लिए चले तो उनके साथ सड़क बनानेवालों की काफी संख्या थी। सेना के आगे मार्गदर्शक (दैशिक, पथज्ञ) चलते थे। सेना के साथ भूमि-प्रदेशज्ञ, नाप-जोड़ करनेवाले (सूत्रकर्म-विशारद), मजदूर, थवई (स्वगति), इर्जीनियर (मन्त्रकोविद), बड़ई, दांतेबरदार (दातृन्), पेड़ लगानेवाले (वृक्षरोपक), कूपकार, सराय बनानेवाले (सभाकार) और बाँस की फोपड़ियाँ बनानेवाले (वंश-कर्मकार) थे।^६ वे कारीगर जमीन को समथर बनाते थे, रास्ता रोकनेवाले पेड़ काटते थे, पुरानी सड़कों की मरम्मत करते थे और नई सड़कें बनाते थे।^७ पहाड़ियों की बगल से चलनेवाली सड़कों पर के पेड़ वे काट डालते थे और उजाड़ प्रदेशों में पेड़ लगाते थे। कुल्हाड़ियों से माड़-फंखाड़ साफ कर दिये जाते थे तथा सड़क पर आनेवाली चट्टानें तोड़ दी जाती थीं। साल के बड़े-बड़े वृक्ष गिराकर जमीन समथर कर दी जाती थी। सड़क पर की नीची जमीन तथा अन्ये कुँए मिट्टी से पाट दिये जाते थे, सड़क पर पड़नेवाली नदियों पर नाव के पुल बना दिये जाते थे।^८

रामायण से कम-से-कम यह बात साफ हो जाती है कि कूच करती हुई सेना के सामने पड़नेवाली सड़कों की मरम्मत होती थी। एक जातक^९ से पता चलता है कि बोधिसत्त्व सड़क की मरम्मत करते थे। वे अपने साथियों के साथ बड़े-बड़े उठते थे तथा अपने हाथों में पीटने और

१. जा० १, १२६

२. जा०, १, ३८, २७१, २७४, २८३; ३, ३१४; ४, १८५; ५, १२; ६, २६

३. जा०, ४, १८५—गा० १८; १, २८३; २, ३३४

४. जा०, ५, १२, ४७१

५. रामायण, २।४०।१३

६. वही, २।४१।१-३

७. वही, २।४१।५-६

८. वही, २।४१।७-११

९. जा०, १, १२६

फरते इत्यादि लेकर बाहर निकलते थे। पहले वे नहर की चौमुहानियों और दूसरी सड़कों में पड़े प्रखरों को हटा देते थे। गाँवियों के घुरों की छूनेवाले पेड़ काट दिये जाते थे। उबड़-खाबड़ रास्ते चौरस कर दिये जाते थे। बन्द बना दिये जाते थे, तालाब खोद दिये जाते थे और सभाएँ बनाई जाती थीं। अगर देखा जाय तो बोधिसत्त्व और उनके साथी ने ही काम करते थे जो भरत की सेना के साथ चलनेवाले मजदूर और कारीगर। इस कहानी से यह भी पता लगता है कि सड़कों की सफाई और मरम्मत का काम कुछ खास आश्रमियों के सुपुर्द था, पर उन आश्रमियों का राज्य में कौन-सा पद था, इसका पता नहीं लगता।

बड़े आश्रमियों के सड़कों पर चलने के पहले उनकी मरम्मत का उल्लेख भी है। मगधराज बिम्बसार ने जब सुना कि बुद्ध वैशाली से मगध की ओर आनेवाले हैं तो उन्होंने उनसे सड़क की मरम्मत हो जाने तक रुक जाने की प्रार्थना की। राजगृह से पाँच योजन तक की लंबी सड़क चौरस कर दी गई और हर योजन पर एक सभा तैयार कर दी गई। मगध के पार वज्जियों ने भी वैसा ही किया। इसके बाद बुद्ध अपनी यात्रा पर निकले।^१

✓ प्राचीन भारत में सड़कों पर यात्रियों के आराम के लिए धर्मशालाएँ होती थीं। ऐसी एक शाला बनवाने के सम्बन्ध में एक जातक में एक मजेश्वर कहानी आई है।^२ बोधिसत्त्व और उनके एक बड़े साथी ने एक चौमुहानी पर सभा बनवाई, पर उन्होंने यह निश्चय किया कि वे उस धर्मकार्य में किसी स्त्री की सहायता नहीं लेंगे, पर कियों इस तरह के प्रयत्न से भला कहीं भोजा खानेवाली थी। उनमें से एक स्त्री बड़ई के पास पहुँची और उससे एक शिखर बनाने के लिए कहा। बड़ई के पास शिखर बनाने के लिए सूत्री लकड़ी तैयार थी जिससे उसने खरादकर शिखर तैयार कर दिया। जब सभा का बनना समाप्त हो गया तब बनवानेवालों को पता लगा कि उसमें शिखर नदारद था, उसके लिए बड़ई से कहा गया। बड़ई ने उन्हें बतलाया कि शिखर एक स्त्री के पास था। स्त्री से उन लोगों ने शिखर माँगा पर उसने उन्हें वह तब तक देने से इनकार किया जब तक कि वे उसे अपने पुण्यकार्य में सामग्री बनाने की तैयार न हों। भूख मारकर स्त्री-विरोधियों की उसी शर्त पर शिखर लेना पड़ा। इस सभा में बैठने की चौकियाँ और पानी के घड़ों की भी व्यवस्था थी। सभा फाटकर चहारदीवारी से घिरी थी। भीतर खुले मैदान में बालू बिछा था और बाहर ताड़ के पेड़ों की कतारें थीं।

✓ एक दूसरे जातक^३ में इस बात का उल्लेख है कि अंग और मगध के वे नागरिक, जो एक राज्य से दूसरे राज्य में बराबर यात्रा करते थे, उन राज्यों के सीमान्त पर बनी हुई एक सभा में ठहरते थे। रात में मौज से शराब, कबाब और मद्यलियों उड़ते थे तथा खेरा होते ही वे अपनी गाँवियों कसकर यात्रा के लिए निकल पड़ते थे। उपर्युक्त विवरण से यह पता लगता है कि सभा का रूप सुगल-धुग की सराय-जैसा था।

जो यात्री शहरपनाह के फाटकों पर पहुँचते थे, वे शहर के भीतर नहीं घुसने पाते थे। उन्हें अपनी रात या तो द्वारपालों के साथ बितानी पड़ती थी या उन्हें किसी दूढ़े-फूढ़े भुतड़े पर में

१. धम्मपद अट्ठकथा २:१७०

२. जा०, १, २०१

३. जा० २, १४८

आश्रय लेना पड़ता था।^१ पर ऐसा पता लगता है कि तच्छिला के बाहर एक सभा थी जिसमें नगर के फाटकों के बंदर हो जाने पर भी यात्री ठहर सकते थे।^२

हम ऊपर देख चुके हैं कि यात्रियों के आराम के लिए सबकों के किनारे कुँबों और तालाबों का प्रबन्ध रहता था। एक जातक^३ से पता चलता है कि काशी के महामार्ग पर एक गहरा कुँबा था जिसमें पानी तक पहुँचने के लिए सीढ़ियाँ नहीं थीं, फिर भी, पुस्तकालय के लिए जो यात्री उस रास्ते से गुजरते थे, वे उस कुँए से पानी खींचकर पशुओं के लिए एक जलदोषी भर देते थे।

मार्गों के बीच में बहुत-सी नदियाँ आती थीं जिनपर यात्रियों को पार उतारने के लिए घाट चलते थे। एक जातक^४ में एक बेवकूफ मौनी की कहानी है जो बिना भाड़ा लिये यात्री को उस पार उतारकर फिर उससे भाड़ा माँगता था, जो उसे कभी नहीं मिलता था। बोधिसत्त्व ने उसे इस बात की सलाह दी थी कि वह पार उतारने के पहले ही भाड़ा माँग ले; क्योंकि घाट उतरनेवालों का नदी के इस पार कुछ और ही मन होता है और उस पार कुछ और ही।

जातकों में, नदियों पर पुलों का तो उल्लेख नहीं है, छिछले पानी में लोग बन्द से पार उतरते थे और गहरे पानी में पार उतरने के लिए (एकदोणि) नावें चलती थीं।^५ राजा बहुषा नावों के बेधों के साथ सफर करते थे। एक जगह कहा गया है कि काशिराज गंगा के ऊपर अपने बेधे (बहुनावासपात) के साथ सफर करते थे।^६

यात्री या तो पैदल चलते थे अथवा सवारियाँ काम में लाते थे। गादियों के पहियों पर अक्षर हालें चढ़ी रहती थीं।^७ रथों और सुखयानकों में आरामदेह गद्दियाँ लगी रहती थीं और उन्हें घोड़े खींचते थे।^८ राजकुमार और रईम अक्षर पातकियों पर चलते थे।^९

प्राचीन काल में, जंगलों से गुजरते हुए रास्तों में डाकूओं, जंगली जानवरों और भूत-प्रेतों का भय रहता था तथा भुखमरी से लोग भयभीत रहते थे।^{१०} अंगुत्तरनिकाय के^{११} अनुसार सबकों पर डाकू यात्रियों की घात में बराबर लगे रहते थे। डाकूओं के सरदार मुद्रिकत रास्तों को अपना मित्र मानते थे। गहरी नदियाँ, अगम पहाड़ और घास से ढँके हुए मैदान उन्हें सहायता पहुँचाते थे। वे केवल राजकुमारियों की ही पूर नहीं देते थे, कभी-कभी तो राजे और मन्त्री भी अपने फायदे के लिए उनकी सहायता पहुँचाते थे। अपने विरुद्ध

१. जा० २, १२

२. धम्मपद अट्ठकथा २, ३१

३. जा० २, ७०

४. जा० ३, १२२

५. जा० २, ४२३; ३, २३०; ४, २३४; ४, ४२६; ५, १६३

६. जा० ३, २२६

७. जा० ४, ३७८

८. जा० १, १७५, २०२; २, ३३३

९. जा० ४, ३१८; ६, २०० गाथा १७२०; २१४ गाथा १२१३

१०. जा० १, ३३

११. अंगुत्तरनिकाय भा० ३ पृ० ६८-६९

तहकीकत होने पर वे घूस से लोगों का मुँह भो बन्द कर देते थे। वे यात्रियों को पकड़कर उनके रिश्तेदारों और मित्रों से गहरी रकम वसूल करते थे। रकम वसूल करने के लिए वे पकड़े हुए लोगों में से आधे को तो पहले भेज देते थे और आधे को बाद में।^१ अगर डाकू बाप और बेटे को साथ पकड़ पाते थे तो वे बेटे की अपने पास रख लेते थे और बाप को, छोड़ने की रकम लाने के लिए, भेज देते थे। अगर उनके कैदी आचार्य और शिष्य हुए तो वे आचार्य को रोक रखते थे और शिष्यों को रकम लाने के लिए छोड़ देते थे।^२

✓ राज्य की ओर से डाकूओं के उपद्रव रोकने के लिए कोई खास प्रयत्न नहीं था। ऐसा पता चलता है कि मुगल-युग की तरह यात्रियों को अपनी रक्षा का प्रयत्न स्वयं करना पड़ता था। रात में पहरा देने के लिए सार्थ की ओर से पहरेदारों की व्यवस्था की जाती थी।^३ राज्य की ओर से सार्थ की रक्षा तथा मार्ग-दर्शन के लिए जंगलियों की व्यवस्था थी।^४ उन जंगलियों के साथ अन्धी नस्ल के कुत्ते होते थे। जंगली पीले कपड़े और लाल मालाएँ पहनते थे। उनके बाल फीते से बँधे होते थे। उनके धनुष के तीरों के फल पत्थर के होते थे।

कमी-कमी पकड़े जाने पर, डाकूओं की सख्त सजा मिलती थी। वे बाँधकर कारागृह में बन्द कर दिये जाते थे।^५ वहाँ उन्हें मन्त्रणा दी जाती थी और बाद में नीम की बनी लकड़ी की सूती पर वे चढ़ा दिये जाते थे।^६ कमी-कमी उनके नाक-कान काट दिये जाते थे और इसके बाद वे किसी सुनसान गुफा अथवा नदी में फेंक दिये जाते थे।^७ वे बंध के लिए कड़ीली चाबुक (कैटककस) और फरसे लिये हुए चोरपातकों के सुर्पुर कर दिये जाते थे।^८ अपराधियों को जमीन पर लिटाकर उन्हें कैदीले कीड़े लगते थे। कमी-कमी उनका अंगविच्छेद भी कर दिया जाता था।

रास्तों पर जंगली जानवरों का भी बड़ा भय रहता था। कहा गया है कि बनारस से जानेवाले महापय पर एक आदमखोर बाघ लगता था।^९ लोगों का बड़ भी विश्वास था कि जंगलों में चुड़ैलें लगती थीं जो यात्रियों को बहकाकर उन्हें चट कर जाती थीं।^{१०} रास्ते में खाना न मिलने से यात्रियों की खाने का सामान राय में ले जाना पड़ता था। पका खाना गाड़ियों पर चलता था।^{११} पैदल यात्री रात पर ही गुजर करते थे। एक जगह कहा गया है कि^{१२} एक बड़े ब्राह्मण की जवान पत्नी ने एक चमड़े के भोजे (चम्मपरिसिक्क) में रात भरकर अपने पति को दे दिया। एक जगह वह कुछ रात खाने के बाद थैली खुली छोड़कर पानी पीने चला गया जिसके फलस्वरूप थैली में एक साँप चुस गया।

✓ कमी-कमी अश्रुस्थता के कारण ब्राह्मण यात्रियों की बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ती थीं। कहानी है कि अद्भुत-कृत में पैदा हुए बोधिसत्त्व कुछ चावल लेकर एक बार यात्रा पर निकले। रास्ते में एक उत्तरी ब्राह्मण बिना सीमा-सामान के उनके साथ हो लिया। बोधिसत्त्व ने उसे कुछ

१. जा० १,२५३

३. जा० १,२०४

४. जा० २,१७

७. जा० २,८१

८. जा० १,२०४

११. जा० २,८१

२. जा० ४,७२

४. जा० ४,११३

६. जा० २,३४

८. जा० ३,४१

१०. जा० १,१३३ से

१२. जा० ३,२११

चाहल देने चाहे पर उसने लेने से इनकार कर दिया। किन्तु बाद में, भूज को उजाजा से विकल होकर उसी ने बोधिसत्त्व का सूडा बचा हुआ अन्न खाया। अन्त में अपने कर्म का प्रायश्चित्त करते हुए ब्राह्मण ने घने जंगल में घुसकर अपनी जान गँवा दी।^१

यात्री ही केवल व्यापार के लिए लम्बी यात्राएँ नहीं करते थे। सबकों पर श्रवि-मुनि, तीर्थपात्री, खेल-मांसवाले और विद्यार्थी बराबर चला करते थे। जातकों का कहना है कि अक्सर सोलह वर्ष की अवस्था में पढ़ाई के लिए राजकुमार तच्छिला की यात्रा करते थे।^२ देश तथा उसकेवासियों की जानकारी के लिए भी यात्राएँ की जाती थीं। दरीमुवजातक^३ में कहा गया है कि राजकुमार दरीमुव अपने मित्र पुरोहित-पुत्र के साथ तच्छिला में अपनी शिक्षा समाप्त करके देश के रस्म-रिवाजों की जानकारी के लिए नगरों और ग्रामों में घूमते फिरे।

शास्त्रार्थ के लिए भी कभी-कभी यात्राएँ की जाती थीं। एक जातक में इस सम्बन्ध की एक सुन्दर कहानी दी हुई है।^४ कहा गया है कि अपने पिता की मृत्यु के बाद चार बहनें अपने हाथों में जामुन की डालें लेकर शहरों में घूमकर शास्त्रार्थ करती हुई धावस्ती पहुँचीं। वहाँ उन्होंने शहर के फाटक के बाहर जामुन की डाल गाड़ दी और एतान कर दिया कि उस डाल के रौंदनेवाले को उनके साथ शास्त्रार्थ करना आवश्यक था।

उन कठिन दिनों की यात्रा में किसी साथी का मिल जाना बड़ा भाग्य समझा जाता था, पर इस साथी का सुस्त होना जरूरी था। धम्मपद^५ आलसी और बेवकूफों के साथ यात्रा करने को मना करता है। बुद्धिमान साथी न मिलने पर अकेले यात्रा करना ही श्रेयस्कर माना जाता था।

बौद्ध-साहित्य से पता चलता है कि घोड़े के व्यापारी बराबर यात्रा करते रहते थे। उत्तरापथ से घोड़े के व्यापारी बराबर बनारस आया करते थे।^६ एक जातक में^७ घोड़े के एक व्यापारी की मजेंदार कहानी है। वह व्यापारी एक बार पाँच सौ घोड़ों के साथ उत्तरापथ से बनारस आया। बोधित्व जब राजा के कृपापात्र थे तब वे घोड़े बेचनेवालों की स्थल घोड़ों का मूल्य लगाने की आज्ञा दे देते थे, पर उस बार लाजचो राजा ने अपना एक घोड़ा उन बिक्री के घोड़ों के बीच भेज दिया। उस घोड़े ने दूसरे घोड़ों की काट लिया जिससे भल मारकर व्यापारियों को उनके दाम पटाने पड़े।

फेरीवाले बहुधा लम्बी यात्राएँ भी करते थे। कहानी है कि एक बार बरतन-भोजि के एक व्यापारी के साथ बोधिसत्त्व तेलवाहा नदी पार करके अन्धपुर (प्रतिष्ठान) पहुँचे। दोनों ने व्यापार के लिए नगर के हिस्से बाँट लिये। वे आवाज लगाते थे—'ले पड़े।' कभी-कभी उन्हें बरतनों के बदले में सोने-चाँदी के बरतन मिल जाते थे। व्यापारी अपने साथ बराबर तराजू,

१. जा० २, २७-२८

२. जा० २, २

३. जा० ३, १२६

४. जा० ३, १

५. धम्मपद, २।६१

६. जा० १, १२४

७. जा० २, १२९

नगर रुपये और धौली रखते थे।^१ एक दूसरी जगह से हमें पता चलता है कि बनारस के एक कुम्हार अपने मिट्टी के बरतनों को एक खच्चर पर लादकर पास के शहरों में बेचा करता था। एक समय तो वह अपने बरतनों के साथ तत्कालीन तक धावा मार आया।^२

✓ अपनी जीविका की खोज में नाच-तमाशेवाले भी खूब यात्राएँ किया करते थे। एक जातक में^३ कहा गया है कि अपने यार—एक डाकू सरदार—के भाग जाने पर सामा नाम की एक गणिका ने नाचनेवालों को उसकी खोज में बाहर भेजा। एक दूसरी जगह एक नट की सुन्दर कहानी दी हुई है^४ जिसमें कहा गया है कि हर साल पाँच सौ नट राजगृह आते थे और राजा के सामने अपने खेल दिखलाते थे। इन तमाशों से उन्हें काफी माल मिलता था। एक दिन नटिन ने ऐसी कसरत दिखाई कि एक सेठ का लड़का उसपर आशिक हो गया। बाद में नटिन ने उससे इस शर्त पर विवाह करना स्वीकार किया कि वह स्वयं नट बनकर उसके साथ फिरे। उसने ऐसा ही किया और बाद में एक कुशल नट बन गया।

बौद्ध-साहित्य में ऐसे यात्रियों का भी उल्लेख है जिनकी यात्रा का उद्देश्य केवल मौज उड़ाना था। रास्ते में साहित्यिक कार्य ही उनकी यात्रा के इनाम थे।

एक जातक में इस तरह के साहसिकों का बड़ा सुन्दर वर्णन आया है।^५ गाथाएँ हैं—
“वह फेरिदार बनकर कलिंग में घूमा तथा हाथ में लकड़ी लेकर उसने ऊबड़-खाबड़ रास्ता पार किया। कभी-कभी नटों के साथ वह दीख पड़ता है तो कभी-कभी निरपराध पशुओं को फँसाते हुए वह दीख पड़ता है। अक्सर जुआड़ियों के साथ उसने खेल खेले। कभी-कभी उसने चिड़ियों फँसाने के लिए जाल बिछाया तो कभी-कभी भीड़ों में वह लाठी लेकर लड़ा-भिड़ा।”

३

✓ यात्रा में अनेक तरह की कठिनाइयाँ होते हुए भी, अंतरदेशीय और अंतरराष्ट्रीय व्यापार चलाने का श्रेय सार्ववाहों को ही था। वे केवल पैसा पैदा करने की मशीन ही न होकर भारतीय संस्कृति और साहस के संदेशवाहक भी थे। अक्सर हमें यह गलत आभास होता है कि भारत हमेशा अपने इतिहास में एक शान्त और धनी देश था। इतिहास से तो यह पता चलता है कि इस देश में भी वेही कमजोरियाँ थीं जो दूसरे देशों में थीं। उस युग में भी आजकल की तरह डाके पड़ते रहते थे, जंगलों में जंगली जानवरों का भय बना रहता था और साधों को जंगलों में हमेशा रास्ता भूल जाने का डर रहता था। ऐसी अवस्था में कारवों की सही-सलामती सार्ववाह की बुद्धि और कुस्ती पर निर्भर रहती थी। कारवों की गति पर उसका पूरा अधिकार रहता था और वह अपने साथियों से अनुशासन की पूरी आशा रखता था। उसका यह कर्तव्य होता था कि वह सार्व के भोजन-व्याजन का प्रबन्ध करे और इस बात का भी खयाल रखे कि लोगों को भोजन समान रूप से मिले। वह

१. जा० १, १११ से

२. धम्मपद अट्ठकथा, ३, २२४

३. जा० ३, ४१

४. धम्मपद अ०, ३, २२९-२३०

५. जा०, ३, ३२२

चतुर व्यापारी भी होता था। विपत्ति में वह कभी विचलित नहीं होता था और, जैसा कि हम बाद में देखेंगे, इस गुण से वह अनेक बार सार्थ को विपत्तियों से बचाने में समर्थ होता था। आनेवाली विपत्तियों से सार्थ की बचाना भी उसका कर्तव्य होता था तथा अपने साधियों को वह उनसे बचने की तरकीबें भी बताता था। एक जातक^१ में कहा गया है कि जब सार्थ एक जंगल में सुता तो सार्थबाह ने आश्रमियों की मनाही कर दी कि बिना उसकी आज्ञा के अनजानी पत्तियाँ, फल या फूल न खायें। एक बार अनजाने फल-फूल खाकर लोग बीमार पड़ गये, पर सार्थबाह ने खुलाव देकर उनके प्राण बचाये।

एक जातक में^२ एक सार्थबाह बोधिसत्त्व की जो पाँच सौ गाधियों के साथ व्यापार करते थे, कहानी दी गई है। एक समय जब वे यात्रा की तैयारी कर रहे थे, एक दूसरा बेवकूफ व्यापारी भी अपना सार्थ ले चलने की तैयारी हुआ। बोधिसत्त्व ने विचार किया कि एक साथ एक हजार गाधियों के चलने से सबक की दुर्गति, पानी और लकड़ी की कमी और बैलों के लिए घास की कमी की सम्भावना है। इसलिए उन्होंने दूसरे सार्थबाह को पहले जाने दिया। उस बेवकूफ सार्थबाह ने सोचा, “अगर मैं पहले जाऊँगा तो मुझे बहुत-सी सद्बलियतें मिलेंगी। मुझे बिना कटी-कुटी सबक मिलेगी, मेरे बैलों को चुनी हुई घास मिलेगी और मेरे आश्रमियों को तरो-ताजा सन्निधियाँ। मुझे व्यवस्थित ढंग से पानी भी मिलेगा तथा मैं अपने दाम पर माल का विनिमय भी कर सकूँगा।” बोधिसत्त्व ने बाद में जाने से अपनी सद्बलियतों की बात सोची, “पहले जानेवाले सबकों को बराबर कर दूँगे, उनके बैल पुरानी घास चर लेंगे जिससे मेरे बैलों को पुरानी घास की जगह उगती हुई नई घास मिलेगी; पुरानी वनस्पतियों के तुल लिये जाने पर मेरे आश्रमियों को नई वनस्पतियाँ मिलेंगी तथा पानी न मिलने पर पहला सार्थ जो कुँए खोदेगा उन कुँओं से हमें भी पानी मिलेगा। माल का दाम तय करना कठिन काम है। अगर मैं पहले सार्थ के पीछे चला तो उनके द्वारा निश्चित किये दाम पर मैं अपना माल आसानी से बेच सकूँगा।”

बेवकूफ सार्थबाह ने साठ योजन का रेगिस्तानी रास्ता पार करने के लिए अपनी गाधियों पर पानी के घड़े भर लिये। पर भूतों के इस बहकावे में आकर कि रास्ते में काफ़ी पानी है, उसने पशुओं से पानी उँकलवा दिया। उसकी बेवकूफियों का कोई अन्त नहीं था। जब-जब हवा उनके सामने चलती थी, वह और उसके साथी, नौकरों के साथ हवा से बचने के लिए अपनी गाधियों के सामने चलते थे; पर जब हवा उनके पीछे चलती थी तब वे कारवों के पीछे हो लेते थे। आखिर जैसा होना था, वही हुआ; वे गरमी से व्याकुल होकर बिना पानी के रेगिस्तान में तड़पकर मर गये।

बुद्धिमान सार्थबाह बोधिसत्त्व जब अपने कारवों के साथ रेगिस्तान के किनारे पहुँचे तब उन्होंने पानी के घड़ों को भर लेने की आज्ञा दी तथा यह हुक्म निकाला कि बिना उनकी आज्ञा के एक चुटतू पानी भी काम में नहीं लाया जाय। रेगिस्तान में बिप्लेते पशुओं और फलों की बहुतायत होने से भी उन्होंने आज्ञा दी कि बिना उनके हुक्म के कोई जंगली फल नहीं खाय। रास्ते में भूतों ने उन्हें भी पानी कँक देने के लिए बहकाया और कहा कि आगे पानी बरस रहा है। यह सुनकर बोधिसत्त्व ने अपने अनुयायियों से कुछ प्रश्न किये—“कुछ लोगों ने हमसे अभी कहा है

१. जा०, २, २६३

२. जा० १, पृ० १५ से

कि आगे जंगल में पानी बरस रहा है; अब बताओ कि बरसाती हवा का पता कितनी दूर तक चलता है ?” साथियों ने जवाब दिया—“एक योजन ।” बोधिसत्त्व ने पूछा,—“क्या बरसाती हवा यहाँ तक पहुँची है ?” साथियों ने जवाब दिया—“नहीं ।” बोधिसत्त्व ने कहा—“हम बरसाती बादलों की चोटी कितनी दूर से देख सकते हैं ?” साथियों ने जवाब दिया—“एक योजन से ।” बोधिसत्त्व ने कहा—“क्या किसी ने एक भी बरसाती बादल की चोटी देखी है ?” साथियों ने कहा—“नहीं ।” बोधिसत्त्व ने कहा—“बिजली की चमक कितनी दूर से देख पड़ती है ?” साथियों ने जवाब दिया—“चार या पाँच योजन से ।” बोधिसत्त्व ने कहा—“क्या किसी ने बिजली की एक भी चमक देखी है ?” साथियों ने जवाब दिया—“नहीं ।” बोधिसत्त्व ने कहा—“आदमी बादल की गरज कितनी दूर से सुन सकता है ?” साथियों ने कहा—“दो या तीन योजन से ।” बोधिसत्त्व ने कहा—“क्या किसी ने बादलों की एक भी गरज सुनी है ?” लोगों ने कहा—“नहीं ।” इस प्रश्नोत्तर के बाद बोधिसत्त्व ने अपने साथियों को बतलाया कि बरसात की बात गलत थी । इस तरह से सार्थ कुशलपूर्वक अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया ।

एक जातक में कहा गया है कि बोधिसत्त्व बनारस के एक सार्थवाह-कुल में पैदा हुए थे । वे एक समय अपने सार्थ के साथ एक साठ योजन चौड़े रेगिस्तान में पहुँचे । उस रेगिस्तान की धूल इतनी महीन थी कि मुट्ठी में लेने से वह सरककर अंगुलियों के बीच से निकल जाती थी । जलते हुए रेगिस्तान में दिन की यात्रा कठिन थी । इसीलिए सार्थ अपने साथ ईंधन, पानी, तेल, चावल इत्यादि लेकर रात में यात्रा करते थे । प्रातःकाल वे अपनी गाड़ियों को एक वृत्त में सजाते थे और उसपर एक पाल तान देते थे । जल्दी से भोजन करने के बाद वे उसकी छाया में दिन भर बैठे रहते थे । सूर्यास्त होते ही, वे भोजन करके, और भूमि के जरा ठंडी होते ही, अपनी गाड़ियाँ जोतकर आगे बढ़ जाते थे । इस रेगिस्तान की यात्रा समुद्रयात्रा की तरह थी । एक स्थलनियामक नक्षत्रों की मदद से काफिले का मार्ग प्रदर्शन करता था । रेगिस्तान पार करने में जब कुछ ही दूरी बाकी बच गई तब ईंधन और पानी फेंककर कारवाँ आगे बढ़ गया । स्थलनियामक आगे की गाड़ी में बैठकर नक्षत्रों की गति-विधि देखता हुआ चल रहा था । अमाभ्यवशा उसे नींद आ गई जिसके फलस्वरूप बैल पीछे फिर गये । स्थलनियामक जब सबेरे उठा तब अपनी गलती जानकर उसने गाड़ियों को घुमाने की आज्ञा दी । पथभ्रष्ट लोगों में हाहाकार मच गया; पर बोधिसत्त्व ने अपना दिमाग ठंडा रखा । उन्हें एक कुशस्थली दीख पड़ी जिससे वहाँ पानी होने का अन्दाज लगता था । साठ हाथ खोदने के बाद एक चट्टान मिली जिससे लोग पानी के बारे में हताश हो गये, पर बोधिसत्त्व की आज्ञा से एक आदमी ने हथौड़े के साथ नीचे उतरकर चट्टान तोड़ डाली और पानी बह निकला । लोगों ने खूब पानी पिया और नहाये । गाड़ी की जोतें तथा चक्कर तोड़कर ईंधन बनाया गया । सबने चावल राँधकर खाया और बैलों को खिलाया । इसके बाद रेगिस्तान पार करके कारवाँ कुशलपूर्वक अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच गया ।

किसी भौगोलिक संकेत के न होने से उपर्युक्त रेगिस्तान की ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकती; पर यह बहुत सम्भव है कि यहाँ मारवाड़ ग्रंथवा सिन्ध के रेगिस्तान से मतलब हो । सिन्ध और कच्छ के बीच चलते हुए ऊँटों के कारवाँ अभी हाल-हाल तक, रात में नक्षत्रों के सहारे रेगिस्तान पार करते थे ।

समुद्री बन्दरों की उपयोगिता कई तरह की है। वे उन फाटक और खिस्कियों का काम करते हैं जिनपर बैठकर हम विदेशों की रंगीनियों का मजा ले सकते हैं। इन्हीं फाटकों से निकलकर भारत के व्यापारी विदेशियों से मिलते थे और इन्हीं फाटकों के रास्ते से विदेशी व्यापारी इस देश में आकर पारस्परिक आदान-प्रदान का काम जारी रखते थे। अपने देश का माल बाहर ले जानेवाले और दूसरे देशों का माल इस देश में लानेवाले भारतीय व्यापारी केवल व्यापारी न होकर एक तरह के प्रचारक थे जो अपने फायदे के लिए काम करते हुए भी सामाजिक दृष्टिकोण विशाल करके तथा भौगोलिक सीमाओं को तोड़कर मनुष्य-समाज की उत्पत्ति में सहायक होते थे।

बौद्ध व्यापारियों और नाविकों का यह अन्तर्राष्ट्रीय आनुभाव ब्राह्मणों के उस अन्तर-देशीय भाव से—जिसके अन्तगार दुनिया की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में समुद्र, पश्चिम में सिन्धु और पूर्व में ब्रह्मपुत्र है—बिल्कुल भिन्न था। ब्राह्मणों के लिए तो आर्वावर्त ही सब-कुछ था, उसके बाहर रहनेवाले पृथित अनार्थ और म्लेच्छ थे। खाने-पीने तथा विवाह इत्यादि में जातिवाद की कठोरता ब्राह्मण-समाज का नियम था और इसीलिए ब्रह्मावृत्त के डर से समुद्रयात्रा वर्जित थी, गौंकि प्राचीन भारत में इस नियम का कितने लोग पालन करते थे, इसका तो केवल अटक ही लगाया जा सकता है। बौद्धों को इस जातिवाद के प्रपंच से शिरोव मतलब नहीं था और इसीलिए हम प्राचीन बौद्ध-साहित्य में समुद्रयात्रा के अनेक विवरण पाते हैं जिनका ब्राह्मण-साहित्य में पता नहीं चलता।

जातकों में समुद्रयात्राओं के अनेक उल्लेख हैं जिनसे उनकी कठिनाइयों का पता चलता है। बहुत-से व्यापारी सुवर्णद्वीप यानी मलय-एशिया और रत्नद्वीप अर्थात् सिंहल की यात्रा करते थे। बावेरजातक (३३६) से हमें पता चलता है बनारस के कुछ व्यापारी अपने साथ एक दिशाकाक लेकर समुद्रयात्रा पर निकले। बावेर यानी बाबुल में लोगों ने उस दिशाकाक को ज़रोड़ लिया। दूसरी यात्रा में भी इन्हीं यात्रियों ने वहाँ एक मोर बेचा। यह यात्रा अरबसागर और फारस की खाड़ी के रास्ते होती थी। सुप्पारकजातक (४६३) से हमें पता चलता है कि प्राचीन भारत के बड़ादुर नाविकों को खरनात (फारस की खाड़ी), अभिमात (लालसागर), दधिमाल, नीलवण कुप्रमात, नलमात और बलमामुत (भूयन्धसागर) का पता था। पर जैसा हमें इतिहास बतलाता है, ईसवी सन् के पहले, भारतीय नाविक बावेर मध्य के आगे नहीं जाते थे। उस जगह से भारतीयों के मात का भार अरब विचरवाँ ले लेते थे, और वे ही उसे मिल तक ले जाते थे। जातकों में अनेक बार सुवर्णद्वीप का उल्लेख होने से विद्वान् उन्हें बाद का समझते हैं; पर यहाँ जान लेना चाहिए कि कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में भी उसका उल्लेख है। यह संभव है कि भारतीयों को सुवर्णद्वीप का बहुत पहले से पता था और व्यापारी वहाँ सुगन्धित द्रव्यों और मत्तलों की तलाश में जाते थे। मलय-एशिया में भारतीयों की बस्ती शायद ईसा की आरम्भिक सदियों में बसनी शुरु हुई।

रांजजातक १ में सुवर्णद्वीप की यात्रा का उल्लेख है। दान देने से अपनी सम्पत्ति का चय होता देखकर ब्राह्मण शंख ने सुवर्णद्वीप की यात्रा एक जहाज से की। उसने स्वयं अपना जहाज बनाया और उसपर माल लारा। अपने सगे-सम्बन्धियों से विदा लेकर, नौकरों के साथ वह बन्दर पर पहुँचा। दोपहर में उसका जहाज खल गया।

उस प्राचीनकाल में समुद्रयात्रा में अनेक कठिनाइयाँ और भय थे। समुद्रयात्रा से लौटनेवाले भाग्यवान समझे जाते थे। ऐसी अवस्था में यात्रियों के सम्बन्धियों की चिन्ता का हम अन्दाजा लगा सकते हैं। यात्री की माता और पत्नी यात्री को समुद्रयात्रा से रोकने का प्रयत्न करती थीं; पर मध्यकाल की तरह प्राचीनकाल के भारतीय कोमल और भावुक नहीं थे। एक जगह कहा गया है कि बनारस के एक धनी व्यापारी ने जब एक जहाज खरीदकर समुद्रयात्रा की ठानी तब उसकी माता ने बहुत मना किया; पर उसे वह रीती-बिचलती हुई छोड़कर चला गया।^१

प्राचीनकाल में लकड़ी के जहाजों को भैंवर (बोहर) ले डूबते थे। उनकी सबसे बड़ी कमजोरी उनकी साधारण बनावट थी। उनके तख्ते पानी के दबाव को सहने में असमर्थ होते थे जिसकी वजह से सैंधों से जहाज में पानी भरने लगता था जिसे जहाजी उलीचते रहते थे।^२ जब जहाज डूबने लगता था तब व्यापारी अपने इष्टदेवताओं की याद करने लगते थे।^३ अपनी प्रार्थना का असर होते न देख हर वे तख्तों के सहारे बहते हुए अनजाने और कभी-कभी भयंकर स्थानों में आ लगते थे।^४ बलहस्सजातक^५ में कहा गया है कि सिंहाल के पास एक जहाज के टूटने पर यात्री तैरकर किनारे लग गये। इस घटना की खबर जब यक्षिणियों को लगी तब वे सिंगार-पटार करके और कांजी लेकर अपने बच्चों और चाकरों के साथ उन व्यापारियों के पास आईं और उनके साथ विवाह करने का बहाना करके उन्हें चट कर गईं।

टूटे हुए जहाज को छोड़ने के पहले यात्री धी-शक्कर से अपना पेट भर लेते थे। यह भोजन उन्हें कई दिनों तक जीता रख सकता था। शंखजातक में कहा गया है कि शंख की यात्रा के सातवें दिन जहाज में सैंध पड़ गई और नाविक पानी उलीचने में असमर्थ हो गये। डर के मारे यात्री शोर-गुल मचाने लगे, पर शंख ने एक नौकर अपने साथ लिया और अपने शरीर में तेल पोतकर और डटकर धी-शक्कर खाने के बाद मस्तूल पर चढ़कर वह समुद्र में कूद पड़ा और सात दिनों तक बहता रहा।^६

महाजनकजातक (५३६) में एक डूबते हुए जहाज का आँखों-देखा वर्णन है। तेज गति से सुवर्णद्वीप की ओर बढ़ते हुए महाजनक के जहाज में सैंध पड़ गई और वह डूबने लगा। यात्री अपने भाग्य को कोसने और अपने देवताओं की आराधना करने लगे; पर महाजनक ने कुछ नहीं किया। जब जहाज पानी में धँसने लगा, तब तैरते हुए मस्तूल को उसने पकड़ लिया। समुद्र में तैरते हुए यात्रियों पर मञ्जुलियों और कछुओं ने धावा बोल दिया और उनके खून से समुद्र का पानी लाल हो गया। कुछ दूर तैरने के बाद महाजनक ने मस्तूल छोड़ दिया और किनारे तक पहुँचने के लिए तैरने लगा। अन्त में देवी मणिमेखला ने उसकी रक्षा की।

१. जा०, ४, २

२. जा०, ४, १९

३. जा०, ४, ३४

४. जा०, १, ११०; २, १११, १२८

५. जा० २, १२० से

६. जा० ४, १०

हम ऊपर देव आये हैं कि त्रिपति के समय जहाजी अपने इष्टदेवों का स्मरण करते थे। शंख और महाजनकजातकों के अनुसार, समुद्र की अधिष्ठात्री देवी मणिमेखला समुद्र की रत्नवाली करती हुई धार्मिक यात्रियों की रक्षा करती थी। श्री मिलवॉ लेवी की खोजों ने यह सिद्ध कर दिया है कि नायिका और देवी, दोनों ही के रूप में, मणिमेखला का स्थानविशेष में प्रचलन था। देवी की तरह, उसका पीठ कावेरी के मुहाने पर स्थित पुहार में था तथा उसका एक मन्दिर काशी में भी था। देवी की हैसियत से उसका प्रभाव कन्याकुमारी से लेकर निचले बर्मा तक था।^१

जातकों से हमें पता चलता है कि जहाज लकड़ी के तख्तों (द्राक्षलकानि)^२ से बने होते थे। वे अनुकूल वायु (एरकवायुयुत) में चलते थे।^३ जहाजों की बनावट के सम्बन्ध में हमें इतना और पता लगता है कि बाहरी पंजर के अन्तर्गत उनमें तीन मस्तूल (कूप, गुजराती कुँआयंभ), रस्सियाँ (योत्तं), पाल (सितं), तख्ते (पदराणि), डोंड और पतवार (फियरितानि) और लंगड़ (लंबरो) होते थे।^४ नियामक (नियामको) पतवार की मदद से जहाज चलाता था।^५

नाविकों की अपनी श्रेणी होती थी। इस श्रेणी के चौधरी को 'निय्यामक जेट्ट' कहते थे। कहा गया है कि सोलह वर्ष की अवस्था में सुप्पारक कुमार अपनी श्रेणी के चौधरी बन चुके थे और जहाजरानी की विद्या (निय्यामकसुत्त) में कुशलता प्राप्त कर चुके थे।^६

जहाजरानी में फणिकों और बाबुलियों की तरह भारतीय नाविक भी किनारे का पता लगाने के लिए दिशाकाक काम में लाते थे। ये दिशाकाक जहाजों से किनारे का पता लगाने के लिए छोड़ दिये जाते थे। दीर्घनिकाय के केवड्डसुत्त में, बुद्ध के शब्दों में, "बहुत दिन पहले, समुद्र के व्यापारी जहाज पर एक दिशाकाक लेकर यात्रा करते थे। जब जहाज किनारे से ओभल हो जाता था तब वे दिशाकाक को छोड़ देते थे। वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण तथा उपदिशाओं में उड़ता हुआ भूमि देखते ही वहाँ उतर पड़ता था, पर भूमि नहीं दिखने पर वह जहाज पर लौट आता था।"^७ हम ऊपर देव आये हैं कि बावेरुजातक में भी दिशाकाक का उल्लेख है। बावेरुजातक का कहना है कि पहले बाबुल में लोगों को दिशाकाक की जानकारी नहीं थी और इसलिए उन्होंने भारतीय व्यापारियों से उसे खरीदा। पर बाबुली साहित्य से तो यह पता चलता है कि किनारा पानेवाले पक्षियों को उस देश में बहुत दिनों से जानकारी थी। गिलगमेश काव्य में कहा गया है कि जब उतानिपिस्त का जहाज निस्तिर पर्वत पर पहुँचा तब एकदम स्थिर हो गया। पहले एक पंडुक और बाद में एक गौरैया किनारा पाने के लिए छोड़ी गई। अन्त में एक कौआ छोड़ा गया और जब वह नहीं लौटा तब पता चल गया कि किनारा पास ही में था।^८

१. इंडियन हि० क्वार्टरली, १, पृ० ६१२-१४

२. जा० २, १११; ४, २० - गाथा ३२

३. जा० १, २३६; २, ११२

४. जा० २, ११२; ३, १२६; ४, १७, २१

५. जा० २, ११२; ४, १३७

६. जा० ४, ८७-८८

७. जे० आर० ए० एस०, १८६६ पृ० ४३२

८. देलापोर्ट, मेसोपोटामिया, पृ० २०७

कभी-कभी जहाज पर सुतीबत आने पर उसका कारण किसी बदनसीब यात्री के गिर धोप दिया जाता था। उसका नाम चिट्ठी डालकर निकाला जाता था।^१ कहा गया है कि एक समय अमाया भित्तिचिन्दक गम्भीर के बन्दर पर पहुँचा और वहाँ यह पता लगने पर कि जहाज जानेवाला ही था, उसने उसपर नौकरी कर ली। छः दिनों तक तो कुछ नहीं हुआ, पर सातवें दिन जहाज एकाएक रुक गया। इस घटना के बाद यात्रियों ने चिट्ठी डालकर अमाये का नाम निकालने का निश्चय किया। चिट्ठी डालने पर भित्तिचिन्दक का नाम निकला। लोगों ने उसे जबरदस्ती एक बेड़े पर बैठाकर खुले समुद्र में छोड़ दिया।

✓ बौद्ध-प्राश्रित्य में ऐसी कम सामग्री है जिससे पता चल सके कि जहाज पर यात्रियों का आनोद-प्रनोद क्या था। पर यह मान लिया जा सकता है कि जहाज पर मन बहलाने के लिए गाना-बजाना होता था। एक जातक^२ में एक गायक की मन्देशर कहानी आई है; क्योंकि उसके गाने से जहाज ही डूबते-डूबते बचा। कहा गया है कि कुछ व्यापारियों ने सुवर्णद्वीप की यात्रा करते हुए अपने साथ सग्न नामक एक गायक को ले लिया। जहाज पर लोगों ने उससे गाने के लिए कहा। पहले तो उसने स्वीकार नहीं किया, पर लोगों के आप्रह करने पर उसने उनकी बात मान ली। पर उसके संगीत ने समुद्री मछलियों में कुछ ऐसी गड़गड़ाहट पैदा कर दी कि उनकी खलबला-हट से जहाज डूबते-डूबते बचा।

जातक हमें बतलाते हैं कि भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर भद्रकच्छ,^३ सुण्यारक^४ तथा सोवीर^५ मुख्य बन्दरगाह थे। और भारत के पूर्व-समुद्र-तट पर करम्बिय,^६ गम्भीर^७ और सेरिव^८ के बन्दर थे। बहुत-से रास्ते इन बन्दरगाहों को देश के भीतर के नगरों से मिलते थे। समुद्री बन्दरगाहों का भी आपस में व्यापार चलता था।

भारत तथा उसके पूर्वी और पश्चिमी देशों में खूब व्यापार होता था। बलहस्स जातक^९ में इस देश का सिंहल के साथ व्यापार का उल्लेख है। बनारस,^{१०} चम्पा^{११} और भद्रकच्छ^{१२} का सुवर्णभूमि के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था तथा बालेवजातक^{१३} में हम भारत और बाबुल के बीच व्यापारिक सम्बन्ध देखते हैं। सुण्यारकजातक^{१४} से हमें पता चलता है कि समुद्र के व्यापारी एक समय भद्रकच्छ से जहाज द्वारा यात्रा के लिए निकले। अपनी इस यात्रा के बीच में उन्हें खुरमाज, अग्निमाज, दधिमाज, नीलकृष्णमाज, नलमाज और बलमासुज नामक समुद्र

१. जा० ३, १२४

२. जा०, ३, १२४

३. जा०, ३, १२१-२७, ११८, १८० गाथा ५७; ४, १३७-४२

४. जा०, ४, १३८ से ४८

५. जा० ३, ४७०

६. जा० ४, ७२

७. जा० १, २३६

८. जा० १, १११

८. जा० २, ११७ से

१०. जा० ४, १२-१७

११. जा० ६, ३४

१२. जा० ३, १८८

१३. जा० ३, १२६ से

१४. जा० ४, १३८-१४२ गाथा १०२ से ११२

मिले। ये नाम गावाओं में आने से काफ़ी पुराने हैं। श्रीजायसवाल^१ ने खुरमात की पहचान फारस के कुछ भागों से, यानी दक्षिण-पूर्व अरब से की है। अग्निमाल अदन के पास अरब का समुद्री किनारा और सुमालीलैंड के कुछ भागों का श्रोतक है। दधिमाल लालसागर है तथा नीलकुसुमाल अफ्रीका के उत्तर-पूर्व किनारे पर नूबिया का भाग है। नलमात लालसागर और भूमध्यसागर को जोड़नेवाली नहर है। बलमासुख भूमध्यसागर का कुछ भाग है जिसमें आज दिन भी उकालासुखी पहाड़ है। अगर डा० जायसवाल की ये पहचानें ठीक हैं तो यह मान लेना पड़ेगा कि भारतीय नाविकों को भड़ौच से लेकर भूमध्यसागर तक के समुद्री पथ का पूरा ज्ञान था। जो भी हो, बाद के यूनानी, लातिनी और भारतीय साहित्यों से तो पता लगता है कि भारतीय नाविक बाबेल मन्देब के आगे नहीं जाते थे तथा लालसागर और भूमध्यसागर के बीच का व्यापार अरबों के हाथ में था। इसके मानी यह नहीं होते कि भारतीय नाविकों को लालसागर और भूमध्यसागर के बीच के रास्ते का पता नहीं था। जैसा हम बाद में चलकर देखेंगे, इनके-दुन्के भारतीय नाविक सिकन्दरिया पहुँचते थे; पर अधिकतर उनकी जहाजरानी सोकोत्रा तक ही सीमित रहती थी।

ऊपर हम भारतीय व्यापारियों की समुद्रयात्राओं के भिन्न-भिन्न पहलुओं की जाँच-पड़ताल कर चुके हैं। यहाँ हम बौद्ध-साहित्य के आधार पर उन यात्रियों के निज के अनुभवों का वर्णन करेंगे। इन कहानियों में ऐतिहासिक आधार है अथवा नहीं, इसे तो राम ही जाने; पर इसमें सन्देह नहीं कि ये कहानियाँ नाविकों तथा व्यापारियों के निजी अनुभवों के आधार पर ही लिखी गई थीं। जो भी हो, इस बात में कोई सन्देह नहीं कि ये कहानियाँ हमें उन भारतीय नाविकों के साहसी जीवन की झलकें देती हैं जिन्होंने बिना कौनों की परवाह किये समुद्रों के पार जाकर विदेशों में अपनी मातृभूमि का गौरव बढ़ाया था।

हम ऊपर कह आये हैं कि हिन्द-महासागर में जहाजों के डूबने की घटना एक साधारण-सी बात थी। डूबे हुए जहाजों से बचे हुए यात्री बहुधा निर्जन द्वीपों पर पहुँच जाते थे और वे वहाँ तबतक पड़े रहते थे जबतक कि उनका वहाँ से उद्धार न हो। एक जातक में कहा गया है कि कस्तप बुद्ध के एक शिष्य ने एक नाई के साथ समुद्रयात्रा की। रास्ते में जहाज टूट गया और वह शिष्य अपने मित्र नाई के साथ एक तख्ते के सहारे बहता हुआ एक द्वीप में जा लगा। नाई ने वहाँ कुछ चिरियों को मारकर भोजन बनाया और अपने मित्र को देना चाहा। पर उसने उसे लेने से इनकार किया। जब वह ध्यान में मग्न था तब एक जहाज वहाँ पहुँचा। उस जहाज का निर्धामक एक प्रेत था। जहाज पर से वह चिल्लाया—“कोई भारत का यात्री है?” मित्र ने कहा,—“हाँ, हम वहाँ जाने के लिए बैठे हैं।” “तो जल्दी से चढ़ जाओ”—प्रेत ने कहा। इसपर अपने मित्र के साथ वह जहाज पर चढ़ गया। ऐसा पता लगता है कि इस तरह की झलकैक कहानियाँ समुद्री यात्रियों में प्रचलित थीं जो कष्ट के समय उनकी बल देती थीं।

✓ कुछ लोग बिना व्यापार के ही समुद्रयात्रा करते थे। समुद्रवर्णित जातक में^२ कहा गया है कि एक समय कुछ बड़इनों ने लोगों से साज बनाने के लिए रकम उधार ली; पर समय पर

वे साज न बना सके। गाइकों ने इसपर उन्हें बहुत तंग किया और उन्होंने दुखी होकर विदेश में बस जाने को ठान ली। उन्होंने एक बहुत बड़ा जहाज बनाया और उसपर सवार होकर वे समुद्र की ओर चल पड़े। हवा के रुख में चलता हुआ उनका जहाज एक द्वीप में पहुँचा जहाँ तरह-तरह के पेड़-पौधे, चावल, ईख, केले, आम, जामुन, कटहल, नारियल इत्यादि उग रहे थे। उनके आने के पहले से ही एक दूटे जहाज का यात्री आनन्द से उस द्वीप में रह रहा था और खुशी की उमंग में गाता रहता था,—“वे दूसरे हैं जो बोते और हल चलाते हुए अपनी भिहनत के पसीने की कमाई खाते हैं। मेरे राज्य में उनकी जरूरत नहीं। भारत ? नहीं, यह स्थान उससे भी कहीं अच्छा है।” पहले तो बड़इयों ने उसे एक भूत समझा, पर बाद में, उसने उन्हें अपना पता दिया और उस द्वीप की पैदावार की प्रशंसा की।

ऊपर की समुद्री कहानियों में यथार्थवाद तथा अलौकिकता का अपूर्व सम्मिश्रण है। उस प्राचीनकाल में मनुष्यों में वैज्ञानिक छान-बीन की कमी थी और इसलिए जब भी वे विपत्ति में पड़ते थे तब वे उसके कारणों की छानबीन किये बिना उसे देवताओं का प्रकोप समझते थे। पर इन सब बातों के होते हुए भी बौद्ध-साहित्य में समुद्री कहानियाँ वास्तविक घटनाओं पर अवलम्बित थीं। हमें पता है कि ये समुद्री व्यापारी अनेक विपत्तियों और कठिनाइयों का सामना करते हुए भी विदेशों के साथ व्यापार करते थे। उनके छोटे जहाज तूफान के चपेटों को सहन करने में असमर्थ थे जिसके फलस्वरूप वे दूट जाते थे और यात्रियों को अपनी जानें गँवानी पड़ती थीं। उनमें से जो कुछ बच जाते थे उनकी रक्षा दूसरे जहाजवाले कर लेते थे। समुद्र में छिपी हुई चट्टानें भी जहाजों के लिए बड़ी घातक सिद्ध होती थीं। इन यात्राओं की सफलता का बहुत-कुछ श्रेय नियामकों को होता था। वे अधिकतर कुशल नाविक होते थे और अपने व्यवसाय का उन्हें पूरा ज्ञान होता था। उन्हें समुद्री जीवों और तरह-तरह की हवाओं का पता होता था। व्यापार का भी उन्हें ज्ञान रहता था और अक्सर वे इस बारे में व्यापारियों को सलाह-मशविरा भी देते रहते थे।

५

हम ऊपर देख आये हैं कि जल और थल में यात्रा करने का मुख्य कारण व्यापार था। अभाम्यवश बौद्ध-साहित्य में सार्थ के संगठन और क्रय-विक्रय की वस्तुओं के बहुत कम उल्लेख हैं। शायद इस व्यापार में सूती, ऊनी और रेशमी कपड़े, चन्दन, हाथीदाँत, रत्न इत्यादि होते थे। महाभारत के समापर्व में भारत के भिन्न-भिन्न भागों की पैदाइशें दी हुई हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इन्हीं वस्तुओं का व्यापार चलता रहा होगा। महाभारत के इस भाग का समय निश्चित करना तो मुश्किल है, पर अनेक कारणों से वह ई० पू० दूसरी सदी के बाद का नहीं हो सकता। इसमें वर्णित भौगोलिक और आर्थिक बातें तो इस समय के बहुत पहले की भी हो सकती हैं।

जातकों से हमें पता चलता है कि व्यापारी और कारीगर दोनों ही के लिए श्रेणीबद्ध होना आवश्यक था। आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक आधारों को लेकर श्रेणियों का संगठन बहुत प्राचीनकाल में हुआ होगा। स्मृतियों में हम श्रेणी का विकास देखते हैं। जातकों में हम व्यापारियों की श्रेणियों के रूप का आरम्भ देखते हैं जो बाद की श्रेणियों में अपने संगठन, कानून और कर्मचारियों के लिए प्रसिद्ध हुआ।

जातकों से यह पता चलता है कि श्रेष्ठियों स्थायी न होकर अस्थायी थीं, गोकि पुरतैनी अधिकार और चौधरी का होना इनका खास खंग था^१। फेरी करनेवाले मामूली व्यापारी अपना व्यापार अकेले चलाते थे, उन्हें आपस में बैठकर किसी नियमविशेष के पालन करने की आवश्यकता नहीं होती थी। पर व्यापारियों को मिल जुलकर काम करने की आवश्यकता पड़ती थी और इसीलिए वे अपने अधिकारों की रक्षा के लिए श्रेष्ठियों बनाते थे।

जातकों में हम बराबर पाँच सौ गावियोंवाले सार्थ का उल्लेख पाते हैं। सार्थबाह के ओहदे से ऐसा पता लगता है कि उसमें किसी तरह के संगठन की भावना थी। उसका स्थान पुरतैनी होता था^२। रास्ते की कठिनाइयाँ और दूरी, व्यापारियों को इसके लिए बाध्य करती थी कि वे एक नायक (जेठक) के अधिकार में साथ-साथ चलें। इसके से मानी होते हैं कि व्यापारी पड़ाव, जल-ढाहियों के विरुद्ध सतर्कता, विपत्ति से भरे रास्ते और पाट इत्यादि के बारे में उसकी राय मानकर चलते थे। पर इतना सब होते हुए भी उनमें कोई नियमबद्ध संगठन था, यह नहीं कहा जा सकता। जहाज पहुँचते ही मात्र के लिए सैकड़ों व्यापारियों का शोर मचाना सहकरिता का परिचायक नहीं है^३।

जहाज पर व्यापारियों का आपस में किसी तरह के इकरारनामे का पता नहीं चलता, सिवाय इसके कि जहाज किराया करने में सब एक साथ होते थे। जो भी हो, इतना भी सहकार धर्मशास्त्रों और कौटिल्य के सम्भूय समुत्थान की ओर इशारा करता है^४।

एक जातक^५ में कहा गया है कि जनपद में पाँच सौ गावियों ले जानेवाले दो व्यापारियों में सामा था। एक दूसरे जातक^६ में कई व्यापारियों के बीच सामेदारी का उल्लेख है। उत्तरा-पथ के छोड़े के व्यापारी भी अपना व्यापार सफे में चलाते थे। यह सम्भव है कि इतना भी सहकार बड़ा-ऊपरी रोकने के लिए और उचित दाम मिलने के लिए जरूरी था।

व्यापारियों का आपस में इकरारनामे का कोई उल्लेख नहीं मिलता; पर कूटवशिज-जातक^७ के अनुसार, सामेदारी का आपस में कोई समझौता रहता था। इस जातक में एक चतुर और दूसरे अत्यन्त चतुर सामेदारी का भगवा दिया गया है। अत्यन्त चतुर फायदे में अपने सफे का अनुपात एक : दो में रखना चाहता था, गोकि दोनों सामेदारी की पूँजी बराबर लगती थी। पर चतुर अपनी बात पर अड़ा रहा और भूल मारकर अत्यन्त चतुर को उसकी बात माननी पड़ी।

इस युग में महाजनो के चौधरी को श्रेष्ठि कहते थे। इसका नगर में वही स्थान होता था जो मुगल-काल में नगर-सेठ का। राजदरबार में और उसके बाहर उसका बड़ा मान था। वह व्यापारियों का प्रतिनिधि होता था और, जैसा कि अनेक जातकों में^८ कहा गया है, उसका पद

१. मेहता, प्रीबुधिस्ट इंडिया, पृ० २१६

२. जा० १, ६८, १००, १६४

३. जा० १, १२२

४. मेहता, वही

५. जा० १, ४०४

६. जा० ४, ३२०

७. जा० १, ४०४ से

८. जा० १, १६१, २३१

पुरतैनी होता था। अपने सरकारी ओहदे से वह नित्य राजदरबार में हाजिर होता था।^१ भिन्न बने समय अथवा अपना धन दूसरों को बाँटते समय उसे राजा की आज्ञा लेनी पड़ती थी। इतना सब होते हुए भी राजदरबार में मेहमान की अपेक्षा व्यापारी-समुदाय में उसका पद कहीं ऊँचा होता था। महाजन बहुधा रईस होते थे और उनके अधिकार में दास, घर और गोपालक होते थे।^२ सेठ के सहायक को अनुलेटिठ कहते थे।^३

जातक-कथाओं से हमें आयात और निर्यात की वस्तुओं का पता नहीं चलता, गोकुल इनके बारे में हम अपना क्यास देखा सकते हैं। अन्तरदेशी और विदेशी व्यापार में सूती कपड़े का एक विशेष स्थान था। सूती कपड़े के लिए बनारस^४ एक प्रसिद्ध जगह थी। बनारस के व्यापारी इसी कपड़े का व्यापार करते थे। जातकों में गन्धार के लाल कम्मलों^५ की तारीफ़ की गई है। चड़ीवान^६ तथा शिषि^७ के शास्त्र बड़े बेशकीमत होते थे। पठानकोट के इलाके में कोटुम्बर^८ नाम का एक तरह का ऊनी कपड़ा बनता था। उत्तरी भारत ऊनी कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था, पर जैसा हम देख चुके हैं, काशी अपने सूती कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था। इन कपड़ों को काशी कुतम^९ और काशीय^{१०} कहते थे। बनारस की मलमल इतनी अच्छी होती थी कि वह मलमल तेल नहीं सोख सकती थी। बुद्ध का मृत शरीर इसी मलमल में लपेटा गया था।^{११} बनारस में चौम और रेशमी कपड़े भी बनते थे।^{१२} वहाँ की सूईकारी का काम भी प्रसिद्ध था।^{१३}

हमें इस बात का पता नहीं है कि भारत के बाहर से भी यहाँ कपड़ा आता था अथवा नहीं। इस सम्बन्ध में हम बौद्ध-साहित्य में आये ग्रीक^{१४} शब्द की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं। वहाँ इसकी व्याख्या लम्बे बालोंवाले बकरे के चमड़े से बनी हुई कालीन की गई है। सम्भव है कि यह शब्द ईरानी भाषा का हो। प्राचीन सुमेरु में, तहमत के लिए कौनकेस शब्द का व्यवहार हुआ है जिसका सम्बन्ध ग्रीक से मालूम पड़ता है। यह ग्रीक एकवातना^{१५} में बनता था। सम्भव है कि कौनकेस स्थलमार्ग से भारत में पहुँचता था। उसी तरह से, लगता है, कोन्व जो

१. जा० १, १२०, २६३, ३४३

२. जा० ३२१

३. जा० ४, ३८४

४. जा० ६, ४४; ३, २८६

५. जा० ६, ४४; महावग्ग ८, १, ३६

६. जा० ४, ३५२

७. जा० ४, ४०१

८. जा० ४, ४०१

९. जा० ६, ४७, १२१

१०. जा० ६, २००

११. महापरिनिब्बानसुत्त २।१६

१२. जा० ६, ७७

१३. जा० ६, १४४, १४५, १५४

१४. साहज्याम्स ऑफ़ दी बुद्ध, पृ० ११ से

१५. देलापोर्न, मेसोपोटामिया, पृ० १३४

एक विशेष तरह का कम्बज होता था; मध्य-एशिया से आता था; क्योंकि इसका अनेक बार उल्लेख मध्य-एशिया में मिले शाहीय कागज-पत्रों में हुआ है।

अन्तरदेशी और विदेशी व्यापार में चन्दन का भी एक विशेष स्थान था। बनारस चन्दन के लिए प्रसिद्ध था।^१ चन्दनवूर्ण और तेल की काफी माँग थी।^२ अग्रह, तगर तथा कालीयक का भी व्यापार में स्थान था।^३

सिंहल और दूसरे देशों से बहुत किस्म के रत्न आते थे जिनमें नीलम, ज्योतिरय (जैस्पर), सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, मानिक, बिल्लीर, हीरे और शराब आते थे।^४ हाथीदाँत का व्यापार खूब चलता था।

जैसा कि हम पहले कह आये हैं, महाभारत से तत्कालीन व्यापार पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। राजसूयवत्स के अवसर पर बहुत-से राजे और गणतन्त्र के प्रतिनिधि अपने देशों की अच्छी-से-अच्छी वस्तुएँ बुधिमिदर को भेंट देने लाये थे। इन वस्तुओं के अध्ययन से हम मध्य-एशिया से लेकर भारत तक के विभिन्न प्रदेशों की व्यापारिक वस्तुओं का अच्छा चित्र खींच सकते हैं।

महाभारत के अनुसार, दक्षिण-सागर के तीनों से चन्दन, अग्रह, रत्न, मुक्ता, सोना, चाँदी, हीरे और भूँगे आते थे।^५ इनमें से चन्दन, अग्रह, सोना और चाँदी तो शायद बर्मा और मध्य-एशिया से आते थे, मोती और रत्न सिंहल से और भूँगे भूमध्यसागर से। हीरे शायद बोनिवो से आते थे।

अपनी उत्तर की शिबिजय में अर्जुन को हाटक^६ (पश्चिमी तिब्बत) से और ऋषिकीं (यू.पी.)^७ से घोड़े मिले तथा उत्तरद्व द्व से खालें और समूर। उपर्युक्त बातों से यह बात साफ हो जाती है कि उत्तरपथ के व्यापार में घोड़े, खालें और समूर प्रधान थे।

कम्बोज (ताजिकेस्तान) अपने तेज घोड़ों,^८ खच्चरों, ऊँटों,^९ कारबोबी कपड़ों, पस्मीनों तथा समूरों और खालों के लिए प्रसिद्ध था।^{१०}

कश्गि या काबुल प्रदेश से शराब आती थी।^{११} बलुचिस्तान से अच्छी नस्ल के बकरे, ऊँट और खच्चर तथा कल की शराब और शालें आती थीं।^{१२}

१. जा० २, ३३१, २, ३०२, गा० ४०

२. जा० ४, १२६, २३८; २, २७३

३. महावग्ग, ६।११।१

४. बुल्लवग्ग, ६।१।३

५. महाभारत, २।२७।२२-२९

६. म० भा०, २।२६।२-६

७. म० भा०, २।२४।२६

८. म० भा०, २।४७।४

९. म० भा०, २।४२।२०; ४७।४

१०. म० भा०, २।४०।३; २।४२।३

✓ ११. पामिनि, ४।१।२६

- १२. म० भा०, २।४।१।०-११

हेरात के रहनेवाले हारदूर^१ शराब भेजते थे तथा खारान के रमठ हींग भेजते थे। स्वात
इत्यादि के रहनेवाले अच्छो नस्त के खचर पैदा करते थे।^२ बलख और चीन से ऊनी, रेशमी
कपड़ों, पश्मीनों और नमदों का व्यापार होता था।^३ उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त से अच्छे हथियार,
मुरक और शराब आती थी।^४

खसों और तंगणों द्वारा लाया गया मध्यएशिया का सोना व्यापार में एक खास स्थान
रखता था। सोना लानेवाले पिपीलकों की ठीक-ठीक पहचान अभीतक नहीं हो सकी है, पर
शायद वे मंगोल या तिब्बती थे।^५

पूर्वी भारत में आसाम से घोड़े, यशव और हाथीदाँत की मूर्तें आती थीं।^६ यशव शायद
बर्मा से आता था। मगध से पचीकारी के ताज, चारपाइयों, रथ और यान, भूल और नीर के फल
आते थे।^७ तिब्बत-बर्मा किरात लोग सीमान्तप्रदेश से सोना, अगर, रत्न, चन्दन, कालीयक
और दूसरे सुगन्धित द्रव्य लाते थे।^८ वे गुलामों तथा कीमती चिड़ियों और पशुओं का व्यापार
करते थे। बंगाल और उड़ीसा क्रमशः कपड़ों और अच्छे हाथियों के लिए मशहूर थे।^९

१. म० भा०, २।४७।१४; मोतीचन्द्र, जियोग्राफिकल एंड एक्नोमिक स्टडीज फ्रॉम
दी उपायनपर्व, पृ० ६२

२. म० भा०, २।४७।२१

३. म० भा०, २।४७।२३-२७

४. मोतीचन्द्र, वही, पृ० ६८-७१

५. वही, पृ० ८१-८३

६. म० भा०, २।४७।१२-१४

७. मोतीचन्द्र, वही, पृ० ७३-७४

८. वही, पृ० ८२

९. वही, पृ० ११२-११३

चौथा अध्याय

भारतीय पथों पर विजेता और यात्री

(मौर्ययुग)

ई० पू० चौथी सदी से ई० पू० पहली सदी तक भारतीय महापथ ने बहुत-से उलट-फेर देखे। ई० पू० चौथी सदी में मगध-साम्राज्य का विकास तथा संगठन और अधिक बढ़ा। बिम्बसार द्वारा अंगविजय (करीब ५०० ई० पू०) से मगध-साम्राज्य के विस्तार का आरम्भ होता है। अजातशत्रु ने उसके बाद काशी, कोउल और विदेह पर अपना अधिकार जमाया। मगध-साम्राज्य इतना बढ़ चुका था कि उसकी राजधानी राजगृह से हटाकर गंगा और सोन के संगम पर स्थित सामरिक महत्ववाले पाटलिपुत्र में लानी पड़ी। नन्हीं ने शायद अस्थायी तौर से कलिंग पर भी अधिकार जमा लिया था। पर चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपना साम्राज्य भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त तक बढ़ाया। अशोक ने कलिंग पर धावा बोलकर उसे जीता। ई० पू० दूसरी सदी में भारतीय युवनों ने पाटलिपुत्र पर चढ़ाई की। उनके बाद शक और पल्लव महापथ से भारत में घुसे।

सिकन्दर के भारत पर चढ़ाई करने के सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिए कि कबीलों की बगावत की वजह से ई० पू० पाँचवीं सदी के हखामनी साम्राज्य की पूर्वी सीमा सिकुड़ गई थी और सिन्ध तथा पंजाब के गणतंत्र स्वतन्त्र हो गये थे। स्त्राबो का यह बयान कि भारत और ईरान की सीमा सिन्धु नदी पर थी, ठीक नहीं; क्योंकि एरियन के अनुसार ईरानी क्षत्रपों का अधिकार लगमान और नगरहार के आगे नहीं था।^१ श्री फूरो की राय है कि सिकन्दर के साथियों का यह बयान कि वह सिन्धु नदी के आगे बढ़ा, जान-बूझकर झूठ है। उनकी राय में ई० पू० ३२६ के वसन्त के पहले जब सिकन्दर तक्षशिला पहुँचा उसके पहले उसने हखामनी साम्राज्य की सारी जमीन जीत ली थी। व्यास नदी पर मकदूनी सिपाहियों की बगावत, श्री फूरो की राय में, इस कारण से थी कि वे हखामनी साम्राज्य के लेने के बाद आगे नहीं बढ़ना चाहते थे। सिन्धु नदी के रास्ते से उनके तुरत लौटने के लिए तैयार होने से पता चलता है कि हखामनी साम्राज्य का कुछ भाग जीतने से बाकी बच गया था। ई० पू० ३२५ के वसन्त में सिकन्दर जब सिन्ध के साथ पाँच नदियों के संगम पर पहुँचा तो वह बेहिस्तान-अभिलेख के अनुसार गन्धार का पुनर्गठन कर चुका था।^२ सिन्धु और अरबिन्ध के संगम तक फैली भूमि में क्षत्रपों की नियुक्ति के बाद दारा का हिन्दु-सिन्धु-सिन्ध का सूबा कायम हो गया।^३

१. फूरो, वही, भा० २, पृ० ११६

२. वही, २, पृ० १६६-२००

३. वही, २, पृ०, २०१

उपयुक्त राय को स्वीकार करने में लालच तो होती है, पर उसमें ऐतिहासिकता बहुत कम है। इसका बिलकुल प्रमाण नहीं है कि हखामनी व्यास तक पहुँच गये थे। पौराणिक आधार पर तो यही कहा जा सकता है कि म्लेच्छ सिन्धु के पश्चिम तक ही सीमित थे। एरियन भी इसी बात को मानता है। पर यह बात सत्य हो सकती है कि सिकन्दर अपनी विजयों से हखामनी क्षत्रपियों का पुनरुद्धार कर रहा था। पंजाब और सिन्ध में हखामनी अवशेषों की नगण्यता भी इस बात को सिद्ध करती है कि दारा प्रथम की सिन्ध-विजय थोड़े दिनों तक ही कायम रही।

सिकन्दर ने अपनी विजययात्रा खोरासा न लेने के बाद ३३० ई० पू० में आरम्भ की। हमें पता है कि दारा तृतीय किस तरह भागा और सिकन्दर ने कैसे उसका पीछा किया। अपनी इस यात्रा में उसने दो सिकन्दरिया—एक एरिया में और दूसरी दगियाना में—स्थापित कीं। अरखोसिया में पहुँचकर उसने तीसरी सिकन्दरिया बसाई और चौथी सिकन्दरिया की नाँव उसने हिंदुकुश के बाद में डाली। इन बातों से यह मतलब निकलता है कि उसने अफगानी पहाड़ का पूरा चक्र दे डाला और साथ-ही-साथ मार्गों की क्लिबंदी भी कर डाली।

सिकन्दर के समय हेरात में रहनेवाले कबीले हिरोडोटस के समय वहाँ रहनेवाले कबीलों से भिन्न थे। एरियन के अनुसार सरगी लोग जरा अथवा हेलमंद के दलदलों में रहते थे। अरिआस्पी शायद शकस्तान में रहते थे। जो भी हो, सिकन्दर को कन्धारियों से कोई तकलीफ नहीं मिली। उसने उनके देश से उत्तरी रास्ता पकड़ा जिसकी अभी खोज नहीं हुई है। इस रास्ते पर बर्बर कबीले रहते थे जिन्हें एरियन भारतीय कहता है। श्री फूरो के अनुसार ये हिरोडोटस के सत्तवाद अथवा आधुनिक हजारा रहे होंगे।

जैसा कि हम ऊपर कह आये हैं, सिकन्दर के रास्ते के पड़ावों का ठीक-ठीक पता नहीं चलता। हमें यह पता है कि आज दिन काबुल-हेरात का रास्ता गजनी, कन्धार और फारा होकर चलता है, पर यह कहना मुश्किल है कि सिकन्दर भी उन्हीं पड़ावों से गुजरा। अर्त-कोन और अरिय की सिकन्दरिया हेरात के आस-पास रही होंगी। पर द्रांगिकों की प्राचीन राजधानी दक्खिन की ओर जूरंग की तरफ थी। इससे यह पता चलता है कि प्राचीन पथ हेलमन्द नदी को गिरिशक में न पार करके छिनी के बेस्तई अथवा अरवों के बुस्त जिसे अब हेलमन्द और अरदन्दाव के ऊपर गलेबिस्त कहते हैं, पार करता था। यहाँ अरखोसिया शुरू होकर हेलमन्द और उसकी सहायक नदियों की निचली घाटियाँ उसमें आ जाती थीं। इसकी प्राचीन राजधानी और सिकन्दरिया शायद हेलमन्द के दायें किनारे पर थी, गोकि आधुनिक कन्धार उसके बायें किनारे पर है जिससे होकर मुस्लिम-युग में बड़ा रास्ता काबुल को चलता था। पर युवानन्वांडू का कहना है कि अरखोसिया और कपिश के बीच का रास्ता अरगन्दाव के साथ-साथ चलता था। जागुड में पुरातत्त्व के निशान मिलने से उस बात की पुष्टि होती है। अनेक प्राकृतिक कठिनाइयों के कारण यह रास्ता बन्द हो गया।

यहाँ यह कयास किया जा सकता है कि अफगानिस्तान के मध्यपर्वत को पार करने के लिए उसने पूरब की ओर कदम बढ़ाये। तथाकथित कोहकाफ पहुँचकर उसने एक और सिकन्दरिया की नाँव डाली जो शायद परवान में स्थित थी और जहाँ से बाद में उसने बलख और भारत जाने के लिए सैनिक बेस बनाया।

सिकन्दर ने ई० पू० ३२६ के वसन्त में अपनी चढ़ाई शुरू की। बाम्यान का रास्ता वह नहीं ले सकता था; क्योंकि दुश्मन ने उसपर की सब रसद नष्ट कर दी थी। इसीलिए उसे खावक का रास्ता पकड़ना पड़ा। सम्भव है कि पंजशीर घाटी का रास्ता छोड़कर उसने सालंग और काब्रेशान का पासवाला रास्ता लिया। जो भी हो, उसे दोनों रास्तों से अन्दर पहुँचना जरूरी था। यहाँ से सिकन्दर उत्तर-पश्चिमी रास्ता लेकर हैबाक के रास्ते खुलम पहुँचा जहाँ से ताशकुरगन होता हुआ वह बलख पहुँचा। लेकिन मजारशरीफ के दक्खिन में एक पगडंडी है जो खुलम नदी के तोड़ों से भीतर घुसती हुई बलख पहुँचती है। यह रास्ता लेने का कारण भी दिया जा सकता है। हमें पता है कि अद्रास्प के बाद बलख के रास्ते सिकन्दर ने ओरनोस (Aornos) जिसका अर्थ शायद एक प्राकृतिक किला होता है, जीता।^१ इस जगह की पहचान बलख और पर काफिर किले से की जा सकती है। हमें पता है कि सिकन्दर बिना किसी लड़ाई-झगड़े के बलख पहुँचा और वहाँ उसे जबरदस्ती बंधु की ओर जाना पड़ा। दो बरस बाद अर्थात् ३२७ ई० पू० के वसन्त में उसने सुग्ध पर चढ़ाई की। चढ़ाई करने के बाद वह बलख लौटा। उसे पूरे तौर से खत्म करने के बाद उसने भारत का रास्ता पकड़ा और लम्बी मंजिलें मारकर बाम्यान के दर्रे से दस दिनों में हिन्दूकुश पार कर लिया।

एरियन हमें बतलाता है कि कोहकाफ के नीचे सिकन्दरिया से सिकन्दर उपरिशयेन के सूबे की पूर्वी सीमा पर चला गया। वहाँ से महापथ के रास्ते, वह तीन या चार पड़ावों के बाद लम्पक अथवा लमगान पहुँचा। यहाँ वह कुछ दिनों तक ठहरा और यहीं उसकी मुलाकात तक्षिला के राजा तथा दूसरे भारतीय राजाओं से हुई। सिकन्दर ने अपनी सेना को यहाँ चार असमान भागों में बाँट दिया। एक दल को उसने काबुल नदी के उत्तरी किनारे पर के पहाड़ों में भेजा। सेना का अधिकतर भाग, पेरिडिक्कास की अवीनता में, काबुल नदी के दाहिने किनारे से होता हुआ पुष्करावती और सिन्धु नदी की ओर बढ़ा। उसी समय सिकन्दर ने अथेना देवी को बलि भेंट दी और निकिया नाम का नगर बसाया जिसके भग्नावशेष की खोज हमें मन्दरावर और चारबाग को अलग करनेवाले रास्ते पर करनी चाहिए।^२

सेना का प्रधान भाग काबुल नदी का उत्तर किनारा पार करके तथा नगरहार में कुछ और सेना लेकर एक किले पर दृष्ट पड़ा जहाँ राजा हस्ति ने उसे रोकने का बड़ा प्रयत्न किया। यहाँ काबुल और लण्डई नदियों के भूमर में एक स्थान प्रांग है जहाँ चारसदा के भीड़ों में प्राचीन पुष्करावती के अवशेष छिपे हैं। इस नगरी को परास्त करने में कुछ महीने लगे। सिकन्दर भी अपनी सेना से वहाँ आ भिला था। पुष्करावती को परा-उपरिशयेन (लमगान और सिन्धु के बीच ईरानी गन्धार) के कुछ भागों से जोड़कर एक नई नदी का संगठन किया गया। यहाँ से, महापथ होकर वह सिन्धु नदी पर पहुँचा, पर कारणवश, उसने नदी को उद्भाण्ड पर पार नहीं किया। उसने अपने सेनापतियों को पुल बनाने की आज्ञा दी, पर वसन्त की बाढ़ के कारण पुल न बन सका। जब यह सब बखेड़ा हो रहा था उसी समय सिकन्दर औरनीस में छिपे कबीलों से भिड़ रहा था। ऐसा करने के लिए उसे ऊपर बुनेर की ओर जाना पड़ा। इसी बीच में सिकन्दर के सेनापतियों ने चण्ड और अम्ब के बीच पुल बना लिया। यहाँ से तक्षिला तीन पड़ावों का रास्ता था।

सिकन्दर को उड़ीयान (कुनार, स्वात, बुनेर) के काफियों के साथ खूनी लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं जिनमें उसे एक बरस लग गया। पर कुनार पार करते ही वह बाजौर के अरूपों, पंजकोरा के गौरियनों तथा स्वात के अक्षकैनों पर टूट पड़ा। सिकन्दर की इन लड़ाइयों में दो जगहें प्रसिद्ध हैं, एक है न्गावा, जहाँ से उसने दायोनिअस की नकल की, और दूसरी ओर्नोस, जहाँ उसने हेराकल को भी मात कर दिया। ओर्नोस को पहचानने का बहुत-से शिष्टानों ने प्रयत्न किया है। सर ऑरिल स्ट्रान इसे सिन्ध से स्वात की अलग करनेवाली चट्टान मानते हैं।

सिन्ध पार करके सिकन्दर तक्षशिला पहुँचा जहाँ आभि ने उसका स्वागत किया। इसके बाद वहाँ उसका दरबार हुआ। पर भेत्तम के पूर्व में पौरवराज इव आगन्तुक विपत्ति से संकित था और उसने सिकन्दर का सामना करने की तैयारी की। उसके आह्वान को स्वीकार करके सिकन्दर फौज के साथ भेल्लम पार करने के लिए आगे बढ़ा। ई० पू० ३२६ के बर्ष में आधुनिक भेत्तम नगर के कहीं आस-पास पौरव-सेना इकट्ठी हुई। सिकन्दर के बेड़े ने पुराज के कमजोर बिन्दुओं पर धावा बोल दिया। आखिरी लड़ाई हुई जिसमें पुन हार गया। पर उसकी वीरता से असन्न होकर सिकन्दर ने उसका राज्य उसे वापस कर दिया।

पौरव-सेना की हार के बाद महापथ से सिकन्दर आगे बढ़ा। चेनाब के मल्लिकार्जुनों ने तथा अभिसार के राजा ने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली। अधिक फौज आ जाने पर उसने चेनाब पार किया और एक दूसरे पौरव राजा को हराया। इसके बाद वह रावी की ओर बढ़ा तथा चेनाब और रावी के बीच का भिजित प्रदेश अपने मित्र पुन की सौंप दिया। अपने इय बड़ाव में मकदूनो सेना हिमालय के पाद-पर्वतों के साथ-साथ चली। रावी के पूर्व में रहनेवाले अर्यों ने तो आत्मसमर्पण कर दिया, पर कठों ने लड़ाई ठान दी। वे एक नोचो पहाड़ी के नीचे शकटव्यूह बनाकर खड़े हो गये। इस व्यूह की रचना गांधियों की तीन कतारों से की गई थी जो पहाड़ी की तीन कतारों से बेरकर शिबिर की रक्षा करती थी।^१ इतना सब करके भी चेनारे हार गये। अमृतसर के पास के हीम प्रदेश के स्वामी सुभूति ने सिकन्दर की अधीनता स्वीकार कर ली। इसके बाद पूरब की ओर चलती हुई सिकन्दर की सेना व्यास नदी पर पहुँची। इसके बाद गंगा के मैदान में पहुँचने के लिए केवल सतलज नदी पार करना बाकी रह गया। व्यास पर पहाड़ डाले हुए सिकन्दर ने मगलराज से मगध-साम्राज्य की प्रशंसा सुनी और उससे लड़ना चाहा। पर इसी बीच में गुरदासपुर के आस-पास उसकी सेना ने आगे बढ़ने से इनकार कर दिया और बेचब होकर सिकन्दर को उसे लौटने की आज्ञा देनी पड़ी। सेना महामार्ग से भेल्लम पहुँची, पर सिकन्दर ने सिन्धु नदी से यात्रा करने की ठानी और अरबसागर से काबुल पहुँचने का निश्चय किया। हेमन्त बेड़ा तैयार करने में गुजरा। यह बेड़ा नियर्कस के अधीन कर दिया गया और यह निश्चय किया गया कि बेड़े की रक्षा के लिए भेत्तम के दोनों किनारों पर फौजें कुच करें। सब-कुछ तैयारी हो जाने पर सिकन्दर ने सिन्ध, भेत्तम और चेनाब नदियों तथा अपने देवताओं को बलि दी और बेड़ा खोल देने का हुक्म दिया। एरियन के अनुसार^२ बेड़े की सफ़लता के लिए गाते-बजते हुए भारतीय नदी के दोनों किनारों पर दौड़ रहे थे। दस दिनों के बाद बेड़ा भेल्लम और चेनाब के संगम पर पहुँचा। यहाँ चर्मबारी शिवियों ने सिकन्दर की मातहतता स्वीकार कर ली। पर कुछ और नीचे जाने पर बुद्धक-मालवों ने लड़ाई छेड़ दी। उन्हें हराने के लिए सिकन्दर ने सेना के साथ उनका पीछा किया और शायद मुक्तान में उन्हें हराया, गोफि ऐसा करने में वह अपनी जान ही खो चुका था।

सुदृक्मालव-विजय के बाद मकदूनी बेड़ा और सेना आगे बढ़ी। रास्ते में उनसे अंबष्ट (Abastane), खथ्रिय (Xathri) और वसाति (Ussadoi) से भेंट हुई जिन्हें सिकन्दर ने अपनी चतुराई अथवा बुद्धि से हराया। अन्त में फौज चनाब और भेलम के संगम पर पहुँची। ई० पू० ३२५ के आरम्भ में बेड़ा यहाँ ठहरा। संगम के नीचे ब्राह्मणों का गणतन्त्र था। अपने जोर से आगे बढ़कर सिकन्दर सेण्डि की राजधानी में पहुँचा और वहाँ भी एक सिकन्दरिया की नाँव डाली। इस क्षेत्र को शाब्द सिकन्दर ने सिन्ध को लुप्तवी बना दिया। सिन्धु-चिनाब-संगम और सेल्ला के बीच म्यूथिक (Musicanos) रहते थे जिनकी राजधानी शायद अलोर थी। सिकन्दर ने उन्हें हराया। म्यूथिकों के शत्रु शम्बुकों (Sambos) की उनके बाद भारी आई और वे अपनी राजधानी हिन्दिमान में हराये गये। ब्राह्मणों ने सिकन्दर के साथ बोर बुद्ध किया जिससे क्रोधित होकर सिकन्दर ने कल्ले-ग्राम का हुकूम दे दिया।

पाताल (Pattala) जहाँ सिन्ध की दो घाटाएँ हो जाती थीं, पहुँचने के पहले सिकन्दर ने अपनी सेना के एक तिहाई भाग को कन्धार और सेस्तान के रास्ते स्वदेश लौट जाने की आज्ञा दी। स्वयं आगे बढ़ते हुए उसने पाताल (शायद ब्रह्मनाभार) को दखल कर लिया। बाद में उसने नदी की पश्चिमी शाखा की स्वयं जाँच-पड़ताल करनी चाही। बेड़ा चलाने की कुछ गड़बड़ी के बाद उस ऊजड़ प्रदेश के निवासियों ने मकदूनियों को समुद्र तक पहुँचा दिया। समुद्र और अपने पितरों की पूजा के बाद सिकन्दर पाताल लौट आया और वहाँ अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए नदी पर डाक और गोदियों बनवाने की आज्ञा दी।

सिकन्दर ने मकरान के रास्ते स्वदेश लौटने का निश्चय किया और अपने बेड़े को सिन्ध के मुहाने से फारस की खाड़ी होते हुए लौटने का हुकूम दिया। अपनी स्थलसेना के साथ वह हब नदी की ओर चल पड़ा। वहाँ उसे पता लगा कि वहाँ के वाशिन्डे आरब (Arbitae) उसके डर से भाग गये थे। नदी पार करने के बाद उसकी ओरित (Oritae) लोगों से भेंट हुई और उसने उनकी राजधानी रम्बकिया (Rhambakia) पर जिसकी पहचान शायद महाभारत के वैरासक से की जा सकती है, दखल जमा लिया। इसके बाद वह गेद्रेसिया (गनुचिस्तान) में घुसा। वह बराबर समुद्री किनारे के साथ-साथ चलकर उस प्रदेश में अपने बेड़े के लिए खाने के ढोपों और पानी के लिए कुँडों का प्रबन्ध करता रहा। इस भयंकर रेगिस्तान को पार करने के बाद सिकन्दर भारतीय इतिहास से ओझल हो जाता है।

पहले के ग्रन्थोक्त के अनुसार, नियर्कस सिन्ध के पूर्वी मुहाने से ई० पू० ३२५ के अक्टूबर में अपने जहाजी बेड़े के साथ रवाना होवेवाला था, पर सिन्ध के पूरव में बतनेवाले कबीलों के डर से वह मन्सूबा पूरा नहीं हुआ। नई व्यवस्था के अनुसार, बेड़ा सिन्ध की पश्चिमी शाखा में लाया गया; पर यहाँ भी सिकन्दर के चले जाने पर उसे सुधीयलों का सामना करना पड़ा जिनसे तंग आकर उसने सितम्बर के अन्त में ही अपने बेड़े का लेंगर उठा दिया।^१ बेड़ा 'काष्टनगर' से कूच करके शायद कराची पहुँचा और वहाँ अनुकूल वायु के लिए पचीस दिनों तक ठहरा रहा। वहाँ से चलकर बेड़ा हब नदी के मुहाने पर आया। हिन्दोत नदी के मुहाने पर लोगों ने उसका मुकाबला किया, पर वे मार दिये गये। वहाँ पाँच दिन ठहरने के बाद बेड़ा राय मलान होता हुआ भारत की सीमा के बाहर चला गया।

भारत पर सिकन्दर का भावा भारतीय इतिहास की चार्णिक घटना थी । उसके लॉट जाने के बीस बरस के अन्दर ही चन्द्रगुप्त मौर्य ने पंजाब की ओर अपना संज फैरा, जिसके फलस्वरूप सिकन्दर की चार्णियों के टुकड़े-टुकड़े हो गये । केवल इतना ही नहीं, भारतीय इतिहास में शायद सर्वप्रथम, सिल्युकस के अधिकृत प्रदेश, पूर्वी अफगानिस्तान में भारतीय सेना गुस गई । करीब ई० पू० ३०५ के, अपने साम्राज्य की यात्रा करते हुए सिल्युकस महापथ से सिन्धु नदी पर आया और वहाँ चन्द्रगुप्त मौर्य से उसकी भेंट हुई । हमें उस भेंट का इतना ही नतीजा माजूम है कि सिल्युकस अपने राज्य का कुछ भाग मौर्यों को देने के लिए तैयार हो गया । एन्नाबो और बंडे ग्रिनी के अनुसार, सिल्युकस ने अरखोविया और गेड्रोविया की चार्णियाँ तथा अरिय के चार जिले चन्द्रगुप्त को दे दिये ।^१ श्री फूरो की राय है कि ५०० हाथियों के बदले इस पहाड़ी प्रदेश के देने में सिल्युकस ने कोई आत्मत्याग नहीं दिखाया; क्योंकि उसने अरिय का सबसे अच्छा भाग अपने लिए रख छोड़ा । सेल्सियों का मौर्यों के साथ अच्छा सम्बन्ध था जिसके फलस्वरूप मेगास्थनीज, डायोमेकस, दायोनितस इत वनकर महापथ से पादलिपुत्र पहुँचे ।

पर ऐसी अवस्था बहुत दिनों तक नहीं चली । अशोक की मृत्यु (ई० पू० करीब २३६) के बाद मौर्य-साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा । सेल्सियों की भी वही हालत हुई । डायोडोस ने बलख में अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और अरसक (Arsaces) ने ईरान में । अन्तिओक (Antiochus) ने इन बगावतों को दबाने का पूरा प्रयत्न करते हुए बलख पर भावा बोल दिया, पर वहाँ यूथीरम (Euthydemus) ने अपने को बलख के किले में बंद कर लिया । दो बरस तक घेरा डालने के बाद बर्बर जातियों के हमलों के आगत भय से घबराकर दोनों में सुलह हो गई । इसके बाद अन्तिओक ने भारत की यात्रा की जहाँ गम्वार, उपरिशयेन और अरखोविया के अधिराज सुभगसेन से उसकी मुलाकात हुई । यह सुभगसेन शायद मौर्यों का प्रादेशिक बाजो मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद स्वतन्त्र हो गया था ।

जब भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में ये घटनाएँ घट रही थीं उसी समय, जैन-अनुभूति के अनुसार, अशोक का पोता सम्प्रति मध्यदेश, गुजरात, दक्षिण और मैसूर में अपनी शक्ति बढ़ा रहा था । ऐसी अनुभूति है कि उसने २५३ राज्यों को जैन साधुओं के लिए सुगम्य बना दिया ।^२ उसने अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए अपने सैनिकों को जैन साधुओं के वेप में आन्त्र, दक्षिण, महाराष्ट्र, कुडुक (कर्ग) तथा मुराष्ट्र-जैसे सीमाप्रान्तों को भेजे ।^३ उपर्युक्त बातों से पता चलता है कि अशोक के बाद ही शायद महाराष्ट्र, मुराष्ट्र और मैसूर मौर्य-साम्राज्य से अलग हो गये थे जिससे सम्प्रति को उन्हें फिर से जीतने की आवश्यकता पड़ी । आन्त्र तथा दक्षिण में सेना भेजकर उसने दक्षिण में अपना साम्राज्य बढ़ाया ।

१. कैंडिज हिस्ट्री, भा० १, पृ० ४३१

२. फूरो, वही, भा० २, पृ० २०८-२०९

३. जगदीशचन्द्र जैन, जाहूफ इन पर्संट इंडिया ऐजड डिपिकटेड बाहू जैन केनम्स, पृ० २२०, बम्बई १९७७

४. वही, पृ० ३२३

उपर्युक्त कथन से पता चलता है कि शायद जैन-साहित्य के २५^१ राज्य मौर्य-साम्राज्य की भुक्तियाँ थीं ।^१ इन देशों की तालिका निम्नलिखित है ।

राज्य अथवा भुक्ति	राजधानी
१ मगध	राजगृह
२ अंग	चम्पा
३ वंग	ताम्रलिति (ताम्रलिति)
४ कलिंग	कंचणपुर
५ काशी	वाशारसि (बनारस)
६ कोसल	साकेत
७ कुश	गयपुर अथवा हस्तिनापुर
८ कुसुष्टा	सोरिय
९ पंचाल	कंपिल्लपुर
१० जंगल	अहिच्छता
११ मुराष्ट्र	बारवड, द्वारका
१२ विदेह	मिथिला, मिथिला
१३ वच्छ (वत्स)	कोसम्बी
१४ संडिल्ल	नंदिपुर
१५ मलय	महिलपुर
१६ व (म) च्छ	वेराड
१७ वरणा	अच्छा
१८ दशगणा (दशार्ण)	मत्तियावर्ड (मृत्तिकावती)
१९ चेदि	मुत्तिवर्द
२० सिन्धु-सोवीर	बीडभय (वीतिभय)
२१ सूरसेन	महुरा (मधुरा)
२२ भंगि	पावा
२३ पुरिवट्टा	मासपुरी
२४ कुणाला	सावत्थी (धावत्ती)
२५ लाट	कोटिवरिस (कोटिवर्ष)
२५ ^१ केगड़ अद्र	सेयविया

उपर्युक्त तालिका से पता चलता है कि मौर्य-युग में बहुत-से प्राचीन नगर नष्ट हो चुके थे और उनकी जगह नये शहर बस गये थे । कपिलवस्तु का इस तालिका में नाम नहीं मिलता । यह भी बताना सुखकर है कि मगध की मौर्यकालीन राजधानी पाटलिपुत्र की जगह प्राचीन राजधानी राजगृह का नाम क्यों आया है । शायद इसका यह कारण हो सकता है कि मौर्य-युग में भी राजगृह का धार्मिक और राजनीतिक महत्व बना था । अंग की राजधानी चम्पा ही बनी रही; पर वंग की राजधानी ताम्रलिति इसलिए हो गई कि वहीं महापथ समाप्त होता था और उसका

बन्दरगाह अन्तरदेशीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के लिए पवित्र था। अशोक द्वारा विजित कलिंग की राजधानी कंचनपुर का पता नहीं चलता; पर यह एक बन्दरगाह था जिसके साथ लंका का व्यापार चलता था।^१ बहुत सम्भव है कि यहाँ कलिंग की राजधानी दंतपुर से तात्पर्य हो जिसे डाल्मी ने पलुर कहा है, जो श्री लेवी के अनुसार, दन्तपुर का तामिल रूपान्तरमात्र है। काशी की राजधानी बनारस ही बनी रही। लगता है, प्राचीन कोसल तीन भुक्तियों में बाँट दिया गया था। खास कोसल की राजधानी साकेत थी, कुणाला की राजधानी श्रावस्ती थी और सांडिल्ल (शायद संडीला, लखनऊ के पास) की राजधानी नन्दिपुर थी। कुहदेश की राजधानी पहले की तरह हस्तिनापुर में बनी रही। कुशावर्त यानी कान्यकुब्ज की राजधानी सोरिय यानी आधुनिक सोरों में थी। दक्षिण पंचाल की राजधानी कम्पिल्लपुर यानी आधुनिक कम्पिल में थी। उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्रा थी। प्राचीन मुराष्ट्र की राजधानी द्वारावती भी ज्यों-की-त्यों बनी रही। विदेह की राजधानी मिथिला यानी जनकपुर थी। वैशाली का उल्लेख नहीं आता। वत्सों की राजधानी कौशाम्बी भी ज्यों-की-त्यों बनी रही। मत्स्यों की राजधानी वैराट में थी जिसकी पहचान जयपुर में स्थित वैराट से, जहाँ अशोक का एक शिलालेख मिला है, की जाती है। वरणा यानी आधुनिक बुलन्दशहर की राजधानी को अच्छा कहा गया है जिसका पता नहीं चलता। पूर्वी मालवा यानी दशार्ण की राजधानी मृत्तिकावती थी। पश्चिमी मालवा की राजधानी उज्जयिनी का न जाने क्यों उल्लेख नहीं है। बुन्देलखण्ड के चेड़ियों की राजधानी शुक्तिमती शायद बान्दा के पास थी। सिन्धु-सोवीर की राजधानी वीतिभयपत्तन (शायद भेरा) में थी। मथुरा सूरसेनप्रदेश की राजधानी थी। अंगदेश (हजारीबाग और मानभूम) की राजधानी पावा थी तथा लाटदेश (हुगली, हबड़ा, वर्दवान और मिदनापुर का पूर्वी भाग) की राजधानी कोटिबर्ष में थी। केकयअर्द्ध की राजधानी शायद श्रावस्ती और कपिलवस्तु के मध्य में नेपालगंज के पास थी।

उपर्युक्त राजधानियों की जाँच-पड़ताल से पता चलता है कि महाजनपथ वैसे ही चलता था, जैसे बुद्ध के समय में। कुल्लेज से उत्तर-उत्तर होकर जानेवाले रास्ते पर हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा, कुणाला, सेतव्या, श्रावस्ती, मिथिला, चंपा और ताम्रलिप्ति पड़ते थे। गंगा के मैदान के दक्षिणी रास्ते पर मथुरा, कम्पिल्ल, सोरेय्य, साकेत, कौशाम्बी और बनारस पड़ते थे। बाकी राजधानियों के नाम से भी मालवा, राजस्थान, पंजाब तथा मुराष्ट्र के पथों की ओर इशारा है।

२

ऊपर हमने मौर्य-युग में प्राचीन जनपथों के इतिहास की ओर दृष्टिपात किया है। भाग्यवश कौटिल्य के अर्थशास्त्र में प्राचीन महापथ और समुद्री मार्गों के बारे में कुछ ऐसी बातें बच गई हैं जिनका उल्लेख दूसरी जगहों में नहीं होता। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि अन्तर-देशीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार की सफलता का अधिक श्रेय सार्वत्राहों की कुशलता पर निर्भर रहता था, पर सार्वत्राह भी अपनी मनमानी नहीं कर सकते थे। राज्य ने उनके लिए कुछ ऐसे नियम बना दिये थे जिनकी अवहेलना करने पर उन्हें दण्ड का भागी होना पड़ता था।

अन्तरदेशीय और अन्तरराष्ट्रीय व्यापार के कुशलतापूर्वक चलने के लिए चुस्त राजकर्म, सेना का आसानी के साथ संचालन और सबके आवश्यक थी। रथ-पथ (रथ्या), बन्दरों को जानेवाले राजपथ (द्रोणमुख), सूबों की राजधानियों को जानेवाले पथ (स्थानीय), पड़ोसी राष्ट्रों में जानेवाले पथ (राष्ट्र) और चरागाहों में जानेवाले पथ (विव्रीतपथ) चार दण्ड, यानी २४ फुट चौड़े होते थे। सयोनिय (?), फौजी कैम्प (व्यूह), श्मशान और गाँव की सबके आठ दण्ड, यानी, ४८ फुट चौड़ी होती थीं। सेतु और जंगलों को जानेवाली सबके २४ फुट चौड़ी होती थीं। सुरक्षित हाथीवाले जंगलों की सबके दो दण्ड यानी १२ फुट चौड़ी होती थीं। रथपथ ३ फुट चौड़े होते थे। पशुपथ केवल ३ फुट चौड़े होते थे।^१

अर्थशास्त्र से यह भी पता चलता है कि किले में बहुत-सी सबके और गलियाँ होती थीं। किले के बनने के पहले उत्तर से दक्खिन और पूरब से पश्चिम जानेवाली तीन-तीन सबके के स्थान निर्धारित कर दिये जाते थे।

अर्थशास्त्र में एक जगह^२ स्थल और जलमार्गों की आपेक्षिक तुलना की गई है। प्राचीन आचार्यों का उदाहरण देते हुए कौटिल्य का कहना है कि उनके अनुसार स्थलमार्गों की अपेक्षा समुद्र और नदियों के रास्ते अच्छे होते थे। उनकी अच्छाई माल ढोने में कम खर्च होने से ज्यादा फायदा होने की वजह से थी। पर कौटिल्य इस मत से सहमत नहीं थे। उनके अनुसार जलमार्गों में स्थायित्व नहीं होता था तथा उनमें बहुत-सी अड़चनें और भय थे। इनकी तुलना में स्थलमार्ग सरल थे। समुद्री मार्गों की कठिनाइयाँ दिखाते हुए कौटिल्य का कहना है कि दूर समुद्र के रास्ते की अपेक्षा किनारे का रास्ता अच्छा था; क्योंकि उसपर बहुत-से मान बेचने-खरीदनेवाले बन्दर (पण्यपत्तन) होते थे। उसी कम से, नदी के रास्ते समुद्र की कठिनाइयों के न होने से सरल थे तथा कठिनाइयाँ आने पर भी आसानी से उनसे छुटकारा पाया जा सकता था। प्राचीन आचार्यों के अनुसार, हैमवतमार्ग अथवा बलख से हिन्दूकुश होकर भारत का मार्ग दक्षिणपथ, यानी, कौशाम्बी-उज्जैन-प्रतिष्ठान, के रास्ते से अच्छा था। पर कौटिल्य इस मत से भी सहमत नहीं थे; क्योंकि उनके अनुसार हैमवतमार्ग पर सिवाय घोड़ों, ऊनी कपड़ों और खालों को छोड़कर दूसरा व्यापार नहीं था, पर दक्षिणपथ पर हमेशा शंख, हीरे, रत्न, मोती और सोने का व्यापार चलता रहता था। दक्षिणपथ में भी वह रास्ता अच्छा समझा जाता था, जो खदानवाले जिलों को जाता था, और इसलिए व्यापारी उसका बराबर व्यवहार करते रहते थे। यह रास्ता कम खतरेवाला और कम खर्च था तथा उसपर माल आसानी से खरीदा जा सकता था। कौटिल्य बैलगाड़ी के रास्ते (चक्रपथ) और पगडंडी (पादपथ) में चक्रपथ को इसलिए बेहतर मानते थे कि इसपर भारी बोझ आसानी से ढोये जा सकते थे। अन्त में कौटिल्य इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि सब देशों और सब मौसमों के लिए वे सबके अच्छी हैं जिनपर ऊँट और खच्चर आसानी से चल सकें।

मार्गों के बारे में ऊपर की वृत्त से पता चलता है कि बलख और पाटलिपुत्र के बीच और पाटलिपुत्र और दक्षिण यानी प्रतिष्ठान, के बीच राजमार्ग थे जिनपर होकर देश का अधिक व्यापार चलता था। शायद कट्टर ब्राह्मण होने की वजह से कौटिल्य को समुद्रयात्रा रुचिकर नहीं थी; पर अर्थशास्त्र की मर्यादा मानकर उन्होंने समुद्रयात्रा के विरुद्ध धार्मिक प्रमाण न देकर केवल उसमें आनेवाली विपत्तियों की ओर ही संकेत किया है।

१. अर्थशास्त्र, शामा शास्त्री का अनुवाद, पृ० ५३, मैसूर १९२६

२. वही, पृ० ३२८

भारतीय सड़कों के बारे में यूनानी लेखकों ने भी थोड़ा-बहुत कहा है। चन्द्रगुप्त के दरबार में सिल्युकस के राजदूत मेगास्थनीज ने उत्तर भारत की पथ-पद्धति के बारे में कहीं-कहीं कुछ कहा है। एक जगह उसका कहना है कि भारतीय सड़कें बनाने में बड़े कुशल थे। सड़कें बनाने के बाद हर दो मील पर स्तम्भ लगाकर वे दूरी और उपमाओं की ओर संकेत करते थे।^१ एक दूसरी जगह उसका कहना है कि राजमार्ग पर पड़नेवाले पड़ावों का प्रामाणिक खाता रखा जाता था।^२ रास्ते में यात्रियों के आराम का प्रबन्ध होता था। अशोक के एक अभिलेख से पता चलता है कि यात्रियों के आराम के लिए राजा ने रास्तों पर कुँए खुदवाये थे और पेड़ लगवाये थे।^३

पाटलिपुत्र में नगर के छः प्रबन्धक बोर्डों में दूसरा बोर्ड विदेशियों की खातिरदारी का प्रबन्ध करता था। उनके लिए वह उदरने की जगह की व्यवस्था करता था और विदेशियों के नौकरों की मारफत उनकी चाल-चलन पर बराबर निगाह रखता था। जब वे देश छोड़ते थे तब बोर्ड उनको पहुँचाने का प्रबन्ध करता था और अभ्यायश यदि उनमें से किसी की मृत्यु हो गई तो उसके माल को उसके रिश्तेदारों के पास भिजवाने का प्रबन्ध करता था। बीमार यात्रियों की सेवा-दहल का भी वह प्रबन्ध करता था और मृत्यु हो जाने पर उनकी अन्तिम क्रिया की व्यवस्था का भार भी उसपर था।^४

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि मौर्य-युग में भारत का किन-किन देशों से व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध था। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, बल्ल के साथ पाटलिपुत्र का व्यापारिक सम्बन्ध था। बहुत-से दूसरे रास्ते भी पाटलिपुत्र का सम्बन्ध दूसरी राजधानियों और बन्दरगाहों से जोड़ते थे। समुद्र के किनारे के रास्तों से भी भारतीय बन्दरगाहों में काफी व्यापार चलता था। पूर्वी समुद्रतट पर ताम्रलिति और पश्चिमी समुद्रतट पर भवकच्छ के बन्दरों से लंका और स्वर्णभूमि के साथ व्यापार होता था। हमें इस बात का पता नहीं कि इस युग में जहाजों से भारतीय फारस की खाड़ी में कहाँ तक पहुँचते थे। पर इस बात की पूरी सम्भावना है कि उनका इस रास्ते से होकर बाबुल के साथ व्यापारिक सम्बन्ध था। अर्थशास्त्र में सिकन्दरिया से आये हुए मूँगे के लिए अलसन्दक शब्द का व्यवहार हुआ है, पर शायद यह शब्द बाद में अर्थशास्त्र में घुस गया। इस बात में बहुत कम सन्देह है कि भारतीयों की लालसागर के बन्दरगाहों का पता था, गोकि वे अरबों की वजह से, जिनके हाथ में उस प्रदेश का पूरा व्यापार था, बहुत कम जाते थे। स्त्राबो^५ इस सम्बन्ध में एक विचित्र घटना का उल्लेख करता है जो मौर्य-युग के कुछ ही काल बाद घटी। उसके अनुसार, मिस्र के राजा यूगेटिस द्वितीय के राज्यकाल में, सिजीकस के निवासी यूडोक्सस ने नील नदी की छान-बोन के लिए एक यात्रा की। उसी समय यह घटना घटी कि अरब की खाड़ी के किनारों के रक्त यूगेटिस के सामने एक भारतीय नाविक को लाये और बतलाया कि उन्होंने उसे एक जहाज पर अधमरा पाया था। उसके बारे में अथवा उसके देश के बारे में उन्हें कुछ पता

१. जे० डब्लू० मेककिडल, एंशेंट इण्डिया ऐण्ड डिस्कवरी बाई मेगास्थनीज ऐण्ड एरियन, फ्रोगमेट ३४, पृ० ८१, लंडन १८७७

२. वही, फ्रोगमेट, ३; एरियन, इण्डिका, २।१।४; पृ० १०

३. भांडारकर, अशोक, पृ० २७६

४. मेककिडल, वही, फ्रोग० ३४०, पृ० ८७

५. स्त्राबो, २।३।८

नहीं था; क्योंकि सिवाय अपनी भाषा के वह दूसरी कोई भाषा नहीं बोल सकता था। राजा का उस नाविक के प्रति आकर्षण बढ़ा और उसने उसे यूनानी पढ़ाने का बन्दोबस्त कर दिया। यूनानी भाषा में कुछ प्रगति कर लेने के बाद उस नाविक ने बतलाया कि उसका जहाज भारतीय समुद्री किनारे से चला था; पर रास्ता भूलकर वह भिन्न की ओर आ पड़ा। रास्ते में उसके और साथी भूख-प्यास से मर गये। इस शर्त पर कि उसे अपने देश लौट जाने की आज्ञा दे दी जायगी, उसने यूनानियों को भारत का रास्ता दिखला देने का वादा किया। भिन्न से जो लोग भारत भेजे गये उनमें यूडोक्सस भी था। कुछ दिनों के बाद वह दत्त सकुशल अपनी यात्रा समाप्त करके बहुमूल्य रत्नों और गन्ध द्रव्यों के साथ भिन्न लौट आया।

अर्थशास्त्र के अध्ययन से यह पता लगता है कि राज्य को देश के जलमार्गों का पूरा खयाल रहना था और उनकी व्यवस्था के लिए ही नौकाध्यक्ष की नियुक्ति होती थी।^२ इस कर्मचारी के जिम्मे समुद्र में चलनेवाले जहाजों (समुद्रसंयान) तथा नदी के मुहानों, मोतों इत्यादि में चलनेवाली नावों का खाता होता था। बन्दरगाहों से चलने के पहले समुद्री यात्री राजा का शुल्कभाग अदा कर देते थे। राजा के निज के जहाजों पर चलनेवाले यात्रियों को महसूल (यात्रावैतन) भरना पड़ता था। जो लोग राजा का जहाज शंख और मोती निकालने के लिए व्यग्र रहते थे वे भी नाव का भाड़ा (नौकाहाटक) अदा करते थे। उनके ऐसा न करने पर उन्हें इस बात की स्वतन्त्रता थी कि वे अपनी नावें काम में ले आवें। नौकाध्यक्ष बड़ी सखी के साथ परगणपतियों में चलनेवाले रीत-राजों (चरित) का पालन करता था और बन्दरगाहों के कर्मचारियों की निगरानी करता था। जब तूफान से दूझ-झूझ (सूड़वाताहत) जहाज बन्दर में घुसता था तो नौकाध्यक्ष का यह कर्तव्य होता था कि वह यात्रियों और नाविकों के प्रति पैत्रिक स्नेह दिखलाये। समुद्र के पानी से खराब हुए माल के होनेवाले जहाजों पर या तो कोई शुल्क नहीं लगता था और अगर लगता भी था तो आधा। इस बात का खयाल रखा जाता था कि वे जहाज फिर मौसम में ही अपनी यात्रा कर सकें। समुद्र के किनारे के बन्दरों को छूनेवाले जहाजों को भी वहाँ के शुल्क अदा करने पड़ते थे। नौकाध्यक्ष को इस बात का अधिकार था कि वह डाकैमार (हिस्सिका) जहाजों को नष्ट कर दे और उन जहाजों को भी, जो बन्दरगाह के आचारों और नियमों का पालन नहीं करते थे।

मशहूर व्यापारियों और उन विदेशी यात्रियों को, जो अक्सर अपने व्यापार के लिए इस देश में आते थे, नौकाध्यक्ष बिना किसी विघ्न-बाधा के उतरने देता था; लेकिन जिनके बारे में औरत के भगाने का सन्देह होता था, डाकू, डरो-घवराये हुए आत्मी, बिना असबाब के यात्री, छद्मवेश में यात्रा करनेवाले नये-नये संन्यासी, बीमारी का बहाना करनेवाले, बिना खबर दिये क्रीमती माल ले जानेवाले, छिपाकर विप ले जानेवाले तथा बिना मुद्रा (अर्थात् पासपोर्ट) के यात्रा करनेवाले, गिरफ्तार करवा दिये जाते थे।

गर्माँ और सर्दी में, बड़ी-बड़ी नदियों में, बड़ी-बड़ी नावें एक कप्तान (शासक) के अधीन, निर्यातक, खेनवाले (दात्रग्राहक), गुनरखे (रश्मिग्राहक) और पानी उलीचनेवाले (उत्सेचक) के अधिकार में रख दी जाती थीं। बरसात में, बड़ी हुई नदियों में, छोटी-छोटी नावें चलती थीं।

बिना आज्ञा के बाट उतरना अपराध समझा जाता था और उसके लिए जुर्माने की व्यवस्था थी। पार उतरनेवालों से महसूल वसूल किया जाता था। मछुए, माली, घसकटे,

म्वाले, डाक ले जानेवाले, सेना के लिए माल-असबाब ढोनेवाले, दलदल के गाँवों में बीज इत्यादि ढोनेवाले तथा अपनी नावें चलानेवाले लोगों को पार उतरने का भाड़ा नहीं देना पड़ता था। ब्राह्मणों, परिव्राजकों, वृद्धों और बूढ़ों को भी पार उतरने के लिए कुछ नहीं देना पड़ता था।

पार उतरने के लिए महसूल की निम्नलिखित दरें थीं। छोटे चौपायों और बोक ढोनेवालों के लिए एक माष, सिर और कन्धों पर बोक ढोनेवालों, गायों और घोड़ों के लिए दो माष, ऊँठों और भैंसों के लिए चार माष, छोटी गाड़ी के लिए पाँच माष, मभली बैलगाड़ी के लिए छः माष, समगड़ के लिए सात माष, और माल के एक बोक के लिए चौथाई माष।

दल-दल के पास बसे हुए गाँववालों को घाट उतारनेवाले माँभी उनसे खाना-पीना और वतन पाते थे। माँभी लोग शुल्क, गाड़ी का महसूल (आतिथहिक) और सड़क का भाड़ा (वर्तनी) सोमा पर वसूल कर लेते थे। उनको इस बात का भी अधिकार था कि वे बिना मुद्रा (पासपोर्ट) के चलनेवालों का माल-असबाब जप्त कर लें।

नौकाध्यक्ष को नावों की मरम्मत करके उन्हें अच्छी हालत में रखना पड़ता था। अधिक भार से, बे-प्रौढम चलने से, बिना माँभियों के और बिना मरम्मत के नावों के डूब जाने पर नौकाध्यक्ष को हरजाना भरना पड़ता था। आषाढ़ तथा कार्तिक महीने के पहले सात दिनों में नई नावें नदी में उतारी जाती थीं।

घाट उतारनेवाले माँभियों के हिसाब-किताब की कड़ी निगरानी होती थी और उन्हें प्रतिदिन की आमदनी का ब्योरा समझाना पड़ता था।

मौर्य-युग से लेकर मुगल-युग तक बिना मुद्रा (यानी पासपोर्ट) के कोई यात्रा नहीं करता था। मुद्रा देने का अधिकार मुद्राध्यक्ष को था। लोगों को मुद्रा देने के लिए वह उनसे प्रतिमुद्रा एक माष वसूल करता था। समुद्र अथवा जनपदों में जाते-आते—दोनों समय—मुद्रा लेनी पड़ती थी जिसके सहारे लोग बे-खर्चके यात्रा कर सकते थे। जनपद अथवा समुद्र, दोनों ही में, बिना मुद्रा यात्रा करने पर, १२ पण दण्ड लगता था। नकली मुद्रा से सफर करनेवालों को कड़ा दण्ड दिया जाता था। यह दण्ड विदेशियों के लिए तो और कठोर होता था। मुद्रा की जाँच-पड़ताल रास्ते में त्रिविंशत्यक्ष (यानी चत्वारिंश का अफसर) करता था। जाँच की ये चौकियाँ ऐसी जगहों में होती थीं जहाँ से होकर यात्रियों को जाना अनिवार्य होता था।

मुद्रा देने कि विषय मुद्राध्यक्ष का यह भी कर्तव्य होता था कि वह सड़कों को जंगली हाथियों, जानवरों और चोए-डाकुओं से रहित रखे। निर्जल प्रदेश में कूँए खुदवाना, बाँध बँधवाना, रहने की जगह तैयार करवाना तथा फल-फूल की बाड़ियाँ लगवाना उसके मुख्य कर्तव्य थे।

वन की रक्षा के लिए कुत्तों के साथ शिकारियों की नियुक्ति होती थी। जैसे ही वे दुश्मन अथवा डाकुओं के आवागमन की सूचना पाते थे, वैसे ही पेड़ों अथवा पहाड़ों में छिप जाते थे जिससे उनका पता शत्रुओं को नहीं हो। इन जगहों से वे नगाड़ों की चोट से अथवा शंख फूँककर आगन्तुक विपत्ति की सूचना देते थे। शत्रु के संचरण की सूचना पाते ही वे राजा के पालतू कवचतर (गृहकपोन) के गले में मुद्रा बाँधकर समाचार भेज देते थे अथवा थोड़ी-थोड़ी दूर पर धूँआँ करके भावी विपत्ति की ओर इशारा कर देते थे।

मुद्राध्यक्ष उपर्युक्त वानों के अतिरिक्त जंगलों तथा हाथियों के सुरक्षित स्थानों की रक्षा करता था, सड़कों की मरम्मत करता था, चोरों को गिरफ्तार करता था, व्यापारियों को बचाता था, गायों की रक्षा करता था तथा साधों के लेन-देन की निगरानी करता था।

मौर्य-युग में अधिक व्यापार चलने से राज्य को शुल्क से बड़ी आमदनी थी। शुल्काध्यक्ष बड़ी कड़ाई से चुंगी वसूल करता था। ध्वजाएँ फहराती हुई शुल्कशालाएँ नगर के उत्तरी और पूर्वी द्वारों पर बनी होती थीं। जैसे ही व्यापारी नगरद्वार पर पहुँचते थे, वैसे ही, शुल्क वसूल करनेवाले चार-पाँच कर्मचारी उनसे उनके नाम, पते, मातृ की माप और किस्म तथा अभिज्ञान-मुद्रा पहले कहीं लगी, आदि का पता पूछते थे। अमुदित वस्तुओं पर दुगुनी चुंगी लगती थी तथा नष्टी मुद्रा लगाने पर चुंगी का अठगुना दण्ड भरना पड़ता था। दूरी अथवा मिट्टी हुई मुहरों के लिए व्यापारियों को चौबीस घण्टे हवालात में बन्द रखा जाता था। राजमुद्रा अथवा नाममुद्रा के बदलने पर, प्रति बोम सवा पण के हिसाब से दण्ड लगता था।

इन सब जाँच-पड़ताओं के बाद व्यापारी अपना माल शुल्कशाला की पताका के पास रख देते थे और उसकी तापशर् और दाम बताकर उसे ग्राहकों के हाथ बेचने का एतान करते थे। अगर निश्चित मूल्य के ऊपर दाम चढ़ता था तो बड़े दाम पर लगा शुल्क राजा के खजाने में चला जाता था। गहरे महसूल के दर से माल का दाम कम कहने पर और उसका पता चत जाने पर व्यापारी को शुल्क का अठगुना दण्ड भरना पड़ता था। उतना ही दण्ड माल की मिकदार कम बतलाने अथवा कीमती माल को घटिया माल की तह से छिगाने पर लगता था। माल का दाम बढ़ाकर कहने पर उचित मूल्य से अधिक की रकम ले ली जाती थी अथवा मामूली शुल्क का अठगुना दण्ड लगता था। माल न देखने पर, अनदेखे माल पर की चुंगी का तिगुना दण्ड खुद शुल्काध्यक्ष को भरना पड़ता था। ठीक-ठोक तौलने, नापने और आँकने के बाद माल बेचा जा सकता था। शुल्क बिना भरे अगर व्यापारी आगे बढ़ जाता था तो उसे मामूली चुंगी का अठगुना दण्ड लगता था। विवाह अथवा दूसरे धार्मिक उत्सवों के सामान पर चुंगी नहीं लगती थी। जो लोग चोरी से माल ले जाते थे अथवा बयान से अधिक मान, पेटी की मुहर तोड़कर और उसमें अधिक माल लाकर, ले जाने की कोशिश करते पकड़े जाते थे, उनका न केवल माल ही जप्त कर लिया जाता था, बल्कि उन्हें गहरा जुर्माना भी किया जाता था।

अगर कोई आदमी अविहित वस्तुएँ जैसे हथियार, धातुएँ, रथ, रत्न, अन्न और पशु लाने की कोशिश करता था तो उसका माल जप्त करके सरे-आम नीलाम कर दिया जाता था। लगता है, उपर्युक्त वस्तुओं के क्रय-विक्रय का अधिकार राज्य को था और इसलिए उनके आयात की आज्ञा नहीं थी।

शुल्क के अलावा भी व्यापारियों को बहुत-से छोटे-मोटे कर और दान भरने पड़ते थे। सीमा का अधिकारी अन्तःपाल प्रति बोम के लिए सवा पण सड़क का कर वसूल करता था। पशुओं के ऊपर कर आधे से चौथाई पण तक होता था। इन करों के बदले में अन्तःपाल के भी कुछ कर्तव्य हे होते थे। उदाहरण के लिए अगर किसी व्यापारी का माल उसके प्रदेश में लुप्त जाता तो उसे उसका हरजाना भरना पड़ता था। अन्तःपाल विदेशी मालों का मुआयना करने के बाद और उनपर अपनी मुहरें लगाकर शुल्काध्यक्ष के पास चलान कर देता था। व्यापारी के छत्रवेष में एक

गुप्तचर द्वारा माल की किस्म और भिकदार के बारे में राजा को भी खबर भेज दी जाती थी। अपनी सर्वज्ञता जताने के लिए राजा यह खबर शुल्काध्यक्ष के पास भेज देता था और वह व्यापारियों के पास यह समाचार भेज देता था। यह व्यवस्था इसलिए की जाती थी कि व्यापारी भूटे बयान न दे सकें। इस सावधानी के बाद भी अगर चोरियाँ पकड़ी जाती थीं तो साधारण माल पर शुल्क का अठगुना दण्ड भरना पड़ता था और अन्ध्रा माल तो जब्त ही कर लिया जाता था। नुकसान पहुँचानेवाली वस्तुओं के आयात की मनाही थी। पर ऐसी उपयोगी वस्तुएँ, जैसे बीज, जिनका किसी प्रदेश में भित्ति कठिन था, बिना किसी शुल्क के लाई जा सकती थीं।

सब माल पर—जैसे बाहरी (वाह्य, जिलों में उत्पन्न), आन्तरिक (अभ्यन्तर, नगरों में बने) और विदेशी (अतिथ्य)—आयात-निर्यात के समय शुल्क लगता था। फल-फूल और सूखे गोशर पर उनके मूल्य का छठा भाग शुल्क में देना पड़ता था। शंख, हीरा, मोती, मूँगा, रत्न तथा हारों पर क्रिश्चिहनों की राप से शुल्क निर्धारित किया जाता था। चौम, हरताल, मैन्सिल, विन्दर, धातुएँ, वर्णधातु, चन्दन, अगल, कटुक, खमीर (किण्व), आवरण, शराब, हाथीदाँत, खालें, सूती और रेशेदार कपड़े बनाने के लिए कच्चे सात, आस्तरण, परदे (प्रावरण) किरिमदाना (कृमियात) तथा भेड़ और बकरे के ऊन और बाल पर शुल्क उनके दामों का १० से १५ तक होता था। उसी तरह कपड़ों, चौपायों, कपास, गन्ध-द्रव्य, दवाओं, काठ, बाँस, बलकल, चमड़ों, मिट्टी के बरतनों, अनाज, तेल, नमक, चार तथा भुंजिया चावल पर शुल्क उनके मूल्य का १० से १५ तक होता था।

उपयुक्त शुल्कों के अतिरिक्त व्यापारियों को शुल्क का पाँचवाँ भाग द्वारकर के रूप में भरना पड़ता था, पर यह कर माफ भी किया जा सकता था।

मौर्य-युग के व्यापार में व्यापार के अध्वक्ष (पर्याध्वक्ष)^१ का भी एक विशेष स्थान था। पर्याध्वक्ष का व्यापारियों के साथ घना सम्बन्ध होता था। उसका यह कर्तव्य होता था कि जल और स्वतः के मार्गों से आनेवाले माल की मँग और खपत का विचार करे। वह माल के दामों की घटती-बढ़ती का विचार करके उनके बेचने, खरीदने, बाँटने और रखने की स्थितियों का निश्चय करता था। दूर-दूर तक बँटे हुए माल का वह संग्रह करता था और उनकी कीमत निश्चित करता था। राजा के कारखानों में बने माल को वह एक जगह रखता था; पर आयात में आई हुई वस्तुओं को वह भिन्न-भिन्न बाजारों में बाँट देता था। ये सब माल लोगों को सङ्कलित के दामों पर भित्त सकते थे। व्यापारियों को गहरे मुनाफे की मनाही थी। साधारण व्यवहार की चीजों की एकस्वता (monopoly) की मनाही थी।

विदेशी माल मँगानेवालों को पर्याध्वक्ष उत्साह देता था। नावों पर माल लादनेवालों (नाविकों) और विदेशी माल लानेवालों के कर माफ कर दिये जाते थे जिससे उन्हें अपने माल पर कुछ फायदा भित्त सके। विदेशी व्यापारियों पर अदालत में कर्ज के लिए दावे नहीं हो सकते थे, पर किसी धोखी का सदस्य होने पर उनपर दावे हो सकते थे।

ऐसा मात्स्य पड़ता है कि राजा के कारखानों में बने माल विदेश भेजे जाते थे। ऐसे माल पर का लाम धर्च, चुंगी, सड़क-महसूल (वर्तनी), गाड़ी का कर (अतिवाहिक), फौजी पड़ावों का कर (गुल्मदेय), घाट उतारने का महसूल (तरदेय), व्यापारियों और उसके साथियों के भत्ते (भक्त)

तथा विदेशी राजा को उपहारस्वरूप देय माल का एक भाग इन सबकी गणना करके निश्चय किया जाता था।

अगर विदेशों में नगद दाम पर देशी माल बिकने पर फायदे की संभावना नहीं होती थी तो पर्याय्यतः को इस बात का निश्चय करना पड़ता था कि वस्तु-विनिमय से अधिक फायदे की संभावना है कि नहीं। वस्तु-विनिमय के निश्चय कर लेने पर कीमती माल का एक चौथाई हिस्सा स्थल-मार्ग से विदेशों को रवाना कर दिया जाता था। माल पर ज्यादा फायदे के लिए विदेशों में गये हुए व्यापारियों का यह कर्तव्य होता था कि वे विदेशों में जंगल के रक्तों और जिलेदारों के साथ दोस्ती बढ़ावें। अपनी तथा माल की सुरक्षा के लिए ऐसा आवश्यक था। अगर वे इच्छित बाजार तक नहीं पहुँच सकते थे तो किसी बाजार में, बिना किसी कर के (सर्वदेय-विशुद्ध) अपना माल बेच दे सकते थे। नदी-मार्ग से भी वे माल ले जा सकते थे, पर नदी का रास्ता लेने के पहले उन्हें डुलाई का खर्च (यानभागक), रास्ते के भत्ते (पथ-दान), विनिमय में मिलनेवाले विदेशी माल का दाम, नाव का यात्रा-काल तथा बाजारी शहरों (पर्यपत्तन) के व्यवहार (चरित्र) की जाँच-पड़ताल कर लेनी होती थी। नदियों पर बसे व्यापारी शहरों के बाजार-भाव दरियाफ्त करने के बाद अपना माल उस बाजार में बेच सकते थे, जिसमें अधिक लाभ मिलने की संभावना होती थी।

राजा के कारवानों में बने मात की भिक्षु और किस्म की जाँच के लिए व्यापारियों के वेष में गुप्तचरों की नियुक्ति होती थी।^१ ये गुप्तचर राजा के कारवानों, खेतों और खदानों से निकले हुए मात की पूरे तौर से जाँच-पड़ताल करते थे। वे विदेशों में लगनेवाले शुल्क की दरों, तरह-तरह के सङ्कट-करों, भत्तों, घाट उतरने के महसूलों, माल ढोने की दरों (पर्ययान) इत्यादि की जाँच-पड़ताल करते थे जिससे राजा के एजेंट उसे धोखा न दे सकें। राजा के माल बेचने में इतनी चौकसी से यह पता चल जाता है कि मौर्य-काल में राजा पूरा बनिया होता था और उसे ठग लेना, कोई मामूली बात नहीं थी।

✓ शहर में यात्रियों के ठहरने के लिए, कौटिल्य के अनुसार धर्मावसथ—धर्मशालाएँ होती थीं।^२ इन धर्मशालाओं के प्रबन्धकों के लिए यह आवश्यक था कि वे नगर के अधिकारी को व्यापारियों और पावगिडियों के आने की सूचना दें। यन्त्रकार (काष्ठकार) और कारीगर अपनी कर्मशालाओं में केवल अपने रिश्तेदारों को ठहरा सकते थे। उसी तरह व्यापारी भी अपनी दुकानों और कोठियों में विश्वासपात्र लोगों को ही ठहरा सकते थे। फिर भी, नगर के अधिकारी को इसकी सूचना देना आवश्यक था। यह तन्द्दी इसलिए आवश्यक थी कि व्यापारी अपना माल असमय में और निश्चित जगह के बाहर न बेच सकें, न अविहित वस्तुओं का व्यापार कर सकें।

✓ मौर्य-युग में व्यापारियों के अतिरिक्त यात्रियों को भी अपनी जवाबदेही का पूरा ज्ञान होता था।^३ नगर, मन्दिर, यात्रास्थल, वन, स्मशान, जहाँ कहीं भी वे घायल, शस्त्रों से सुसज्जित, भार ढोने से थके, सेते अथवा देश न जानेवाले लोगों को देखते थे, उनका कर्तव्य होता था कि वे उन्हें राजकर्मचारियों के सुपुर्द कर दें।

१ वही, पृ० १२१ से

✓ २ वही, पृ० १६१

३ वही, पृ० १६१

हम पहले देख आये हैं कि, बुद्ध के पूर्व, भारत में भी श्रेणियाँ थीं; पर उनमें सहकार की भावना अपनी प्रारम्भिक अवस्था में थी। अर्थशास्त्र से पता चलता है कि मौर्य-युग में श्रेणियाँ पूरी तरह से विकसित हो चुकी थीं। व्यापारी और काम करनेवाले, दोनों ही श्रेणीबद्ध (संघमृताः) हो चुके थे। काम और वेतन-सम्बन्धी कुछ नियम थे जिन्हें न माननेवालों को कड़ी सजा दी जाती थी।^१

कारबार चलाने के लिए कर्ज की अच्छी व्यवस्था थी, पर सूद की दर बहुत ऊँची थी।^२ साधारणतः १५ प्रतिशत सूद की दर विहित थी, पर कभी-कभी वह ६० प्रतिशत तक भी पहुँच जाती थी। जंगलों में सफर करनेवाले व्यापारियों को १२० प्रतिशत सूद भरना पड़ता था। समुद्री व्यापारियों के लिए तो सूद की दर २४० प्रतिशत तक पहुँच जाती थी। लगता है, उस समय के महाजनों का मूलमन्त्र था 'गहरा जोखिम, गहरा मुनाफा।'

राज्य के कल्याण के लिए महाजन (धनिक) और असामी (भारणिक) का सम्बन्ध निश्चित कर दिया गया था। अनाज पर सूद की रकम ५० प्रतिशत से अधिक नहीं हो सकती थी। प्रजेयों अर्थात् रेहन की चीजों पर का सूद साल के अन्त में मुनाफे का आधा होता था। इन नियमों को न माननेवाले दण्ड के भागी होते थे।

लोग महाजनों के यहाँ धन जमा करते थे। जमा की हुई रकम को उपनिधि कहते थे। इस रकम पर के सूद की दर भी साधारण व्यवसाय के सूद की दर की तरह होती थी। जंगलियों, पशुओं, शत्रु-सेना, बाढ़, आग और जहाज डूबने से व्यापारियों को क्षति पहुँचने पर वे कर्ज से बेबाक समझे जाते थे और अशक्त में उसके लिए उनपर कोई दाना नहीं कर सकता था।^३

रेहन रखे माल की सुरक्षा के लिए और भी बहुत-से कानून थे। अपने फायदे के लिए महाजन रेहन का माल बेच नहीं सकता था। ऐसा करने पर उसे हरजाना भरना पड़ता था और उसे जुर्माना भी होता था। पर महाजन के स्वयं आर्थिक कष्ट में होने पर उसपर रेहन के माल के लिए दावा दायर नहीं हो सकता था; किन्तु गिरवी माल के बेचने, खोने अथवा दूसरे के यहाँ रेहन रख देने पर महाजन को उस माल के दाम का पैंचगुना दण्ड भरना पड़ता था।

व्यापारियों द्वारा रात में अथवा जंगल में चुपके-चुपके किया हुआ इकरारनामा कानून की नजर में मान्य नहीं होता था। पर जिन व्यापारियों का अधिक समय जंगलों में ही बीतता था, उनके इकरारनामे मान्य समझे जाते थे। श्रेणिके सभ्य, अकेले में भी, आपस में इकरारनामे कर सकते थे।^४ अगर कोई व्यापारी दूत के हाथ कोई माल भेजता था तो उस माल के लुप्त जाने पर, अथवा दूत की मृत्यु हो जाने पर, वह व्यापारी हरजाना पाने का अधिकारी नहीं होता था।^५

१ वही, पृ० १०६-११०

२ वही, पृ० ११०

३ वही, पृ० २०१ से; मनुस्मृति, ८।१८६

४ वही, पृ० १६८

५ वही, पृ० २०३

बूढ़े अथवा बीमार व्यापारी घने जंगलों में अथवा जहाजों पर यात्रा करते समय अपने माल पर मुहर लगाकर और उसे किसी व्यापारी को सुपुर्द करके शान्ति लाभ करते थे। उनकी मृत्यु हो जाने पर वे व्यापारी, जिनके पास उनकी धरोहर होती थी, उनके बेटों अथवा भाइयों को खबर भिजवा देते थे और वे उनसे सुदृढ़ धरोहर ले लेते थे।^१ धरोहर न लौटाने पर उनकी सख जाती रहती थी, उन्हें चोरी के अपराध में राजदण्ड मिलता था और तब, मृत्यु मारकर, धरोहर भी लौटानी पड़ती थी।

व्यापारियों को माल के क्रय-विक्रय-सम्बन्धी कुछ नियमों का भी पालन करना पड़ता था।^२ बेचे हुए माल की पहुँच न देने पर बेचनेवाले को बारह पण दण्ड में भरना पड़ता था। बेचने और पहुँच के बीच में माल के खराब होने पर उसे कोई दण्ड नहीं लगता था। माल के बनाने की खराबी को पर्यायोक्ष कहते थे। राजा द्वारा जन्त तथा आग अथवा पूर से खराब माल, रद्दी माल और बीमार मजदूरों द्वारा बनाये गये माल की बिक्री की मनाही थी।

माल की पहुँच देने का समय साधारण व्यापारियों के लिए चौबीस घंटे, किसानों के लिए तीन दिन, गोपालकों के लिए पाँच दिन, और कीमती माल के लिए सात दिन होता था। खराब होने-वाली वस्तुओं की बिक्री के लिए, उसी तरह की खराब न होनेवाली वस्तुओं की बिक्री रोक दी जाती थी। इस नियम को न माननेवाले दण्ड के भागी होते थे। बिक्री किया हुआ कोई माल, शिवाय इसके कि उसमें खराबी हो, नहीं लौटाया जा सकता था।

व्यापार की उन्नति के लिए कारीगरों और व्यापारियों का नियमन आवश्यक था। ऐसा पता चलता है कि कारीगरों की श्रेणियों कुछ रकम अपना भत्ता चाहनेवालों और नफ्काशों के पास जमा कर देती थीं ताकि वह रकम जरूरत पड़ने पर उन्हें लौटाई जा सके। कारीगरों को अपने इकरारनामों की शर्तों के अनुसार काम करना पड़ता था। शर्तें पूरी न करने पर उनके वेतन का एक चौथाई भाग काट लिया जाता था और वेतन का दुगुना उन्हें दण्ड भरना पड़ता था। कारीगरों के विपत्ति में पड़ जाने पर यह नियम लागू नहीं होता था। मालिक की आज्ञा बिना माल तैयार करने पर भी उन्हें दण्ड लगता था।^३

व्यापारियों की चालबाजियों से लोगों को बचाने के लिए भी नियम थे।^४ पर्याप्त जौंच-पड़ताल के बाद ही पुराना माल बेचने की आज्ञा देना था। तौल और नाप ठीक न होने पर व्यापारियों को दण्ड मिलता था। अच्छे माल की जगह खराब माल गिरों रखने पर अथवा माल बर्तन देने पर गहरी सजा मिलती थी। वे व्यापारी, जो अपने फायदे के लिए कारीगरों द्वारा लाये गये माल का दाम कम कून्ते थे अथवा उनकी बिक्री में बाधा डालते थे, सजा के भागी होते थे। जो व्यापारी दल बाँधकर माल की खरीद-बिक्री में बाधा डालते थे अथवा नियत दाम से अधिक माँगते थे, उन्हें भी सजा मिलती थी।

दलालों की दलाली की रकम उनके द्वारा बिके हुए माल को देखकर निर्धारित की जाती थी। बेचने अथवा खरीदनेवालों को ठगने पर दलालों को सजा मिलती थी।

१ वही, पृ० २०४

२ वही, पृ० २१२

३ वही, पृ० २२०-२२८

४ वही, पृ० २३२ से

नियत मूल्य पर माल न बिकने पर परयाध्यत्त उसकी कीमत बझ सकता था। माल की खपत पर रोक होने पर भी दाम बझे जा सकते थे। कभी माल भर जाने पर आपस में चढ़ा-ऊपरी रोकने के लिए परयाध्यत्त उसे एक ही जगह से बेचने का प्रबन्ध करता था। खर्च देवकर ही माल का मूल्य निर्धारित किया जाता था।

संस्कृत के समय राजा नये-नये कर लगाता था जिसका अधिक भार व्यापारियों पर पड़ता था। उस समय सोना, चाँदी, हीरा, मोती, मूँगा, घोड़े और हाथी के व्यापारियों में से प्रत्येक को ५०० पण देना पड़ता था। सूत, कपड़ा, धातु, चन्दन तथा शराब के व्यापारियों में से प्रत्येक को ४०० पण देना पड़ता था। चना, तेल, लोहा और गाड़ी के व्यापारियों को ३०० पण भरना पड़ता था। काँच बेचनेवालों और पहले दर्जे के कारीगरों में से प्रत्येक को १०० पण भरना पड़ता था। बेचारी वेश्याओं और नटों को तो अपनी आधी आमदनी ही निकालनी पड़ती थी। पर सबसे अधिक आकत सोनारों के सिर पड़ती थी। काले बाजार का उन्हें सबसे बड़ा धनिक समझकर, उनकी पूरी जायदाद ही जब्त कर ली जाती थी।^१

उपर्युक्त कर तो कानून से जायज थे, पर राजा कभी-कभी खजाना भरने के लिए अवैध उपायों का भी आश्रय लेता था। कभी-कभी वह व्यापारी के दृष्टि में अपने गुप्तचर को किसी व्यापारी का भागीदार बनाता था। काफ़ी माल जमा करने के बाद वह गुप्तचर अपने लुट जाने की खबर उड़ा देता था। और इस तरह जासूस भागीदार की रकम राजा के खजाने में पहुँच जाती थी। कभी-कभी गुप्तचर अपने को एक रहस्य व्यापारी कहकर दूसरों का सोना, चाँदी और कीमती माल इकट्ठा करता, फिर बहाना करके, ले-देकर चम्पत हो जाता था।^२ व्यापारियों का वेष धरकर राजा अपने गुप्तचरों द्वारा और भी बहुत-से गन्दे काम करवाता था। वह उन्हें अपनी फौज को कूच के पहले डेरे में भेज देता था। वहाँ वे, जितने माल की दरकार होती थी उसका दुना, राजा का माल बेचकर और बाद में दाम वसूलने का वादा करते थे। इस तरह जरूरत से अधिक राजा का माल निकल जाता था।^३

उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि मौर्ययुग में व्यापार की क्या हालत थी। व्यापार केवल व्यापारियों के हाथ में नहीं था, राजा भी उसमें हाथ बटाता था। राजकर्मचारियों का यह कर्तव्य होता था कि उनके मालिक का अधिक-से-अधिक फायदा हो। घोड़े, हाथी, खालें, समूर, कपड़े, गन्ध-द्रव्य, रत्न इत्यादि उस समय के व्यापार में मुख्य थे।

अर्थशास्त्र में चमड़े और समूरों की एक लम्बी तालिका दी हुई है।^४ ये चमड़े और समूर अधिकतर उत्तर-पश्चिमी भारत, पूर्वी अफगानिस्तान और मध्य-एशिया से आते थे। इनमें से बहुत-से नाम स्थानवाची हैं, पर उनकी ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकती। कान्तानाव, अरोह (रोह, काबुल के पास), बलख और चीन से ही मुख्य करके चमड़े और समूर आते थे।

तदनुसार ही बिनकारी और सुईकारी के कामवाली शालें शायद कश्मीर अथवा पंजाब से आती थीं। नेपाल से ऊनी कपड़े आते थे।

१ वही, पृ० २७२

२ वही, पृ० २७५

३ वही, पृ० २७८

४ वही, पृ० ८१ से

बंगाल, पोंड्र और सुवर्णकुंड्या दुर्गत के लिए मशहूर थे, तो काशी और पोंड्र चीन के लिए। मगध, पोंड्र और सुवर्णभूमि की पट्टों (पत्रों) बहुत अच्छी होनी थीं।

चीन से काशी रेशमी कपड़े आते थे। सूती कपड़ों के मुख्य केन्द्र मथुरा, काशी, अपरान्त (कोंकण), कलिंग, बंगाल, वंश (कौशाम्बी) और माहिषवती (महेंदर, मध्यभारत, खण्डवा के पास) थे।^१

अर्थशास्त्र से पता चलता है कि मौर्ययुग में रत्नों का व्यापार खूब चलता था। बहुत-से रत्न और उपरत्न भारत के कोने-कोने-से आते थे और बहुत-से विदेशों से। मोती सिंहल, पाण्ड्य, पाश (शायद ईरान), कुत और चूर्ण (शायद सुवर्चिपट्टन के पास) तथा बर्बर के समुद्रतट से आते थे।^२ उन्मुख देशों की तात्तिका से पता चलता है कि मोती मनार की खाड़ी, फारस की खाड़ी और सोमाली देग के समुद्रतट से आते थे। सुवर्चि के उल्लेख से यह पता चलता है कि सुवर्चि का प्राचीन बन्दरगाह भी मोती के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।

कीमती रत्न कूट, मूल (बलूचिस्तान में मूला दर्रा) और पार-समुद्र जिससे शायद सिंहल का मतलब है, आते थे।^३ मूला के आस-पास कोई रत्न नहीं मिलता, पर शायद प्राचीनकाल में बलूचिस्तान से होकर ईरानी रत्नों के भारत आने के कारण मूला भी रत्नों के लिए प्रसिद्ध माना जाने लगा था। सिंहल तो रत्नों का घर है ही।

मानिक और लाल का नाम भी अर्थशास्त्र में है, पर उनके उद्गमस्थानों का अर्थ-शास्त्र में उल्लेख नहीं है। शायद ये रत्न पूर्वी अफगानिस्तान, सिंहल और बर्मा से आते थे।

बिजौर विन्ध्यपर्वत और मालाबार से आता था।^४ अर्थशास्त्र में उसके कई भेद दिये गये हैं जिनकी ठीक-ठीक पहचान नहीं हो सकती। नीलम और जमुनियाँ लंका से आते थे।^५

अच्छे हीरे समाराष्ट्र (बरार), मध्यमराष्ट्र (मध्यदेश, दक्षिणकोशल), कामरु (अश्मक—शायद यहाँ गोतकुण्डा की हीरे की खदान से मतलब है) और कलिंग से आते थे।^६

आलकन्दक नामक मूँगा सिकन्दरिया से आता था। सम्भव है कि यह नाम, जिसका प्रयोग बाद के समय का द्योतक है, अर्थशास्त्र में बाद में आया हो। पर हम श्री भिलगाँ लेवी^७ की यह राय, कि इस शब्द के आने से ही अर्थशास्त्र बाद का सिद्ध होता है, मानने में असमर्थ हैं।

अर्थशास्त्र से हमको यह भी पता चलता है कि इस देश में, मौर्य-युग में गन्ध-द्रव्यों की बड़ी माँग थी। चन्दन की अनेक किस्में दक्षिण-भारत, जावा, सुमात्रा, तिमोर और मलयेशिया

१ वही, पृ० ८३

२ वही, पृ० ७१-७२

३ वही, पृ० ७७

४ वही, पृ० ७७

५ वही, पृ० ७७

६ वही, पृ० ७८

७ वही, पृ० ७८

८ मेमोरियल सिलवाँ लेवी, पृ० ४११ से

तथा आसाम से आती थीं ।^१ अगर की लकड़ी आसाम, मलयेशिया, हिन्द-चीन और जावा से आती थी ।^२

मौर्ययुग में भारत और उत्तरापथ से घोड़ों का बहुत बड़ा व्यापार चलता था । मध्यदेश में आनेवाले घोड़ों में कंबोज, (ताजकिस्तान), सिन्धु (भियॉन्नाती, पंजाब), वनायुज (वाना), बलख और सोबीर यानी सिन्ध के घोड़े प्रसिद्ध थे ।^३

१ जे० आर्च० एस्० ओ० ए०, पृ० ८ (१८४०) पृ० ८३-८४

२ वही पृ० ८१

३ अर्थशास्त्र, पृ० १४८

पाँचवाँ अध्याय

महापथ पर व्यापारी, विजेता और वर्धर

(ई० पू० दूसरी सदी से ई० तीसरी सदी तक)

ई० पू० दूसरी सदी में महापथ पर फिर एक बड़ी घटना घटी और वह थी बलख के यूनानियों का पाटलिपुत्र पर धावा। जैसा हम कह चुके हैं, सिकन्दर के भारत से प्रस्थान करने के बाद मौर्यों का अभ्युदय हुआ। चन्द्रगुप्त से लेकर अशोक तक मौर्य भारत के अधिकांश भागों के राजा थे। उस युग में यूनानियों का भारतवर्ष के साथ सम्पर्क था। पर अशोक के बाद ही साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने लगा और देश कई भागों में बँट गया। देश की इस अवस्था से लाभ उठाकर बलख के राजा दिमित्र ने हिन्दूकुश को पार करके भारतवर्ष पर चढ़ाई कर दी। दिमित्र की चढ़ाई सिकन्दर की चढ़ाई से भिन्न थी। सिकन्दर ने तो केवल पच्छिमी पंजाब तक ही अपनी चढ़ाईयों को सीमित रखा; पर बलख के यूनानी तो भारत के हृदय में घुसते हुए पाटलिपुत्र तक पहुँच गये। इस चढ़ाई का ठीक-ठीक समय तो निश्चित नहीं किया जा सकता, पर श्री टार्न की राय में, शायद यह चढ़ाई करीब ईसा-पूर्व १७५ में हुई होगी।^१

हिन्दुस्तान की चढ़ाई में दिमित्र के साथ उसका प्रसिद्ध सेनापति मिलिन्द था। बलख से चलकर वह तक्षशिला पहुँचा और गन्धार को अपने अधिकार में कर लिया। इस प्रदेश में उसने पुष्करावती को अपनी राजधानी बनाया। आगे बढ़ने के पहले शायद उसने अपने पुत्र दिमित्र द्वितीय को उपरिशायेन और गन्धार का शासक नियुक्त किया, और उसने कापिशी में अपनी राजधानी बनाई। तक्षशिला को अधिकार में करने के बाद शायद दिमित्र की सेनाएँ दो रास्तों से आगे बढ़ीं। एक रास्ता तो वही था जो पंजाब से दिल्ली होकर पटना चला जाता था और दूसरा रास्ता सिन्धु नदी के साथ-साथ चलता हुआ उसके मुहाने तक जानेवाला रास्ता था। इन्हीं रास्तों का उपयोग करके दिमित्र, अपोलोडोटस और मिलिन्द ने पूरे उत्तर-भारत के विजय की ठान ली। श्री टार्न की राय में, एक रास्ते से मिलिन्द आगे बढ़ा और दूसरे रास्ते से अपोलोडोटस और दिमित्र आगे बढ़े। शायद दिमित्र ने सिन्धु नदी के रास्ते से आगे बढ़कर सिन्ध को फतह किया और वहाँ दत्तामित्रा नाम की एक नगरी बसाई जो शायद ब्रह्मनाबाद के आस-पास कहीं रही होगी। लगता है, इसके आगे दिमित्र नहीं बढ़ा और सिन्ध का शासन अपोलोडोटस के हाथ में सुपुर्द करके वह बलख की ओर लौट गया।

मिलिन्द के दक्षिण-पश्चिम रास्ते से आगे बढ़ने का सबूत यूनानी और भारतीय साहित्य में मिलता है। मिलिन्द ने सबसे पहले साकल को दखल किया। वहाँ से, गुगपुराण के अनुसार, यवनसेना मथुरा पहुँची और वहाँ से साकेत, प्रयाग और बनारस होते हुए वह पाटलिपुत्र पहुँच

गई। यवनसेना का इस रास्ते से गुजरने का सबसे बड़ा सबूत हमें बनारस में राजघाट की खराइयों से मिली हुई कुछ मिट्टी की मुद्राओं से मिलता है। इन मुद्राओं पर यूनानी देवी-देवताओं और राजा के चेहरों की छापें हैं; कुछ मुद्राओं पर तो बलखी ऊँटों के भी चित्र हैं। ऐसा मातृम पड़ता है कि शायद मिलिन्द की सेना बनारस में ठहरी थी और यहीं से वह पाटलिपुत्र की ओर बढ़ी और उसे हस्तगत कर लिया।

अब हम मिलिन्द की पाटलिपुत्र में छोड़कर यह देखेंगे कि सिन्ध में अपोलोडोस क्या कर रहा था। टार्न का अनुमान है कि सिन्ध से, जलमार्ग के द्वारा, अपोलोडोस ने कच्छ और सुराष्ट्र पर अधिकार जमाया। पेरिप्लस के अनुसार, शायद अपोलोडोस का राज्य भरुकच्छ तक पहुँच गया था। कम-से-कम ईसा की पहली शताब्दी तक, मिलिन्द के सिक्के वहाँ चलते थे। भरुकच्छ दखल कर लेने से उसे दो लाभ हुए : एक तो भारत का एक बहुत बड़ा बन्दरगाह, जिसका पश्चिम के देशों से व्यापारिक सम्बन्ध था, उसके हाथ में आ गया और दूसरा यह कि उसी जगह से वह उज्जैन, विदिशा, कौराव्मी और पाटलिपुत्रवाली सड़क पर भी आरुढ़ हो गया। इसी रास्ते को पकड़कर उसने दक्षिण राजपूताने में मध्यनिका अथवा नगरी पर जो उज्जैन से ८० मील दूर पड़ती है, आक्रमण किया। यह भी सम्भव है कि उसने उज्जैन को भी दखल कर लिया हो।^१

इस तरह हम देव सकते हैं कि दिमित्र ने तक्षशिला, भरुकच्छ, उज्जैन और पाटलिपुत्र दखल करके प्रायः उत्तर और पश्चिम भारत की सम्पूर्ण पथ-पद्धति पर अधिकार कर लिया। श्री टार्न^२ का अनुमान है कि शायद वह तक्षशिला में बैठकर अपोलोडोस और मिलिन्द को उज्जैन और पाटलिपुत्र का शासक बनाकर सारे भारतवर्ष पर शासन करना चाहता था। पर मनुष्य सोचता कुछ है और होता कुछ है। दिमित्र कुछ ही वर्षों तक सीर दरिया से खम्भात की खाड़ी तक और ईरानी रेगिस्तान से पाटलिपुत्र तक का राजा बना रह सका। उसके राज्य में अफगानिस्तान, बलूचिस्तान, पूरा रूसी तुर्किस्तान तथा भारत में उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, दक्खिनी कश्मीर के साथ पंजाब, युक्तप्रदेश का अधिक भाग, बिहार का कुछ भाग, सिन्ध, कच्छ, काठियावाड़, उत्तरी गुजरात तथा मालवा और दक्खिन राजपूताने के कुछ भाग थे। पर यह विशाल साम्राज्य शायद दस बरस भी टिक नहीं सका और बलख में युकातीद के आक्रमण के कारण वह करीब १६७ ई० पू० में नष्ट हो गया। फिर भी बलख और पंजाब में यूनानियों का प्रभाव ई० पू० तीस तक जारी रहा।

अभाम्यवश, हम भारतीय यूनानियों के बारे में, सिवाय उनके सिक्कों के बहुत कम जानते हैं। हम केवल यही सोच सकते हैं कि महापथ के उत्तर-पश्चिमी भाग में निम्नलिखित राज्य थे—मर्ग और बक्षशाँ के साथ बलख, हिन्दूकुश के दक्षिण में स्थित कपिश, उपरिशवेन से अलग किया हुआ नीचा मैदान, जो पहले सिकन्दर द्वारा नगरहार और पुष्करावती के जिलों से जोड़ दिया गया था। बाद में अरबोसिया से सिन्ध की दाईं ओर तक्षशिला और साकल दो बड़ी-बड़ी राजधानियाँ थीं। मुद्राशास्त्रियों का यह कर्तव्य है कि वे भारतीय यूनानी सिक्कों के लक्षणों, प्राप्ति के स्थानों इत्यादि का अध्ययन करके यह निश्चय करें कि कौन-सा यूनानी राजा किस प्रदेश में राज्य करता था।

ई० पू० दूसरी सदी में, स्त्राबो^१ के अनुसार, हेरान से भारतीय सीमा के लिए तीन रास्ते चलते थे। एक रास्ता दाहिनी ओर जाता हुआ बतख पहुँचता था और वहाँ से हिन्दूकुश होता हुआ उपरिशयेन में ओर्तोस्पन में पहुँचता था जहाँ बतख से आनेवाले रास्ते की दूसरी शाखाएँ मिलती थीं। दूसरा रास्ता हेरात के दक्षिण जाते हुए दंग में प्रोक्रासिया की ओर जाता था और तीसरा रास्ता पहाड़ों में होकर भारत और सिन्धु नदी को ओर जाता था। अगर टॉलेमी के ओर्तोस्पन (संस्कृत-ऊर्वस्थानम्) की पहचान काबुल प्रदेश से ठीक है तो यह रास्ता कोहिस्तान को जाता था। श्री फूरो^२ की राय है कि कबुर और ओर्तोस्पन दोनों ही काबुल के नाम थे और शायद ओर्तोस्पन काबुल के अगत-बगल कहीं बसा था।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं, शिमित्र की मृत्यु के बाद ही भारत पर बलख का आधिपत्य समाप्त हो गया, पर भारत में उसके बाद भी उसका प्रसिद्ध सेनापति मिलिन्द बच गया था। इसके राज्य के बारे में हमें उसके सिक्कों से तथा मिलिन्द-ग्रन्थ से कुछ पता लगता है। शायद उसकी मृत्यु १५० और १४५ ई० पू० के बीच हुई।

प्रायः यह माना जाता है कि मिलिन्द का साम्राज्य मथुरा से भरकच्छ तक फैला हुआ था। पाटलिपुत्र छोड़ने के साथ ही उसे दोआब छोड़ देना पड़ा। उसके इटते ही पाटलिपुत्र और सकेत पर शुंगों का अधिकार हो गया। लगता है, मथुरा के दक्षिण, चम्बल नदी पर मिलिन्द की राज्य-सीमा थी। उत्तर में मिलिन्द के अधिकार में उपरिशयेन था। गन्धार भी उसके अधिकार में था। दक्षिण-पश्चिम में उसका अधिकार भरकच्छ तक पहुँचता था।

श्री टार्न^३ ने, टॉलेमी के आधार पर, भारत में युनानियों के सुबों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की है। सिन्धप्रदेश में पाताल नाम का सूबा था (७१।१५५)। पाताल के उत्तर में अबीरिया, यानी आभीरदेश पड़ता था और उसके दक्षिण में सुराष्ट्र। शायद सुराष्ट्र में उस काल में गुजरात का भी कुछ भाग शामिल था। पाताल और सुराष्ट्र के बीच में कच्छ पड़ता था। शायद उस समय कच्छ के साथ सिन्ध का भी कुछ भाग आ जाता था। टॉलेमी का आभीर-प्रदेश मध्य-सिन्ध का द्योतक था। उत्तरी सिन्ध का नाम शायद, खिनी के अनुसार (६, ७१), प्रसियेन था। इस तरह हम देख सकते हैं कि पंजाब के दक्षिण में युनानियों के पाँच सूबे थे जिनकी सीमाएँ आधुनिक सीमाओं से बहुत-कुछ मिलती थीं। उत्तर से दक्षिण तक उनके नाम इस तरह थे—प्रसियेन (Prasiane), अबीरिया (Abiria), पातालेन (Patalene), कच्छ और सुराष्ट्रेन (Surastrene)।

एक दूसरे टुकड़े में (८।१।४२) गंधार के दो सूबों—सुवास्तेन (Souastene) और गोरुऐया (Goruaia)—के नाम हैं। सुवास्तेन से शायद निचले अथवा मध्य स्वात का मतलब है। गोरुऐया निचले स्वात और कुनार के बीच का प्रदेश रहा होगा जिसे हम बाजौर कहते हैं। पुष्कलावती जिसे एरियन (इडिका, १।८) पिउकेलाइटिस (Peucelaitis) कहता था, गन्धार का एक तीसरा सूबा था। बुनेर और पेशावर के सुबों का नाम नहीं मिलता, पर शायद इनमें एक का नाम गान्दराइट्स (Gandarits) था।

१. स्त्राबो, ११।१।८—३

२. फूरो, वही, भा० २, पृ० २१३—१४

३. टार्न, वही, पृ० २३२ से

परिबन्ध के पूर्व के यूनानी सूबों के बारे में कम पता चलता है। एक जगह टल्मी (Julius) मेलन के पूर्व दो सूबों का नाम देता है—कस्पैरिया (Kaspeiria) जिसकी पहचान दक्षिण कश्मीर से की जाती है, और कुलिन्ड्रेन (Kulindrene) जिसका शायद सिवालिक से तात्पर्य है। इसके बाद के यूनानी सूबों का पता नहीं लगता। उस काल के गणराज्यों में खोइम्बरो का जो गुरदासपुर और होशियारपुर के रहनेवाले थे और जिनका केन्द्र-बिन्दु शायद पठानकोट था, एक विशेष स्थान था। उनके दक्षिण में, जलन्धर में त्रिगर्त रहते थे और उनके पूर्व में सतलज और यमुना के बीच कहीं कुलिनद्र रहते थे। पूर्वी पंजाब में यौधेय रहते थे तथा शिल्ली और आगरे के बीच में शायद आर्जुनायन।

मिलिन्द के बाद ही, युनानियों का राज्य भारत से बहुत-बहुत हट गया। उनके राज्य को दूसरा धक्का लगने का कारण वे बर्बर जातियों भी थीं जो बहुत प्राचीन काल से बलख के उत्तर के प्रदेश में अपना अधिकार जमाये हुई थीं और जो समय-समय पर अपने रहस्य पड़ोसियों पर धावे मारा करती थीं। अपोलोडोटस^१ से हमें पता लगता है कि, भारतीय युनानियों द्वारा भारत पर आक्रमण होने के पहले भी, वे अपने पड़ोसी बर्बर जातियों को रोकने के लिए उनपर आक्रमण किया करते थे। इस बात में वे अपने पड़ोसी हखामनियों के पीछे चलनेवाले थे। ये हखामनी उत्तर और दक्षिण में अपने राज्य की रक्षा के लिए पामीर और कैस्पियन समुद्र के बीच में रहनेवाले बर्बरों को अपने यश में रजते थे। पर यह बन्दोबस्त बहुत दिनों तक शकों, तुषारों, हूणों, श्वेतहूणों और मंगोलों के रोकने में समर्थ नहीं हुआ। इन बर्बर-जातियों के शिक्रे पाये गये हैं, लेकिन, उनके इतिहास के लिए हमें चीनी इतिहास का सहारा लेना पड़ता है।

भारतीय साहित्य में शक और पहलवों के नाम साथ-साथ आते हैं; क्योंकि उनके देश सटे थे और दोनों ही ईरानी नस्ल के थे, दोनों का धर्म भी एक ही था। ई० पू० १३५ के करीब, जब यू-ची शकों को बलख की ओर दबा रहे थे, वहाँ का राजा हेलिकोल (Helicole) जो पहलवों से तंग किया जा रहा था, अपने को बचाने के लिए वहाँ से हट गया। हटते हुए बलखी युनानियों ने अपने पीछे के हिन्दू-कुश-दर्रे को बन्द कर दिया और इस तरह वे कपिश और उत्तर-पश्चिमी भारत में एक सदी तक और बचे रह गये। इस दशा में आक्रमणकारियों को दक्षिण-पश्चिम का रास्ता पकड़कर ईरात की ओर जाना पड़ा जहाँ मिथ्रदाता द्वितीय (Mithradates II) की पहलव-सैनिकों से उनकी मुठभेड़ हो गई।

इस घटना के पहले का इतिहास जानने के लिए हमें यू-ची और शकों की गति-विधि पर नजर डालना आवश्यक है। यू-ची पहले गोबी के दक्षिणी-पश्चिमी भाग में कान्गू के दक्षिण-पश्चिम में रहते थे। ई० पू० दूसरी सदी के प्रथम पाद में, १७७-१७६ के बीच, उन्हें हूण राजा माओ-तुन से हार खानी पड़ी। हूणराज लाओ शांग के साथ (करीब १७४-१६० ई० पू०) लड़ाई में यू-चियों के राजा को अपनी जान भी गँवाना पड़ी। इस हार के कारण उन्हें अपनी मातृभूमि छोड़ देनी पड़ी। उनमें से कुछ तो एक दल में उत्तर-पूर्व की ओर रेफोरेन पर्वत (Richtofen Range) में चले गये और बाद में छोटे यू-ची कहलाये; पर यू-चियों का बड़ा दल पश्चिम की ओर बढ़ा और सई (शक) लोगों को तियेन-शान पर्वत के उत्तर में

हराया। उनसे हारकर कुछ शक तो दक्षिण की ओर चले गये और बाकी यू-ची लोगों में मिल जुल गये। पर इस विजय के बाद ही ता-यू-ची लोगों को दू-सुन कबीले से हारकर फिर आगे बढ़ना पड़ा और इस तरह वे बतज के पास पहुँच गये और उसके मांरिक बन गये। पर शक दक्षिण की ओर बढ़ते गये और कि-पिन के मांरिक बन बैठे। बतज की विजय का समय ई० पू० १२६ माना जाता है।

ता-यू-ची के लोगों के आगे बढ़ने का यह आघात हमें चीनी तथा यूनानी ऐतिहासिकों से मिलता है; पर माघपर्व महाभारत के सभापर्व में कुछ ऐसे उल्लेख बच गये हैं जिनसे पता लगता है कि मध्य-एशिया की इस उषत-पुषत का भारतीयों की भी पता था। हर यहाँ पाठों का ध्यान अर्जुन की दिग्विजय की ओर दिलाना चाहते हैं।^१ यहाँ उस दिग्विजय के उस भाग से हमारा सम्बन्ध है जहाँ वह दरदों के साथ काम्बोजों को जीतकर^२ उत्तर की ओर बढ़ा और वहाँ बसनेवाले दस्तुओं को जीतने के बाद लोह, परमकाम्बोज, उत्तर के अथिक और परम-अथिकों के साथ उसका घोर युद्ध हुआ। परम-अथिकों को जीतने के बाद उसे आठ बड़िया घोड़े मिले। इसके बाद उसने दूरे-भरे श्वेतपर्वत में आकर विश्राम किया।^३

उपरोक्त वर्णनों में हमें अथिकों और परम-अथिकों की भौगोलिक स्थिति के बारे में अच्छा पता मिलता है। पर उसकी जानकारी के लिए हमें अर्जुन के रास्ते की जाँच करनी होगी। बाह्यीकों (म० भा० २।२३।२१) के जीतने के बाद उसने दरदों और काम्बोजों को जीता। यहाँ काम्बोजों से तात्पर्य ताजकिस्तान की गलना, बोलनेवाली जातियों से है, और जैसा कि हमने एक दूसरी जगह बताने का प्रयत्न किया है,^४ यहाँ काम्बोज से मतलब ताजकिस्तान से है। उसकी राजधानी दूरका थी जिसका पता हमें आधुनिक दरवाज से लगता है। चलते तक अर्जुन महापथ से गया होगा। बतज पार करके उसकी लड़ाई लोह, परम-काम्बोज, उत्तर-अथिक अथवा बड़े अथिक लोगों से हुई। श्री जयचन्द्र के अनुसार परम-काम्बोज जरफ़ाँ नदी के उद्गम पर रहनेवाले यागनोरी थे।^५ उन्हीं की खोजों के अनुसार, यहाँ अथिकों से तात्पर्य यू-ची लोगों से है।

अथिकों का यू-ची लोगों से सम्बन्ध दिखलाने का यह पहला प्रयत्न नहीं है। मध्य-एशिया के शकों की भाषा आर्या थी और इसलिए उसका सम्बन्ध अथिकों से माना जा सकता है, पर इस मत से पेलियो^६ सहमत नहीं है। किन्तु हम आगे चलकर देखेंगे कि अथिक से आर्यों की व्युत्पत्ति यों ही नहीं डाँती जा सकती।

१ जे० ई० फान लायसन, व लवू (Van Lohuz'en-de Leew), दि 'सीदियन पीरियड', पृ० ३३, लाइडेन, १८९३

२ महाभारत, २।२३।२१

३ म० भा० २।२४।२२-२३

४ मोतीचन्द्र, जियोग्राफिकल ऐण्ड ऐकनामिक स्टडीज इन महाभारत : उपायनपर्व, पृ० ४० से

५ जयचन्द्र, भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० ११३, वि० सं० १९८०

६ जूनांज आसियातीक, १८३४, पृ० २३

अपोतोडोटस के अनुसार (स्वा०, ११, ५११) बज्र जीनेवाली चार जातियाँ—
असाइ (Asii), पसियानि (Pasiani), तोचरि (Tochari) और सकरीली
(Sacarauli)—यों। द्रोगस के अनुसार (द्रोगस, प्रेलोग० ४१), वे जातियाँ केवल
असियानि (Asiani) और सकरीची (Sacaraucae) थीं। इन शब्दों में श्री दार्न^१
असियार्ड को ही यू-ची का बोधक मानते हैं। शिनी को^२ आर्यों लोगों का पता था। असियानों
असियार्ड का विशेषण रूप है।

इसी सम्बन्ध में हमें परमश्रष्टिकों का युनानी पसियानी से सम्बन्ध जोड़ना पड़ेगा।
जिस तरह से असियार्ड का रूप असियानी था, उसी तरह पसियानी पसाइ (Pasii) अबडा
पसि (Pasi) शब्द का विशेषण रूप होगा। युनानी प्रैगोलिर्की को प्रसाइ (Prasii)
नामक जाति का पता भी था।

अब हमें देखना चाहिए कि महाभारत में श्रष्टिकों के बारे में क्या कहा गया है।
आदिपर्व (म० भा०, १। ६१। ३०) में श्रष्टिकराज को चन्द्र और दिशि की सन्तान माना
गया है। यहाँ हम प्रो० शापान्तियेर^३ की उस राय की ओर ध्यान दिला देना चाहते हैं जिसके
अनुसार यू-ची शब्द का अनुवाद 'चन्द्र कबीले' से हो सकता है। उद्योगपर्व (म० भा०
५। ४। १५) में श्रष्टिकों का उल्लेख शक, पडुव और कम्बोजों के साथ हुआ है। यह उल्लेखनीय
बात है कि महाभारत के मण्डवारकर ओरियेण्टल रिसर्च इन्स्टिट्यूटवाले संस्करण में श्रष्टिक
शब्द का प्राकृत रूप इषिक और इसी दिया हुआ है। एक दूसरी जगह (म० भा० २। २४। २५)
परमार्थिक शब्द भी आया है। इससे पता चलता है कि महाभारत को संस्कृत श्रष्टिक, आर्थिक;
प्राकृत इषिक और इसीक तथा संस्कृत परमश्रष्टिक और परमार्थिक का पता था।

हम ऊपर देख आये हैं कि युनानियों को असियार्ड, असियार्नी तथा अरि का पता था।
अब इस बात के मान लेने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि प्राकृत इषिक-इषीक ही
युनानी असियार्ड के पर्याय हैं तथा युनानी अरि संस्कृत आर्थिक का रूप है। परम-श्रष्टिकों
का इसी तरह युनानी प्रसई और पसियानी से सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है। शायद ये
यू-चियों के कोई कबीले रहे होंगे। उत्तर-श्रष्टिक से चीनी इतिहास के ता-युची का भास
होता है।

सभापर्व (अध्याय ४७—४८) में शक, तुखार, कंक, चीन और हूण लोगों के
नाम उसी तरतीब से आये हैं जिस तरतीब से चीनी इतिहासकारों ने उनके नाम दिये हैं।
एक श्लोक (म० भा० २। ४७। १८) में चीन, हूण, शक और ओडू आये हैं, एक दूसरे
श्लोक (म० भा० २। ४७। २६) में शक, तुखार और कंक साथ आये हैं तथा एक तीसरे श्लोक,
(म० भा० २। ४८। १५) में शौथिक, तुखार और शक एक साथ आये हैं।

हम ऊपर देख आये हैं कि यू-ची लोगों से खदेड़े जाकर शक किस तरह आगे बढ़ते हुए
कि-पिन पहुँचे। इस कि-पिन की पहचान के बारे में काफी मतभेद है। श्री शावान के अनुसार, यह
रास्ता यामीन की घाटी होकर कश्मीर पहुँचता था। श्री स्टेन कोनो के अनुसार (सी० आर०

१ दार्न, वही पृ० २८४

२ दार्न, वही, पृ० २८५

३ जेड० वी० एम० जी०, ७१, १२१०, पृ० ३०५

आई ३, पृ० २३), कि-पिन प्रदेश का वहाँ रजात की घाटी से अभिमुख है जो पश्चिम की ओर अरबोशिया तक बड़ी हुई थी। जो भी हो, ऐसा लगता है कि यवनों द्वारा मजिरोब होने पर शकों ने हेरात का रास्ता पकड़ा। यही उस प्रदेश का प्राकृतिक मार्ग था और उसे छोड़कर इनका बोटोवाला रास्ता पकड़ना ठीक नहीं माना जा सकता।

तुलार भी, ऐसा लगता है, यु-ची की एक शाखा थे। कंको (म० भा० २। पृ० २६) को पहचान सुन्ध में रहनेवाले कांगबु लोगों से की जा सकती है। उनपर, दक्षिण में, यु-ची लोगों का और पूर्व में, हूणों का प्रभाव था।

तायुआन (फरगना) में बसे शकों और कंकों के स्थान निश्चित हो जाते हैं; क्योंकि उनके प्रदेश स्पष्ट थे। तुलार शायद उनके दक्षिण में थे। इन बातों से यह निश्चित हो जाता है कि, सभापर्व में शक, तुलार और कंकों को साथ रखने से, भारतीयों को ई० पू० सदी में उनके ठीक-ठीक स्थान का पता था।

इस ऊपर कह आये हैं कि किस तरह मित्रदात द्वितीय (ई० पू० १२३-२०) और शकों की युद्ध-प्रवृत्ति हो रही थी। गोकि वह शकों के रोकने में असमर्थ था, फिर भी, उसने उन्हें उत्तर-पूर्व में जाने से रोककर उन्हें दंग और सेरस्तान की तरफ जाने को मजबूर किया। वहीं से कन्धार के रास्ते शक सिन्ध में पहुँचे। सिन्धु नदी के रास्ते से ऊपर बढ़कर उन्होंने मन्धार और तक्षिला को जीत लिया और कुछ ही दिनों में भारत से यवनराज्य की उजाड़ फैला।

शकों का सेरस्तान से होकर भारत जाने का उल्लेख कालकाचार्य-कथानक में हुआ है। उस कहानी के अनुसार, उज्जैन के राजा गर्दभिल के अत्याचार से दुखी होकर कालकाचार्य शक-स्थान पहुँचे। सिन्ध से वे शकों के साथ सुराष्ट्र पहुँचे और वहाँ से उज्जैन जाकर गर्दभिल को हराया। भारतीय गणना के अनुसार, ई० पू० १७ में विक्रमादित्य ने शकों को उज्जैन से निकाल-बाहर किया।

पश्चिम-भारत के एक भाग पर, ई० पू० पहली सदी में, शायद महान का राज्य था जिसे गौतमीयवंश शासकों ने हराया। पर ई० पू० १७ के पहले शक मथुरा जीत चुके थे। मथुरा के शकों के उन्मूलन के दो कारण विदित होते हैं: एक तो, पूर्व से भारतीयों की चढ़ाई, और दूसरे, पश्चिम में पहलवों की चढ़ाई। वे उज्जैन तथा मथुरा से तथा कुछ दिनों बाद, सिन्ध से निकाल-बाहर कर दिये गये। पर यह कहना कठिन है कि ये घटनाएँ साथ ही घटीं अथवा अन्तर से।

जब भारत में उपर्युक्त घटनाएँ घट रही थीं, उस समय भी भारतीय यवन कपिश में थे जहाँ से सुम्भ और बलत्र की विजय कर लेने के बाद वे कुषाणों की निगाह में पड़े। यिकों से यह पता चलता है कि अन्तिम यवन हमिरोस और जुलुस कदाकिस ने मिलकर अपने समय-सम-शत्रु शक-पहलवों का सामना किया। इस असमान युद्ध में पहलवों ने दक्षिण के रास्ते से आकर यवनों का सतमा कर दिया। शकों के विरुद्ध युद्ध करते हुए मित्रदात द्वितीय ने अरबोशिया ले लिया। उसके सामन्त सीरेन ने रोमनों के साथ युद्ध में अपने मालिक को कैसा देखकर बगवत कर दी और स्वतन्त्र हो गया। पर कुछ ही दिनों बाद उस प्रदेश में एक दूसरे पहलव राजा बोनीजेस का उदय हुआ। उसने अरगन्दाब के रास्ते से कपिश पर चढ़ाई कर दी। यिकों और अभिलेखों से यह पता चलता है कि ईस्वी सदी के कुछ ही पहले हिन्दु कुश से मथुरा तक का प्रदेश

पहलव अथवा शक-पहलव राजाओं अथवा उनके क्षत्रियों के अधिकार में था। पेरिसस के अनुसार, शक-पहलवों का अधिकार सिन्धु नदी की घाटी और गुजरात के समुद्री किनारे पर भी था। ऐसा मान्य पड़ता है कि मउ (Maues) और वोनोनेज (Vonones) के देशों के एक होने के बाद गोनोफर्न (Gondopharnes) ने पहलवों की प्रभुता भारत के सीमान्तप्रदेश से लेकर ईरान, अफगानिस्तान और बालूचिस्तान तक बढ़ाई।

शक-पहलवों के बाद, उत्तर-पश्चिमी भारत कुषाणों के अधिकार में आ गया। उनकी पहचान चीनी इतिहास के ता-युची और भारतीय पुराणों के तुबारों से की जाती है। मध्य एशिया में घूमने के बाद वे तुलारिस्तान (सुम्भ का कुछ भाग और बलख) में बस गये। जैसा हम पहले देखा आये हैं, शापद तुबार अधिकों की एक शाखा थी जो शापद अधिकों के आगे बढ़ने पर नान-शान पर्वत में ठहर गई थी और जिन्हें चीनी इतिहासकार ता-युची के नाम से जानते थे।

कुषाणों की गति-विधि एक दूसरे शक-आक्रमण के रूप में थी। कुञ्जकदफिस द्वारा हिन्दूकुशवाला रास्ता पकड़ने के ये कारण हैं कि उस रास्ते में कोई रोक नहीं बच गई थी; यवनराज्य का पतन हो चुका था, केवल आपस में लड़ते-भिड़ते शक-पहलव-राज्य बच गये थे। कुञ्जकदफिस ने अपनी तलवार के जरिये या भारतीय शकों की मदद से कपिश और अरकोसिया को जीत लिया। अभिलेखों से पता चलता है कि ई० पू० २६ में कुञ्ज राजासमार या और ई० पू० ७ में वह पंजतर का मालिक था। इसके मानी यह हुए कि इस समय तक कुषाणों ने पहलवों से सिन्धु के पूर्व का प्रदेश ले लिया था। ईस्वी ७ में तक्षशिला उसके अधिकार में था। पर शापद कुषाणों की यह विजय पक्की नहीं थी; क्योंकि विम कदफिस के द्वारा पुनः भारत-विजय का उल्लेख चीनी इतिहास में मिलता है। शापद कुञ्ज का राज्यकाल ई० पू० २५ में आरम्भ हुआ और ईसवी सन् के प्रथम पाद में समाप्त हो गया।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, विम कदफिस ने जिसका मध्य एशिया में राज्य था, सिन्धु प्रदेश जीत लिया, और जैसा श्री टॉमस का कहना है,^२ उसके बाद मथुरा उसके अधिकार में आ गया। सिक्कों के आधार पर तो विम का राज्य शायद पाटलिपुत्र तक फैला हुआ था।

विम कदफिस के बाद कुषाणों का दूसरा वंश शुरू होता है। इस वंश का सबसे प्रतापशाली राजा कनिष्क था। कनिष्क केवल एक विजेता ही नहीं था, बौद्धधर्म का बहुत बड़ा सेवक भी था। उसके समय में बौद्धधर्म की जितनी उन्नति और प्रचार हुआ उतना अशोक के बाद और कभी नहीं हुआ। श्री गिरशमान^३ के अनुसार, उत्तरभारत में उसका राज्य पटना तक था। उज्जैन पर भी उसका अधिकार था। पश्चिमभारत में मरकच्छ तक उसका राज्य फैला था। उत्तर-पश्चिम में पंजाब और कापिशो उसके अधिकार में थे। हिन्दूकुश के उत्तर में भी उसका राज्य बहुत दूर तक फैला था।

तारीम की दून में भी कनिष्क ने अपना अधिकार जमाया, और यह जरूरी भी था; क्योंकि इसी प्रदेश में वे दोनों मार्ग थे जो चीन को पश्चिम से जोड़ते थे और जिनपर होकर व्यापारी और उपदेशक बराबर चला करते थे। इस मार्ग पर फैले हुए छोटे-छोटे राजा अपने को कभी

१ फॉन लवो, वही, पृ० ३६१ से

२ न्यू इंडियन एंटिकेरी, ७, नं० २-६, १९४४

३ आरगिरशमान, कुषाणस, पृ० १४२, पारी १९४६

संगठित नहीं कर पाते थे और आगम में बराबर लड़ा करते। कनिष्क के समय, इस प्रदेश पर दो शक्तियाँ अाज गगन छुई थीं—परिचम में कुषाण और पूर्व में चीन। उस समय चीन कमजोर पड़ रहा था और उसकी कमजोरी का लाभ उठाकर, कुषाण-सेना पूर्व में पानीर के दरों पर आ पहुँची। उस युग में कनिष्क ने वहाँ भारतीय उपनिवेश बसाये और इस तरह, भारत के सांस्कृतिक की हैसियत से, वे दोनों कौशिकधर्मों पर कब्जा कर बैठे।

अब यहाँ उस उत्तर प्रदेश की खोज करनी चाहिए जिसके लेने के लिए कनिष्क को बहुत-सी लड़ाईयाँ लड़नी पड़ीं। थो गिरानात की राय में यह प्रदेश मुख्य है जिसमें मध्यकाल तक कुषाणों की याद बच गई थी। काशगर से चलनेवाले घमरी कौशिकधर्म पर मुख्य तक कुषाणों ने बहुत-से बैसे ही उपनिवेश बनाये जैसे उन्होंने इन्डो-चीन रास्ते पर बनाये थे। मुख्य में बौद्धधर्म भी शायद कनिष्क के पहले ही पहुँच चुका था और उसका प्रचार मज्झी धर्म के साथ-ही-साथ फैल चुका हो रहा था। मुख्य लोगों की सहनशीलता का परिचय हमें इसी बात से मिलता है कि उनके प्रदेश में व्यापार करनेवालों में सभी धर्म के माननेवाले थे, जैसे जयुह्वी, बौद्ध, मनोवी, ईजरी इत्यादि। मज्झी धर्म के पालन करनेवालों की इस सहनशीलता से वनमें बौद्धधर्म का भी समन्वित हो गया।

मुख्य में बौद्धधर्म के प्रवेश होने पर वहाँ की कला पर भी भारतीय कला का बड़ा असर पड़ा। गिरमिज के पास स्तूपियों द्वारा खुदाई करने से कई बौद्ध विहारों का पता लगा है जिनमें से कुछ पर मनुष्य की कला का स्पष्ट प्रभाव देखा पड़ता है। वहाँ खरोष्ठी लिपि का भी काफी प्रचार था।

ऐसा माना जाता है कि बहुत कौशिकों के बाद कनिष्क ने इस प्रदेश को भी जीत लिया और एक ऐसे साम्राज्य का सांस्कृतिक बन बैठा जो उत्तर में पेशावर से लेकर गुजारा, समरकन्द और ताशकन्द तक फैला हुआ था। मर्या से खोतान और सरनाथ तक उसकी सीमा थी तथा वह धीरे धीरे से ओमान के समुद्र तक फैला हुआ था। इतना बड़ा साम्राज्य प्राचीन काल में फिर देखने को नहीं मिलता।

उस युग में कुषाणों और रोमन-साम्राज्य का सम्बन्ध काफी दृढ़ हुआ। कुषाणों के अधिकृत राजमार्गों से चलते हुए चीनी बर्तन, चीन के बने रेशमी कपड़े, हाथों-दोत, कीमती रत्न, मसाले तथा सूती कपड़े रोम को जाने लगे और रोमन-साम्राज्य का सोना कुषाण-साम्राज्य में आने लगा। कनिष्क के समय, भारत के धन का अदृशता इसी बात से लगाया जा सकता है कि कनिष्क से अधिक और किंगी के सोने के सिक्के आज दिन भी भारत में नहीं मिलते।

ऐसा लगता है कि कनिष्क की शाहीन प्रजा रोमन माल की भी शौकीन थी। बेराम में हैकें की खुदाई से यह पता लगता है कि रोम से भी कुछ माल भारत और चीन को जाता था। कुषाण-अधिकृत सड़कों से रोम को जानेवाले माल का इतना अधिक दाम था कि रोम ने चीन से सीधा सम्बन्ध करने का प्रयत्न किया। चीनी लोगों से ऐसा पता लगता है कि रोम के बारंसाह मारकस ऑलियस ने दूसरी सदी के अन्त में समुद्री मार्ग से एक दूत को चीन भेजा। हम आगे चलकर देखेंगे कि भारत और रोम का व्यापार इस कुषाण-युग में कितना उन्नत हो चुका था।

कुषाणों का उन्नत बहुत तरीक़ा से होता था। अपनी चढ़ाईयों में वे विजितों से लूटालन लेकर भी उन्हें छोड़ देते थे। गुन्दुकर के राज्य के वे स्वामी बने, पर ऐसा पता लगता है कि विजित राज्य के स्वयं और महास्वयं की उन्होंने ज्यों-का-त्यों रहने दिया, केवल राजा

का नाम बतल दिया। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, कुषाण इमेशा मध्य-एशिया की अपनी नीति में लगे रहते थे और इसीलिए, वे भारत का शासन क्षत्रपों और महाक्षत्रपों द्वारा ही कर सकते थे। कुषाण-युग में महापथ पर भी कुछ ढेर-ढेर हुए। इतिहास में सबसे पहली बार, गंगा से मध्य-एशिया तक जाता हुआ यह महापथ एक राजसत्ता के अधीन हो गया। इस महापथ का एक टुकड़ा कुषाणों की नई राजधानी पेशावर से होकर चौबूर जाता था। तक्षशिला में सरस्वत पर, कुषाणों ने एक नई नगरी बनाई, पर इससे महापथ के रुख में कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा। ऐसा मानने का कारण है कि कपिश, नगरहार और बल्लभ की स्थिति भी नहीं बदली थी। व्यापारिक दृष्टि से ये स्थान पहले से भी अधिक समृद्ध थे।

उत्तर-भारत पर कुषाणों का राज्य बहुत दिनों तक नहीं चल सका। दूसरी सदी का अन्त होते-होते पूर्वोत्तर-प्रदेश मघों के हाथ में चला गया, गोकि कुषाणों की एक शाखा—मुक्षण—बिहार और उड़ीसा में तीसरी सदी तक राज्य करती रही। मथुरा में कुषाणों की सत्ता खत्म होने का अर्थ शायद यथियों को है। इतना सब होते हुए भी कुषाणों के बंशधर पंजाब और अफगानिस्तान में बहुत दिनों तक राज्य करते रहे। पर इनका प्रभाव तीसरी सदी में ईरान के उन्नत होने पर समाप्त हो गया।

देश के इतिहास में इस राजनीतिक उद्यत-पुथल का प्रभाव भारत और दूसरे देशों के राजनीतिक और व्यापारिक सम्बन्ध पर नहीं पड़ा। अन्तर्राष्ट्रीय महापथों पर पहले की तरह ही व्यापार चलता रहा। समुद्री व्यापार में तो आशानीत उन्नति हुई और जैसा हम आगे चलकर देखेंगे, इस व्यापार के प्रभाव से यह देश घेरे से भर गया।

जिस समय उत्तर-भारत में ये राजनीतिक परिवर्तन हो रहे थे, उस समय दक्षिण-भारत में सातवाहन-वंश अपनी शक्ति बढ़ा रहा था। विमूक और उसके छोटे भाई कृष्ण के समय तक सातवाहन-राज्य नासिक तक फैल चुका था और इस तरह वे, जैसा कि अपने बाद के अभिलेखों में वे कहते हैं, वास्तव में दक्षिणाधिपति बन चुके थे।

नानापाट में सातवाहन-लेखों के मिलने से पता चलता है कि सातवाहनों के कब्जे में वह घट आ चुका था जिससे होकर जुन्नरवाली सड़क कोंकण की जाती थी। सातवाहनों की इस बढ़ती ने बहुत जल्दी ही उन्हें उज्जैन से पैठन तक की सड़क का मालिक बना दिया। शायद इसी साम्राज्यवाद को लेकर उनकी शुभों और बाद में, शकों से लड़ाई हुई। प्रतिष्ठान से इन जबरदस्त अनुगमियों की पहले उज्जैन और बाद में विदिशा में गतिविधि का इतिहास हमें लेखों और सिक्कों से मिलता है।

प्रतिष्ठान, जिसे पैठन कहते हैं, हैदराबाद-प्रदेश के औरंगाबाद जिले में गोदावरी नदी के उत्तरी किनारे पर था। साहित्य के अनुसार यहाँ सातकण्व और उनके पुत्र शक्ति कुमार राज करते थे। इन दोनों की पहचान नानापाट के अभिलेखों के राजा सातकण्व और शक्तिधी से की जाती है। प्रतिष्ठान से उज्जैन और विदिशा होकर पाटलिपुत्र के रास्ते को ताप्ती और नर्मदा पार करना पड़ता था। मालवा की विजय का अर्थ शायद अश्वमेध करनेवाले राजा सातकण्व को था।

उज्जयिनी के इतिहास के बारे में अधिक मसाला नहीं मिलता, गोकि यह कहा जा सकता है कि इसकी राजनीति विदिशा की राजनीति-जैसी ही रही होगी। करीब ई० पू० २० में विदिशा पर उस शुंग-वंश का अधिकार था जिसका पंजाब के यद्वराज से राजनीतिक सम्बन्ध

था। शायद इस समय उज्जयिनी में सातवाहनों का अधिकार था। पर, ई० पू० ७५ के लगभग, उज्जयिनी में शकों का आविर्भाव हुआ और ये शक विक्रमादित्य द्वारा ई० पू० ५७ में वहाँ से निकाले गये।

ईसा की दूसरी शरी का इतिहास तो शक-सातवाहनों की प्रतिद्वन्द्विता का है। गौतमी-पुत्र श्रीसातकर्णि [शायद १०६-१३० ई०] के राज्य में गुजरात, मालवा, बरार, उत्तरी कोंकण और नासिक के उत्तर, बम्बई-प्रदेश के कुछ भाग थे। गौतमीपुत्र की माता के नासिकवाले अभिलेख में असिक, असक, मुलक, सुरठ, कुडूर, अपरान्त, अनूप, विदग्भ, आकर, अवन्ति, विष्णु, अष्टवत, परिजात, सद्य, कण्हगिरि, मङ्ग, शिरिटन, मलय, महिद, सेटगिरि और चकोर के उल्लेख से पता लगता है कि मालवा से दक्षिण तक फैले हुए ये प्रदेश गौतमीपुत्र के अधीन थे। प्रायः ये सब प्रदेश नहपान के राज्य में थे, इसीलिए महाचक्रप रुददामा ने इन्हें वापस लौटाया। पूना और नासिक जिले भी गौतमीपुत्र के अधिकार में थे। लेख में आये हुए पर्वतों के नाम से सातवाहनों की दक्षिणपथ-अधिपति की पदवी सार्थक हो जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि गौतमीपुत्र के समय सातवाहनों की शक्ति अपनी चरमसीमा तक पहुँच गई थी। लेख में कहा गया है कि गौतमीपुत्र ने क्षत्रियों का गर्व कुचल डाला; शक, यवन और पल्लव उसके सामने झुक गये। खजरातों का उसने उन्मीलन करके सातवाहन-कुल का गौरव बढ़ाया।^१ इसमें कोई सन्देह नहीं कि लेखक के क्षत्रिय भारतीय राजे थे तथा शक, यवन और पल्लव, विदेशी शक, यूनानी और ईरानी थे। खजरात से यहाँ जहरात-वंश से मतलब है जिसमें भूमक और नहपान हुए।

वाशिष्ठीपुत्र पुलुमावि (करीब १३७-१५५ ई०) रुददामा का दामाद था; फिर भी, समुर ने दामाद को हराकर, उसके राज्य के कुछ अंश जन्त कर लिये। सातवाहन-कुल का एक दूसरा बड़ा राजा श्रीयज्ञ सातकर्णि हुआ। रेप्सन के अनुसार, चोलमंडल में मद्रास और कडुलोरे के बीच, उसके जहाज-छाप के सिक्के मिलते हैं।^२ श्री बी० बी० मीराशी ने^३ इस भाँति के एक पूरे सिक्के से यह साबित कर दिया है कि इन सिक्कों को निकालनेवाला श्रीयज्ञ सातकर्णि था। इस सिक्के के पट पर दो मस्तूलोंवाला एक जहाज है तथा उसके नीचे एक मछली और एक शंख से समुद्र का बोध होता है (प्ले० ३ क)। दोनों छोरों पर उभरा हुआ यह जहाज मस्तूलों, डोरियों और पालों से सुसज्जित दिखलाया गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह जहाज उस भारतीय व्यापार का प्रतीक है जो सातवाहनयुग में जोरों के साथ चल रहा था।

जिस समुद्री तट से जहाज-छाप के सिक्के पाये गये हैं वहाँ शायद दूसरी सदी के मध्य में पल्लव राज करते थे। उपयुक्त सिक्कों से यह पता लगता है कि यज्ञश्री सातकर्णि का राज थोड़े समय के लिए पल्लवों के प्रदेश पर हो चुका था। जहाज-छाप के सिक्कों का प्रभाव हम कुछ तथाकथित पल्लव और कुंवर सिक्कों पर भी देख सकते हैं। पर श्री मीराशीवाला सिक्का आन्ध्र देश में गुण्टूर जिले से मिला था जिससे पता चलता है कि जहाज-छाप के सिक्के उस प्रदेश

१ रेप्सन, क्वाएन्स ऑफ आन्ध्रज^{***}, पृ०, xxxiv से

२ रेप्सन, वही, पृ० xxxi—xxxii

३ मीराशी, जरनल न्यूमिसमेटिक सोसाइटी, ३, पृ० ४३-४४

में भी चलते थे। जोलमंडल में उपर्युक्त धिकों तथा रोमन धिकों के मिलने से इस बात का पता चलता है कि उस समय भारत का रोम के साथ कितना गहरा व्यापार चलता था।

यहाँ हमें सातवाहनकाल के बाद के इतिहास से मतलब नहीं है; पर ऐसा पता लगता है कि श्रीवत्त सातकर्षि के बाद सातवाहन-साम्राज्य बँट गया। तीसरी सदी के मध्य तक तो उसका अन्त हो गया तथा उड़ी से माहुर के कर्दव, महाराष्ट्र के आभीर और आन्ध्रदेश के इक्ष्वाकुन निकले।

मुसुनूर जिले के पालनाड तालुक में कृष्णा नदी के दाहिने किनारे पर नागाजुनी कोण्ड की पहाड़ियों पर बहुत-से प्राचीन अवशेष पाये गये हैं जिनसे पूर्वी समुद्रतट पर इक्ष्वाकुन के दुधरी-तीसरी सदी के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। अभाम्यवश वहाँ से मिले अभिलेख तीन राजाओं यानी माधुरिपुत गिरि-विरपुरिवदात, उनके पिता वासिष्ठिपुत चांतमूल और वीरपुरिवदात के पुत्र एडुडुत चांतमूल के ही हैं। पर यहाँ एक बात पर ध्यान देना आवश्यक है कि अयोध्या के इक्ष्वाकुओं से सम्बन्ध जोड़ता हुआ एक राजवंश अपने स्थान से इतनी दूर आकर राज्य करता था। ऐसा पता चलता है कि आन्ध्रदेश के इन इक्ष्वाकुराजाओं की कुछ हस्ती थी; क्योंकि उनके विवाह-सम्बन्ध उत्तर कनारा के वनवास-राजकुल और उज्जयिनी के चन्द्रपकुल में हुए थे।^१ वे राजे सहिष्णु थे; क्योंकि उनके स्वयं ब्राह्मणधर्म के अनुयायी होते हुए भी उनके परो की स्त्रियाँ बौद्ध थीं।

माधुरिपुत के चौदहवें वर्ष के एक लेख में सिंहलद्वीप के बौद्ध भिक्षुओं को एक चैत्य भेंट करने का उल्लेख है। लेख में यह भी कहा गया है कि सिंहल के इन बौद्ध भिक्षुओं ने कश्मीर, गंधार, चीन, चिलात (किरात), तोससि, अवरन्त (अपरान्त), वंग, बनवासी, यवन, दमिल, (प)लुर और तम्बपार्थी को बौद्धधर्म का अनुयायी बनाया। इनमें से कुछ देश, जैसे कश्मीर, गन्धार, बनवासी, अपरान्तक और योन तो तीसरी बौद्ध संघाति के बाद ही बौद्ध हो चुके थे। देशों की उपर्युक्त तालिका की तुलना हम मिल्हिन्दपरन की वही ही दो तालिकाओं से कर सकते हैं।^२

अभिलेख के चिलात—जिनका उल्लेख पेरिप्लस के लेखक और टाकमी ने किया है—पेरिप्लस के अनुसार, उत्तर के वाली थे। टाकमी उन्हें बंगाल की खाड़ी पर बताता है। महाभारत के अनुसार (म० भा० २।४६।८), उनका स्थान हिमालय की ढाल—समुद्र पर स्थित वारिष (बारीवाल) और ब्रह्मपुत्र—बतलाया गया है। इसके यह मानी हुए कि महाभारत में किरातों से तिब्बती-बर्मो जाति से मतलब है। वे खाल पहनते थे तथा कन्द और फल पर गुजारा करते थे। युधिष्ठिर को उन्होंने उपासन में चमड़े, सोना, रत्न, चन्दन, अगर और दुर्गे गन्ध-द्रव्य भेंट में दिये।

तोससि कलिंग यानी उबीसा में था और हाबीर्दों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। अपरान्त से कोंकण का, वंग से बंगाल का, बनवासी से उत्तर कनारा का, यवन से सिकन्दरिया का, (प)लुर से कलिंग की राजधानी दन्तपुर का और दमिल से तामिलनाड का मतलब है।

१ एपि० इ० डि०, २०, पृ० ६

२ मिल्हिन्दपरन, पृ० ३२० और ३३०

उपयुक्त अभिलेख में ही, कण्टकसेल के महाचैत्य के पूर्वी द्वार पर स्थित एक लेख का वर्णन है। निरनवपूरुष यह कण्टकसेल और डाल्मी का कण्टिकोस्सुल (Kantikossula) (७।१।१५) जिसका उल्लेख कृष्ण के मुहाने के ठीक बाद आता है, एक थे। डा० बेगेल ने इस कण्टकसेल को नागार्जुनी कोण्ड में रखा था; पर पूर्वी समुद्रतट पर कृष्ण जिले के वण्टासाल नामक गाँव से प्राप्त करीब ३० ई० के पाँच आकृत लेख कण्टकसेल की स्थिति पर अच्छा प्रकाश डालते हैं। एक लेख में महानाविक विषक का उल्लेख होने से यह बात साफ हो जाती है कि ईसा की प्रारम्भिक सदियों में वण्टासाल एक बन्दरगाह था। दूसरे लेख में तो वण्टासाल का प्राचीन नाम कण्टकसेल दिया हुआ है^१। उपर्युक्त बातों से कोई सन्देह नहीं रह जाता कि ईसा की प्रारम्भिक सदियों में कण्टकसेल कृष्ण नदी के दाहिने किनारे पर एक बड़ा बन्दरगाह था जिसका लौका के बन्दरों तथा दूसरे बन्दरों से व्यापारिक सम्बन्ध था।

डाल्मी के अनुसार (७।१।१६) पलुर एक एन्टेरेरियम (समुद्र-प्रस्थान) था जहाँ से सुवर्णद्वीप के लिए किनारा छोड़कर जहाजवाले समुद्र में चले जाते थे। पलुर की स्थिति की पहचान बिनाकोल और कलिंगपट्टनम् के पड़ोश में की जाती है।^२

इसमें सन्देह नहीं कि पूर्वी समुद्रतट पर बौद्धधर्म के ऐश्वर्य का कारण व्यापार था। बौद्धधर्म के अनुयायी अधिकतर व्यापारी थे और उन्हीं की मदद से अमरावती, नागार्जुनी कोण्ड, और जगन्मथेट के विशाल स्तूप खड़े हो सके। कृष्ण के निचले भाग में बौद्धधर्म के ह्रास का कारण देश में सब जगह बौद्धधर्म की अवनति तो या ही, साथ-ही-साथ, रोम के साथ व्यापार की कमी भी था, जिससे इस देश में सोना आना बन्द हो गया और बौद्ध व्यापारी दरिद्र हो गये।

जिस समय दक्षिण में सातवाहन-वंश अपनी शक्ति मजबूत कर रहा था उन्ही युग में गुजरात और काठियावाड़ पर क्षत्रपों का राज्य था। ये क्षत्रप पहले शाहानुशाही के प्रादेशिक थे। शायद उनकी मूलतः शक अवस्था पहेलान थी, पर बाद में तो वे पूरे हिन्दू हो चुके थे। अब यह प्रायः निश्चित हो चुका है कि काठियावाड़ के क्षत्रप कनिष्क और उसके वंश के प्रति वफादार थे। पर गुजरात, काठियावाड़ और मालवा पर शासन करनेवाले क्षत्रपों के दो कुल थे। चहूरात-कुल में मूलक हुए जिनके सिक्के गुजरात के समुद्रोत्त, काठियावाड़ और मालवा तक मिलते हैं। नह-पान ने जिनकी सातवाहन-कुल से हमेशा प्रतिस्पर्धा रहती थी और जिनका उल्लेख जैन-ग्रन्थों में हुआ है, शायद ११६-१२४ ई० तक राज किया, गोकि उनके समय पर ऐतिहासिकों में काफी बहस है। शायद नहपान के अधिकार में गुजरात, काठियावाड़, उत्तर-कोंकण, नासिक और पूना के जिले, मालवा तथा राजस्थान के कुछ भाग थे। जैसा हम कह आये हैं, गौतमीपुत्र ने इन प्रदेशों में से कुछ पर कब्जा कर लिया था।

चट्टन उस राजकुल का संस्थापक था जिसने ३०४ ई० तक राज्य किया। चट्टन और चहूरात-वंशों के रिश्ते पर अनेक मत हैं। ऐसा पता चलता है कि गौतमीपुत्र सातकर्ण द्वारा चहूरातों के उन्मूलन के बाद, शक-शक्ति की श्रम से, चट्टन को बचे-खुचे सूबों का क्षत्रप नियुक्त

१. एंशेंट इंडिया, नं० ५ (जनवरी, १९०६), पृ० २३

२. बागाची, प्रीक्षार्थन पंड प्रीडुबोडियन, देखो पलुर पण्ड दंतपुर

किया गया और इससे आशा की गई कि वह विजित राज्य को वापस कर लेगा। चट्टन और उसके पुत्र जयदामा ने इसमें कितनी प्रगति की, इसका हमें पता नहीं है; पर १५० ई० के करीब, रुद्रदामा ने मालवा, काठियावाड़, उत्तरी गुजरात, कच्छ, सिन्ध, पश्चिमी राजस्थान के कुछ भाग और उत्तरी कोंकण पर अपना अधिकार जमा लिया था। उसने यौधेयों को जीता और सातकर्ण को दो बार हार दी। बाद के पश्चिमी क्षत्रप, जिनके नामों का पता हमें सिक्कों से चलता है, इतिहास में कोई विशेष महत्त्व नहीं रखते। ४०१ ई० के लगभग, चन्द्रगुप्त द्वितीय के राज्यकाल में, उनका प्रभाव मालवा और काठियावाड़ से समाप्त हो गया।

२

शकों का सिन्ध में प्रवेश, बाद में उनका पंजाब, मथुरा और उज्जैन तक फैलाव तथा उत्तर-भारत में कुषाण-राज्य की स्थापना—इन सब घटनाओं से इस देश के वासियों में एक राष्ट्रीय भावना का उदय हुआ जिसके प्रतीक दक्षिण के सातवाहन हो गये। दक्षिणापथ में शक-सातवाहन द्वन्द्व के यह मानी होता है कि कुषाण उस समय वहाँ घुस चुके थे। श्री० शिलवाँ लेवी ने कुषाणों के दक्षिण में घुसने के प्रश्न की काफी खोज-बीन की है।^१ इस खोज-बीन से से पता चलता है कि सामरिक महत्त्व के नगरों ने सातवाहनों की लड़ाई में खूब भाग लिया। पेरिसस और टालमी से भी इस प्रश्न पर प्रकाश पड़ता है।

पेरिसस (५०-५१) में दक्षिणवर्ध (Dakhinabades) अथवा दक्षिणापथ के सम्बन्ध में कुछ विवरण मिलता है। उसके अनुसार, बेरिगाजा (भरुकच्छ) से दक्षिण में बीस दिन के रास्ते पर पैठन और पूरव में दस दिन के रास्ते पर तगर था। इन नगरों के सिवाय, पेरिसस (५२) सूपर [सोपारा] और कल्लियेना (कल्याण) का उल्लेख करता है। कल्याण बड़े सारगन (Sarganes) के सामने तो खुता बन्दरगाह था, पर सन्दन (Sandanes) के राजा बनने पर वह बन्दरगाह यूनानी जहाजों के लिए बन्द कर दिया गया। जो जहाज वहाँ पहुँचते थे उन्हें हथियारबन्द रक्षकों के साथ भरुकच्छ भेज दिया जाता था।

कल्लियेना बम्बई के पास, उल्हास नदी पर, आधुनिक कल्याण है। कल्याण सहादि के पाद में बसा हुआ है और वहाँ से दो रास्ते, एक नासिक की ओर, दूसरा पूना की ओर जाते हैं। इस तरह से कल्याण, सातवाहन-साम्राज्य के पश्चिम की ओर, व्यापार के विकास का मुख्य केन्द्र था। पर, जैसा हम ऊपर देव चुके हैं, जैसे-जैसे क्षत्रात भड़ोच की ओर बढ़ रहे थे, वैसे-वैसे दक्षिणापथ के व्यापार को धक्का लग रहा था। पैठन से कल्याण तक का रास्ता पैठन और भड़ोच के पर्वतीय रास्ते से अस्सी मील कम है, फिर भी कल्याण की अनेका भड़ोचवाली सड़क से यात्रा करने में अधिक सद्बलियत थी। कल्याण आनेवाली सड़क किसी उपजाऊ प्रदेश से नहीं गुजरती थी। उसके विपरीत, भड़ोच से उज्जैन की सड़क नर्मदा की उपजाऊ घाटी से जाती थी। वहाँ से वही रास्ता पंजाब होकर काबुल पहुँचता था और आगे बढ़ता हुआ पश्चिम और मध्य-एशिया तक पहुँच जाता था।

१. एस. लेवी, कनिष्क ए सातवाहन....., जर्नाल आशियातीक, १९३६, जनवरी मार्च, पृ० ६१-१२१

कल्याण के व्यापारिक महत्त्व का पता हमें कन्हरी और जुन्नर की लेखों के अभिलेखों से मिलता है।^१ इन लेखों में कल्याण के व्यापारियों और कारीगरों के नाम आये हैं। कल्याण के घटते हुए व्यापार का पता हमें टालमी से लगता है जिसने कल्याण का नाम पश्चिमी समुद्रतट के बन्दरगाहों में नहीं लिया। टालमी के अनुसार, पश्चिमी समुद्रतट के बन्दरगाह इस तरतीब में पड़ते थे—सुपारा (Suppara), गोआरिस (Goaris), डूंगा (Dounga), बेंडा (Bendas), नरी का मुहाना और सेमीला (Semyla)। उपर्युक्त तालिका से यह पता चलता है कि डूंगा कल्याण की जगह बन गया था, लेकिन इसकी व्यापारिक महत्ता बहुत दिनों तक नहीं चल सकी; क्योंकि छठी सदी में कोसमौस इण्डिकोप्लेस्टस (Cosmos Indikopleustes) फिर से कल्याण का उल्लेख करते हुए कहता है कि वह भारत के छः बड़े बाजारों में एक था और वहाँ कौसे, काली लकड़ी और कपड़े का व्यापार होता था। श्री जॉन्सटन इस डूंगा को सालसेट के द्वीप में रखते हैं और उसकी पहचान बर्सेई के ठीक सामने डोंगरो से करते हैं।^२

श्री जॉन्सटन इस बात पर जोर देते हैं कि जिस तरह दूसरी सदी में कल्याण का नाम टालमी से गायब हो गया, उसी तरह उस काल के अभिलेखों में भी कल्याण की जगह धेनुकाकट अथवा धेनुकाकटक का नाम आने लगा। कार्ल के अभिलेखों से पता लगता है कि धेनुकाकटक के नागरिकों ने, जिनमें छः यवन थे, कार्ल में तेरह और सत्रह नं० के स्तम्भ भेंट किये। घरमुख का दान एक गन्धी (गान्धिक) ने किया और उसे एक बड़ई ने बनाया था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, यह ध्यान देने योग्य बात है कि इन लेखों में 'कल्याण' शब्द नहीं आता। इसके मानी यह हुए कि मनाही के कारण यहाँ का व्यापार उठकर धेनुकाकटक चला गया था। यवनों से यहाँ यूनानी व्यापारियों से अभिप्राय है जो भारत और रोमन-साम्राज्य के बीच का व्यापार चलाते थे। लेख में आया हुआ गान्धिक—शायद गन्धव्यों का, जिनकी माँग भारत के बाहर बहुत अधिक थी—एक बड़ा व्यापारी था। धेनुकाकटक का शैलारवाही के एक लेख में नाम आता है। कन्हरी^३ में भी उसका नाम केवल एक बार आया है जिसका अर्थ यह होता है कि उस समय यज्ञश्री द्वारा कौण्ड जीतने के कारण पुनः कल्याण की महत्ता बढ़ गई थी। कन्हरी के लेखों में कल्याण के उल्लेखों से कोई निष्कर्ष निकालना कठिन है, क्योंकि उनमें से तीन लेख^४ चतुर्षों की चर्चा के पहले के हैं, और तीन लेख उस समय के हैं जब कौण्ड चतुर्षों के हाथ से निकल चुका था, बाकी दो (नं० ६८६, १०१४) शक-राज के दोनों कालों के बीच के हैं। श्री जॉन्सटन का यह विचार है कि धेनुकाकटक की बड़ती तभी तक थी जबतक कि वह शकों के हाथ में था। सातवाहनों की कौण्ड-विजय के बाद ही कल्याण का व्यापार फिर से खुल गया।

पेरिप्लस और टालमी के युग में सोपारा के बन्दरगाह से विदेशों के साथ व्यापार चलता रहा, लेकिन धीरे-धीरे वह व्यापार कम होने लगा और अन्त में तो सोपारा बम्बई से ४० मील

१. ल्यूडर्स लिस्ट, नं० १८६, १८८, ११८, १००१, १०११ इत्यादि

२. जे० आर० ए० एस०, १२४१, पृ० २०६

३. ल्यूडर्स लिस्ट, नं० १०२०

४. ल्यूडर्स लिस्ट, नं० १००१, १०१३, और १०१२

उत्तर में एक नाममात्र का गाँव बच रहा। बड़े भिनी (मृत्यु ७८ ईसवी) ने इस बात पर गौर किया है कि मौउसी हत्ता का पता लगने से भारत और लालसागर के बीच के व्यापारी उसका उपयोग करने लगे थे। इसका नतीजा यह हुआ कि स्थायुष की खाड़ी (आधुनिक रासफर्तक) से चलनेवाले जहाज सीधे मालाबार के समुद्री तट में पहुँचने लगे और इसकी वजह से मुजिरिस के बन्दरगाह की इतनी महत्ता बढ़ी कि उसने दूसरे भारतीय बन्दरगाहों को मात कर दिया।

जैसा हमें पता चलता है, पहली सदी में जब पश्चिम-भारतीय बन्दरगाहों में भड़ोच का पहला स्थान था तब उसके लिए शकों और सातवाहनों में काफी लड़ाई-झगड़ा होता रहा। अपरान्त को जिसका भड़ोच एक भाग समझा जाता था, शायद नहपान ने जीता। बाद में गौतमीपुत्र शातकर्णि ने इसे वापस ले लिया। पर फिर हर्दामा ने दूसरी सदी के बीच में उसपर अपना अधिकार जमा लिया।

अपरान्त के लिए हुई इस लड़ाई पर टालमी बहुत-कुछ प्रकाश डालता है। नासिक का जिला भड़ोच और पैठन के बीच के रास्ते के दरों की रखवाली करता था। नहपान ने ४१ और ४६ वर्षों के बीच इसपर अपना दखल जमाया, लेकिन यह प्रदेश गौतमीपुत्र शातकर्णि के अठारहवें राज्यवर्ष में फिर सातवाहन-राज्य में आ गया और पुलुमाइवागिष्ठिपुत्र, जिसका उल्लेख टालमी (७१।८२) ने सिरि तुलामाय (Siri Ptolemaios) नाम से किया है, के राज्य में भी सातवाहन-साम्राज्य का एक भाग बना रहा^१।

टालमी नासिक को अपने अरिआके (Ariake) में, जो श्री पुलुमायि के राज्य का द्योतक था, नहीं गिनता; पर उसे लारिके (Larike) यानी लाट-लाटिक में गिनता है। पुलुमायि की राजधानी ओजेन (Ozene) यानी उज्जयिनी थी। टालमी उसके अधिकार में दो और जगहों को यानी तियागुर (Tiagoures) और ख्सेरोगेराह (Xerogerei) को रखता है। श्री लेवी ने तियागुर की पहचान चकोर से की है जिसका उल्लेख गौतमीपुत्र के अभिलेख में है और सैटगिरि ही टालमी का ख्सेरोगेराह है। सिरिटन ही टालमी का सिरितल (Sirital) है तथा मलय अक्रोन (Malay Akron) (७१।६४), जो भद्रकच्छ की खाड़ी पर स्थित बतलाया गया है, लेख का मतलब है।^२

यहाँ यह गौर करने की बात है कि लारिके की सीमा पूर्व में नासिक से शुरू होकर पश्चिम में भड़ोच तक जाती थी। इसके उत्तर-पश्चिम में दूसरे नगर पड़ते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि, जब टालमी को खबर देनेवाले दूसरी सदी के प्रारंभ में भारत में थे, उस समय तक गौतमीपुत्र चट्टन से नासिक वापस नहीं ले सके थे। खबरों को समात करने के बाद गौतमीपुत्र कुछ दिनों तक उज्जयिनी के भी मालिक बने रहे। यह सब प्रदेश पुनः हर्दामा के अधिकार में चला गया।

जैन-साहित्य में भड़ोच की लड़ाई के कुछ अवरोध बच गये हैं। आवश्यक चूँकि को एक कहानी में कहा गया है कि एक समय भद्रकच्छ में नहवाहण राज्य करता था और प्रतिष्ठान में शासिवाहन। इन दोनों के पास बड़ी सेनाएँ थीं। नहवाहण ने, जिसके पास बहुत पैसा था, एतान करा दिया था कि शासिवाहन की सेना के प्रत्येक सिपाही के सिर के लिए मैं एक लाख देने को तैयार हूँ। शासिवाहन के आदमी भी कभी-कभी नहवाहण के आश्रमियों को मार दिया करते थे

पर उन्हें कोई इनाम नहीं मिलता था। हर साल शालिवाहन नहवाहण के राज्य पर धावा बोलता था और हर साल यही घटना घटती थी। एक बार शालिवाहन के एक मन्त्री ने उसे सलाह दी कि वह धोखे से शत्रु को जीतने की तरीक़ीय काम में लावे। मन्त्री स्वयं गुप्त का भार लेकर भद्रकच्छ पहुँच गया। वहाँ एक मन्दिर में ठहरकर उसने खबर उड़ा दी कि शालिवाहन ने उसे देशनिकाला दे दिया है। नहवाहण उसकी ओर भुक्त गया और उसने अपने को सत्त बतारकर राजा को मन्दिर, स्तूप, तालाब इत्यादि बनवाने की सलाह दी जिससे उसकी सारी रकम खर्च हो गई। बाद में उसने शालिवाहन को खबर दी कि नहवाहण के पास अब इनाम देने की कुछ नहीं है। यह सुनकर शालिवाहन ने भद्रकच्छ पर चढ़ाई करके उसे जमीनदोज़ कर दिया।

उपयुक्त कहानी में जो कुछ भी तत्त्व हो, एक बात तो सही है कि नहपान ने मन्दिर इत्यादि बनवाये थे। उसके दामाद उपवदात^१ ने वर्णावा (आधुनिक बनावस नदी, पालनपुर), प्रभास, भद्रकच्छ, दशपुर, गोवर्धन, सोपारग इत्यादि में दान दिये थे। उसने मढ़ियाँ (ओवारक) बनवाई और भिक्षुओं की सेवा के लिए लेण और जलद्रोणियाँ (पोड़ी) बनवाई।

पेरिप्लस (४१) में शायद नहपान को नंबनोस (Nambanos) कहा गया है। बरके (Barake) यानी द्वारका के बाद भद्रकच्छ की खाड़ी का बाकी हिस्सा और अरियाके का भीतरी भाग नंबनोस के अधिकार में था।

इस तरह पेरिप्लस के समय में नहपान के राज में अरियाके का अधिक भाग था। और कच्छ के समुद्रतट के साथ सिन्ध का निचला भाग पहलवों के अधिकार में था।^२ राजधानी मिन्नगर (४१) थी, उज्जैन तो भीतरी देश की राजधानी थी (४८)। यूनानी साहित्य में अरियाके से पूरे उत्तर भारत का बोध नहीं होता था। टालमी (७१।१६) के अनुसार अरियाके में सुप्पर से सेमिल्ला (चौल) के दक्कनवाले बल पटन (Bale Patna) का समुद्र-तट था। सातवाहनों के राज्य में (७१।८२) बैठन, हिप्पोकूरा (Hippkoura), बालेकुरोस (Balekouroos) थे और वह उत्तर कनारा में बनवासी तक फैला हुआ था। इन सब को इकट्ठा करके पेरिप्लस का दखिनावदेस अथवा दक्षिणपथ बनता था।

टालमी ने समुद्रतट से भीतर तक फैली सिंध से भड़ोच तक की भूमि को, जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी, लारिके (Larike) कहा है। इस तरह अरियाके और लारिके में भेद दिखाकर टालमी ने यह बतलाया है कि उसके युग में पहले से राजनीतिक भूगोल में परिवर्तन हो गया था।

हम ऊपर पेरिप्लस द्वारा उल्लिखित सन्दनेस का नाम दे चुके हैं। सन्दनेस द्वारा भद्रकच्छ पर अधिकार होने से ही कल्याण का रोम-यूनानी-व्यापार रुक गया। श्री लेवी के मत से सन्दनेस संस्कृत चन्दन का रूप है।^३ चीनी-बौद्ध साहित्य में चान-तन (Tchan-tain) शब्द का प्रयोग कुछ राजाओं की पदवी के लिए हुआ है।^४ सूत्रालंकार में तो खास कनिष्क के लिए यह शब्द आया है। गन्वार और बलों में भी यह पदवी कुषाण-राजाओं के लिए थी।^५ खूब जाँच-पड़ताल

१. आवश्यक चूणि

२. ल्यूडसबिस्ट, १९३१, ११३२

३. वही, पृ० ७५-७६

४. वही, पृ० ८०

५. वही, पृ० ८२-८४

करके श्री लेवी इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि पेरिसस का सन्देश कुषाण-वंश का था और सम्भवतः वह कनिष्क था। यहाँ यह कह देना उपयुक्त होगा कि तारानाथ चन्दनपाल को ठीक कनिष्क के बाद रखता है। यह चन्दनपाल अपरांत पर राज्य करता था जहाँ सुपारा है। ठीक वहीं पर टालमी अरियाके का प्रधान नगर रखता है (७।१।६)। जैसा हम ऊपर देव आये हैं, महाभारत में ऋषिक (यु-ची) का सम्बन्ध चन्द्र से किया गया है। शायद कनिष्क के यु-ची होने से ही उसे यह पदवी मिली थी।

पर, लोगों की राय में, कनिष्क का राज्य तो सिन्धु नदी से बनारस तक फैला था, फिर उसका उल्लेख दक्षिण में कैसे हो सकता है। श्री लेवी ने इस बात को समाप्त सिद्ध कर दिया है कि पचीस और एक सौ तीस ईसवी के बीच में किसी समय यु-ची लोग दक्षिण में रहे होंगे। इस राय के समर्थन में उन्होंने यह दिखाया है कि पेरिसस के समय में भद्रकच्छ और कोंकण के समुद्रतट का मालिक एक चन्दन था। टालमी में भी हम एक सन्देश के अरियाके का पता सुपारा के पास पाते हैं। पेरिसस के सन्देश ने किसी सारंगेस (Saranges) को समुद्रतट से हटाया। अरियाके के बाद के समुद्र हिस्से का नाम एण्ड्रोनाइरेटोन (Andron Peiraton) था जो द्रविड़ देश तक फैला हुआ था। यहीं आन्ध्र के जट्टाकू रहते थे। बहुत दिनों बाद तक, अठारहवीं सदी में भी, यह आंध्र का अड्डा था जिससे अपने डाकू-जहाज भेजकर वे यूरोपियों को भागों को लूटते रहते थे।

इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि भद्रकच्छ और सुपारा पर चन्दन का अधिकार होने से उन बंदरों का व्यापार मालाबार में चला गया जिससे मुजसि के बन्दर की बढ़ती हुई। भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर राजनीतिक और आर्थिक उथल-पुथल से इस देश के लोगों के जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा। टालमी द्वारा दिये गये राजनीतिक विभागों से हम देख सकते हैं कि कैसे सिकन्दरिया में व्यापारी अपने व्यापार पर उन परिस्थितियों का प्रभाव देव रहे थे। श्री लेवी की राय है कि देश में इस राजनीतिक उथल-पुथल ने लोगों के हिन्दू और हिन्द-एशिया के जाने के मार्ग खोल दिये। जावानी अनुभूति के अनुसार वहाँ जानेवाले दो तरह के आदमी थे; गुजरात से बनिया आये तथा कलिंग के बन्दरगाहों से किंग।

टालमी (७।४।३) में आन्ध्र का उल्लेख केपआनड्राइ सीमुण्डौन (Cape Andrai Satimoundon) में आता है जो सिंहल के पश्चिमी किनारे पर था। टालमी (७।४।१) से हमें यह भी मातृम होता है कि प्राचीन समय में सिंहल का नाम सीमुण्डौन था, पर टालमी के काल में उसे सलिके (Salike) कहते थे। टालमी के इस विचार का आधार ग्लिनी है (६।२।४ से)। एनीयस प्लोकेमस (Annius Placcamus) नामक रोमनों की अधीनता में रहनेवाला एक करग्राहक जब लालसागर का चक्कर मार रहा था तो मौसमी हवा में पड़कर वह सिंहल पहुँच गया और वहाँ उससे प्लोडियस (ईसवी सन् ५१-५४) के पास दूतकार्य करने को कहा गया। यहाँ उसे पता लगा कि लंका की राजधानी पलैसिमण्डूस (Palaismundous) थी। सिमुण्डूस से यहाँ समुद्र का तात्पर्य है। इसी आधार पर आण्ड्रै सिमुण्डूस की खाड़ी से आन्ध्रों के खात का तात्पर्य था जिस तरह पलैसिमण्डूस से मलय समुद्र में घुसने के रास्ते से। आण्ड्रै सिमुण्डौन से हमें सातवाहनों की त्रिसमुद्राधिपति पदवी सामने आ जाती है।

हम ऊपर देल आये हैं कि किस तरह उत्तर, दक्षिण और पश्चिम में सातवाहन फैले हुए थे। पर अभाव्यवश हमें दूर दक्षिण के तामिल राज्यों का पता नहीं लगता गोकि कुछ प्राचीन कविताओं में प्राचीन राजाओं के उल्लेख हैं। बहुत प्राचीन काल में तामिलगम्, यानी तामिलों का राज्य, मद्रास प्रदेश के अधिक भाग में छाया हुआ था। इसकी सीमा उत्तर में समुद्रतट पर पुलीकट से तिरुपति तक, पूरब में बंगाल की खाड़ी तक, दक्षिण में कन्याकुमारी तक तथा पश्चिम में माही के कुछ दक्षिण बडगर के पास तक थी। उस काल में मालाबार भी तामिलगम् का अंग था। इस प्रदेश में पाण्ड्यों, चोलों और चेरों के राज्य थे। पाण्ड्यों का राज्य आधुनिक मदुरा और तिन्नवली के अधिक भागों में था। पहली सदी में, इन्हें दक्षिण त्रावनकोर भी आ जाता था। प्राचीन काल में इसकी राजधानी कोल्लकड में (तिन्नवली में ताम्रपर्णी नदी पर) थी। बाद में वह मदुरा चली आई। चोलों का प्रदेश पूर्वी समुद्रतट पर पेन्नार नदी से वेल्लार तक था तथा पश्चिम में कुर्म तक फैला हुआ था। इसकी राजधानी डरैयुर (प्राचीन त्रिचनापली) थी और इसके वश में कावेरी के उत्तर किनारे पर बसा हुआ कावेरीपट्टीनम् अथवा पुहार का बन्दरगाह था। चोलप्रदेश में कांची भी एक प्रसिद्ध नगर था। चेर अथवा केरलप्रदेश में आधुनिक त्रावनकोर, कोचीन और मद्रास का मालाबार जिला शामिल थे। कोंगु देश (कोर्बटूर जिला, सेतम जिला का दक्षिणी भाग) जो एक समय उससे अलग था, बाद में उसके साथ हो गया। उसकी राजधानी पहले बंजी (कोचीन के पास पेरियार नदी पर तिरु कल्लर) में थी, पर बाद में वह वंजिकलम् (पेरियार के मुहाने के पास) चली आई। इस प्रदेश में कुछ मशहूर व्यापारिक केन्द्र थे, जैसे तोंडई (किलंदी से ५ मील उत्तर), मुचिरि (पेरियार के मुहाने के पास), पलैयूर और वैक्करै (कोट्टायम् के पास)।

तामिल देश के प्राचीन इतिहास का ठीक पता नहीं चलता। शायद ईसवी सन् के आरम्भ में चोल देश का राजा पेरुनेरकिल्ली था और चेरराज नेडुञ्जेरल-आदन्। इन दोनों की मृत्यु लड़ते हुए हुई। पेरुनेरकिल्ली के पौत्र करिकाल के समय में चोलों की बड़ी उन्नति हुई। उसने चेर और पाण्ड्यों की संयुक्त सेना को एक साथ हराया। शायद उसने अपनी राजधानी कावेरीपट्टीनम् बनाई।

करिकाल की मृत्यु के बाद चोल-साम्राज्य को एक धक्का लगा। नेडुमुडकिल्ली ने एक बार पाण्ड्यों और केरलों को हराया; पर बाद में कावेरीपट्टीनम् के बाद से नष्ट होने और बगावतों से वह घबराने लगा। इन सब विपत्तियों से चेर सेंगुडुवन ने उसकी रक्षा की। चेर सेंगुडुवन के समय तक चेरों की प्रभुता कायम थी; पर पाण्ड्यों से हार जाने के बाद उनके बुरे दिन आ गये।

हमने ऊपर ई० पू० दूसरी सदी से ई० तीसरी सदी तक के भारत के इतिहास पर सरसरी तौर से नजर दौड़ाई है जिससे पता चलता है कि किस तरह व्यापारिक मार्गों और बन्दरगाहों के लिए लड़ाइयाँ होती रहीं। कुषाण-युग की एक विशेषता यह थी कि पेशावर से लेकर पाटलिपुत्र और शायद ताम्रलिप्ति तक का महापथ और मथुरा से उज्जैन और शायद भड़ोच तक के पथ उनके कब्जे में थे। पर उनके पतन के बाद मथुरा से बनारस तक का रास्ता तो शायद मगधों और यौबियों के अधिकार में आ गया, पर उसके बाद का रास्ता मुहंड़ों के हाथ में रहा। मथुरा-उज्जैन-भड़ोचवाली सड़क पश्चिमी चित्रणों के अधीन थी, पर उसके

लिए उनकी सातवाहनों के साथ कई लड़ाइयाँ हुईं। पश्चिमी समुद्रतट के बन्दरों पर जूत्रपों, सातवाहनों और चेरों के अधिकार थे तथा पूर्वी समुद्रतट के बन्दर कलिंगों, चोलों और पाण्ड्यों के अधिकार में थे। इस तरह से देश की पथपद्धति और बन्दरों पर बहुत-से राज्यों के अधिकार होने से देश के व्यापार पर क्या प्रभाव पड़ा, यह कहना मुश्किल है। पर इतना तो इतिहास हमें बताता है कि देश में राजनीतिक एकता न होते हुए भी उससे व्यापार पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। हम छठे अध्याय में देखेंगे कि रोमनों द्वारा लालसागर के मार्ग का उद्धार और मौसमी हवा का पता चलने से भारतीय माल के लिए एक नया बाजार खुल गया तथा भारतीय बन्दरगाहों का महत्त्व कई गुना अधिक बढ़ गया। विदेशी व्यापारी भारतीय माल-मसालों की खोज में यहाँ आने लगे तथा भारतीय व्यापारी और साहसिक सेना, रत्न, मसाले तथा सुगन्धित द्रव्यों की खोज में मलयेशिया की पहले से भी अधिक यात्रा करने लगे। बाद के अध्याय में हम इसी आवागमन की कहानी पढ़ेंगे।

छठा अध्याय

भारत का रोमन साम्राज्य के साथ व्यापार

ईसा की पहली दो सदियों में भारत और रोम के व्यापार की बढ़ती हुई। व्यापार की उस उन्नति का कारण रोमन साम्राज्य द्वारा शान्ति-स्थापन था जिससे खोजों और विकास के एक नये युग का प्रारम्भ हुआ। पश्चिम और निकट-पूर्व के प्रदेशों को एक साथ जोड़ने में एशिया-माइनर, अरब और उत्तर-पूर्व अफ्रिका के भौगोलिक पहलू भी ठीक-ठीक हमारे सामने आ गये। निकट-पूर्व के रोमन व्यापारियों ने अपनी शक्ति और पैसों के जोर से अपने व्यवसाय को काफी उन्नति की। इतना सब होते हुए भी यह अजीब बात है कि रोमन और भारतीय, व्यापार में, यदा-कदा ही एक दूसरे से मिलते थे। उनके व्यापार के बिचवाई सिकन्दरिया के यूनानी, शामी यहूदी, अर्मीनी अरब, अक्कुमी (Axumites), सोमाली तथा पूर्व को जानेवाले स्थलपथ के अधिकारी पहलेव थे।

एशिया-माइनर और अरब-यूरोप, अफ्रिका और एशिया की भूमि की कमर कड़े जा सकते हैं जिनसे इटली और भारत के समुद्रतट समान दूरी पर स्थित हैं। भूमध्यसागर और हिन्दमहासागर, फारस की खाड़ी और लालसागर की वजह से, एक दूसरे के पास आ जाते हैं। लालसागर भूमध्यसागर के सबसे पास है और इसी कारण भारत के साथ व्यापार का यह एक खास रास्ता बन गया।

एशिया-माइनर और अरब, स्थलमार्गों से भी, भूमध्यसागर और भारत का सम्बन्ध जोड़ते थे। इसी प्रदेश में पश्चिम को जानेवाले भारतीय माल के लेनेवाले और देनेवाले तथा व्यापारी देखे जा सकते थे। इसी मार्ग पर बहुत-से नगरों की स्थापना हुई जो व्यापार से फले-फूले।

रोमन राज्य एशिया माइनर, शाम और मिस्र पर तो स्थापित हो चुका था; पर अरब उनके अधिकार में नहीं था और कोहकाफ के कबीले उनकी बात नहीं मानते थे। हम पाँचवें अध्याय में बता चुके हैं कि भारत में शक-सातवाहन और तामिलगम् के राजे स्थलपथ और बन्दरगाहों पर कैसे अपनी हुकूमत स्थिर किये हुए थे, पर इस राजनीतिक गड़बड़ी का भारत के विदेशी व्यापार पर बहुत कम असर पड़ा। व्यापार को उत्साह देने के लिए कनिष्क ने सोने के रोमन सिक्कों की तौल भारतीय सिक्कों के लिए अपना ली। यह आवश्यक था; क्योंकि रोमन सिक्का उस युग में अन्तरराष्ट्रीय सिक्का बन चुका था।

टालमी वंश के राज्यकाल में सिकन्दरिया यूरोप, एशिया और अफ्रिका के व्यापारियों का प्रधान बाजार बन गया। अगस्तस के काल में एक रास्ता, जहाँ तक हो सकता था, लालसागर को बचाता था और दूसरा उसकी मुसीबतों से बचता था। पहले रास्ते को पकड़ने के लिए नील के रास्ते व्यापारी केना (Kena) और केफ्त (Keft) पहुँचते थे। फिर केना के रास्ते वे मुसेल (Mussel) बन्दर (अयुशकर) और केफ्त के रास्ते बेरेनिके (Berenike)

पहुँचते थे जो उम्मेत केतेरु की खाड़ी के नीचे रासवेनास पर स्थित था। इस रास्ते पर यात्री रात में सफर करते थे। उनके आराम के लिए इन सड़कों पर चट्टियों, हथियारबन्द रत्नों तथा सरायों और धर्मशाळाओं का प्रबन्ध था।^१ ईसा की प्राथमिक सदियों में बेरनिकेवाले रास्ते का महत्त्व इसलिए और बढ़ गया कि जिस प्रदेश से सड़क गुजरती थी उसमें पन्ने की खदानें मिल गई थीं।

जहाज सिकन्दरिया से चतुर्दश दिनों में हेरूपोलिस (Heropolis) की खाड़ी (स्वेज की खाड़ी) पहुँचते थे जहाँ दूसरे टालमी ने अरिस्नो (Arisnoe) की नाँव डाली थी। वहाँ से वे बेरनिके और मुसेत के बन्दरगाह पहुँचते थे। मौसमी हवा का भेद न जानने से व्यापारी जहाज किनारे-किनारे चलकर कभी-कभी रासकर्तक को पार करके सिन्धु के मुहाने पर जा पहुँचते थे। रास्ते में वे अदुलिस (Adulis) (आधुनिक ज्यूता, मसावा) में अफ्रीकी माल के लिए ठहरते थे। फिर इसके बाद मुजा (Muza) (मोजा) के पूरव रुकते हुए वे ओसियेलिस (Oealis) (केला) पहुँचकर बाबेलमन्देब के डमरूमध्य से हिन्दुस्तान में पहुँच जाते थे। वहाँ अदन और सोकोतरा के सुमाली बाजारों में भारतीय व्यापारियों से भेंट उनकी होती थी। आगे चतुर्दश वे हदमौत में भारत के साथ व्यापार करनेवाले केन (Cane) (हिस्नगोराब) और मोजा (खोररैरी) में ठहरते थे। इनके बाद वे सीवे सिन्धु नदी के बन्दरगाह, बार्बरिक पहुँचते थे, जहाँ उन्हें चीनी, तिब्बती और भारतीय माल मिलता था। फिर दक्खिन की ओर चलते हुए वे भड़ोच पहुँचते थे। वहाँ वे कात्तीकट से कन्याकुमारी तक फैले चेर-राज्य की सैर करते थे। रास्ते में मुजिरिस (केंगनोर) और नेलर्किडा (कोट्टायम) पड़ते थे। इसके बाद मोतियों के लिए प्रसिद्ध पाण्ड्यदेश की तथा चोलमण्डल की वे सैर करते थे।^२

भारतीय व्यापार में यमनी, नवाती तथा हिमरायती लोगों का भी हिस्सा था और इसलिए वे रोम के साथ भारत के सीवे व्यापार के विरोधी थे। सोमाली समुद्रतट के अरब-अफ्रिकियों ने इस युग में हब्शा का अन्जुमी साम्राज्य कायम किया। शायद उन्होंने भारतीयों को बाबेलमन्देब में ओसिलिस के आगे न बढ़ने के लिए मना लिया। हब्शा से सिकन्दरिया तक एक स्थलमार्ग चलने पर भी अन्जुमी यूनानियों से अयूलिस (सोमाली बाजारों और सोकातरा) में मिलना पसन्द करते थे। इस प्रदेश में यूनानी, अरब और भारतीय रहते थे और भारत से आने-जानेवाले यात्री यहाँ ठहरते थे।^३

शक्र-पहलवों की लड़ाइयों से स्थलमार्ग की कठिनाइयाँ बढ़ गईं। इससे बचने के लिए अगस्तस को समुद्री रास्तों की रक्षा का प्रबन्ध करना पड़ा। हिमरायती और नवाती इस प्रयत्न में बाधक सिद्ध हुए। पर मौसमी हवा का ज्ञान हो जाने पर इन सब प्रयत्नों की कोई आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

हम पहले अध्याय में अन्तिओख से बलख होकर भारत के पथ का उल्लेख कर चुके हैं। अगस्तस के युग में रोमन व्यापारी सेल्युकिया से क्टेसिफोन (Ctesiphon) पहुँचते

१. ई० एच बार्मिगटन, दि कामर्स विटवीन दि रोमन एम्पायर एण्ड इण्डिया, पृ० १—७, केंब्रिज, १९२८

२. वही, पृ० १—१०

३ वही, पृ० १३-१४

थे। फिर वे अवीरिया होकर कुईस्तान से मोडिया पहुँचते थे। वहाँ से बेहिस्तान होते हुए वे तेहरान के पास से कैस्पियन सागर का रास्ता पकड़ लेते थे। यहाँ से रास्ता जिर्म के पास हेकोटोमपाइलोस (Hacotompylos) होते हुए अगिओत्र मार्गियन (मर्व) पहुँचता था। यहाँ से रास्ते की दो शाखाएँ हो जाती थीं—एक तो हिन्दूकुश को दक्षिण में छोड़ती हुई चीनी कौशियपथ से जा मिलती थी और दूसरी दक्षिण में भारत की ओर घूम जाती थी। इन दोनों रास्तों का उपयोग, खास रोम के व्यापारी कम करते थे। फ़िनी और टास्मी के अनुसार मर्व से पुरब का रास्ता सपरकन्द होते हुए बंजु को पार करता था। एक दूसरा रास्ता मर्व से बलख जाता था और वहाँ से ताशकुरगन पहुँचता था जहाँ भारत, बंजु के कांटे, खेतन और यारकन्द के रास्ते मिलते थे। यहाँ से यारकन्द के कांटे से होता हुआ रास्ता सिंगानद तक चला जाता था। यह पुरा रास्ता चार सौ पड़ावों में बँटा गया था।

बलख से हिन्दुस्तान आने के लिए हिन्दूकुश पार करना पड़ता था। वहाँ से रास्ता काबुल, पेशावर होते हुए तक्षिला, मथुरा और पाण्डिपुत्र तक चला जाता था। पर जो व्यापारी केवल भारतीयों से ही व्यापार करते थे वे प्रधान रास्ते से मर्व के दक्षिण घूम जाते थे और आसान मंजिलों में हेरात पहुँच जाते थे और वहाँ से कन्धार। कन्धार से भारत के लिए तीन रास्ते थे—(१) दक्षिण-पूर्वी रास्ता, जो पहाड़ों को पार करता हुआ बोलन अथवा मूला दर्रे से भारत में उतरता था। (२) उत्तर-पूर्वी रास्ता, जो काबुल पहुँचकर कौशियपथ से मिल जाता था। (३) लावबेलावाला रास्ता, जो सड़क या नदी से सोनमियानी की खाड़ी पहुँचता था और वहाँ से जल अथवा स्थलमार्ग से भारत १।

इन स्थल-मार्गों से, कम-से-कम अगस्तस के समय में तो, कई भारतीय प्रणिधिवर्ग रोम पहुँचे। इन प्रणिधिवर्गों में कम-से-कम चार के उल्लेख लातिनी साहित्य में मिलते हैं। (१) पुर्तुदेश (फेलम और व्यास के बीच में) का प्रणिधिवर्ग अपने साथ रोम को सर्प, मोनाल, शेर और यूनानी भाषा में लिखा हुआ एक पत्र ले गया। (२) भड़ोच से आये प्रणिधिवर्ग के साथ जरमानोत्र नाम का एक बौद्ध भ्रमण था। (३) चेर-साम्राज्य का प्रणिधिवर्ग। [रोम में यह प्रसिद्ध था कि मुजिरिस (कैंगनोर) में अगस्तस के लिए एक मन्दिर बनवाया गया था।] (४) पांज्य-साम्राज्य का प्रणिधिवर्ग अपने साथ रत्न, मोती और हाथी लाया था।^२

इस तरह हमें पता चलता है कि अगस्तस के समय में भारत और रोम का व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ा। लेकिन व्यापार का पलड़ा आरम्भ से ही भारत के पक्ष में भारी रहा। इसी के फलस्वरूप भारत में रोमन राजाओं के बहुत-से सोने के सिक्के मिलते हैं।

समकालीन लातिनी साहित्य से हमें पता चलता है कि रोमन साम्राज्य के आरम्भ में भारतीय माल का दाम रोमन सिक्कों में चुकाया जाता था। हमें इस बात का पता है कि भारतीय सिंह, शेर, गैंडे, हाथी और सर्प रोम में कभी-कभी तमाशे के लिए लाये जाते थे। रोमन लोग भारतीय सुग्गे भी पालते थे। भारतीय हाथीदौत और कछुए की खपड़ी का व्यापार गहने बनाने के लिए होता था। रोमन स्त्रियाँ भारतीय और चीनी

मोती बड़े चाव से पहनती थीं। जड़ी-बूटियाँ और मसाले भी इस व्यापार के मुख्य अंग थे। काँती मिर्च, जामासी, दातचीनी, कुठ और लायची अधिकतर स्थलमार्ग द्वारा अरब यात्री लाते थे। दवाओं में उच्चरुक्त वस्तुओं के सिवाय सोंठ, गुग्गुलु, बायबिंडग, शहर और अगर होते थे। हमें इस बात का भी पता चलता है कि रोमन लोग भारतीय तिल के तेल का भी खाने में उपयोग करते थे। नील का, रंग की तरह, व्यवहार होता था। सूती कपड़े पहनने के काम में लाये जाते थे तथा आबूस की लकड़ी के साज-सामान बनते थे। चावल खाद्यान्न माना जाता था तथा भारतीय नौबू, आइ, और जर्नीलू खाने तथा औषध के काम में आते थे। बहुत तरह के कीमती और साधारण रत्न, जैसे हीरा, शेष (ओनिक्स), साडॉनिक्स, अक्रिक, सार्ड, लोहिांक, स्फटिक, जमुनिया, कोपल, वैडूर्य, नीलम, माणिक, पिरोजा, कोरल (गार्नेट) इत्यादि की रोम में बहुत माँग थी। इन सबका दाम रोम को सोने में चुकाना पड़ता था और इससे राष्ट्र के धन का बड़ा अपव्यय होता था। टाइबीरियस ने इस अन्वाधुन्य स्वर्च के रोकने का प्रयत्न भी किया था पर उसका कोई परिणाम नहीं निकला।^१

मौसमी हवा का पता चल जाने पर इटली से भारत तक की यात्रा करीब सोलह हफ्तों में या औसतन छः महीनों में होने लगी। यात्रा मुसेलहार्बर (रासअबूसमेर) से, करीब मकर-संक्रांति के समय, जब अफ्रीका और दक्षिणी अरब से अनुकूल उत्तर-पश्चिमी हवा चलती थी, आरम्भ होती थी। भारत और लंका की ओर जानेवाले यात्री जुलाई में अपनी यात्रा इसलिए आरम्भ करते थे कि लालसागर पहली सितम्बर के पहले पार कर जाने पर उन्हें अरब-समुद्र में जहाज के अनुकूल मौसमी हवा मिल जाती थी।

जिस जहाज से पेरिप्लस के लेखक ने भारत-यात्रा की वह यों ही साधारण-सा जहाज रहा होगा जिसमें शायद एक गज पर लगा ऊपरी तिकोना पाल लगता था। भारतीय समुद्र में समय की बहुत पाबन्दी करनी पड़ती थी; क्योंकि उस समय की जहाजरानी बहुत कुछ व्यापारी हवाओं पर अवलम्बित होती थी। जहाज के पाल हवा से भरकर उन्हें आगे चलाते थे। ऐसे समय पतवार लगाने की भी बहुत कम आवश्यकता पड़ती थी। पतवार आड़े और गलही के बीच में होती थी। कर्णधार गलही पर बने एक ऊँचे मचान पर बैठकर पतवार चलाता था। हिपालुस द्वारा मौसमी हवा की खोज से पतवार चलाने की क्रिया पर भी कुछ प्रभाव पड़ा। मौसमी हवा में हवा के रुब से कुछ हटकर पतवार चलाई जाती थी जिससे जहाज सीधा न चलकर दक्खिन की ओर मुड़ जाय। जहाज चलाने की यह क्रिया कुछ तो पतवार के घुमाव-फिराव से और कुछ पाल के हटाने-बढ़ाने से साध ली जाती थी।^२

रोमन व्यापारियों की यात्रा मायोस-होर्मोस (Myos Hormos) अथवा बेरिनिके (पेरिप्लस^३) से शुरू होती थी। यह बन्दर पहली सदी में मिस्र के पूर्वी व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। वहाँ से जहाज उत्तर-अफ्रीका के बर्बरदेश में पहुँचता था (पेरिप्लस ४)। फिर वहाँ से, वह जहाज अद्युलिस पहुँचता था जहाँ आजकल मलावा का बन्दरगाह है, जो हब्सा और सूडान के लिए एक प्राकृतिक बन्दरगाह का काम देता है। इस प्रदेश के भीतर कोलो (Coloe) नाम के

१. वही, पृ० ४०

२. डबल्यू एच० शॉफ०, दि पेरिप्लस ऑफ दि एरीथ्रियन सी, पृ० १२-१३, न्यूयार्क, १९१२

शहर में हाथीसँत का काफी व्यापार चलता था। यहाँ के बाद जहाज ओपियन (Opian) पत्थर की खाड़ी में पहुँचता था, जिसकी पहचान रासहन्किला के उत्तर हौकिल की खाड़ी से की जाती है। यह ओपिडीयन पत्थर भारत, इटली और पुर्तगाल में मिलता था और शीशा बनाने में उसका काफी उपयोग होता था।

उपयुक्त प्रदेशों में मिली चीम, अरसियोन (Arsione) के कपड़े, मानूजी किस्म के रंगीन कपड़े, दोहरी झालरवाली चीम की चादरें, बिना राक किया शीशा, अफीक अथवा लोहितांक के असली अथवा नकली प्याले जिसे मुरिया प्याले (Murrihina) कहते थे, लोहा, पीतल और तँबे की लचीली चादरें आती थीं। इनके अतिरिक्त कुल्हाड़ियाँ, तलवारें, बर्तन, भिक्के, थोड़ी मात्रा में शराब और जैतून का तेल भी आता था।

अरियाके अथवा खम्भात की खाड़ी के प्रदेश से लाख समुद्र के बन्दरों में भारतीय इस्पात, कपड़े, फटके, चमड़े के कोट तथा मलय कपड़े आते थे (पेरिप्लस, ६)।

हौकिल की खाड़ी से अरब की खात पूरब की ओर मुड़ जाती थी, और उसके तट पर अवलाइटिस (Avalites) पड़ता था, जिसकी पहचान बाबेलमन्देब से उन्नाडी मील दूर जैला से की जाती है। यहाँ तरह-तरह के फ्लिन्ट शीशे, थेबीज के खट्टे अंगूर का रस, बर्बरों के लिए एक खास तरह का कपड़ा, गेहूँ, शराब और कुछ रँगों का आयात होता था। यहाँ से ओसिलिस और सूजा को हाथीसँत, कछुए की खपड़ियाँ और थोड़ी-मात्रा में मुरा और लोहवान जाते थे।^१

अवलाइटिस से करीब अस्सी मील पर, (आधुनिक ब्रिटिश सुमालीलैण्ड में बर्बर बन्दरगाह) मालो से, जहाँ से भीतरी व्यापार के लिए आज दिन भी कारवाँ चलते हैं, जहाज से मुरा और लोहवान का निर्यात होता था।

मालो से चलकर जहाज मुग्डस पहुँचता था, जिसकी पहचान बन्दरहैब से की जाती है। मुग्डस से दो या तीन दिन की यात्रा के बाद जहाज मोसिल्लम (Mosyllum, रासहन्तारा) पहुँचता था। यहाँ दालचीनी का व्यापार यथेष्ट मात्रा में होता था। यहाँ के बाद छोटीनील (तोक्वीना) और केप एन्जिफेंट (रासफील) के बाद अकानी (Acannae) (बन्दर उजूल) पड़ता था। उसके बाद मसालों की खाड़ी पड़ती थी, जिसकी पहचान गार्दाफुई की खाड़ी से की जाती है। यहाँ लंगर डालने में भय रहता था और इसलिए जहाज तूफान में ताबी (Tabae) (रास चेनारीफ) के अन्दर घुस जाते थे। यहाँ से चलकर जहाज पनाथ्रो (रासवेन्ना) पहुँचता था जहाँ उसकी दक्षिण-पश्चिमी मौसमी हवा से रक्षा होती थी। यहाँ के बाद ओपोन (रास हाहून) आता था, जो गार्दाफुई से नब्बे मील नीचे है।

उपयुक्त बन्दरगाहों में अरियाके और बेरिगाजा (भडोच) से गेहूँ, चावल, घी, तिल का तेल, शराब, सूती कपड़े और फटके इत्यादि आते थे, (पेरिप्लस, १४)। यहाँ माल लानेवाले भारतीय जहाज, केप गार्दाफुई में माल का ढेर-ढेर करके, उनमें से कुछ तो किनारे-किनारे आगे बढ़ जाते थे और कुछ पश्चिम की ओर बढ़ जाते थे। पेरिप्लस (२५) के अनुसार, लालसागर के मुहाने पर ओसिलिस उनका अन्तिम लक्ष्य होता था; क्योंकि उसके बाद अरब उन्हें आगे नहीं बढ़ने देते थे। पर भारत और गार्दाफुई के बीच का अधिकतर व्यापार भारतीयों के हाथ में था।

कुछ व्यापार अरबों के हाथ में था और पहली सदी में मिस्र के यूनानी व्यापारियों ने भी इसमें कुछ हाथ बैठाया।^१

ओपोन के बाद, दक्षिण में, अजानिया (हाजिन समुद्रतट) के कगारे पड़ते थे। कगारों के बाद छोटे-छोटे बलुए मैशन (सेक अलतवील) और इनके बाद अजानिया के बलुए समुद्रतट आते थे। आगे सराफियन (मोगादिशु) और निकन (बरात्रा) पड़ते थे। अजानिया नाम आधुनिक जर्जवार में बच गया है जिसकी व्युत्पत्ति शायद जंग 'काला' और 'बार' समुद्री किनारा से है।^२ जैसा हम आगे चतकर देखेंगे, शायद इसी प्रदेश को संस्कृत में गंगण और अपरगंगण कहते थे। अजानिया के बाद पिरलाइ (Pyralai) के टापू (आधुनिक पत्ता, मन्दा और लामू) पड़ते थे। इनके पीछे जहाज चलने का एक सुरक्षित रास्ता था। फिर जहाज औसानो (Ausanitic) समुद्रतट पर, जिसका नाम दक्षिण-अरब के औसन जिले से निकला है, आता था। इसी समुद्रतट पर मेनुथियास (मोनीफियस) पड़ता था। वहाँ से जहाज रहफ्त (Rhapta), जिसकी पहचान आधुनिक किलवा से की जाती है, पहुँचता था। अरब जहाजियों को इस समुद्री किनारे का पूरा पता था।

ओपोन के बाद अधिकतर व्यापार मुजा के कच्चे में था, जिसका मसाला नाम का बन्दर लालसमुद्र पर था। भारतीय माल के लिए रोमन व्यापारी इस बन्दर में न जाकर अदन अथवा डायोस्कोर्डिया (Dioscordia) यानी सोकोत्रा जाते थे जहाँ उनकी यूनानी, भारतीय और अरब व्यापारियों से भेंट होती थी। मोचा में तो रोमन व्यापारी भारत से लौटते हुए केवल ठहर भर जाते थे। मोचा अरब व्यापारियों का, जो अपने जहाज भरकचू भेजते थे, मुख्य अड्डा था (पेरिप्लस २१)। यहाँ से स्वीट रश और बोल बाहर भेजे जाते थे।^३

मोचा के बाद बाबेलमन्देब का जलडमरूमध्य पार करके जहाज डायोडोरस (पेरिम टापू) पहुँचता था। इसके बाद ओपिलिस की खाड़ी (शेख सैयद के अन्तरीप के उत्तर एक खाड़ी) आती थी जो अरबिस्तान के किनारे से निकलती है और पेरिम से एक पतले रास्ते द्वारा अलग होती है। इस बन्दरगाह के आगे भारतीय नाविक नहीं बढ़ते थे। इसके बाद जहाज यूडेमन अरेबिया, यानी आधुनिक अदन पहुँचते थे। अदन का बन्दरगाह बहुत प्राचीन काल से पूर्वी व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। यहाँ से भूमध्यसागर के लिए माल जहाज पर चढ़ाया जाता था। अदन से शायद पूरे यमन का भी मतलब हो सकता है। अदन के बाद जहाज काना (हिस्न गोरब) पहुँचता था। हिपालुस द्वारा मौसमी हवा का पता लग जाने के बाद यात्री अक्सर काना छोड़ देते थे। वे यात्री जो जहाजरानी के मौसम के अन्त में सफ़र करते थे, मोजा में जाड़ा बिताते थे। अदन और मोजा लोबान के व्यापार के बड़े केन्द्र थे। लोबान यहाँ ह्रमौत से, जिसे लोबान का देश कहते थे, आता था। यहाँ तुरुष्क और धिक्कुआर के रस का भी व्यापार होता था।

काना के बाद सचलाइटिस (Sachalites) की खाड़ी पड़ती थी, जिसकी पहचान रास एलकलब और रास हसीक के बीच में पड़नेवाले साहिल से की जाती है। इसके बाद जहाज

१. वही, पृ० ८८-८९

२. वही, पृ० ९२

३. वही, पृ० ११३-११४

स्यामस (रासकर्तक) होते हुए डायोस कोरिडिया पहुँचता था, जिसकी पहचान आधुनिक सोकोत्रा से की जाती है। डायोसकोरिडिया नाम में धिद्वानों को मिस्री देवता होर या खोर का नाम मिलता है और बहुत सम्भव है कि सुपारकजातक का खुरमाली समुद्र यही हो। सोकोत्रा, अब्राहम के आस-पास के समय से ही, अन्तरराष्ट्रीय व्यापार का प्रधान केन्द्र था। यहाँ मिस्र के जहाजो अरब, अफ्रीका, खम्भात की खाड़ी और कच्छ के रन से आये हुए भारतीय व्यापारियों से मिलते थे।^१

सोकोत्रा के बाद जहाज ओमाना (कमर की खाड़ी), मोज्जा बन्दरगाह (खोरैरी), जेनोबिया के टारू (कुरिया सुरिया), सराफिस (मसिरा टारू) होते हुए मस्कत के उत्तर-पश्चिम काली (Calae) (दैमानिया) द्वीप पहुँचता था^२। काली का नाम आधुनिक कल्हात बन्दर में बच गया है। यहाँ से जहाज ओबोलोगस (अफ़रात पर ओबोल्ला का बन्दर), ओम्माना (शायद अलमुकन्बेर) होते हुए फारस की खाड़ी में पहुँचता था। फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों में भारत से तौबा और चन्दन, सागवान, शीशम तथा आबनूस की लकड़ियाँ आती थीं।

जहाज फारस की खाड़ी में होकर गेडोशिया की खाड़ी को, जो रास नू से केप मोज तक फैती हुई है, पार करके ओरी (Orae) अबवा सोनमियानी की खाड़ी पहुँचता था और यहाँ से होते हुए वह सिन्धु के बन्दरगाह बार्बरिकोन में जो आज सिन्ध की खोंच से नीचे दबा हुआ है, पहुँचता था।

भारतीय बन्दरगाहों के विषय में कुछ बतलाने के पहले हमें लालसमुद्र के व्यापार के बारे में कुछ जान लेना आवश्यक है। इस व्यापार की मुख्य बात यह थी कि अरब और सोमाली व्यापारी आपस में समझौता करके भारतीय जहाजों को लालसागर के अन्दर नहीं जाने देते थे, जिसके फलस्वरूप वे ओसिलिस के आगे नहीं बढ़ पाते थे। लेकिन जल्दी ही अरबों और सोमालियों को दृष्टी और रोमन व्यापारियों का मुकाबला करना पड़ा, जिसके फलस्वरूप लालसागर का रास्ता खुल गया और उस रास्ते होकर जल्दी ही भारतीय व्यापारी अयूतिस और सिकन्दरिया के बन्दरगाहों में सीधे पहुँचने लगे। कम-से-कम मिनिश्रप्शन से तो यही पता लगता है कि भारतीय नाविकों को सिकन्दरिया का पूरा पता था। रोम-साम्राज्य के यूनानी व्यापारी धीरे-धीरे भारतवर्ष की सीधी यात्रा करने लगे। उनके जहाज अरब के बन्दरगाहों पर कम रुकते थे। वे केवल ओसिलिस पर रुककर तथा अपने जहाजों में ताजा पानी भरकर सीधे भारत की ओर रवाना हो जाते थे। पीछे बहती हुई दक्षिणी-पश्चिमी मौसमी हवा उनके जहाजों को सीधे सिन्धु नदी के मुहाने तक पहुँचा देती थी। सिन्धु के सात मुहानों में, बीच के मुहाने पर, बार्बरिकोन का बन्दरगाह था। इस बन्दरगाह का नाम शायद उन बाबरियों की वजह से पड़ा जो अब भी सौराष्ट्र में पाये जाते हैं।

पेरिप्लस (३६) से पता चलता है कि बार्बरिकोन के बन्दरगाह में काफी तायदाद में महीने कपड़े, नकाशीदार चमड़ा, पुञ्जराज, तुष्क, लोबान, शीशे के बर्तन, चाँदी-सोने के बर्तन और

१. वही, पृ० १३३ से १३५

२. वही, पृ० १४७

थोड़ी मात्रा में शराब भी आती थी। इस बन्दरगाह से कुछ, गुगुन, लिसियम, नलद, पिरोजा, लाजवर्द, चीनी कपड़े, सूती कपड़े, रेशम और नील बाहर भेजे जाते थे।

बार्रिकोन से जहाज भरकच्छ की ओर चल पड़ते थे। भारत के उत्तर-पश्चिमी प्रान्त का नाम पेरिप्लस के अनुसार अरियाके और टॉल्मी के अनुसार लारिके था। हम पहले देख आये हैं कि इन प्रदेशों की राजनीतिक और भौगोलिक स्थिति क्या थी। कच्छ के रन को सिकन्दरिया के यवन ईरीनन (Eirionon) कहते थे जो संस्कृत ईरिण का रूपान्तर है। आज ही की तरह रन का पानी झिझला था और खिसकते बालू से जहाजरानी में बड़ी मुश्किलें पड़ती थीं। बरका की खाड़ी की विपत्तियों से बचने के लिए जहाज उसके बाहर-बाहर ही रहते थे। पर उसके भीतर चले जाने पर प्रचण्ड लहरों और भँवरों के थपेड़ में पड़कर वे नष्ट हो जाते थे। कुछ जगहों में नुकीले और पथरीले तल होने से या तो लंगर जमीन पकड़ ही नहीं सकते थे अथवा जमीन पकड़ लेने पर उनके खिसक जाने का भय बना रहता था (पेरिप्लस, ४०)। बेरीगाजा या भड़ोच तक जानेवाली खाड़ी बहुत पतली थी और उसके मुहाने पर पानी में छिया हुआ लम्बा पतला और पथरीला कगार था। किनारों की निचाई के होने से नदी में भी जहाज चेताने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता था (पेरिप्लस, ४३) इन सब कठिनाइयों से जहाजों की रक्षा करने के लिए ट्रापगा और कोटिम्बा की भौतिक बड़ी-बड़ी नावों में राज्य की ओर से नदी के मुहाने पर नाविक तैनात रहते थे। ये नाविक समुद्रतट के ऊपर चलकर काठियावाड़ तक पहुँच जाते थे और जहाजों के पथ-प्रदर्शक का काम देते थे। वे खाड़ी के मुहाने से ही जहाजों को पानी के अन्दर छिपे कगार से बचाकर निकाल ले जाते थे और उन्हें भरकच्छ की गोदियों तक पहुँचा देते थे। वे ज्वार के साथ-साथ जहाजों को बन्दर में ले जाते थे, जिससे वे भाटा के समय तक गोदियों और गतों में अपने लंगर डाल सकें। नदी में, भड़ोच तक के तीस मील के रास्ते में बहुत-से गहरे गर्त पड़ते थे (पेरिप्लस, ४४) गहरे ज्वार-भाटा की वजह से इस खाड़ी में पहले-पहल आनेवालों को जहाज चलाने में बड़ी सुविधाओं का सामना करना पड़ता था। ज्वार इतने भोंके से आता था कि उसमें फँसकर जहाज टेढ़े हो जाते थे और इस तरह जल में छिपे कगारों में फँसकर नष्ट हो जाते थे। छोटी-छोटी नावें तो एकदम उलट जाती थीं (पेरिप्लस, ४६)।

ऊपर कच्छ के रन तथा खम्भात और भड़ोच की खाड़ियों का जो वर्णन पेरिप्लस ने दिया है उसके सम्बन्ध में कुछ बातें जान लेना आवश्यक है। कच्छ के रन का बलुआ मैदान १४० मील लम्बा और साठ मील चौड़ा है। बरसात में नालियों से समुद्र भीतर आ जाता है और तीन फीट गहरे पानी की चादर छोड़ देता है। लेकिन रन के समतल होने से ऊँटों के कारवाँ हर मौसम में यात्रा कर सकते हैं। ये कारवाँ दिन की कड़ी धूप और मृगमरीचिका से बचने के लिए रात में यात्रा करते हैं। दिशा ज्ञान के लिए ये नक्षत्रों और कुतुबनुमा का सहारा लेते हैं। ऐतिहासिक काल में शायद कच्छ समुद्री व्यापार का एक मुख्य केन्द्र था। आज दिन भी कच्छ के दक्खिनी किनारे पर माण्डवी बन्दर का जंजीवार के साथ काफी व्यापार होता है।

भड़ोच की खाड़ी की प्राकृतिक बनावट के बारे में भी पेरिप्लस से कुछ पता लगता है। पापिका (Papica) के अन्तरीप की पहचान गोपीनाथ पाण्डे से की जाती है तथा बड्योन्स (Bacones) को पहचान नर्मदा के मुहाने के दूसरी ओर पीरम टाड़ से की जाती है जो

बाजू से ढका रहता है और जिसके चारों ओर पत्थरों की दीवार ६० या ७० फीट तक ऊपर चढ़ी हुई है।^१

भड़ोच और उज्जैन के बीच काफी व्यापारिक सम्बन्ध था (पेरिप्लस, ४८)। उज्जैन से भड़ोच को गुजरात में खपनेवाले हर तरह के माल और यूनानी व्यापारियों के काम के पदार्थ, जैसे, अफीक, लोहितांक, मलमल, मलय वस्त्र तथा अनेक प्रकार के साधारण कपड़े आते थे। उज्जैन तथा उत्तरभारत के पुष्करावती, कश्मीर, काबुल और मध्य एशिया से जटामांसी, कुण्ड और गुग्गुल आते थे।

भड़ोच के बन्दरगाह में विदेशों से भी तरह-तरह के माल उतरते थे। इनमें विशेष करके इटली, लायोडोस और अरब की कुछ शराब, ताँबा, रौंगा, और सीसा; सूँगा और पोखराज; एकविंशती चौड़े लंबे पटके, तुर्क, स्वीट्क्लोवर्स, फिलिप्प म्लास, संबिया, सुरमा, चाँदी-सोने के सिक्के, जिनको देशी सिक्कों में बदलने से फायदा होता था, तथा कुछ औसत कीमत के रोगन होते थे। राजा के लिए चाँदी के कीमती बर्तन, गानेवाले लड़के, महलों के लिए सुन्दर स्त्रियाँ, बढ़िया शराब, बारीक कपड़े और अच्छे-से-अच्छे रोगन आते थे (पेरिप्लस, ४९)।

भड़ोच से निर्यात होनेवाली वस्तुओं में जटामांसी, कुण्ड, गुग्गुल, हाथीदाँत, अफीक, लोहितांक, लिस्सियम, सब तरह के कपड़े, रेशमी कपड़े, मलय वस्त्र, सूत, बड़ी पीपल तथा दूसरी चीजें, जो भारत के भिन्न-भिन्न बाजारों से यहाँ पहुँचती थीं, मुख्य थीं (पेरिप्लस, ४९)।

सातवाहनों की राजधानी पैठन और दक्षिणपथ के प्रसिद्ध नगर तगर (तेर) से भड़ोच का गहरा व्यापारिक सम्बन्ध था। भड़ोच से पैठन की बीस दिनों की यात्रा थी और वहाँ से पूरब में तगर दस दिनों के रास्ते पर था। एक रास्ता मसुलीपटम से चलता था और दूसरा विन्नुकोंड से। ये दोनों रास्ते हैदराबाद के दक्खिन-पूरब में मिल जाते थे। यहाँ से रास्ता तेर, पैठन और दौलताबाद होते हुए मारकिंड (अजन्ता की पहाड़ियाँ) पहुँचता था। यहाँ से पश्चिमी घाट की कठिन यात्रा आरम्भ होती थी जो सौ मील चलकर भड़ोच में समाप्त होती थी सातवाहनों के साम्राज्य का यही प्रसिद्ध राजमार्ग था जो स्वभावतः कल्याण में समाप्त होता था।^२ जैसा हम ऊपर कह आये हैं, क्षत्रपों द्वारा कल्याण का अवरोध होने पर इस व्यापारिक मार्ग को घूमकर भड़ोच जाना पड़ा। पेरिप्लस (५१) के अनुसार, पैठन और तेर से बहुत बड़े पैमाने में लोहितांक आता था। तगर से साधारण कपड़े, सब तरह की मलमलें, मलय वस्त्र और बहुत तरह के माल भड़ोच पहुँचते थे।

वेरोगाजा के अतिरिक्त आत-पास में सुषारा (सोपारा) और कलिलयेन (कल्याण) व्यापारिक बन्दरगाह थे। पेरिप्लस के समय, कल्याण शायद कनिष्क के अधिकार में था और इसलिए वहाँ व्यापार करने की आज्ञा नहीं थी। यहाँ पर लंगर डालनेवाले यूनानी जहाजों को कभी-कभी गिफतार करके भड़ोच भेज दिया जाता था (पेरिप्लस, ५३)।

कलिलयेन के बाद सेमिल्ला (बम्बई से दक्खिन, चौल), मन्दगोरा (सावित्री नदी के मुहाने पर बानकोट), पातीपटमी (Palaeopotmae, आधुनिक डामोत), मेलिजिगारा (आधुनिक जयगढ़), तोगरम् (देवगढ़), ओरान्नबोआस (Aurannaboas, मालवन),

सेसिक्रिनी (Sesecriinae, शायद बेनगुर्ता की चट्टानें), एगिडाई (Aegidiidii, गोवा या अजोरी), केनिताई (Canaetae) द्वीप (आयस्टेर राक्स, कारवार के समुद्रीमार्ग के पश्चिम में द्वीप-समूह), चेरसोनेस (Chersonesus, कारवार) तथा श्वेत द्वीप (नित्रान या पीजन आइलैंड) पड़ते थे । इसके बाद ही डमरिका या तामिलकम् का पहला बन्दर नौरा (कनानोर या होणवार) पड़ता था । इसके बाद थिण्डिस (पोन्नानी) पड़ता था । मालाबार के प्रसिद्ध बन्दर मुजिरिस (Muziris) की पहचान केंगनोर से की जाती है और शायद नेलकिण्डा त्रावणकोर में कोटायम् के कहीं आस-पास था (पेरिप्लस, ५३) । मुजिरिस में अरबों और यूनानियों के माल से भरे जहाज पड़े रहते थे । यह बन्दर थिण्डिस (तुण्डि) से ५० मील तथा एक नदी के मुहाने से दो मील पर था । नेलकिण्डा मुजिरिस से ५० मील दूर पाण्ड्यों के राज में पड़ता था (पेरिप्लस, ५४) ।

नेलकिण्डा के बाद बकरे पड़ता था, जिसकी पहचान अलप्पी के पास पोरकड से की जाती है । यहाँ नेलकिण्डा से बाहर जानेवाले जहाज नदी में चचरी पड़ने से माल बेचने के लिए लंगर डालते थे (पेरिप्लस, ५५) ।

उपर्युक्त बन्दरगाहों में बड़े-बड़े जहाज काली मिर्च और तेजपात लेने आते थे । इनमें सिक्के, पोखराज, कुछ पतले कपड़े, सूँगे, गड़ला सीसा, ताँबा, राँगा, सीसा, थोड़ी मात्रा में शराब, संगरफ, संख्या और नाविकों के लिए गेहूँ आता था । उनमें से कोटोनारा (उत्तरी मालाबार) की गोतमिर्च, अच्छे किस्म के मोती, हाथीदाँत, रेशमी कपड़े, गंगाप्रदेश से जटामांसी, तेजपात, सब तरह के पारदर्शी रत्न, हीरे, नीतम तथा सुवर्णद्वीप और तामिलकम् से मिली कछुए की खपड़ियाँ बाहर भेजी जाती थीं । मिस्र से इस प्रदेश में यात्रा करने का समय जुलाई का महीना होता था (पेरिप्लस, ५६) ।

पेरिप्लस के पहले अदन और काना से भारत की यात्रा समुद्रतट पकड़कर चलनेवाले जहाजों से की जाती थी । हिपालस शायद पहला निर्यातक था, जिसने बन्दरगाहों की स्थिति और समुद्रों की जाँच-पड़ताल करके यह पता लगाया कि किस तरह से नविक समुद्र में अपना सीधा रास्ता निकाल सकते थे । इसीलिए दक्खिन-पश्चिमी हवा का नाम हिपालुस पड़ गया । उसी समय से काना और 'केप ऑफ स्पाइसेज' से डमरिका जानेवाले जहाजों का सुँह हवा से काफी हटाकर रखते थे । भड़ोच और सिन्ध जानेवाले जहाज किनारे से तीन दिन की दूरी पर चलते थे और फिर वहाँ से अनुकूल हवा के साथ समुद्र में काफी दूर जाकर सीधे तामिलकम् की ओर चले जाते थे (पेरिप्लस, ५७) ।

चेरबोथ्र, यानी केरल से बहुत काफी मिर्च आती थी । एक समय केरलकन्याकुमारी से कारवार पाइण्ट तक फैला हुआ था, लेकिन पेरिप्लस के समय में इसका उत्तरी भाग केरलों के हाथ से निकल चुका था और दक्षिणी भाग (दक्खिनी त्रावनकोर) पाण्ड्यों के हाथ में चला गया था । इसलिए तत्कालीन केरल मालाबार, कोचीन और उत्तरी त्रावनकोर तक ही सीमित रह गया था । थिण्डिस उसका उत्तरी बन्दरगाह था, लेकिन उसका सबसे प्रसिद्ध बन्दर मुजिरिस था । इस बन्दर में रोमन और अरब जहाज रोम का माल भारतीय माल से बदलने को लाते थे । और नकद रुपये देकर भी माल खरीदते थे । खिनी के अनुसार यहाँ पहले-पहल आनेवाले व्यापारी चेरो के साथ बिना बोले व्यापार करते थे । यहाँ अगस्टस के समारंभ में एक मन्दिर भी था । मुजिरिस के दक्खिन नेलकिण्डा के जहाज पोरकड में खड़े होते थे । पेरिप्लस के समय, नेलकिण्डा पाण्ड्यों

के अधिकार में था और इसे मानने का यह कारण है कि पाण्ड्यों को केरलों के प्रति मित्र के व्यवसाय के कारण ईर्ष्या थी। शिनी से यह पता चलता है कि जो यूनानी व्यापारी नेलकिण्डा पहुँचते थे उनसे पाण्ड्य यह कहते थे कि मुजिरिस में माल कम मिलता है।^१

पाण्ड्य-साम्राज्य उस समय मदुरा और तिन्नवेली तथा त्रावनकोर के भाग में स्थित था तथा मनार की खाड़ी के मोतियों के लिए, जिन्हें कोलकोइ (Colchoi) (कोरकै, ताम्रपर्णी नदी के मुहाने पर) के अपराधी समुद्र से निकालते थे, प्रसिद्ध था। ऐसा पता लगता है कि पेरिसस का लेखक नेलकिण्डा के आगे नहीं बढ़ा; क्योंकि उसके नेलकिण्डा के आगे के बन्दरों तथा दूसरी बातों के विवरण में गड़बड़ी है।

यहाँ के बाद पेरिप्लस पाइरोस पर्वत का उल्लेख करता है, जिसकी पहचान वरकल्ली समुद्रतट के बाद अजेंगो की चट्टानों से की जाती है। इसके बाद परालिया (कुमारी अन्तरीप से आदम के पुल तक) और बलीता (वरकल्लै का बन्दर) पड़ते थे। कन्याकुमारी उस समय भी तीर्थ था। वह सिद्ध पीठ माना जाता था और लोग वहाँ स्नान करके पवित्र जीवन व्यतीत करते थे (पेरिप्लस, ५८-५९)। तामिलकम् में सबसे बड़ा राज्य चोत्तों का था, जिसका विस्तार पेन्नार नदी और नेल्लोर से पुदुकोट्टै तथा दक्षिण में वैगई नदी तक पड़ता था। इसकी राजधानी अरगव (उरैयूर, जो सातवीं सदी में नष्ट हो गया) त्रिचनापल्ली का एक भाग था तथा अपनी बढ़िया मलमल और पाक जल-डमरूमध्य के मोतियों के लिए प्रसिद्ध था। चोलमण्डल का सबसे प्रसिद्ध बन्दर कावेरीपट्टीनम् अथवा पुहार (टालमी का कमर) कावेरी नदी की उत्तरी शाखा के मुहाने पर था। चोलमण्डल के दूसरे बन्दरों में पोडुके (पाण्डिचेरी) और सोपत्मा थे। पाण्डिचेरी के पास अरिकमैडु की खुदाई से पता चलता है कि ईसा की पहली सदी में वह एक फलता-फूलता बन्दर था^२। सोपत्मा की पहचान तामिल-साहित्य के सोपट्टिनम् से और आजकल मद्रास और पाण्डिचेरी के बीच मरकणम् सेकी जाती है^३। इन बन्दरगाहों में दो शहतीरों से बने संगर नाम के दुकड़ चलते थे। सुवर्णदीपी और गंगा के मुहाने के बीच चलनेवाले बड़े जहाजों का नाम कोलशिडया था^४।

उपर्युक्त संगर जहाज खोबले लट्ठों से बनी दो नावों को जोड़कर बनते थे। इनकी बगलियों में तख्ते और वंश (outrigger) होते थे। ये दोनों नावें एक चबूतरे से, जिसपर एक केबिन बना होता था, जुड़ी रहती थीं। मालाबार के समुद्रतट पर चलनेवाली एक तरह की मजबूत नावों को अब भी जंगर कहते हैं। शायद इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत संघाट से है (पेरिप्लस, ६०)। शायद इस शब्द का चीनी जंक से कुछ सम्बन्ध था।

कोलशिडया शायद मलयाली शब्द है जिसके मानी जहाज होते हैं। श्रीराजेन्द्र-लालमित्र^५ इस शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत कोलान्तर पोत से मानते हैं। शायद ये बड़े जहाज कोरकै से विदेशों को जाते थे।

चोलमण्डल में चलनेवाले जहाजों के भारीपन का पता हमें यज्ञश्री शातकर्ण के उन

१. बार्मिगटन, वही, पृ० २८-२९

२. ऐन्डोयट इण्डिया, १९४६, पृ० १२४

३. के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, दि चोलज. पृ० १, पृ० ३०, मद्रास, १९३२

४. शॉफ, वही, पृ० २४३

५. एडिक्टिविटीज ऑफ उर्दूसा, १, ११२

सिक्कों से चलता है जिनपर दो मस्तूल होते थे। इन जहाजों के नीचे एक शंख और मञ्जरी समुद्र के प्रतीक हैं। दोनों छोरों पर उभरा हुआ यह दो मस्तूलवाला जहाज डोरियों और मालों से सुसज्जित होता था^१ (आ० ३ क-ड)। इस तरह के सिक्के शायद कुछ बाद तक चलते रहे। इस जहाज का मुकाबला मद्रास की मौसाला नाव से किया जा सकता है। इस बड़े का पेंश नारियल के जट्टे से सिले तख्तों का होता है। पेंश कम-से-कम अतकतरे से पुता (caulked) और चिपटा होता है। यह जहाज अपने से अधिक बड़े जहाजों की अपेक्षा भी लहरों की चपेट सह सकता है।

पेरिप्लस को सिंहल का कम ज्ञान था। सिंहल का तत्कालीन नाम पालिसिमुण्ड था, पर प्राचीन काल में उसे ताप्रेवेन कहते थे। यहाँ से मोती, पारदर्शी रत्न, मलमल और कछुए की खपड़ियाँ बाहर जाती थीं (पेरिप्लस, ६१)। खिनी (६१२२, १२४) ने सिंहल की जहाजरानी का अच्छा वर्णन किया है। उसके अनुसार “सिंहल और भारत के बीच का समुद्र झिझला है, कहीं-कहीं तो उसकी गहराई १५ फुट से अधिक नहीं है, पर कहीं-कहीं खालें इतनी गहरी हैं कि उनकी तहों को लंगर नहीं पकड़ सकते। इसलिए उस समुद्र में चलनेवाले जहाजों में दोनों ओर गलदियाँ होती हैं जिनसे उनके बहुत ही सँकरी नदियों में घूमने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इनका वजन ३००० अम्फोरा होता है। समुद्रयात्रा करने में ताप्रेवेन के जहाजी नक्षत्रों की गति नहीं देखते, वास्तव में उन्हें ध्रुव नहीं दिखाई पड़ता। जहाजरानी के लिए वे अपने साथ कुछ पक्षी ले जाते हैं जिन्हें वे समय-समय पर उड़ा देते हैं और उनकी भूमि की ओर उड़ान के पीछे-पीछे चलकर किनारे पर पहुँचते हैं। उनकी जहाजरानी का समय केवल चार महीनों का होता है। वे मकरसंक्रांति के बाद सौ दिन तक, जब उनकी सरदी होती है, समुद्रयात्रा नहीं करना चाहते (दक्खिन-पक्खिमी हवा जून से अक्टूबर तक चलती है)।”

यह बात साफ है कि ईसा की प्रथम सदी में पुराने ढंग की ऐसी यात्रा कम लोग ही करते होंगे; क्योंकि संस्कृत-बौद्ध-साहित्य के अनुसार, जिसका समय ईसा की प्रथम सदियों में पड़ता है, निर्यात अपने जहाज नक्षत्रों के सहारे चलाते थे।

भारत के पूर्वी समुद्रतट पर चोलमण्डल के बाद, नगरों और बन्दरगाहों का उल्लेख पेरिप्लस (६२) में केवल सरसरी तौर से हुआ है। वह हमारा ध्यान मसालिया यानी मसुली-पट्टन की ओर खींचता है और हमें बताता है कि वहाँ की मलमल बड़ी मशहूर थी। दोसारेने (तोसलि) अर्थात् उड़ीसा हाथीदाँत के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।

पेरिप्लस (६३-६५) से गंगा के मुहाने और उसके बाद के प्रदेश के बारे में भी कुछ सूचना मिलती है। गंगा-प्रदेश से पेरिप्लस का मतलब शायद तामलुक और बंगाल के कुछ और जिलों से, खासकर हुगली से है। इस प्रदेश में भी चीन और हिमालय के तेजपात का, चीनी रेशम और मलमल का रोजगार होता था। यहाँ सुवर्णद्वीप से कछुए की खपड़ियाँ भी आती थीं। गंगा-प्रदेश के उत्तर में चीन और उसकी राजधानी थीनी (शायद नान-किङ्ग्) का उल्लेख है। यहाँ से जल और थल से रेशम, चीनी, कपड़ा और तेजपात का निर्यात होता था; पर चीनी व्यापारी इस देश में बहुत कम आते थे। उनकी जगह बेसाती, जो शायद किरात थे, साल में एक बार चीन से तेजपात लाते थे और उसे गंगटोक के पास चुपचाप बेच देते थे।

१. रेप्सन, कामन्स ऑफ आंध्रज, पृ० XXXIV से; मोराशी, जर्नल ऑफ दि न्यूमिसमेटिक सोसाइटी, ३, पृ० ४३-४४

ऊपर के विवरण से पता चलता है कि ईसा की पहली सदी में भारतीय जहाजरानी की काफी उन्नति हुई। बहुत प्राचीन काल से भारतीय जहाजों का सम्बन्ध मलय, पूर्वी अफ्रिका और फारस की खाड़ी से था, पर, अरबों की रोक-बाम से वे उसके आगे नहीं बढ़ते थे। पहली सदी में चीनों की आज्ञा से कुछ बड़े जहाज फारस की खाड़ी की ओर जाते थे। भारत के उत्तर-पश्चिमी समुद्रतट से जहाज उत्तर-पूर्वी अफ्रिका के साथ गार्दाफूई तक बराबर व्यापार करते थे; लेकिन इसके लिए भी अरब और अलुभिओं की आज्ञा लेनी पड़ती थी। इस सदी तक अरब पश्चिम के व्यापार के अधिकारी थे। इसलिए भारतीय व्यापारी ओलेलिस के आगे नहीं बढ़ते थे, नौकियाँ अलु भी उन्हें ओलेलिस के बन्दरगाह का उपयोग कर लेने देते थे। भारतीय समुद्रतट पर तो उन्हें व्यापार करने की पूरी स्वतंत्रता थी। बेरिगाजा से कुछ बड़े जहाज अपोलोनोस और ओम्माना जाते थे और कुछ सोमाली बन्दरगाहों और अद्यत्तिस तक पहुँच जाते थे। कोम्मा और ट्रुपगा जहाजों के जहाजी भण्डोच के ऊपर जाकर वहाँ से विदेशी जहाजों का पथ-प्रदर्शन करके उन्हें भण्डोच लाते थे। सिन्ध में बार्बरिकोन बन्दर में जहाज अपना माल नावों पर लादते थे। तामिल का माल विदेशों के लिए कोचीन के बन्दरगाहों से लादता था, पर कुछ यूनानी जहाज नेलकिण्डा तक पहुँच जाते थे। सिन्ध के समुद्र में तैरते इन के जहाज चलते थे जिनकी बजह से गंगा के मुहाने से सिन्ध तक की यात्रा में बड़ी कमी आ गई थी (हिनी, ६।=२)। चोलमण्डल में जहाज बड़ी कसरत से चलते थे। मालाबार के समुद्रतट से जहाज कमरा, पोडुचे और सोपत्मा के बन्दरगाहों में पहुँचते थे। चोलमण्डल के उत्तर में, सातवाहनों के राज्य में, दो मस्तूतवाले जहाज बनते थे। इसके उत्तर में तामलुक की जहाजरानी भी बहुत ज़ोरों पर थी।

उस युग के यूनानी जहाज काफी बड़े होते थे और इनके साथ सशस्त्र रक्षकों के दल भी होते थे। एक समय ऐसा आया कि भारतीय राज्यों ने न केवल सशस्त्र विदेशी जहाजों का भारत के समुद्रतट पर आना रोक दिया; बल्कि इस बात की आज्ञा भी जारी कर दी कि हर विदेशी व्यापारी केवल एक जहाज भारत भेज सकता है। इस आज्ञा के बाद किसी व्यापारी अपने जहाज और भी बड़े बनाने लगे और उनमें सात पाल लगाने लगे। उनके जहाजों पर, जिनका बजन दो सौ से तीन सौ टन तक होता था, काफी साथी भी सफर करते थे।

मित्र और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ने से भारत में बहुत-से रोमन नागरिक बसने लगे। पहली सदी के एक रोमन पैपिरस में इण्डिकन नामक एक स्त्री का पत्र है जो उसने अपनी सहेली को लिखा था। इण्डिकन शायद भारत में रहनेवाले किसी यूनानी की भारतीय पत्नी थी। तामिलकम् में रहनेवाले यूनानी व्यवसायी रोमन न होकर रोमन प्रजा थे। रोम और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध के बारे में हम इतना कह सकते हैं कि रोम और भारत के बीच का व्यापार यूनानी, शामी और यहूदी व्यापारी चलाते थे और उनमें से बहुत-से भारत में रहते भी थे। पासिडचेरी के पथ वीरमगटनम् की खुदाई से यह पता चलता है कि वहाँ रोमन व्यापारियों का बसा अड्डा था।

मौसमी हवा का पता लग जाने पर भारतीय जहाजरानी ने क्या उन्नति की—इसका ठीक पता नहीं चलता, पर इतना तो अवश्य हुआ कि भारतीय व्यापारी अफ्रिका

१. फाहलोस्ट्राटोस, अपोलोनियस ऑफ टायना, २, ३२

२. वार्मिगटन, वही, पृ० ११—१७

के पूर्वी समुद्र तट को दातचीनी भेजने के लिए बड़े जहाज बनाने लगे। रोमन-साम्राज्य स्थापित होने पर तो इस देश की व्यापारिक मनोवृत्ति में काफी अभिवृद्धि हुई। जैसा हम आगे चतुर्कर देखेंगे, इस युग के भारतीय साहित्य में भी चीन से सिकन्दरिया तक के प्रधान बन्दरगाहों और देशों के नाम आने लगे। मौसमी हवा का पता चल जाने से अरबों का व्यापारिक अधिकार दृढ़ गया और बहुत-से भारतीय भिन्न जाने लगे। वेस्पेसियन की गद्दी के समय डियन क्राइसोस्टोम ने सिकन्दरिया के बन्दर में दूसरे व्यापारियों के साथ भारतीय व्यापारियों को भी देखा। उसका यह भी कहना था कि उसने भारतीय व्यापारियों से भारत की अजीब कहानियाँ सुनी थीं और उन व्यापारियों ने उससे यह भी कहा था कि व्यापार के लिए जो थोड़े-से भारतीय भिन्न आते थे उन्हें उनके देशवासी नीची निगाह से देखते थे। लगता है कि इस युग में भी गौतम-धर्मसूत्र को, जिसके अनुसार समुद्र यात्रा अविहित है, माननेवाले इस देश में थे। एक लेख से, जो बेरेनिके के पास रेडिया में पान के मन्दिर से मिला है, पता चलता है कि भारत और सिकन्दरिया के बीच यात्रा करनेवाला एक सुबाहु नामक यात्री था। पर रोम में तो सिवा दूत, दास, महावत और बाजीगरों के दूसरे भारतीय कम जाते थे^१।

दूसरी सदी में भारतीय पथ-पद्धति और व्यापार में जो हेर-फेर हुआ उसका विवरण हमें टालमी के भूगोल से मिलता है। टालमी हमें उत्तर-पश्चिमी भारत में कुषाणों के अधिकृत प्रदेशों के नाम देता है। सिन्धु के ससमुच्चों का उल्लेख आता है। पाताल भी तब तक था। पर बर्बर यानी बात्रिकोन के बाजार, मोनोगोस्पोन में चला गया था। इसके बाद भीतरी शहरों का उल्लेख है। मथुरा और कश्मीर के अष्टगिरि नगरों का उल्लेख है। गंगा की घाटी का कम वर्णन है; क्योंकि वहाँ तक रोमन यात्री नहीं पहुँचे थे। टालमी द्वारा पश्चिमी समुद्र तट के वर्णन से हमें पता लगता है कि सेमिला (चौल) साधारण बाजार न रहकर भड़ोच की तरह पुष्टभेदन (एम्पोरियम) बन गया था। शायद इसका कारण रुई के व्यापार में बढ़ती थी। चष्टन का, उस समय, नौ भीतरी शहरों पर अधिकार था। राजधानी उज्जैन में थी और शायद वहाँ तक यूनानी व्यापारी पहुँच जाते थे। सात नगरों का एक दूसरा समूह जिसमें पेरिप्लस के पैठन और तगर भी हैं, पुलुमाथि द्वितीय (करीब १३८-१७० ई०) के अधिकार में था। नासिक के लेखों से पता चलता है कि रमनकों ने नासिक में गुरुआँ बनवाईं। यूनानी व्यापारी शायद साडोनिकस पर्वत (राजपिपला) से भी आगे गये होंगे। वे हीरे की खानों तक भी वे पहुँचे होंगे^२।

टालमी ने कोंकण को जल-डाकुओं का प्रदेश कहा है। उसमें के अनेक नगरों का उसने उल्लेख किया है। नित्र (पिजन आइलैण्ड) एक बड़ा बन्दर था। ऐसा पता चलता है कि जल-डाकुओं का उपद्रव, जो पेरिप्लस के समय में कल्याण से पोन्नानी नदी तक फैला हुआ था, टालमी के समय शायद रुक गया था। पर हम दृढ़ता के साथ ऐसा नहीं कह सकते।

टालमी तामिलकम् के राज्यों का भी काफी उल्लेख करता है। उससे हमें पता चलता है कि दूसरी सदी में भी मुजिरिस केरल का एक ही विहित बन्दर था। नेलकिण्डा और बकरेस अब विहित बन्दरगाह नहीं रह गये थे। टिरिडस तो समुद्र तट का एक शहर मात्र बच गया था। इस प्रदेश के चौदह शहरों में पुन्नाट (शायद सेरिंगापटम, अथवा कोट्टूर के पास कोई स्थान)

से वैदूर्य निकलता था। कहर जिसे एक समय वंजी अथवा कहरूर कहते थे और अब जो कोंगनोर के पास कहरूर कहा जाता है, टालमी के समय में चेरों की राजधानी थी। ऐसा मान्य पड़ता है कि कोयम्बटूर की वैदूर्य की खानें तामिलकम् के सब लोगों के लिए समान भाव से खुली थीं।^१

हम ऐसा कयास कर सकते हैं कि चेरों के हाथ में काली मिर्च के व्यापार का एक अधिकार था, पाण्ड्यों के हाथ में मोती का और चोलों के हाथ में वैदूर्य और मलमल का। टालमी के अनुसार, पाण्ड्यों का राज्य छोटा था और उसके समुद्रतट पर दो बन्दरगाह एलानकोरोस या एलानकोन (निवतन) और कोतकोड थे। पाण्ड्यों की राजधानी कोडियारा (कोडार) में थी। कन्याकुमारी भी उनके अधिकार में थी। राज्य के अन्दर सबसे बड़ा शहर मधुरा था^२।

टालमी के कन्याकुमारी और कलिंगिकोन की खाड़ी (कलिमेर की खाड़ी) के बाद भारत के पूर्वी समुद्रतट के यात्रा-विवरण से पता चलता है कि रोमन और यूनानी वहाँ खूब यात्रा करते थे और उस समय चोलों का पतन हो रहा था। चोलों की राजधानी ओरप्पूरा (उरैयूर) में थी। टालमी के अनुसार चोल फिरन्दर बन चुके थे। शायद इसका कारण पाण्ड्यों द्वारा उरैयूर का समुद्रतट और पाण्ड्य-जलदमरुमथ्य पर, जहाँ से मोती निकलते थे, कब्जा हो जाना था। टालमी के दूसरे चोल नगरों में निकामा (नेगापट्टम्), चावेरी (कावेरीपट्टीनम्), सुबुरा (कड्डलोर ?), पेडुचे (पाण्ड्यचेरी), मेलागि (कृष्णपट्टनम्) थे। सातवाहनों के समुद्रतट पर मैसलोस (मसुलीपटन), कण्टकोरुसूल (कण्टासाल) और अलोसिगी (कोरिंग ?) के बन्दर पड़ते थे। टालमी को आन्ध्र के बहुत-से शहरों का भी पता था।^३

गंगा की खात के बहुत-से शहरों का नाम भी टालमी ने दिया है; लेकिन उसमें पलुर (दंतपुर, कलिंग की राजधानी) और तिलोप्रामन नाम के दो शहर हैं, पतन एक भी नहीं। टालमी पलुर को गंगा की खात के मुहाने पर समुद्रप्रस्थानपट्टन (apheterium) के उत्तर में रखता है जहाँ से सुवर्णद्वीप केलिये जहाज समुद्र का किनारा छोड़कर गहरे समुद्र में चले जाते थे। श्री सिलवों लेवी के अनुसार^४ पलुर यानी दन्तपुर चिकाकोल और कलिंगपट्टनम् के पड़ोस में कहीं था। कृष्णा नदी के बाद के समुद्री तट का टालमी में उल्लेख नहीं है; क्योंकि मौसालिया (कृष्णा नदी) के मुहाने की छोड़ने के बाद जहाज सीधे उड़ीसा चले जाते थे।

अडमस नदी की पहचान सुवर्णरेखा अथवा ब्राह्मणी की संक साखा से की जाती है जहाँ मुगलकाल में भी हारे मिलते थे। सबरी (शायद सम्भलपुर) में भी हारे मिलते थे और जहाँ से तेजपात, नलद, मलमल, रेशमी कपड़े और मोती बाहर जाते थे। शायद यूनानी लोग व्यापार के लिए वहाँ जाते थे। टालमी इस प्रदेश के उन्नीस शहरों के नाम देता है जिनमें गंगी (तामलुक) और पालीचोय (पाटलिपुत्र) मुख्य थे।^५

१ वही, पृ० ११३

२ वही, पृ० ११४

३ वही, ११२—११३

४. ब्रायची, प्री आर्थन एंड प्री ड्वीडियन, पृ० १६३—१४

५. वार्मिगटन, वही, पृ० ११०

टालमी सिंहल का, जिसे वह सलोने कहता है, काफ़ी वर्णन देता है। उससे हमें पता चलता है कि वहाँ से चावल, सेंठ, शक्कर, वैश्य, नीलम और मोना-चौदी बाहर जाते थे। उस समय सिंहल में मोइउन (कोकिले ?) और तारकोरी (मनार) दो बड़े बन्दर थे। टालमी के पहले रोमन यात्री सिंहल बहुत कम जाते थे। टालमी के बाद रोम और भारत का व्यापारिक सम्बन्ध ढोला पड़ गया। इसलिए सिंहल और रोम का व्यापारिक सम्बन्ध सीधा नहीं रह गया। पर जैसा कि कासमस इण्डोकोलायस्टस से पता चलता है, छठीं सदी में सिंहल भारतीय समुद्री व्यापार का मुख्य केन्द्र बन गया था *।

भारत और रोम के साथ समुद्री व्यापार की कहानी पूरी करने के पहले हम उसके खतरों की ओर भी इशारा कर देना चाहते हैं। जहाजों की तुफानों का भय तो बना रहता ही था; पर समुद्री जानवरों का भय भी कम नहीं था। प्लिनी (६।२) ने भी इस ओर इशारा किया है। हिन्दमहासागर में सोर्ब-फिश और ईल का वर्णन है। ये विशालकाय जीव बहुधा बरसात में निकलते थे। सिकन्दर के जहाजों को भी इन भयंकर जीवों का सामना करना पड़ा था। चिल्लाने और शोर मचाने से भी ये जीव भागनेवाले नहीं थे। इसलिए इन्हें भगाने के लिए नाविकों की बल्लमों का सहारा लेना पड़ा। उस समय का विश्वास था कि इन समुद्री जीवों में कुछ के सिर घोड़े, गवे और बैल के सिर की तरह होते थे। हिन्दमहासागर विशालकाय कछुओं के लिए भी प्रसिद्ध था। भारतवासियों का भी समुद्र के इन अजीबकृत जानवरों की सत्ता पर पूरा विश्वास था; क्योंकि पहली सदी और इसके पहले के अरब-चित्रों में भी हम इन विचित्र प्रकार के जीवों का चित्रण देख सकते हैं। इन समुद्री अलंकारों से भी यह पता चलता है कि समुद्री व्यापारियों का प्राचीन स्त्यों के उठवाने में बड़ा हाथ था।

अपने भूगोल के सातवें खंड के दूसरे अध्याय में टालमी गंगा के परती ओर के देशों का वर्णन करता है। भारत के पूर्व में यात्रा करते समय, यूनानी व्यापारियों की इच्छा माल पैदा करनेवाले देशों के साथ सीधा सम्बन्ध स्थापित करने की होती थी। इसके अतिरिक्त मलय-प्रायद्वीप से आनेवाली कछुए की खपड़ियों की, जो इटावरी के मुहाने पर मिलती थीं, रोम में बड़ी माँग थी। टालमी के समय तक कुछ यूनानी व्यापारी वहाँ रहने लगे थे और उन्हीं के दिये समाचारों के आधार पर उसने वहाँ का भूगोल बनाया। इस प्रकार परि-गंग-प्रदेश की सीमा कश्मिरा (शायद कैडन) तक थी। यात्री पलुर से चलकर साडा (शायद सेंडोवे के उत्तर थाडे) पहुँचते थे और वहाँ से केप नेग्रेस होते हुए मलय-प्रदेश में पहुँच जाते थे। इस यात्रा का एक दूसरा भी मार्ग था, जिसके द्वारा यात्री मसुलीपटम् जिते के अलोसिंगी (कोरिंग) से कुछ ही दूर हटकर बंगाल की खाड़ी पार करके मलय पहुँच जाते थे। मलया के आगे अबी (कोचीन-चाइना के दक्षिणी तट के कुछ ही पास) पहुँचने तक सिकन्दर नामक यात्री की बीस दिन लगे और कुछ ही दिनों बाद वह कश्मिरा पहुँच गया। टालमी के पश्चात् भारत के भूगोल में इसलिए बड़ी गड़बड़ी पड़ गई है कि उसने, भूल से, स्पाम की खाड़ी के बाद का समुद्रतट दक्षिण की ओर समझ लिया और इसलिए चीन पश्चिम में आ गया। गंगा के सिंधे पूरब में बाराकपुरा का बाजार था जो शायद चरगाँव से दक्षिण-पूरव ६० मील पर पड़ता था। इसके बाद रजतभूमि पड़ती थी (आराकान और पेगू का कुछ भाग), जिसमें बेराबोन्न (न्या ? अबवा सेंडोवे) और

बेसिंगा (बसेन; पालि बेसुंग) थे। सुवर्णभूमि में दो बन्दर तकोता (स्याम में तकोपा) और सबंग (खुंग अथवा थातुंग) पड़ते थे। सबरकोय की खात मलक्का के डमरुमध्य के मुहाने से लेकर मल्लवान की खात का भाग था। पेरिप्लस खात की पहचान स्याम की खात से की जाती है। इसके बाद 'बृहत् खात' चीनी 'समुद्र' है। दक्षिण स्याम और कम्बुज में डाइवों का निवास था। थिफिनोवास्टों (बैरक के पास खुंगपासोई) नाम का एक बन्दर था।^१

दक्षिण से द्वीपान्तर के सीधे रास्ते पर यात्री निकोबार, निवास, सिबिर, नगाऊद्वीप और इबाडियु (यवद्वीप), जहाँ काफी सेना मिलता था और जिसकी राजधानी कानाम-आरगावर था, पहुँचते थे। यवद्वीप की पहचान सुमाना अथवा जावा से की जाती है।^२

तीसरी सदी में, हम रोम-साम्राज्य के पतन की कहानी पढ़ते हैं। इस साम्राज्य की पथ-पद्धति पर अनेक उपद्रव घट खड़े हुए। भारत का रोम से समुद्री रास्ता बंद हो गया और फिर से सब व्यापार अरब और अजुमिशों के हाथों में चला गया। ससानियों का फारस की खाड़ी तथा स्थल-मार्गों पर चलनेवाले रेशम के व्यापार पर पूरा अधिकार हो गया। बाद के लातिनी साहित्य में पुनः भारतवर्ष वास्तविकता से हटकर कथा-साहित्य के क्षेत्र में आ गया।

हम ऊपर रोम के साथ व्यापारिक सम्बन्ध की व्याख्या कर आये हैं। भारत से रोम और रोम से भारत कौन-कौन-से माल आते थे, इसका भी हमने कुछ प्रसंगवश वर्णन कर दिया है। इस व्यापार में जितने तरह के माल होते थे उनका सांगोपांग वर्णन शॉफ ने अपने 'दि पेरिप्लस आफ दि एरिथ्रियन सी' और वॉमिंगटन ने 'दि कामर्स बिट्वीन दि रोमन एम्पायर एण्ड इण्डिया' (पृ० १४५-२७२) में कर दिया है। इस बारे में भारतीय साहित्य प्रायः मौन है। इसलिए हमें लातिनी साहित्य से इस बात को जानना आवश्यक हो जाता है कि इस देश के आयात-निर्यात में कौन-कौन-से माल होते थे।

निर्यात

दास—भारतीय दास रोमन-साम्राज्य की स्थापना के पहले भी रोम पहुँचते थे। टाल्मी फिलाडेल्फोस के जुजुस में भारतीय दासों के प्रदर्शन का उल्लेख है। योन्जे-से दास सीकोतरा भी पहुँचते थे। रोम में कुछ भारतीय महावत और ज्योतिषी भी रहते थे।

पशु-पक्षी—भारतीय पशु-पक्षी स्थलमार्ग से रोम जाते थे। पर इनकी संख्या बहुत कम होती थी। रोमन लोग सिवा सुग्गों और बन्दरों के भारतीय पशु-पक्षी केवल प्रदर्शन के लिए मँगवाते थे। लेम्पोस्कस से मिली एक चौड़ी की वाती प्रो० रोस्तोवत्जेफ के अनुसार^३ दूसरी या तीसरी सदी की है (आ० ४)। इस वाली में भारतमाला एक भारतीय कुरसी पर, जिसके पाले द्वार्या दंत के हैं, बैठी हैं। उनका दाहिना हाथ कटक-मुद्रा में है, जिसका अर्थ स्वीकृति होता है, और उनके बायें हाथ में एक धनुष है। वे एक महीन मलमल की साड़ी पहने हैं और उनके बड़े से ईंस के दो टुकड़े बाहर निकले हैं। उनके चारो ओर भारतीय पशुपक्षी, यथा—एक सुग्गा, मुनात

^१ वही, पृ० १२७-१२८

^२ वही, पृ० १२८-१२९

^३ रोस्तोवत्जेफ, दि एकोनामिक हिस्ट्री ऑफ दि रोमन एम्पायर, प्रो० Xvii का का विवरण, आक्सफोर्ड, १९२६

(guinea-fowl) और दो कुत्ते (रोस्तोवोजेफ के अनुसार, बन्दर) हैं। उनके पैर के नीचे दो भारतीय पशु—एक पालतू शेर और एक चीता पड़े हैं। इस थाली से पता लगता है कि रोमनों को भारत की चीजों से कितना प्रेम था। भारतीय सिंह तथा लकड़ बग्वे पहलवदेश में जाते थे। भारतीय दूत कभी-कभी शेर भेंट करते थे।

रोम में शायद भारतीय शिकारी कुत्ते भी आते थे। हेरोडोटस के समय, एक ईरानी राजा ने अपने भारतीय कुत्तों के लिए चार गाँव की उपज अलग कर दी थी। ई० पू० तीसरी सदी के एक पेरिस से पता चलता है कि जेनन नाम के एक यूनानी ने अपने भारतीय कुत्ते की मृत्यु पर दो कविताएँ लिखी थीं जिसने अपने मालिक को जान एक जंगली सूअर से बचाई थी। केक्य देश के महल के कुत्तों का वर्णन रामायण में है। गैंडे और हाथी भी भारत से कभी-कभी आते थे।

भारत से रोम, कम-से-कम, तीन तरह के सुग्गे आते थे। दूसरी सदी में आराकान के काकातुए भी वहाँ आते थे। गेहुँअन सॉप और छोटे अजगर भी लाये जाते थे।

खिनी और पेरिसस से हमें पता चलता है कि चीनी खालें, समूर और रंगीन चमड़े सिन्ध के बन्दरगाह से बार्बरिकोन से बाहर भेजे जाते थे। उत्तर-पश्चिमी भारत से पूर्वी अफ्रीका जानेवाले सामानों में बकरों की खालें होती थीं। शायद इसमें कुछ माल तिब्बत का भी होता रहा हो।

कश्मीर, भूटान और तिब्बत की पश्म शाल बनाने के काम में आती थी। इसे मारकोकोरम लाना कहते थे। यहाँ मारकोकोरम का मतलब शायद काराकोरम से है। केवल बिना रंगा पश्म रोम जाता था। शायद आरम्भ में मुश्क भी रोम को जाता था। रोम में भारत और अफ्रीका के हाथीदाँत का व्यवहार साज सजाने के लिए होता था। यूनानी लोग भारतीय हाथीदाँत का व्यवहार मूर्तियों में पच्चीकारी के लिए भी करते थे। रोम में हाथीदाँत मूर्ति, साज, पोथी की पटरियाँ, बाजे और गहने बनाने के काम में आता था। भारतीय हाथीदाँत जल और थल-मार्गों से रोम पहुँचता था। पेरिसस के समय, अफ्रीकी हाथीदाँत का व्यवहार अथूलिस में होता था; पर भारतीय हाथीदाँत भरकच्छ, मुजिरिस, नेलकिण्डा और दोसेरेन से बाहर जाता था। लगता है, हाथीदाँत की बनी मूर्तियाँ भी कभी-कभी भारत से रोम पहुँच जाती थीं। ऐसी ही एक मूर्ति पाम्पियाई की खुदाई से मिली है।

हिन्दसागर के कलुए की खपड़ियाँ अच्छी मानी जाती थीं। पर सबसे अच्छी खपड़ियाँ सुवर्णद्वीप से आती थीं। रोम में इससे बेनीयर बनाया जाता था। खपड़ियाँ मुजिरिस और नेलकिण्डा में आती थीं। सिंहल और भारत के पश्चिमी समुद्री तट के आगे के द्वीपों से भी खपड़ियाँ आती थीं और उन्हें यूनानी व्यापारी खरीदते थे।

रोमन लोग साधारण तरह के मोती लालसागर से और मिश्र के अच्छे मोती फारस की खाड़ी में बहरैन द्वीप से लाते थे, पर रोम में अधिकतर मोती भारत से आते थे। मनार की खाड़ी मोतियों के लिए प्रसिद्ध थी। पेरिसस और खिनी दोनों को पता था कि मोती के सीप पाण्ड्यदेश में कोलकै से निकलते थे और इनके निकालने काम अपराधियों से लिया जाता था। ये मोती मदुरा के बाजारों में बिकते थे। उरैयूर और कावेरीपट्टीनम् में बिकनेवाले मोती पाक-जलडमरूमध्य से निकलते थे। यूनानी व्यापारी मनार की खाड़ी और पाक के अच्छे मोतियों के साथ-साथ तामलुक, नेलकिण्डा और मुजिरिस के साधारण मोती भी खरीदते थे। भड़ोच में

फारस की खाड़ी से भी अल्लेख मोती आते थे। रोम को रँगोती औरतों को बदाशर मोतियों को चाह बनी रहती थी। मोती के सीरों का प्रयोग पच्चीसहारी में होता था।

छठीं सदी में दक्षिण-भारत से बाहर शंख जाने का अल्लेख मिलता है। मगार की खाड़ी के शंख से अब भी बरतन, गहने, बाजे इत्यादि बनते हैं। हमें इस बात का भी पता है कि कोरकै और कापेरोपट्टीनू के शंख काटनेवाले प्रसिद्ध थे।

रोम में चीनी रेशमी कपड़े ईरान के रास्ते कंशिय मार्गों से आते थे। पेरिसस के समय में, सिन्ध के बन्दरगाह कार्बेरिकोन से रेशमी कपड़े रोम भेजे जाते थे। पर अधिक कीमत के कपड़े बजल से भड़ोच पहुँचते थे। मुजिरिस, नेलकिएडा और मालाबार के दूसरे बाजारों में रेशमी कपड़े रंगा के मुहाने से पूर्वी समुद्रतट पर होते हुए आते थे। शायद इस तरह के चीनी कपड़े या तो समुद्र के रास्ते आते थे अथवा गुजन और आसाम के रास्ते ब्रह्मपुत्र के साथ-साथ बंगाल की खाड़ी पर पहुँचते थे अथवा सिंगान-हू-लान-चीउ-हू-वहासा-गुम्बी घाटी और थिकिम के रास्ते बंगाल पहुँचते थे।

लाह शायद भारत, स्वाम और पेगू से आती थी। भारत से जानेवाली वनस्पतियों का जड़ी-बूटियों की तरह रोम में प्रयोग होता था। यातायात की कठिनाइयों से उनकी कीमतें बहुत बढ़ जाती थीं।

भारत से रोम के व्यापार में काली मिर्च का मुख्य स्थान था। मिर्च का निर्यात मालाबार के बन्दर मुजिरिस, नेलकिएडा और थिरिडस से होता था। तामिल-साहित्य से हमें पता चलता है कि किस तरह सीना देकर यूनानी व्यापारी मिर्च खरीदते थे। बड़ी पीपल का निर्यात भड़ोच से होता था।

मिर्च के अतिरिक्त सोंठ और इलायची भी रोम को जाती थीं। दालचीनी का प्रयोग रोमन लोग मसाला तथा धूप इत्यादि के लिए करते थे। यह चीन, तिब्बत और बर्मा से आती थी। अरब लोग दालचीनी की उपज छिपाने के लिए पहले उसे अरब और सोमालीलैण्ड को बस्तु बताते थे। तेजपात जिसे यूनानी में मालाबाधम कहते थे, शायद चीन से स्थलमार्ग होकर भारत में आता था और फिर रोम जाता था जहाँ उसका प्रयोग मसाले की तरह होता था। मलद (जटामांसी) का तेल रोम में अलबास्टर के बोटलों में बन्द रखा जाता था। पेरिसस के अनुसार पुष्करावती से भड़ोच आनेवाली जटामांसी तीन तरह की होती थी। पहली किस्म अटक से आती थी, दूसरी हिन्दुस्तान से और तीसरी काबुल से। जटामांसी के तेल के साथ यूनानी व्यापारी लेमन ग्रास और गिगर ग्रास के तेल भी शामिल कर लेते थे। कार्बेरिकोन, तामलुक, मुजिरिस और नेलकिएडा से जानेवाला तथाकथित जटामांसी का तेल इसी तरह का होता था। करमीर में होनेवाले कुछ का व्यवहार रोम ने मलहम, दवायों और शराब को सुगन्धित करने के लिए होता था। यह पाताल, कार्बेरिकोन और स्थलमार्गों से बाहर भेजा जाता था।

छिनी के समय में रोम में भारत अथवा उससे भी दूर देशों के बने शेरबकों की माँग थी। ये शेरबक अधिकतर जटामांसी की पत्तियों अथवा अंतर में भिरोए हुए रंग-धिरने रेशमी कपड़े की किड़ियों से बनते थे। महावस्तु (२, पृ० ४६३) में इस तरह के शेरबकों को गन्धमुकुट कहा गया है। इन्हें मालाबार बेचते थे।

भारत से लवंग भी आती थी। गुगुल का निर्यात कार्बेरिकोन और भड़ोच से होता था। सबसे अच्छा गुगुल बजल से आता था। कफेड डामर और हॉन बिचवड़ों द्वारा रोम पहुँचती

थी। नील का निर्यात बार्बरिकोन से होता था। लीथियम हिमालय के रेजिन बारबेरी से निकला हुआ एक पीला रंग होता था। इसे ऊँट और गैंडों के चमड़ों में भरकर बार्बरिकोन और भड़ोच से बाहर भेजा जाता था। भारत से तिल का तेल तथा शक्कर पूर्वी अफ्रिका के बन्दरगाहों में जाती थी।

हम देख आये हैं कि भारत से सूती कपड़े बहुत प्राचीन काल में बाहर जाते थे। मौसमी हवा की जानकारी के पहले यहाँ से बहुत कम सूती कपड़ा बाहर जाता था। पर इसका पता चल जाने पर भारतीय कपड़ों की माँग विदेशों में बहुत बढ़ गई थी। भारत की मलमल रोम में विख्यात थी। पेरिप्लस के अनुसार, सबसे अच्छी मलमल का नाम मोनोचे था। सगमो-तोमेने एक मामूली तरह का खदर था। ये दोनों तरह के कपड़े मलय (मोलोचीन) के साथ भड़ोच से पूर्वी अफ्रिका भेजे जाते थे। उज्जैन और तगर से भी बहुत कपड़ा भड़ोच आता था और वहाँ से अरब जाता था। ये कपड़े मिस्र भी जाते थे। सिन्ध से भी एक तरह की मलमल का निर्यात होता था। त्रिचनापली की अरगरिटिक मलमल मशहूर थी। बिहल और मसली-पटमू में भी अच्छी मलमलें बनती थीं। पर सबसे अच्छी मलमल बनारस अथवा ढाका की होती थी। लातिन में इन्हें वेंडस टेक्सटाइलिस यानी हवा की तरह का वस्त्र अथवा नेबुला कहते थे। मेमफिस और पानोपोलिस के रंग-बिरंगे कपड़ों में भारतीय अलंकारों का स्पष्ट प्रभाव देखा पड़ता है।

भारत से रोम को दवा तथा इमारती काम के लिए तरह-तरह की लकड़ियाँ जाती थीं। पेरिप्लस के अनुसार, भड़ोच से अपोलोगस और ओम्माना को चन्दन, सागवान, काली लकड़ी और आबनूस जाते थे। फारस की खाड़ी पर सागवान के जहाज बनते थे; काली और गुलाबी लकड़ी से साज बनते थे। पहले ये लकड़ियाँ भड़ोच से जाती थीं, पर बाद में ये कल्याण से जाने लगीं। भड़ोच से चन्दन बाहर जाता था। पूर्वी भारत, असम, चीन और मलाका के अगर की बाहर में बहुत ख़ात थी। मकर नाम की एक दूसरी लकड़ी भी बाहर जाती थी।

भारत से नारियल का तेल, केले, आड़ू, ख़ुमानी, नींबू, थोड़ा चावल और गेहूँ बाहर जाते थे।

अरबों ने निम्नलिखित वस्तुओं का भी निर्यात भारत से करना शुरू कर दिया था—कपूर, हर का सफ़ू, गिनीप्रेन्स (कड़नी), जायफल, नारियल, इमली, बहेड़ा, देवदार का निर्यास, पान-सुगारी, शीतलचीनी, कालीयक इत्यादि।

झिनी ने भारत को रत्नधात्री कहा है। रोमनों को रत्नों की बड़ी चाह थी और भारत ही एक ऐसा देश था जो उन्हें अच्छे-से-अच्छे रत्न भेज सकता था। इन रत्नों में हीरे का विशेष स्थान था। कुछ दिनों तक तो केवल राजे ही उसे खरीद सकते थे। पहली सदी में रोम को मुजिरिस और नेलक्रिण्डा से हीरे आते थे। टालमी के समय, लगता है, महाकोशल और उड़ीसी के हीरे रोम पहुँचते थे।

सार्ड और लोहिताक का लोगों को साधारणतः पता था। रोमन-साम्राज्य में इन पत्थरों का व्यवहार कम होने लगा। झिनी के अनुसार, भारतीय सार्ड दो तरह के होते थे—हायसेन्वाइन सार्ड और रतनपुर की खान के लाल सार्ड। पेरिप्लस के अनुसार, यूनानी व्यापारी सार्ड, लोहिताक और अफ्रीक भड़ोच से खरीदते थे। रोमन अक्सर उन्हें किरमान के पत्थर मानते थे; लेकिन झिनी का कहना है कि मिस्र भेजने के लिए वे उज्जैन से भड़ोच लाये जाते थे।

यहाँ हमें इस बात का पता चलता है कि किस तरह पहलुब और अरब इस व्यापार को ज़िपाये हुए थे और किस तरह पेरिसस में पहले-पहल हम इस बात का पता पाते हैं कि मिरिहिना के पात्र भारत में मिलते थे। लोहितांक के बने प्यालों का दाम रोम में कपास के बाहर होता था।

प्राचीनकाल में सबसे अच्छा अफीक रतनपुर से आता था। तपाये हुए अफीक भी रोम जाते थे। अगस्तस के युग में ओनिक्स और सार्डोनिक्स की काफी माँग थी। इनसे प्याले, मूँगार के उपकरण और मूर्तियाँ बनती थीं। सार्डोनिक्स के प्याले तथा जार बनते थे। पहली सदी में निकोत्रो (ओनिक्स, जिसमें एक काली तह पड़ती थी) की माँग बढ़ गई थी।

काताग्रिनी, सेवसा, हरा काइसापेस, ग्राहमा, जहरमुहुरा, रक्तमणि, हेलियोट्रोप, ज्योतिरस (जेहर), लात ज्योतिरस (हेमिडाइटिस), कसौटी पत्थर, खम्भात और सिहल की लहसुनियाँ, बेतारी की एचेंडुरीन, सिहल की जमुनियाँ, भारत और सिहल का पीला और सफ़ेद स्फटिक, बिल्लीर, सिहल का कोरएड, सिहल, कश्मीर और बर्मा का नीलग, बर्मा, सिहल और स्पाम के मानिक, बड़खों का लाल, कोइंबटूर का वैडूर्य और पंजाब का अक्रुआमरीन, बड़खों का लाजवर्द और गार्नेट और सिहल, बंगाल और बर्मा की तुरमुली भारत से रोम को जाती थी।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं, भारत में बाहर से बराबर दाख-दासी आते थे। पेरिसस के अनुसार, भद्रोन में राजा के अन्तःपुर के लिए लकड़ियाँ भेड़ की जाती थीं। अपने साज-सामान के साथ गनिवाले लड़के भी भारत आते थे।

पेरिसस के अनुसार, भूमध्यसागर का मूँगा बार्बरिकोन, भद्रकच्छ, नेलकिंडा और मुजिरिस के बन्दरों में आता था। मूँगा इतने अधिक परिमाण में भारत आता था कि छिनी के समय में भूमध्यसागर से वह करीब-करीब समाप्त हो चुका था। भारत में यूनानी व्यापारी मूँगे के बदले में मोती लेते थे।

रोम-साम्राज्य के पूर्वी भाग से भारत में कपड़ों के आने के भी उल्लेख हैं। पेरिसस के अनुसार, कुछ पतला अरुती और नरुती लौम तथा भिल के कुछ अलंकृत लौम बार्बरिकोन में आते थे। भद्रोच आनेवाले कपड़ों में सबसे अच्छा कपड़ा राजा के लिए होता था तथा चडक रंग कटे, शायद, दूसरों के लिए। अर्सिनोव, स्पेन, उत्तरी गाल और शाम से भी कपड़े भारत आते थे।

भारत के परिचयों व्यापार में शराब का भी एक विशेष स्थान था। लाओडोची और इटली की शराबें अफ्रिका और अरब के बन्दरगाहों को भेजी जाती थीं। थोड़ी-सी नामातून किस्म की शराब बार्बरिकोन बन्दर को आती थी। इटली, लाओडोची, और शायद अरब की खजूरी शराब भद्रोन आती थी; पर वहाँ इटली की शराब लोग विशेष पसन्द करते थे। भद्रोच आनेवाली शराबें मुजिरिस और नेलकिंडा भी पहुँचती थीं।

भारत में द्रवतुलक, भद्रकच्छ और बार्बरिकोन में दवा के लिए आता था।

भारत में स्पेन से सीसा, साइप्रस से ताँबा, लुसिटानिया और गलेरिया से रौंदा, किरमान और पूर्वी अरब से अजून तथा कारस और किमानि से मैनविल और सडिया आता था।

रोम के बने कुछ दीपक और मूर्तियाँ भी भारत को आती थीं। जड़भिरि को खुराई में कुछ ऐसी ही मूर्तियाँ मिली हैं। रोमन-साम्राज्य में कुछ शीशे के बरतन भी आते थे। कुछ केन्साक शीसा मुजिरिस और नेलकिंडा में दर्पण और बरतन बनाने के लिए भी आता था।

सातवाँ अध्याय

संस्कृत और बौद्ध-साहित्य में यात्री (पहली से चौथी सदी ईस्वी)

जैसा हम छठे अध्याय में देख चुके हैं, भारत के जल और स्थल-पथों तथा व्यापार के इतिहास के लिए हमें विदेशी साहित्य का आश्रय लेना पड़ता है ; पर जैन, बौद्ध और संस्कृत-साहित्य में भी इस सम्बन्ध में काफी मसाला मिलता है जिसका अध्ययन अभी कम हुआ है । श्री खिलवाँलेवी ने भारतीय साहित्य के आधार पर भारत के भूगोल और पथ-पद्धति पर काफी प्रकाश डाला है । प्राचीन तामिल-साहित्य से भी ईसा की प्रारम्भिक सदियों के व्यापार के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है । संस्कृत-बौद्ध-साहित्य तो ईसा की पहली शताब्दियों में रखा जा सकता है ; पर जैन-साहित्य का समय जिसमें सूत्र, भाष्य और चूणियाँ आ जाती हैं, निश्चित करना आसान नहीं । फिर भी, इनमें अधिकतर साहित्य छठी सदी के बाद का नहीं हो सकता । तामिल-साहित्य के बारे में भी यही कहा जा सकता है । बुधस्वामिन का बृहत्कथाश्लोक-संग्रह भी शायद ईसा की पाँचवीं या छठी सदी का ग्रन्थ है ; पर उसमें बहुत-सा मसाला ऐसा है जो ईसा की पहली सदी में लिखित गुणव्याकृत बृहत्कथा से लिया गया है । संघदास-कृत वसुदेवहिरण्डी के बारे में भी यही कहा जा सकता है, पर उसमें एक विशेषता यह है कि वह बृहत्कथा के पास बृहत्कथाश्लोक-संग्रह से भी अधिक है । इन सब स्रोतों के आधार पर हम भारतीय पथ-पद्धति और यात्रियों के अनुभवों का खासा विवरण पा सकते हैं ।

बहुत प्राचीन काल से यात्रा और पथों का उल्लेख होने से भारतीय साहित्य में पथ-पद्धति का वर्गीकरण आ गया है । प्राचीन व्याकरण, साहित्य और अर्थ-शास्त्र में भी पथों के वर्गीकरण का उल्लेख है । हम आगे चलकर देखेंगे कि गुप्तयुग के पहले पथों का वर्गीकरण रुढ़िगत हो गया था । महानिर्देश^१ में पथों के वर्गीकरण और और जलमार्गों की ओर हमारा ध्यान पहली बार श्री खिलवाँ लेवी^२ ने खींचा । अट्ठकवग्ग (तिस्समेयसुत्त) के परिकिस्सति (उसे क्रोश पहुँचता है) की व्याख्या करते हुए महानिर्देश का लेखक कहता है कि अनेक कष्टों को सहते हुए वह गुम्ब, तक्रोल, तक्रसिला, कालमुख, मरणपार, वेसुंग, वेरापथ, जब, तमलि, वंग, एलवद्धन, सुवरणकूट, तम्बपरिण, सुप्पार, भरुकच्छ, गंगण, परमगंगण, योन, परमयोन, अल्लसन्द, मरुत्तान्तर, जवरणुपथ, अजपथ, मेण्डपथ, संकुपथ, मुसिकपथ, और वेत्ताधार में घूमा, पर उसे शान्ति कहीं नहीं मिली ।

^१ महानिर्देश, पृ० ६० ला० बाजे पुस्तों और ई० जे० टामस-द्वारा सम्पादित,
भा० १, पृ० १२४-२२ ; भा० २, पृ० ४१४-१२

^२ एतद् आसियातीक, भा० २, पृ० १—२२, पारी, १२२२

मिथिलप्रदेश^१ में भी महाभिष्ट की तरह एक भौगोलिक आचार है। पहले सन्दर्भ में लिखा है—“महाराज, इस तरह उसने एक रईस नाविक की तरह बन्दरगाहों का कर चुकाकर समुद्रों में अपना जहाज चलाते हुए बंग, तमोल, चीन, सीचीर, सुरट्ट, अलसन्द, कोलपटन, सुवर्णभूमि और दूसरे बन्दरों की सैर की।”

महाभारत के शिविजयपर्व में भी देशी और विदेशी बन्दरों के नाम मिलते हैं। इन बन्दरों के उल्लेख सहदेव की दक्षिण-शिविजय के सम्बन्ध में हैं। इन्द्रप्रस्थ से चलकर वह मधुरा-मालवा-पथ से साहिष्मती होकर (म० भा०, २।२=१११) पोतनपुर-पैठन पहुँचा (म० भा०, २।२=१२६)। यहाँ से लौटकर वह शूर्पारक (म० भा० २।२=१४३) पहुँचा। यहाँ से, लगता है, उसकी यात्रा समुद्र-मार्ग से हो गई। सागरद्वीप (सुमात्रा) में उसने म्लेच्छ राजाओं, निषादों, पुष्यदों, कर्णनावरणों और कालमुखों को हराया (म० भा० २।२=१४४-४५)। भीम ने भी अपनी शिविजय में बंगाल की जीतकर ताम्रलिति के बाद (म० भा० २।२=१२२) सागरद्वीप की यात्रा की और वहाँ के शासक को हराने के बाद उपायन में उसे चन्दन, रत्न, मोती, सोना, चाँदी, भूँगे, और हीरे मिले (म० भा० २।२=१२५-२६)। वहाँ से वह कोल्लगिरि और मुरचीपट्टन लौटा (म० भा० २।२=१४५)। वहाँ से वह ताम्रद्वीप (सुमात्रा) पहुँचा (म० भा० २।२=१४६)। शायद रास्ते में उसने संजयन्ती (संजाव) की जीता (म० भा० २।२=१४७)। इसके बाद शिविजय की दिशा गन्तव्य जाती है। पाण्डव, द्रुपिड, ओड्र, किरात, आन्ध्र, तलवन, कलिंग और वष्पकलिंग, ये सब भारत के पूर्वी समुद्रीतट पर पड़ते हैं (म० भा० २।२=१४८)। पश्चिमी प्रदेश का ज्ञान हमें अन्ताञ्जी (Antioch), रोमा (Rome) और यवनपुर (सिकन्दरिया) से होता है (म० भा० २।२=१४९)। इस तरह हम देख सकते हैं कि महाभारतकार को ताम्रलिति से होकर और भूकण्ड से होकर सागरद्वीप के जल-मार्गों का पता था। इसमें सन्देह नहीं कि यहाँ कोल्लगिरि से कोरैक का मतलब है और मुरचीपट्टन तो निश्चयपूर्वक पेरिब्रस का मुजिरिस है। अन्ताञ्जी, रोमा, और यवनपुर के नामों से भी लालसागर होकर भूमध्यसागर पहुँचने की ओर संकेत है।

बसुदेवहिण्डी में चावदत्त की कहानी में भी भारत से विदेशी समुद्रमार्ग का उल्लेख है।^३ एक रईस अनिये का बेटा चावदत्त बुरी संगत से दरिद्र हो गया। अपने परिवार की राय से उसने धन कमाने के लिए यात्रा करने की ठानी। चम्पानगर से निकलकर वह शिवास्वाह नामक कस्बे में पहुँचा। उसके मामा ने कपास और दूसरी बाहरी वस्तुएँ व्यापार के लिए खरीदीं।^३ अभाम्बवरा, कपास में आग लग गई और चावदत्त बड़ी मुश्किल से भाग सका। बाद में कपास और मूल से गांधियों लाकर वह अकल (ओडीशा) पहुँच गया और वहाँ से कपास खरीदकर ताम्रलिति की ओर आया। रास्ते में उसका साथ लुट गया और गांधियों जला दी गईं। चावदत्त कठिनाई से अपनी जान बचा सका। फिर यात्रा करना हुआ वह भिखुपट्टन पहुँचा जहाँ उसकी सुवेन्दत्त नामक एक नाविक से मुलाकात हुई जो उसके परिवार का भिन्न निकल आया। अपनी यात्रा में वह कमलपुर (खैर), यवन (यव) द्वीप (जावा), तिलह,

१ मिथिल प्रदेश, पृ० १२३

२ बसुदेवहिण्डी, बा० बी० पृ० साठेसरा का गुजराती अनुवाद, पृ० १०० से, भावनगर, सं २००३

३ यही, पृ० १८०

पश्चिम बर्बर (बार्बरिकोन) तथा यवन पहुँचा और उन जगहों से काफी माल कमाया ।^१

अभाम्यवशा, जब वह काठियावाड़ के किनारे जहाज से जा रहा था, उसका जहाज टूट गया और वह बहता हुआ एक तख्ते के साथ उम्बरावती पहुँचा । एक बड़माश कीमियागर से ठगे जाकर उसे कुँए में गिरना पड़ा । वहाँ से निकलने के बाद फिर से उसने अपनी यात्रा शुरू कर दी ।

अपने एक मित्र रुद्रदत्त की सहायता से वह राजपुर पहुँचा और वहाँ से कुछ गहने, लाख, लाल कपड़ा और कड़े इत्यादि लेकर वह सिन्धु-सागर-संगम पर पहुँचा । वहाँ से उत्तर-पूर्व का रास्ता पकड़े हुए वह हूण, खस और चीनों के देश को पार करके वैताव्य के शंकुपथ पर पहुँचा । वहाँ उसने डेरा डाला । खाना खाने के बाद सार्थ के साथियों ने तुम्बुर का चूर्ण कूटकर एक थैली में रख लिया । शंकुपथ पर चढ़ने में जब हाथ में पसीना होता था तो उसे दूर करने के लिए यात्री उस चूर्ण से हाथ सुत्ता लेते थे; क्योंकि शंकुपथ से गिरनेवाले की मृत्यु अवश्यम्भावी थी । माल को थैली में रखकर शरीर के साथ कपड़े बाँध दिया जाता था । यह शंकुपथ विजया नदी पर था । इसे पार करके वे इषुवेगा (वंजु नदी) पर पहुँचे और वहाँ डेरा डाल दिया ।^२

इषुवेगा को पार करने का एक नया तरीका दिया हुआ है । जब उत्तरी हवा चलती थी तो उस पार के उगनेवाले बेंत उस तरफ झुक जाते थे जहाँ चारदत्त खड़ा था । चारदत्त ने ऐसे झुके हुए एक बेंत को पकड़ लिया और हवा जब रुकी और बेंत सीधी हुई तो वह उस पार पहुँच गया । इस तरह से नदी पार करके चारदत्त टंकण देश में पहुँचा । वहाँ उसने एक पहाड़ी नदी पर डेरा डाल दिया । पथप्रदर्शक के आदेश से पास में आग जला दी गई । इसके बाद सब व्यापारी वहाँ से हट गये । आग देखकर टंकण वहाँ आये और उनके माल के बदले में बकरे और फल छोड़कर और अपने जाने के इशारे के लिए एक दूसरी आग जलाकर वापस चले गये ।

सार्थ उस पहाड़ी नदी के साथ चलता हुआ अजपथ पर पहुँचा जिसकी खड़ी चढ़ाई केवल बकरे ही चढ़ सकते थे । चढ़ाई के उस पार बकरे मार डाले गये और उनकी खालें निकाल ली गईं । यात्रियों ने इन खालों से अपने को छिपा लिया और इस तरह उन्हें मांस का लोभड़ा समझकर भेरगड पत्नी उन्हें रत्नदीप को उड़ा ले गये ।

जैसा हम बाद में देखेंगे, चारदत्त ने अपनी यात्रा में जो रास्ता लिया वही मार्ग गुणाव्य की बृहत्कथा में रहा होगा । चारदत्त के साहसिक कार्यों में बृहत्कथारत्नोक्त-संग्रह इसी कहानी का एक रूप देता है, जबकि इसमें के साहसिक कार्य केवल सुवर्णदीप तक ही सीमित हैं । चारदत्त की यात्रा प्रियगुपट्टन से, जो शायद बंगाल में था, शुरू हुई । वहाँ से वह चीनस्थान, यानी चीन गया और वहाँ से वह मलय-एशिया पहुँचा । रास्ते में वह कमलपुर, जिसकी पहचान कम्बुज से की जा सकती है और जो मेरु अथवा अरबों के कमर का रूपान्तरमात्र है, पहुँचा । वहाँ से वह जावा पहुँचा और फिर वहाँ से सिंहल । पश्चिम बर्बर से यहाँ सिन्ध के प्रसिद्ध बन्दरगाह बार्बरिकोन का स्मरण आता है । यहाँ के बाद यवन, यानी सिकन्दरिया का बन्दर आता था ।

चावदा ने अपनी मध्य-एशिया की यात्रा सिन्धु-सागर-संगम यानी, प्राचीन बर्बर के बन्दरगाह से शुरू की। वहाँ से शायद सिन्धु नदी के साथ चलते हुए वह दूरों के प्रदेश में पहुँचा। लगता है, वैताइय से यहाँ ताराकुरमन का मतलब है। जिन्हा नदी से शायद सीर दरिया का मतलब हो। इससे तो निश्चय ही बँधु है। मध्यएशिया के रहनेवालों में उसकी कारागर के लस, मंगोल के दूध और उसके बाद चीनियों से मुलाकात हुई और मध्यएशिया के लोगों से उसने व्यापार भी किया।

महानिर्देश में दिये गये बन्दर बहुत दूर-दूर तक फैले हुए थे। वे सुदूर-पूर्व से प्रारम्भ होकर पश्चिम में समाप्त होते हैं। उनकी तालिका में जब (जावा), सुपार (सुपारा), मरुक्क, सुरट (सुराष्ट्र का कोई बन्दर), योन (यूनानी दुनिया) और अल्लवन्द (अिकन्दरिया) के बारे में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

बन्दरों की तालिका में पहला नाम गुम्ब का आता है, जिसके गुम्ब और कुम्ब पाठ भी मिलते हैं। इस गुम्ब का पता नहीं चलता, पर मिलिन्द में आये हुए निकुम्ब की वह याद दिलाता है^१।

दूसरा नाम तकोल मिलिन्दप्रश्न में भी आता है जहाँ वह वंग और चीन के बीच में पड़ता है। तकोल के बाजार का टालमी (७२।५) उल्लेख करता है। उसकी पहचान स्याम में बन्दौंग की खात पर स्थित तकुओपा से की जाती है। जो भी हो, बाद के युग (२२७-२७७) में एक चीनी दूत की यात्रा के विवरण के आधार पर तकोल की खोज हमें मलयमण्डीप के पश्चिमी किनारे पर का के इस्थमस के दक्षिण में करनी चाहिए^२। लगता है, तकोल या ककोल से बड़ी इलायची, लवंग और अंगूर का निर्यात होता था।

यह विचारणीय बात है कि भारत में भी तकोल या ककोल नाम पाये जाते हैं। मदास के पास तकोलम् नाम का एक गाँव है और चिकाकोल का प्राचीन नाम श्रीकाकुलम् कक्कोल से ही बना है। यहाँ से कलिंग देश के बहुत-से यात्री प्राचीन काल में मलय-एशिया अगने जाते थे^३।

महानिर्देश की तालिका में वेसुंग आता है। टालमी (७२।४) का कहना है कि तमाल अन्तरीप के बाद सराबौस की खाड़ी पर वेसुगेताइ रहते थे। इनके देश में वेसुंग का बन्दर था जो उसी नाम की नदी के मुहाने पर बसा था। शायद वेसुंग का बंदरगाह, मर्तबान की खात के उत्तर, पेगु में कहीं रहा होगा^४।

वेसुंग की पहचान करते समय श्री लेवी ने ओहीसा के समुद्रतट से बर्मा के रास्ते का भी उल्लेख किया है। टालमी का पलुर या दन्तपुर कलिंग की राजधानी थी; पर उसका समुद्र-प्रस्थान (Aphetrium) चरित्रपुर में था। युवान्क्वाङ् के अनुसार यहाँ यात्री समुद्रयात्रा के लिए प्रस्थान करते थे। श्री लेवी के अनुसार, यह चरित्रपुर पुरी के दक्षिण में पड़ता था। पलुर का ठीक सामना बर्मा के समुद्र-तट पर आन्त्याव और सेएहोवे के बीच में पड़ता था। वे सुंग रंगून, पेगु और मर्तबान के कहीं आस-पास; और तकोल, का के इस्थमस की तरफ^५।

१ सिलबो खेवी, वही, पृ० ३

२ वही, पृ० ३-४

३ वही, ७-१२

४ वही, १४-१५

५ वही, १९-१८

वेसुंग की पहचान के बाद बेरापथ की पहचान डाल्मी के बेरावाई से की जा सकती है जो तवाय के आस-पास कहीं था ।

तकोल के बाद आनेवाली तकसिला पंजाब की तक्षशिला नहीं हो सकती । डाल्मी, चटगाँव के दक्खिन में स्थित कतवेदा नदी के मुहाने के दक्खिन तोकोसन्ना नदी का मुहाना रखते हैं । यहीं कहीं तकसिला की खोज करनी चाहिए^१ ।

महानिदेस में, तकसिला के बाद कालमुख आता है जो शायद किरातों का एक कबीला था । कालमुखों का नाम रामायण (४।४०।२८) और महाभारत में सहदेव की शिबिजय में आता है । इसके बाद मरणार का ठीक पता नहीं चलता ।

जावा के बाद, महानिदेस में, तमलिम् (पाठभेद कमलि, तम्मलि, तम्मुनि ताम्बलिंग) है । कमलि हमें वसुदेवहिण्डी के कमलपुर की याद दिलाता है । पर श्री लेवी इसकी पहचान राजेन्द्रचोल के मा-दामलिंगम् से करते हैं । यह देश मलाया में पाहंग के पास कहीं होना चाहिए^२ ।

ताम्बलिंग के बाद महानिदेस में वंग (पाठभेद, वंरम्) आता है । इसका बंगाल से मतलब न होकर सुमात्रा से लगा पॉलिनेसिया के इस्टुअरी के सामने बंका द्वीप से है । बंका का जलडमरूमध्य मत्तया और जावा के बीच का साधारण पथ है । बंका की रँगो की खदानें मशहूर थीं^३ । संस्कृत में वंग के माने रँगो होता है और सम्भव है कि इस धातु का नाम उसके उद्गमस्थान पर पड़ा हो । एलवदन का ठीक पता नहीं लगता । संस्कृत में एल या एड के मानी दुम्बे होते हैं ; पर इसका पता हिन्द-एशिया में नहीं चलता । डाल्मी (७।२।३०) के अनुसार, जावा के पूर्व में सुटायर नाम के तीन टापू थे जिनके रहनेवालों के दुम होने की बात कही गई है । श्री लेवी का विश्वास है कि भारतीयों ने इसी दुम की बात को लेकर उन टापुओं का एलवदन नाम-करण किया था^४ ।

महानिदेस के सुवर्णकूट और सुवर्णभूमि को एक साथ लेना चाहिए । सुवर्णभूमि, बंगाल की खाड़ी के पूरब सब प्रदेशों के लिए, एक साधारण नाम था ; पर सुवर्णकूट एक भौगोलिक नाम है । अर्थशास्त्र के अनुसार (२।२।२८), सुवर्णकुब्जा से तैलपण्णिक नाम का संकेद या लाल चन्दन आता था । वहाँ का अगर पीले और लाल रंगों के बीच का होता था । सबसे अच्छा चन्दन मैकासार और तिमोर से, और सबसे अच्छा अगर चम्पा और अनाम से आता था । सुवर्णकुब्जा से दुकूल और पत्रोर्ण भी आते थे । सुवर्णकुब्जा की पहचान चीनी किन्ग्लिन से की जाती है जो फूतान के परिचय में था^५ ।

उपयुक्त बन्दरगाहों के बाद महानिदेस के भारतीय बन्दर शुरू होते हैं । ताम्रपर्णी (तम्बपर्णी) के बाद सुपारा आता था, फिर भरुकच्छ और उसके बाद सुरदूठ जिससे शायद द्वारका के बन्दरगाह का तात्पर्य हो । महानिदेस में पूर्वी समुद्रतट के बन्दरों के नाम नहीं आते ; पर दूसरे आधाराँ पर यह कहा जा सकता है कि उस युग में ताम्रलिभि, चित्रपुर, कावेरीपट्टनम् तथा कोलपट्टनम् पूर्वी समुद्रतट के मुख्य बन्दरगाह थे ।^६ मालावार के बन्दरगाहों में मुरचीपट्टन

१ वही, १८-१९

२ वही, २६-२७

५ वही, पृ० २७-२८

२ वही, पृ० २२

४ वही, पृ०, २७-२८

६ वही, पृ० १५-१७

की पहचान परिश्रम के मुजिदिय से की जा सकती है। काठियावाड़ के बाद सिन्ध के समुद्रतट पर, बलुदेवद्विगडों के अनुसार तथा मिथिन्द्रधरन के अनुसार, सिन्ध-सागर-संगम पर सोवीर नाम का एक बन्दरगाह था। अवश्य ये दोनों ही बार्बरिकोन के उद्बोधक हैं। बलुदेवद्विगडों में तो शायद इसे परिचम बर्बर के नाम से सम्बोधन किया गया है। सिन्ध के समुद्रतट के बाद गंगण और अपरगंगण नाम आये हैं जिनका पता नहीं लगता; पर ऐसा लगता है कि, उनका सम्बन्ध पूर्वी अफ्रिका के समुद्र-तट से रहा हो। गंगण और जंजीबार शायद एक हो सकते हैं तथा अपरगंगण का अजानिशा के समुद्र-तट से शायद मतलब हो सकता है। गोन से यहाँ काव युनान से मतलब है और परमथोन शायद एशिया-माइनर का द्योतक है। अलतबन्दर तो सिकन्दरिया का बन्दरगाह है। मरुत्कान्तार से शायद बेरेनिके से सिकन्दरिया तक के रेगिस्तानी मार्ग का मतलब है। इस रेगिस्तानी पथ पर यात्री रात में रुकते थे और इसपर उनके ठहरने और खाने-पीने का प्रबन्ध होता था।

मरुत्कान्तार के बाद महानिदेस में पथों का वर्गीकरण आता है। उनके नाम हैं— जगणुपथ (पाठनेद सुवण या वणु), अजपथ, मेण्डपथ (मेंडे का रास्ता), शंकुपथ, छतपथ (छतरो का रास्ता), वंसपथ, शंकुपथ (भिडियों का रास्ता), गुधिकपथ (चूड़ों का रास्ता), दरीपथ (गुफाओं का रास्ता) और वेत्ताचार (बेंतों का रास्ता)।

हम एक जगह कह आये हैं कि अजपथ और शंकुपथ प्राचीन व्याकरण-साहित्य में मिलते हैं। इनका उल्लेख बृहत्कथारत्नोक्तसंग्रह में सावुदास की कहानी में हुआ है^१।

सावुदास चम्पा के एक व्यापारी मित्रवर्मा का पुत्र था। अचपन में उसने अच्छी शिक्षा पाई थी; पर जबानी में, कुसंगति में पड़कर, वह एक वेदया के फेरे में फँस गया। अपने पिता की मृत्यु के बाद उसे महाजनो का चौधरी (श्रेष्ठिपद) नियुक्त किया गया। पर वह अपनी पुरानी आदतें न छोड़ सका और कुछ ही दिन में कंगाल हो गया। अपने परिवार की गरीबी से दुखी होकर उसने वह प्रण किया कि बिना धन पैश किये वह बापस नहीं लौटिगा।

चम्पा से सावुदास ताम्रलिति आया^२। रास्ते में उसे कई जूते और छतिलाले कुछ गाधियों से भेड़ हुई जिन्होंने कंद-मूल-फल से उसकी खातिर की। इस तरह यात्रा करते हुए वह शिखकच्छप पहुँचा जहाँ उसकी अपने एक रिश्तेदार से भेंट हुई। उसने उसकी बड़ी खातिर की और उसे ताम्रलिति की यात्रा करने के लिए रुपये देकर एक सार्थ के साथ कर दिया।

ताम्रलिति के रास्ते में सावुदास ने बहा शोरमुत्र सुना। पता लगाने पर उसे मातूम हुआ कि पातमोर्भगजतिज्ञा पर्वत के खण्डवर्ममुगद रुद्ध अपनी बहादुरी की गप्पें मार रहे थे। उनमें से एक ने तो यहाँ तक कहा कि डाकूओं के मिलने पर वह काशी मैया को बलिदान चढ़ावेगा। इसी बीच में पुत्रिन्द्रों ने सार्थ पर धावा बोल दिया जिससे धरराकर दौंग मारनेवाले चम्पत हो गये। सार्थ तितर-बितर हो गया और बड़ी मुश्किल से सावुदास ताम्रलिति पहुँच सका। वहाँ उसकी अपने मामा गंगदत्त से मुताकात हुई। गंगदत्त ने उसे रुपये देकर रोहता चाहा; पर सावुदास दान का भित्तारी नहीं था और इसलिए उसने एक सांयाधिक से वह कहकर कि मैं रत्नपारखी हूँ, अपने को जहाज पर साथ ले चलने के लिए उसे तैयार कर लिया। एक शुभ में दिन देवताओं, ब्राह्मणों और गुरुओं की पूजा करके समुद्रयात्री चल निकले।

१ बृहत्कथारत्नोक्तसंग्रह, अध्याय १८, श्लोक १ से

२ वही, १७१

अभास्यवश, राह में जहाज टूट गया और सानुदास एक तख्ती के सहारे बहता हुआ किनारे पर आ लगा। यहाँ एक दूसरी कहानी आरम्भ होती है जिससे पता लगता है कि सानुदास की मँड समुद्रदिशा नाम की एक स्त्री से हुई जो भारतीय व्यापारी सागर और यवनो माता की, जिसकी जन्मभूमि यवनदेश में थी, पुत्री थी। सानुदास को बिना पहचाने, उस स्त्री ने उसे यह भी बतलाया कि बचपन में उसकी सगाई सानुदास से हो चुकी थी; पर उसके बदमाश हो जाने के कारण, शादी न हो सकी। दुर्भाग्यवश अपनी स्त्री के साथ सागर यवनदेश की ओर चल पड़ा, पर रास्ते में ही जहाज टूट गया। समुद्रदिशा किसी तरह बहती हुई किनारे आ लगी। समुद्रदिशा को जब सानुदास का पता मालूम हुआ तो उसने उसे बताया कि उसने बहुत-से मोती इकट्ठे कर दिये हैं। उस निर्जन द्वीप पर मछली, कछुए और नारियल खाकर वे दोनों रहने लगे। वहाँ लवंग, कपूर, चन्दन और पान बहुतायत से मिलते थे।

एक दिन समुद्रदिशा ने अपने पति से, टूटे जहाजों के व्यापारियों की प्रथा के अनुसार (मिश्रपोत-वणिज-वृत्त), ^१ एक पेड़ पर एक माँड़ी लगा देने और आग जला देने की प्रार्थना की जिससे समुद्र पर चलनेवाले जहाज उन्हें देखकर उनका उद्धार कर सकें। समुद्रदिशा की अकल काम कर गई और सबेरे एक उपनौका उन्हें एक जहाज पर ले गई। समुद्रदिशा द्वारा एकत्र मोती भी जहाज पर लाये गये और यह तै पाया कि उन्हें बेचकर जो फायदा हो उसमें आधा सांघात्रिक का होगा। सांघात्रिक ने समुद्रदिशा और सानुदास का विवाह भी करा दिया।

अभास्यवश जहाज डूब गया और समुद्रदिशा बह गई। सानुदास किसी तरह बहता हुआ किनारे लग गया। उस समय उसकी पूँजी फँट और जूड़े में बँधे हुए कुछ मोती थे। किनारे पर केले, नारियल, कटहल, मिर्च और इलायची के पेड़ और पान की लतें बहुतायत से होती थीं। एक गाँव में पहुँचकर उसने उसका पता पड़ा; पर लोगों ने उत्तर दिया—“वाणिज्यु चोलितति” जो टूटी-फूटी तामिल है और जिसके मानी होते हैं, तुम्हारी बात समझ में नहीं आती। सानुदास ने एक दुभाषिये (दिवाष) की मदद ली और अपने एक रिश्तेदार के पास पहुँच गया जहाँ उसे पता लगा कि वह पारव्य देश में आ पहुँचा है जिसकी राजधानी मयुरा एक योजना पर थी।

दूसरे दिन सबेरे कैलों के बने जंगल से होकर दो कोस चलने के बाद सानुदास ने एक धर्मशाला (सत्रम्) देखा जहाँ कुछ विदेशियों की हजामत बन रही थी, किसी का अभ्यंग हो रहा था और किसी की मालिश (उरगदन)। इस तरह सब लोगों की खातिर हो रही थी^२। रात में सत्रपति ने सानुदास की खबर पूछी और बताया कि उसका मामा गंगदत्त उसके जहाज टूटने के समाचार से दुखी है। उसने तमाम जंगलों, घाटों (तर), सत्रों और बग़रों (वेलातपुर) में इस बात की खबर करा दी थी। सानुदास ने फिर भी उसे अपना पता नहीं दिया।

दूसरे दिन उसने पारव्य-मयुरा के जौहरी-बाजार की सैर की। वहाँ उसने एक गहने का दाम कूतकर उसके बदले कुछ रुपये पाये। उसकी ख्याति सुनकर राजा ने उसे अपना रत्न-परीक्षक नियुक्त कर लिया। एक महिने तो वह अपना काम ईमानदारी से करता रहा; पर बाद में उसने

१ यही, ३।४

२ यही, ३२५-३२६

थोड़ी-सी पूँजी लगाकर अधिक लाभ उठाने की सोची। उसने बड़े तन्दु (गुग्गुलु) की कपास खरीदकर उसकी सात खेरियाँ लगा दीं; पर अभाभ्यक्ष कपास में आग लग गई^१। मंदुरा के लोगों में यह रवाज था कि जिस घर में आग लगती थी उसमें रहनेवाले आग में कूड़कर जान दे देते थे। अपनी जान के डर से सानुदास एक जंगल में भागा। वहाँ उसकी एक गौड़ भाषा बोलनेवाले से मुलाकात हुई। उसने उससे सानुदास का समाचार पूछा; पर उसने उससे कह दिया कि वह पाण्डवों द्वारा आग में फँका जाकर जल गया। उसके मामा गंगदत्त ने यह समाचार सुनकर जल मरना चाहा; पर इतने ही में सानुदास चम्पा पहुँच गया और इस तरह उसके मामा की जान बच गई।

अपने शुभकक्ष स्वभाव और रुपया पैदा करने की इच्छा से सानुदास बहुत दिनों तक अपने मामा के यहाँ नहीं उठर सका। थोड़े ही दिन बाद उसने सुवर्णद्वीप जानेवाले आचर के जहाज को पकड़ लिया। सुवर्णद्वीप पहुँचकर जहाज ने लंगर डाल दिया और व्यापारियों ने खाने का सामान चैलियों (पायेय-स्थगिका) में भरकर अपनी पोटीं से बाँध लिया तथा अपने गले से तेल के कुपे लटककर वे केवलता के सहारे पहाड़ पर चढ़ गये। यही वेव्रपथ था।

श्री लेवी ने केवलता से यहाँ लाठी का तात्पर्य समझा है। पहाड़ पर चढ़ते हुए यात्री लाठी के सहारे झुककर नहीं, तनकर चलते थे। निर्हेस के वेताचार का भी यही तात्पर्य है।

सोने की खोज में यात्रियों ने जो उनसे कहा गया, वही किया। पर्वत की चोटी पर पहुँचकर वे रात भर वहाँ ठहर गये। सबरे उन्होंने एक नदी देखी जिसके किनारे बेलों, बकरों और भेड़ों की भीड़ थी। आचर ने यात्रियों को नदी छूने की मनाही कर दी थी; क्योंकि उसे छूनेवाला पत्थर बन जाता था। नदी के उस पार खड़े बौंस हवा चलने से इस पार झुक जाते थे। उनके सहारे नदी पार उतरने की आज्ञा दी गई। यही वेणुपथ था^३ जिसे निर्हेस में वंशपथ कहा गया है।

पत्थर बना देनेवाली नदी का 'सद्धर्मस्मृत्युपस्थानसूत्र' में भी उल्लेख है^४। उसके किनारे कीचक नामक बौंस होते थे जो हवा चलने पर एक दूसरे से टकराते थे। रामायण (४।४४।७७-७८) में उसी नदी का उल्लेख है। यह सुरिकल से पार की जा सकती थी और इसके दोनों किनारे खड़े कीचक नामक बौंसों के सहारे सिद्धगण नदी पार करते थे। महाभारत (२।४८।२) में भी शैलोदा नदी और उसके तीर के कीचक वेणुओं का उल्लेख है। टागोरी से हमें पता चलता है कि तिनई के बाद सेर (चीन) प्रदेश पड़ता था। उसके उत्तर में एक अज्ञात प्रदेश था जहाँ दलदल थे जिनमें उगनेवाले नरकफलों के सहारे लोग दूसरी ओर पहुँच सकते थे। उस प्रदेश को बल्ल से ताराकुरगन होते हुए तथा पातिबोष्ठा (पाटलिपुत्र) होते हुए सबकेँ आती थी (१।६।४।१)। यहाँ हम उस पौराणिक अनुश्रुति का स्रोत पाते हैं जिसने चीन और पश्चिम की सबक पर लोबनोर के दलदलों को एक लोककथा में परिवर्तित कर दिया। यह अनुश्रुति सायों की कहानी के आधार पर यूनानी और भारतीय साहित्य में जुड़ गई। कंडसियस और मेगास्थनीज एक नदी का उल्लेख करते हैं जिसे कोई बरतु तैर नहीं

१ वही, ३७७-३७८

२ लेवी, वही, पृ० ३६-४०

३ बृहत्कथारत्न-संग्रह, ४६०, ४४६

४ जूनार्ड आसियातीक, १६१८, २, पृ० २४

सकती थी। मेगास्थनीज द्वारा दिये गये इस नदी के खिल्लास अथवा खिलियस नाम की पहचान श्री लेवी शैलोदा से करते हैं^१।

सखम्मपञ्जोतिका (लेवी, वही, ४३१-३२) के अनुसार वंशपथ में बाँसों को काटकर उन्हें पेड़ से बाँध दिया जाता था। पेड़ पर चढ़कर एक बाँस दूसरी बैसवारी पर डाल दिया जाता था। इस प्रक्रिया को दुहराते हुए बाँस का जंगल पार कर लिया जाता था।

भारतीय और यूनानी ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि शैलोदा नदी मध्य-एशिया में थी, सुवर्णभूमि में नहीं। रामायण और महाभारत उसे मेरु और मन्दर के मध्य में रखते हैं। इसके पश्चिम में लव, पारद, कुलिन्द और तंगण रहते थे। मेरु को पहचान श्री लेवी पामीर और मन्दर की पहचान उपरली इराक़ी पर पकनेवाली पर्वतशृंखला से करते हैं; पर महाभारत से तो मन्दर की पहचान शायद क्येन-लुन पर्वतश्रेणी से की जा सकती है। मत्स्य-पुराण (१२०/१६-२३) शैलोदा का उद्गम अरुण पर्वत में रखता है, पर वायुपुराण (४७/२०-२१) के अनुसार, वह नदी मुजवत पर्वत के पाद में स्थित एक दह से निकलती थी। वह चक्षुस् और सीता के बीच बहती थी और लवणमुद्र में गिरती थी। चक्षुस् चक्षु नदी है और सीता शायद तारीम। इसलिए, श्री लेवी की राय में शैलोदा नदी की पहचान खोतन नदी से की जा सकती है^२। लव नदी में गिरकर चीजों के पत्थर हो जाने की कहानी खोतन नदी में यशव के लोह के मिलने से तथा उनके दूर-दूर तक ले जाने की बात से निकली होगी।

शैलोदा के साथ कीचक-वेणु का उल्लेख पुराणों के लिए एक नया शब्द है। श्री विलवों लेवी कीचक की व्युत्पत्ति चीनी भाषा से करते हैं। चीन के क्वांगसी और सेचवान प्रदेश से भारत में आसाम के रास्ते बाँस आने की बात ई० पू० दूसरी सदी में चाङ्ग क्वांगन भी करता है^३।

शैलोदा पार करने के बाद सानुदास दो बोजन आगे बढ़ा और एक पन्ने रास्ते के दोनों ओर गहरा बड़ (रसातल) देखा। आचेर ने गीली और सूखी लकड़ियाँ इकट्ठी करके और उन्हें जलाकर धुआँ कर दिया। धुएँ को देखकर चारों ओर से किरात इकट्ठे हो गये। उनके पास बकरो और चीतों के चमड़े के बने त्रिरह-बख्तर और बकरे थे। व्यापारियों ने उन वस्तुओं का विनिमय कैसरिये, लाल और नीले कपड़ों, शक्कर, चावल, सिन्दूर, नमक और तेल से किया। इसके बाद किरात हाथ में लकड़ियाँ लिये हुए अपने बकरो पर चढ़कर पतले और पंचदार रास्ते से रवाना हो गये। जिन व्यापारियों को सोने की खान से सोना लेना था, वे उसी रास्ते से आगे बढ़े। रास्ता इतना कम चौड़ा था कि व्यापारी एक की कतार में एक भालेबंदार के अधिनायकत्व में आगे बढ़े^४।

खरो-करोस्त के बाद वह दल वापस लौटा। कतार में सानुदास का सातवाँ स्थान था और आचेर का छठा। बढ़ते हुए दल ने दूसरी ओर से लकड़ियों की खट-खट सुनी। दोनों दलों में मुठभेड़ हो गई और आचेर के दलवालों ने दूसरे दलवालों को गढ़े में बँकेल दिया। एक

१ लेवी, वही, पृ० ४२

२ वही, पृ० ४२-४३

३ वही, पृ० ४३-४४

४ बृहत्कथारजोक्तसंग्रह, ४५०-४६१

जवान लड़के ने सानुदास से अपनी जान बचाने की प्रार्थना की ; पर कठोर-हृदय आंचेर ने अपने दिल की रक्षा के लिए सानुदास को उसे भी नीचे नदी में गिरा देने के लिए बाध्य किया^१ ।

इस घटना के बाद आंचेर का दिल विष्णुपदी गंगा पर पहुँचा और वहाँ मृतात्माओं के लिए तर्पण किया । खाने और विधाम करने के बाद आंचेर ने व्यापारियों से अपने बकरे मार डालने और उनकी खालें अपने ऊपर ओढ़ लेने को कहा । ऐसा ही किया गया । इसके बाद बड़े पच्ची उन्हें मांस के लोथड़े समझकर सुवर्णभूमि ले गये । इस तरीके से सानुदास सुवर्णभूमि पहुँचा और वहाँ से बहुत-सा धन इकट्ठा करके लुशी-लुशी अपने घर लौट आया । शायद यहाँ शकुनपथ की ओर इशारा है ।

सानुदास की कहानी समाप्त करने के पहले यह बता देना आवश्यक है कि वसुदेवहिण्डी की चादरत की कहानी से उसका गहरा सादर्य है । यह बात साफ है कि उपर्युक्त दोनों कहानियों का आधार गुणध्व की पृह्लरूपा की कोई कहानी थी । वसुदेवहिण्डी में इस घटना का स्थल मध्य-एशिया रखा गया है ; पर श्रुतकाश्लोक-संग्रह के अनुसार, यह स्थान मलय-एशिया था । सानुदास की कहानी के कुछ अंशों से—जैसे, शैलोश नदी, बक़रों और भेड़ों के विनिमय इत्यादि से—यह बात साफ हो जाती है कि सानुदास की यात्रा वास्तव में मध्य-एशिया में हुई । गुप्त-काल में जब सुवर्णद्वीप का महत्त्व बढ़ा तो कहानी का घटनास्थल भी मध्य-एशिया से सुवर्णभूमि में आ गया ।

महानिर्देश में मैदों का रास्ता और अजपथ एक ही हैं । वगणुपथ, शंङ्गपथ, छत्तपथ, गुप्तिकपथ, दरीपथ इत्यादि के सम्बन्ध में हमें जानकारी हासिल करनी चाहिए ।

महानिर्देश के सिवा इन पथों का उल्लेख पालि-बौद्ध-साहित्य में भी आता है । वेत्तचर या वेत्तचार, संकुपथ और अजपथ का उल्लेख मिलिन्दवस्त्र में एक जगह आता है^२ । पर इन पथों के सम्बन्ध में उल्लेखनीय वर्णन विमानवस्तु (८४) में आता है । अंग और मगध के व्यापारी एक समय सिन्धु-सोवीर में यात्रा करते हुए रेगिस्तान के बीच अपना रास्ता भूल गये (वगणुपथसमज्ज्मं ; महानिर्देश का जवगणुपथ) । एक यत्न ने अवतरित होकर उनसे पूछा, तुम सब धन की खोज में समुद्र के पार वगणुपथ, वेत्तचार, शंङ्गपथ, नदियों, और पर्वतों की यात्रा करते हो ।”

पुराणों में भी महानिर्देश के पथों की ओर कुछ इशारा है । मत्स्यपुराण, (११५। ५६-५६) में कहा गया है कि पूर्व दिशा की ओर बहती हुई नलिनी ने कुपथों, इन्द्रगुम्न के सरो, खरपथ, वेत्रपथ, शंङ्गपथ, उज्जानकमरु तथा कुषरावरण को पार किया और इन्द्रद्वीप के समीप वह लवणसमुद्र से मिल गई । वायुपुराण (४७।५४ से) में भी वही श्लोक है, पर उसमें कुपथ की जगह अपथ, वेत्रपथ की जगह इन्द्रशंकुपथ और उज्जानकमरु की जगह मध्येनोपान-मस्कराल पाठ है । इस तरह नलिनी पूर्व की ओर बहती हुई खराब रास्तों (कुषाव,), इन्द्र-गुम्नसरो, खरपथ, वेत्र अथवा इन्द्रपथ, शंङ्ग अथवा शंकुपथ पार करती हुई, उज्जानक के रेगिस्तान से होती हुई, कुषरावरण होकर इन्द्रद्वीप के पास लवणसमुद्र से मिलती थी । इस तरह हम देख सकते हैं कि मत्स्यपुराण में वेत्रपथ पाठ ठीक है और वायुपुराण में शंकुपथ । खरपथ

की तुलना हम महानिदेस के अजपथ से कर सकते हैं। जिस रेगिस्तान से नलिनी का बहाव था वही तकलामकान रेगिस्तान है।

महानिदेस के मार्गों पर उसकी टीका सद्धम्मपज्जोतिका (१०८० ई०) से काफी प्रकाश पड़ता है। उस टीका के अनुसार यात्री, शंकुपथ बनाने के लिए, पर्वतपाद पर पहुँचकर एक अंकुश (अययिङ्घाटक) को फन्दे से बाँधकर उसे ऊपर फेंकता था और उसके फँस जाने पर वह रस्सी के सहारे ऊपर चढ़ जाता था। वहाँ पर वह हीरा-लगे बरमे से (वजिरामेन लोहदण्डेन) चट्टानों में एक छेद करता था और उसमें एक खूँटा गाड़ देता था। इसके बाद अंकुश छुड़ाकर उसे फिर ऊपर फेंकता था और उसके लग जाने पर रस्से के सहारे फिर ऊपर चढ़कर एक गढ़ा बनाकर बायें हाथ से रस्सा पकड़ता था और दाहिने हाथ की मुंगरी से वह पहला खूँटा निकाल देता था। इस उपाय से पर्वत की चोटी पर चढ़कर वह उतरने का उपाय सोचता था। इसके लिए वह पहले चोटी पर खूँटा गाड़ता था जिसमें वह एक डोरीदार चमड़े की बोरी बाँधता था, फिर उसमें खुद बैठकर चरबी खुतने के क्रम से धीरे-धीरे नीचे उतर आता था^१।

यहाँ यह जान लेने योग्य बात है कि हीरे की कनी के बरमे का आविष्कार सन् १८६२ में हुआ, जब आल्प्स में एक सुरंग खोदने की जहरत हुई। इंजीनियरों ने एक घड़ी बनानेवाले से सलाह ली और उसने डायमंड ड्रिल से पत्थर तोड़ने का आदेश दिया^२। पर ऊपर के उद्धरण से तो इस बात का साफ पता चल जाता है कि भारतीयों को ११वीं सदी में भी डायमंड-ड्रिल का पता था।

सद्धम्मपज्जोतिका में छत्तपथ का अर्थ आधुनिक पेरारूट से है। छत्तपथ का यात्री एक चमड़े का छाता लेता था। उसके खुलने पर हवा भर जाती थी और इस तरह वह एक पत्नी की तरह नीचे उतर आता था।

२

इस अध्याय के पहले भाग में हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि भारतीयों का पथ-ज्ञान कितना विस्तृत था। पर संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में बहुत-सा ऐसा मसाला है जिसके आधार पर हम देश की पथ-पद्धति और जल तथा थल के अनुभवों की बात पाते हैं। यह सब धामप्री हमें कहानियों से मिलने के कारण उसकी ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं हो सकती, गोकि इसमें संदेह नहीं कि इन कहानियों में वास्तविकता का गहरा पुट है। व्यापारी अपनी यात्राओं से लौटकर बड़े-बड़े नगरों में अपने अनुभव सुनाते थे और उन्हीं अनुभवों का आश्रय लेकर अनेक कहानियाँ प्रचलित हो गईं।

गिलगिट से मिले विनयवस्तु में भारत की भीतरी पथ-पद्धति पर कुछ प्रकाश पड़ता है। पहला मार्ग कश्मीरमंडल में बुद्ध की यात्रा का है। आनी यात्रा में बुद्ध भ्रमाला, कन्या, धान्यपुर और नैतरी गये। इन स्थानों का पता नहीं लगता। शाद्वला में उन्होंने पालितकोट नाग को दोत्ता दी; नन्दिर्वर्धन में अश्वक और पुनर्वसु नागों और नाली तथा उदर्या यक्षिणियों

^१ खेवी, वही, पृ० ४३१-३२

^२ जे० आर० मेकार्थी, फायर इन दि अर्थ, पृ० २३९-२३७, लंडन, १९४६

को दीक्षा दी। वहाँ से वे कुन्तिनगर पहुँचे जहाँ बच्चों को खानेवाली कुन्ती यज्ञिणी का परामर्श किया। खजुरिका में उन्होंने बच्चों को मिट्टी के स्तूपों से खेलते देखा और यह भविष्य-वाणी की कि उनकी मृत्यु के पाँच सौ बरस बाद कनिष्क एक बहुत बड़ा स्तूप खड़ा करेंगे^१।

बुद्ध की शूरसेन-जनपद की यात्रा उस प्रदेश पर काफी प्रकाश डालती है। अपनी यात्रा में वे पहले आदि-राज्य, यानी बरेली जिले में अहिच्छत्रा पहुँचे। यहाँ से वे कामगंज-मथुरा की सड़क से भद्रास्त होते हुए मथुरा पहुँचे। यहाँ उन्होंने भविष्य-वाणी की कि उनकी मृत्यु के सौ बरस बाद नट और भट्ट नाम के दो भाई उरुमुण्ड (गोवर्धन) पर्वत पर उनके लिए एक स्तूप बनावेंगे। उपगुप्त के जन्म की भी उन्होंने भविष्य-वाणी की। वहाँ ब्राह्मणों ने उनका विरोध किया; पर ब्राह्मण नीलभूति ने बुद्ध की स्तुति करके इस विरोध को समाप्त किया^२।

बुद्ध नक्षत्राश्रम में मथुरा पहुँचे थे। मथुरा की नगर-देवता (देवी) ने उनका आना अपने काम में बाधक समझकर उन्हें नंगी होकर डराना चाहा; पर बुद्ध ने माता के लिए वह अनुचित कार्य बताकर उसे लज्जित किया^३। मथुरा के नगर-देवता के होने का नया प्रमाण हमें टालमी से मिलता है। अभी तक टालमी द्वारा मथुरा की देवताओं का नगर कहा जाना माना गया है; पर श्री टार्न ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उसका वास्तविक अर्थ देवकन्या है^४। अगर यह बात सही है तो मथुरा में नगर-देवता की बात पक्की हो जाती है। पुष्कलावती की तरह मथुरा में नगर-देवता का शायद यह पहला प्रमाण है। टार्न के अनुसार शायद उस नगर-देवता का नाम मथुरा रहा हो।

बुद्ध ने मथुरा के पाँच दुर्गुण कहे हैं; यथा, किनारों के ऊपर चले जानेवाला पानी (उत्कूलनिकूलान्), खूंटों और काँटों से भरा देश (स्पूलकयट्कप्रधानाः), बलुहो और कैंकरीती भूमि, रात के अन्तिम पहर में खानेवाले (उत्तवन्दमहाः) और बहुत-सी क्रियाएँ^५।

मथुरा अपने बच्चों के लिए मशहूर था। बुद्ध ने वहाँ लकड़ों को खानेबख्शे गर्दभ बच्च (भागवत का धेनुकासुर) तथा शर और बज्र को तथा आलिका, बेन्दा, मया, तिपिचिका (शायद ईरानी देवी अर्तैमिज) को शान्त किया^६।

मथुरा से बुद्ध ओतला पहुँचे और वहाँ से दक्षिण पांचाल में वैरभ्य जो पालि-साहित्य का वेरंजा है। यहाँ उन्होंने कई ब्राह्मणों को दीक्षित किया।^७

पांचाल से साकेत तक के रास्तों पर कुमारवर्धन, क्रीयानम्, मणिकर्षी, सालवला, धालिवला, सुवर्णप्रस्थ और साकेत पड़ते थे।^८ साकेत से बुद्ध ने धावस्ती का रास्ता पकड़ा।^९

१ गिल्गिट मेनेसफिट्स, १, भा० १, पृ० १-२

२ वही, पृ० ३-१३

३ वही, पृ० १४

४ टार्न, वही, पृ० २२१-२२

५ गिल्गिट टेक्सट्स, वही, पृ० १४-१५

६ वही, पृ० १५-१७

७ वही, पृ० १८ से

८ वही, पृ० १८-१९

९ वही, पृ० २१

जीवक कुमारमृत्यु, तक्षशिला में शिक्षा प्राप्त करने के बाद, भद्रंकर (वियालकोट), उदुम्बर (पठानकोट), रोहीतक (रोहतक) होते हुए मथुरा पहुँचे और वहाँ से उत्तरी रास्ते से वैशाजी होते हुए राजगृह पहुँचे ।^१

उपयुक्त पथों से पता चलता है कि ईसा की पहली सदियों में भी रास्ते में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ था, गोकि उन रास्तों में बहुत ऐसे नगर मिलने लगते हैं जिनका बुद्ध के समय में पता नहीं था ।

हमें संस्कृत-बौद्ध-साहित्य से स्थलमार्ग पर यात्रा की कुछ बातों का पता लगता है । ईसा की पहली सदियों में भी यात्रा में उतनी ही कठिनाइयाँ थीं जितनी पहले । रास्तों में डाकुओं का भय रहता था । रेगिस्तान में भी यात्रा की अनेक कठिनाइयाँ थीं । रास्ते में नदियाँ पार करनी होती थीं और घाट उतारनेवाले घाट उतारने के पहले उतराई (तर्पण) वसूल करते थे ।^२ कभी-कभी नदी पार उतरने के लिए नावों का पुत्र भी होता था । दिव्यावदान में कहा गया है कि राजगृह से श्रावस्ती के राजमार्ग पर अजातशत्रु ने एक नाव का पुल (नौसंक्रमण) बनवाया ।^३ लिच्छवियों के देश में गंडक पर भी एक पुल था । अवदानशतक के अनुसार^४, गंगा के पुल के पास बदमाश-गुंडे रहते थे ।

महापथ पर पंजाब और अफगानिस्तान के घोड़ों के व्यापारी बराबर यात्रा करते रहते थे । कहा गया है कि तक्षशिला का एक व्यापारी घोड़े बेचने (अश्ववण) को बनारस जाता था । एक समय डाकुओं ने उसके सार्थ को तितर-बितर कर दिया और घोड़े चुरा लिये ।^५ घोड़ों के व्यापार का मथुरा भी एक खास अड्डा था । उपगुप्त की कथा में कहा गया है कि मथुरा में एक समय पंजाब का एक व्यापारी पाँच सौ घोड़े लाया । वह इतना रईस था कि मथुरा पहुँचते ही उसने वहाँ की सबसे कीमती गणिका की माँग की ।^६

अधिकतर व्यापारी राजशुल्क भर देते थे, पर कुछ ऐसे भी थे जो निःशुल्क माल ले जाना चाहते थे । दिव्यावदान^७ में एक जगह कहा है कि चोर ऐसी तरीकब करते थे कि शुल्क उगाहनेवालों को, छानाबीन के बाद भी, पता नहीं लगता था ।

कहानी यह है कि मगध और चम्पा की सीमा पर एक यज्ञ-मन्दिर था जिसका घराटा चोरी से माल ले जाने पर बजने लगता था । चम्पा के एक गरीब ब्राह्मण ने फिर भी निःशुल्क माल ले जाने को ठान ली । उसने एक जोड़ी (यमली) अपने छाते की खोखली डगड़ी में छिपा ली । राजगृह जानेवाले सार्थ के साथ जब वह शुल्कशाला में पहुँचा तो शुल्काध्यक्ष ने सार्थ के माल पर शुल्क वसूल लिया (शुल्कशालिकेन सार्थः शुल्कीकृतः), पर जैसे ही सार्थ आगे

१ वही, ३, २, पृ० ३३-३४

२ अवदानशतक, १, पृ० १४८, जे० एस० स्पेयर द्वारा सम्पादित, सेंटपीटर्स-बर्ग, १९०६

३ दिव्यावदान, ३, २५-२६

४ अवदानशतक, १, पृ० ६४

५ महावस्तु, २, १६७

६ दिव्यावदान, २६, ३२३

७ वही, पृ० २७५ से

बढ़ा कि घण्टा बजने लगा जिससे शुक्राश्वत्थ को पता लग गया कि शुक पुरी तौर से बसूल नहीं हुआ था। उसने सबके माल की फिर तलाशी ली; पर नतीजा कुछ न निकला। अन्त में उसने एक-एक करके व्यापारियों को खोजना शुरू किया और इस तरह ब्राह्मण देवता का पता चल गया; क्योंकि उनकी बारी आते ही घण्टा बजने लगा। फिर भी द्विपे माल का पता नहीं चलता था। अन्त में शुक तूल न करने का वादा करने पर ब्राह्मण ने खोजती डगड़ी से बमली निकाल कर दिखाता दी।

✓ हम देख चुके हैं कि ईसा की पहली सदियों में पूर्व और पश्चिम में जहाजरानी की कितनी उन्नति हुई और भारतीय व्यापारियों ने किस तरह इसमें योगदान दिया। सुवर्णभूमि की यात्राओं से उन्हें खूब दौलत मिली। दौलत पैदा करने के साथ-ही-साथ उन्होंने हिन्दूधर्म, मध्य-एशिया और बर्मा में भारतीय संस्कृति की नींव डाल दी। इस संस्कृति-प्लार में बौद्ध और ब्राह्मण दोनों ही का हाथ था। महावस्तु^१ में इस सम्बन्ध की एक रोचक कहानी है। कहा गया है कि प्राचीन युग में वारवालि से एक ब्राह्मण शुक थे जिनके पाँच सौ शिष्य थे। उनकी धी नाम की एक बड़ी सुन्दरी कन्या भी थी। एक बार ब्राह्मण के उपाध्याय ने उन्हें यज्ञ कराने के लिए समुद्रपट्टन भेजना चाहा। स्वयं जाने अबवा अपने बन्ने में दूसरे के भेजने पर भी, दक्षिणा की पूरी आशा थी। उन्होंने अपने शिष्यों को बुलाकर कहा कि समुद्रपट्टन जानेवाले को वे अपनी कन्या ब्याह देंगे। श्री का प्रेमी एक युवा शिष्य इस बात पर समुद्रपट्टन पहुँचा। यज्ञ कराने के बाद यजमान सार्धबाह ने उसे सोना और रुपये दिये।

✓ वस्तु कहानी से कुछ नई बातें मालूम पड़ती हैं। जहाँ ब्राह्मण शुक रहते थे, उस स्थान का नाम वारवालि कहा गया है। बहुत सम्भव है कि यह काठियावाड़ का वेरावल बन्दर हो। जहाँ यज्ञ होनेवाला था उसे समुद्रपट्टन कहा गया है जिसके मानी, मामूली तरह से, समुद्री बन्दर हो सकते हैं; पर यहाँ बहुत सम्भव है कि समुद्रपट्टन सुमात्रा के लिए आया है। इसमें कोई आश्चर्य की बात भी नहीं है; क्योंकि बोर्नियो और दूसरी जगहों में भी यज्ञ के प्रतीक वृष मिले हैं जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इस देश के ब्राह्मण यज्ञ कराने के लिए हिन्द-एशिया जाते थे।

कपड़े, मसाले और सुगन्धित लकड़ियाँ भारत और हिन्द-एशिया के व्यापार में मुख्य वस्तुएँ थीं। महावस्तु^२ में एक बड़ी विकृत तालिका में चाँदे और रंगीन कपड़ों में काशी का दुकूल, बंगाल का रेशमी कपड़ा (कोश (श) करके), खौम, केजुल की तरह मलमल (सूला-काचिलिन्दि) और चमड़ा बटकर बनी कोई चट्टाई (अजिनपेण्डि) थे। इसके बाद उन बन्दरों और प्रदेशों के नाम आते हैं जिनसे कपड़े बाहर जाते थे और इस देश में आते थे। वनरस्ता से शायद यहाँ वनदास (उत्तर कनारा) का मतलब है। तमकूट का पाठ यहाँ हेमकूट सुधारा जा सकता है। जैसा हम ऊपर कह आये हैं, हेमकूटका का दुकूल प्रसिद्ध था। सुभूमि से यहाँ सुवर्णभूमि का तात्पर्य है और तोषल से वहीया की तोसली का। कौल से यहाँ पोंड्य देश के सुप्रसिद्ध बन्दरगाह कोरकै का मतलब है और मचिर तो निश्चयपूर्वक पेरिश्रम का मुजोरिस और महामारत का मुचीरीपट्टन है।

^१ महावस्तु, २, ८१-१०

^२ महावस्तु, १, २१५-२६

यह भी उल्लेखनीय बात है कि समुद्र के व्यापारियों की श्रेणी से ही बुद्ध के समुद्रसिद्ध शिष्य सुपारा के पूर्ण निकले थे। जैसा हम देख आये हैं, बौद्ध-धर्म के आरम्भिक युग में पश्चिम भारत के समुद्रतट पर सुपारा एक प्रसिद्ध बन्दरगाह था। यहाँ से स्थलपथ तथादि को पार कर नानापाद होता हुआ गोदावरी की घाटी और दक्षिण के पठार में पहुँचकर उज्जैन और वहाँ से गंगा के मैदान में जाता था।

✓ दिव्यावदान^१ में व्यापारी और बाद में भिक्षु पूर्ण की बड़ी ही सुन्दर कहानी दी गई है। वह सुपारा के एक बड़े धनी व्यापारी का पुत्र था जिसके तीन स्त्रियाँ और तीन दूसरे पुत्र थे। वृद्धावस्था में अपने परिवार से तिरस्कृत होकर उस बड़े व्यापारी ने एक दासी से शादी कर ली जो बाद में पूर्ण की माता हुई। बचपन से ही पूर्ण का व्यापार में मन लगता था। वह अपने बड़े भाइयों को दूर-दूर भी समुद्र-यात्राएँ करते देखा था। उनसे प्रभावित होकर उसने अपने पिता से उनके साथ यात्रा करने की अनुमति माँगी, लेकिन उसके पिता ने उसकी बात न मानकर उसे दूकान-दौरी देखने का आदेश दिया। अपने पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके उसने दूकान देखना आरम्भ कर दिया और उसका फायदा अपने भाइयों के साथ बाँटकर लेने लगा। उसके भाई उससे ईर्ष्या करते थे और इसलिए पिता की मृत्यु के बाद उन्होंने उसे बन्दर के व्यापार में लगा दिया। इसमें भी उसने अपनी चतुराई दिखाई। कुछ समय के बाद, वह व्यापारियों की श्रेणी का चौधरी हो गया और तब उसने समुद्रयात्रा करके नये देशों और जातियों को देखने की शान ली। उसकी यात्रा का समाचार सुनाई से करा दिया गया। उसने सब लोगों से इस बात का एलान किया कि जो भी व्यापारी उसके साथ चलनेवाले होंगे उन्हें किसी तरह का कर (शुल्क-तर्पण्य) नहीं देना होगा। किसी तरह उसने कुरात^२ ब्रह्म-यात्राएँ कीं। एक दिन उसके पास, सुपारा में, आवरुती के व्यापारी पहुँचे और उससे सातवीं बार समुद्रयात्रा की प्रार्थना की। पहले तो उसने अपनी जान लतरे में डालने के बहाने से यात्रा टालनी चाही, लेकिन जब उन लोगों ने उसे बहुत घेरा तो उसने उनकी बात मान ली। इस यात्रा में पूर्ण ने व्यापारियों से बुद्ध के बारे में सुना। यात्रा से लौट आने पर उसके बड़े भाई ने उसका विवाह करना चाहा। पर भिक्षु होने के लिए सन्नद्ध पूर्ण ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। वह एक सार्थ के साथ आवरुती पहुँचा और वहाँ पहुँचकर प्रसिद्ध व्यापारी अनाथपिण्डिक के पास अपना एक दूत भेजा। अनाथपिण्डिक ने पहले तो समझा कि पूर्ण कोई सौदा करने आया है। पर जब उसने यह सुना कि पूर्ण भिक्षु होनेवाला है तो उसे बुद्ध से मिला दिया। बुद्ध-धर्म में पूर्ण की दीक्षा हृदय की क्षुब्धता है; इसमें किसी तरह की अलौकिक बात नहीं आने पाई है। जिस तरह लहरें समुद्र को लुब्ध कर देती हैं उसी तरह नाविकों का मन भी एकदम लुब्ध हो जाता है और वे बहुधा अपना व्यवसाय छोड़कर धर्म के उपदेशक बन जाते हैं। ऐसा पता लगता है कि बहुत दिनों का एकान्तवास और प्राकृतिक उषल-पुषल नाविक के हृदय में एक तरह की दीनता भर देती है जो एकाएक धार्मिक उल्लास में फूट पड़ती है। पूर्ण के बारे में भी यही बात कही जा सकती है। बुद्ध के साथ पूर्ण के वार्तालाप से यह पता लगता है कि रुक्मवटों के होते हुए भी वह अपना काम करने पर कम्तर कसे हुए था। जब बुद्ध ने सबसे कार्यक्षेत्र के बारे में पूछा तो पूर्ण ने श्रोणापरान्त अथवा बर्मा का नाम लिया। बुद्ध ने वहाँ के लोगों के क्रूर स्वभाव की ओर इशारा किया, लेकिन यह बात भी पूर्ण को वहाँ जाने से न रोक सकी।

ऐसा लगता है कि पूर्ण की अतीतिक शक्ति से प्रभावित होकर समुद्र के व्यापारी उसे समुद्र का सन्त मानने लगे थे। इस बात का पता हमें पूर्ण के भाई की यात्रा से लगता है। पूर्ण की सलाह न मान कर भी उसने रक्तचन्दन की तलाश में समुद्रयात्रा की। तिमोर में सबसे अच्छा चन्दन होता था। वहाँ पहुँचकर उसने चन्दन के बहुत-से पेड़ काट जाते जिससे क्रोध होकर वहाँ के राजा ने एक तुफान खड़ा कर दिया जिसमें पूर्ण के भाई की जान जाते-जाते बची। पर पूर्ण का स्मरण करते ही तुफान रुक गया और पूर्ण का भाई अपने साथियों-सहित कुशल-पूर्वक अपने घर लौट आया।

उपयुक्त घटना का चित्रण अजंटा की दूसरे नम्बर की लेण के एक भित्तिचित्र में हुआ है।^१ (भा० १५) इस चित्र में पूर्ण के जीवन की कई घटनाओं का—जैसे, उसकी बुढ़ के साथ भेंट और बौद्ध-धर्म में प्रवेश का—चित्रण हुआ है। लेकिन इस चित्र में जिस कल्पितनीय घटना का चित्रण है वह है पूर्ण के बड़े भाई भविल की चन्दन की खोज में समुद्रयात्रा। समुद्र में मछलियाँ और दो मत्स्यनारियाँ दिखाई गई हैं। जहाज मजबूत और बड़ा बना हुआ है और उसमें रत्ने हुए बारह घड़े इस बात को सूचित करते हैं कि जहाज लम्बी यात्रा पर जानेवाला था। गलती और पिडाही, दोनों पर बालक बने हुए हैं। डॉकि के पास नियाँमक के बैठने का स्थान है। पिडाही में एक चौबटे में लगा हुआ स्तम्भ शायद एक जिवपाल वहन करता था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, सबसे अच्छा चन्दन मलय-एशिया से भारत को आता था। एक जगह इस बात का उल्लेख है कि एक समुद्री व्यापारी ने बौद्ध-साहित्य में प्रसिद्ध विशाखा गृधरमाता के पास चन्दन की लकड़ी की गड़ी (चन्दन गश्तीरक) मेंजी। चन्दन के मूल और अग्रभाग की जाँच करने की ठानी गई। उसके लिए विशाखा ने एक माफूला-या प्रयोग बतलाया। चन्दन का कुन्दा पानी में भिगो देने से जब तो पानी में बैठ जाती थी और तिरा तैरने लगता था। यह चन्दन हमें अरबों के ऊखकी की याद दिलाता है।

वह मोशीर्ष चन्दन, जिससे पूर्ण ने बहुत धन पैदा किया, एक तरह का पीला चन्दन होता था जिसे इन्डो-अन्त-वैतार (११६७-१२४८) मकासिरी कहता है। मलाया में भी बहुत अच्छी किस्म का चन्दन होता था। महाहत (जावा का एक भाग), तिमोर और बन्दाशीप के चन्दन भी बहुत अच्छे होते थे। उपयुक्त मकासिरी चन्दन मकावार, गामी, सेलिबीज में होनेवाला चन्दन था^२।

संस्कृत-बौद्ध-साहित्य से पता लगता है कि समुद्रयात्रा में अनेक भय थे। उन भयों से जस्त होकर घर की जियाँ व्यापारियों को समुद्र-यात्रा के लिए मना करती थीं, लेकिन वे अगर जाने से न मानते थे तो जियाँ उनके कुशल-पूर्वक लौटने के लिए देवताओं की मन्तवें मानती थीं। अश्वदानशतक^३ में कहा गया है कि राजशूह में एक समुद्री व्यापारी की स्त्री ने इस बात को मजबूत मानी कि उसके पति के कुशल-पूर्वक लौट आने पर वह नारायण को खोने का एक चक्र भेंट करेगी। अपने पति के लौट आने पर उसने बड़ी धूमधाम से मानता उतारी।

१ यात्रादानी, अजंटा, भा० २, पृ० ४२ से, प्लेट ४२

२ मिलगिट मैनेरिकप्ट्स, भा० ३, २, पृ० ६४

३ जे० ए०, १६१८, जनवरी-फरवरी, पृ० १०० से

४ अश्वदानशतक १, पृ० १२६

समुद्रयात्रा की कठिनाइयों को देखते हुए भारतीय व्यापारी अपनी क्रियों को बाहर नहीं ले जाते थे, पर कभी-कभी वे ऐसा कर भी लेते थे। दिव्यावदान^१ में कहा गया है कि अपने पति के साथ समुद्रयात्रा करती हुई एक स्त्री को जहाज पर ही बचा पैदा हुआ और समुद्र में पैदा होने से उसका नाम समुद्र रख दिया गया।

उस युग में भी भारतीय जहाजों की बनावट बहुत मजबूत नहीं होती थी, इसलिए अपनी यात्रा में वे बहुधा टूट-फूट जाते थे। शार्क, देवमास, तिमि, तिमिगल, शिशुमार और कुम्भीर के चक्कों को वे सह नहीं सकते थे। ऊँची लहरों (आवर्त) से भी जहाज डूब जाते थे। समुद्र के अन्तर्जलगत पर्वत आघातमय उन्हें तोड़-फोड़ देते थे। जलडाकू नीले कपड़े पहनकर समुद्र में अपने शिकार की तलाश में बराबर घूमा करते थे।^२ द्वीपों में बसनेवाले जंगली भी यात्रियों पर आक्रमण करके उन्हें लूट लेते थे। लोगों का विश्वास था कि समुद्र के बड़े-बड़े साँप जहाजों पर धावा कर देते हैं।

जहाज टूटने के बार शिवाय अपने इष्टदेव की प्रार्थना करने के और दूसरा कोई उपाय नहीं रह जाता था। महावस्तु के अनुसार, डूबते हुए जहाज के यात्री पक्षों, तख्तों और कुम्बों (अलावुधेणी)^३ के सहारे अपनी जान बचाने की कोशिश करते थे।

संस्कृत-बौद्ध-साहित्य से भारतीय जहाजरानी के सम्बन्ध में और भी छोटी-मोटी बातें मिलती हैं। हमें पता लगता है कि जहाज लंगर डालने के बाद एक खूँटे (बैजपास)^४ से बाँध दिया जाता था। लंगर जहाज को ख़ुबब समुद्र में सीधा रखता था और गहरे समुद्र में उसे हिलने से रोकता था^५। जहाँ तक मैं जानता हूँ, समुद्री नक्शे अथवा लॉगबुक का सबसे पहला उल्लेख गृह्यकथा-श्लोक-संग्रह में हुआ है^६। मनोहर ने अपनी समुद्रयात्रा में शृंगवान पर्वत और धीकुंजनगर की भौगोलिक स्थिति का पता लगा कर उसे एक नक्शे अथवा बही पर लिख लिया (सहसामरदिग्देशं स्पष्टं संपुटकेऽभिबन्ध)।

निर्गमकों और नाविकों की अपनी-अपनी श्रेणियाँ होती थीं। आर्वसूर ने सेपारा के निर्गमकों के चौधरी सुपारगकुमार को शिघ्रा का विस्तृत वर्णन किया है। एक कुशल संचालक (सारथिः) की हैसियत से वह बहुत थोड़े समय में ही अपना सबक सीख लेता था। नवज्वा की गति-विधि का ज्ञान होने से उसे कभी भी दिशाभ्रम नहीं होता था। फलित-ज्योतिष के ज्ञान से उसे आनेवाली विपत्तियों का भी ज्ञान हो जाता था। उसे अच्छे और खराब मौसम का तुरन्त भाव हो जाता था। उसने मछलियों, पानी के रँगों, किनारों की बनावटों, पक्षियों, पर्वतों इत्यादि की लोज-बोन से समुद्रों का अध्ययन किया था। जहाज चलते समय वह कभी भी नहीं सोता था। गरमी, जाड़ा और बरसात में वह समान भाव से अपने जहाज को आगे-पीछे (आहरणपरहरण) ले जाता था और इस तरह अपने जहाज के यात्रियों को कुशल-पूर्वक

१ दिव्यावदान, २६, ३०९

२ दिव्यावदान, पृ० ५०२

३ महावस्तु, ३, पृ० ६८

४ दिव्यावदान, पृ० ११२

५ मिलिन्द प्रश्न, पृ० ३३७

६ गृह्यकथा-श्लोक संग्रह, १३, १०७

गन्तव्य स्थान को पहुँचा देता था। मित्रिन्दपरन^१ में एक जगह कहा गया है कि निर्माणक को अपने यन्त्र का बड़ा खयाल रहता था। वह उसे दूसरों के हूने के भय से सुहरबन्द करके रखता था। यहाँ यह कहना कठिन है कि कब से पतवार का मतलब है या कुतुबनुमे का। जैसा हमें पता है, कुतुबनुमे का आविष्कार तो शाबद चीनियों ने बहुत बाद में किया।

समुद्रयात्रा की सफलता जहाज के नाविकों की कुस्ती पर बहुत-कुछ निर्भर होती थी। मित्रिन्दपरन^२ से हमें पता लगता है कि भारतीय खजानियों (कम्पकर) को अपनी जवाब-देही का पूरा ज्ञान होता था। भारतीय नाविक प्रायः सोचता था—“नौ नौकर (सूत्र) हैं और जहाज पर बेतन के लिए नौकरी करता है। इसी जहाज की वजह से मुझे खाना और कपड़ा मिलता है। मुझे सुस्त नहीं होना चाहिए, कुस्ती के साथ मुझे जहाज चलाना चाहिए।” लगता है कि उस युग में जहाज और नाव चलानेवाले कई तरह के नाविक होते थे। ‘आहार’ नाम के नाविक जहाज को किनारे पर ले जाते थे। खजानियों को नाविक कहते थे। नशियों पर नाव चलानेवाले मौकों (कैवर्त) कहलाते थे। पतवार चलाने का काम कर्णधारों के सुपुर्द होता था^३।

जैसा हम एक जगह देख आये हैं, लाजसागर और फारस की खाड़ी के जहाजरानों में उतनी ही सुसीधते थी जितनी पहले। आर्यसुर ने जातकमात्रा में के सुपारगजातक^४ में जातकों के सुपारकजातक (नं ४६३) का एक नवीन काव्यमय रूप दिया है। इस जातक में उसने निर्माणक का नाम सुपारग, यानी, ‘जहाजरानों में कुशल’ रखा है। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, सुपारग एक कुशल निर्माणक था और निर्माणकसूत्र में उसने पूरी शिक्षा पाई थी। आर्य-सुर ने कल्पना की है कि सोपारा के बन्दर का नामकरण भी उसी के नाम से हुआ था। समुद्र के व्यापारी (सांवात्रिक) कुशल-पूर्वक यात्रा करने के उद्देश्य से उसकी खशामद करते थे। एक समय सुवर्णभूमि के व्यापारियों ने अपने जहाज को चलाने के लिए (वाहनारोहणार्थ) उससे प्रार्थना की, पर उसने, वृद्धावस्था के कारण आँखें कमजोर पड़ जाने से, उनकी प्रार्थना अस्वीकार कर दी। पर व्यापारी कब माननेवाले थे। सुपारग ने अपने भले स्वभाव के कारण बुढ़ापे की कमजोरियों के होते हुए भी उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली।

जहाज कुछ दिनों में मछलियों से भरे सागर में पहुँच गया। लुब्ध समुद्र के बेग से फेनिल लहरों पर रंगीन धारियाँ पड़ रही थीं तथा सूर्य की रोशनी में नीला समुद्र मानो आकाश लु रहा था। किनारे का कोई निशान नहीं था। सूर्यास्त के बाद मौसम और भी भयंकर हो गया; लहरें फेनिल हो गईं, हवा गरजने लगी, और उड़लते हुए पानी ने समुद्र को धीरे भी भीषण बना दिया। हवा से लुब्ध समुद्र में भँवर पड़ने लगे और ऐसा पता लगने लगा कि प्रलय नजदीक है। धीरे-धीरे बारलों के पीछे सूर्य अस्त हो गया और चारों ओर अँधेरा छा गया। समुद्र से इबर-उधर फेंका जाकर, मानो भय से जहाज काँप रहा था। ऐसे समय, बात्री बहुत पहराये और अपने इष्टदेवताओं का स्मरण करने लगे।

१ मित्रिन्दपरन, पृ० ३०२

२ वही, पृ० ३०४

३ अथदानशतक, १, २०१

४ जातकमात्रा, पृ० ८८ से

इस तरह जहाज कई दिनों तक समुद्र में लुप्त होता रहा; पर नावियों को किनारे का पता न चला। कोई ऐसे लक्षण भी नहीं दिखताई दिये जिनसे वे उस समुद्र की पहचान कर सकें। नये लक्षणों को देखकर व्यापारी बहुत चिन्तित हुए। उन्हें धीरे-धीरे पाने के लिए सुपारग ने कहा—“वे तुलान के लक्षण हैं। विपत्ति से पार पाने का रास्ता न होने पर कर्तव्य छोड़िए। कर्तव्यनिरत मनुष्य हँसकर तकलीफों को उड़ा देते हैं।” सुपारग के वत्साह्वयक शब्द काम कर गये और वे अपनी घबराहट भूलकर समुद्र की ओर देखने लगे। उनमें से कुछ ने स्त्री-मर्त्य देखे, पर वे यह निश्चित न कर सके कि वे जिनमें थीं अथवा किसी तरह की मछलियाँ। उनके सन्देह दूर करने के लिए सुपारग ने उन्हें बताया कि वे सुरमाली समुद्र को मछलियाँ थीं। व्यापारियों ने अपने जहाज का रास्ता बदल देना चाहा, पर लहरों की चपेट में पड़कर जहाज एक फेनित समुद्र में पहुँच गया जिसका नाम सुपारग ने दधिमाल बतलाया। इसके बाद वे अस्मिताल समुद्र में पहुँचे जिसका पानी अंगारों की तरह लाल था। वहाँ भी जहाज रोका नहीं जा सका और वह बहते-बहते क्रमशः कुम्भाल और नलमाल समुद्रों में पहुँचा। यहाँ जब निर्यामक ने नावियों को बतलाया कि वे पृथ्वी के अन्त में पहुँच गये हैं तो वे भयभीत हो गये। समुद्र में शोर के कारण का पता लगने पर सुपारग ने उन्हें बताया कि वह शीत ज्वालामुखी पर्वत का था। अपना अन्त ज्ञाया जानकर कुछ व्यापारी रोने लगे, कुछ इन्द्र, आदित्य, रुद्र, महर्षि, वसु, समुद्र इत्यादि देवताओं का आवाहन करने लगे और कुछ साधारण दैवी-देवताओं की याद करने लगे। पर सुपारग ने उन्हें शास्त्वना ही और उनकी प्रार्थना से जहाज ज्वालामुखी पर्वत के मुख के पास जाकर फिर आया। बाद में सुपारग ने उनसे वहाँ की रेत और पत्थर जहाज में भर लेने को कहा। वापस लौटकर व्यापारियों को पता लगा कि वे रेत-पत्थर नहीं; बल्कि सोना चाँदी और रत्न थे।

सुपारगजातक में अतिशयोक्ति का पुत्र होते हुए भी यह निश्चित है कि इस कहानी का आधार फारस की खाड़ी, लालसागर और भूमध्यसागर की यात्राएँ थीं।

दिव्यावदान में और कई समुद्रयात्रा-सम्बन्धी कहानियाँ हैं जिनसे पता लगता है कि फारस और सैर के लिए किस तरह लोग यात्राएँ करते थे।

कोटिकर्ण की यात्रा^१ में कहा गया है कि एक बार उसने अपने पिता से मातृ के साथ समुद्रयात्रा के लिए आज्ञा माँगी। उसके पिता ने सुनादी करा दी कि उसके पुत्र के साथ जाने-वाले व्यापारियों को कोई माल नहीं देना होगा। कोटिकर्ण ने बन्दरगाह तक जाने के लिए होशियार खचर चुने। चलते समय उसके पिता ने उसे उपदेश दिया कि वह सार्थ के आगे कभी न चले; क्योंकि उसमें लुटने का भय रहता है। सार्थ के पीछे चलना इसलिए ठीक नहीं कि चक्कर साथ लुट जाने का भय बना रहता है। इसलिए सार्थ के बीच में चलना ही ठीक है। उसके पिता ने दासक और पातक नामक दो दासों को कोटिकर्ण के साथ बराबर रहने का आदेश दिया। कोटिकर्ण धार्मिक कृत्य करने के बाद अपनी माता के पास आज्ञा के लिए पहुँचा। माता ने बेमन से आज्ञा दी। इसके बाद कोटिकर्ण ने समुद्र यात्रा में जानेवाला माल बैलगाड़ियों मोटियों, कैलों और खचरों पर तथा पेटियों में लादा और यात्रा करते हुए बन्दरगाह पर पहुँच गया। वहाँ से वह एक मजबूत जहाज लेकर रत्नद्वीप (सिंहल) पहुँचा। वहाँ रत्नों

को खूब आनंदी तरह से परीक्षा करके उन्हें खरीदकर जहाज पर लाया। काम समाप्त होने के बाद अनुकूल हवा के सहारे वह भारत पहुँचा। समुद्र के किनारे उसका कारवाँ विभ्राम करने लगा और कोटिकर्ण उसे झोड़कर आप-व्यय का लेला-जोता करने लगा। कुछ देर के बाद उसने दासक को कारवाँ का हात-चाल जानने के लिए भेजा। दासक ने सबको सोते देखा और खुद भी सो गया। दासक के वापस न लौटने पर कोटिकर्ण ने पालक को भेजा। पालक ने जाकर देखा कि कारवाँ लट रहा है, और यह सोचकर कि दासक लौट गया होगा, वह स्वयं उस काम में जुट गया। माल लादकर कारवाँ ने कूच कर दिया। सबरे कारवाँ को पता लगा कि कोटिकर्ण गायब है, लेकिन तब तक वह इतनी दूर बढ़ चुका था कि उसके लिए वापस लौटना सम्भव नहीं था।

सबरे जब कोटिकर्ण जागा तो उसने देखा कि सार्थ आगे बढ़ चुका है। गदहों की गाड़ी पर चढ़कर उसने कारवाँ का पीछा करना चाहा; पर अभाम्बवक्ष उसके निशान-उप-समय तक बाँ से उठ चुके थे। पर गर्हे आने पथ-ज्ञान के उठ से आगे बढ़े। कोटिकर्ण ने उनकी धीमी चाल से क्रोधित होकर उन्हें चाबुक लगाई जिससे वे एक दूसरे ही रास्ते पर चल निकले। कोटिकर्ण को बाद में पानी के अभाव से गदहों को लोड़ देना पड़ा। इसके बाद कहानी का अलौकिक अंश आता है और हमें पता लगता है कि किस तरह कोटिकर्ण अपने घर पहुँचा।

हम ऊपर पूर्ण के बड़े भाई की समुद्रयात्रा की ओर इशारा कर चुके हैं। उसका जहाज अनुकूल हवा के साथ चन्दन के जंगल में पहुँचा और वहाँ व्यापारियों ने अच्छे-से-अच्छे चन्दन के कुछ काट डाले। अपने जंगल को कटा देवकर महेश्वर यक्ष ने महाकालिकात्रय चला दिया और व्यापारी अपने प्राणों के डर से शिव, वरुण, कुबेर, शक्र, ब्रह्मा, असुर, उरग, महोरग, यक्ष और दानवेन्द्र की प्रार्थना करने लगे। उसी समय पूर्ण ने अपनी अलौकिक शक्ति से उनकी रक्षा की।

समुद्र में देवमास का भी कभी बड़ा डर रहता था। एक समय पाँच सौ व्यापारी एक जहाज लेकर समुद्रयात्रा पर चले। समुद्र देखकर वे बहुत ध्वरावे और निर्धामक से समुद्र के कातेपन का कारण पूछा। निर्धामक ने कहा—“जम्बुद्वीप के वासियो! समुद्र तो मोती, नैऋत्य, शंख, मृगा, चाँदी, सोना, अक्षीक, जमुनिया, लोहितार्क और दक्षिणार्क शंखों का घर है। पर इन रत्नों के वे ही अधिकारी हैं जिन्होंने अपने माता-पिता, पुत्र-पुत्री, दास तथा त्थानों में काम करनेवाले मजदूरों के प्रति अच्छा व्यवहार किया है और अमण तथा ब्राह्मणों को दान दिया है।” जहाज पर वे ही लोग थे जिन्हें माल पैदा करने की तो इच्छा थी, पर वे किसी तरह का खतरा उठाने की तैयार नहीं थे। निर्धामक ने जहाज पर भीड़ होने की शिकायत की, पर व्यापारियों की यह नहीं सूझा कि किस उपाय से वह भीड़ छूट जाय। बहुत सोचने-विचारने के बाद व्यापारियों ने निर्धामक से कहा कि वह भीड़ से समुद्र की तकलीफों की कथा कहे। निर्धामक ने भीड़ को सम्बोधन करके कहा—“अरे जम्बुद्वीप के निवासियो! समुद्र में अनेक अनजाने भय हैं। वहाँ तिमि और तिमिगल नाम के बड़े देवमास रहते हैं और वे कबुल भी दिखताई देते हैं। लहरें ऊँची उठती हैं और कभी-कभी किनारे गिर पड़ते हैं (स्वलत्सीदन)। जहाज कभी-कभी दूर तक चले जाते हैं और कभी-कभी पानी के नीचे छिपी चट्टानों से टकराकर चूर-चूर हो जाते हैं। वहाँ तूफानों (कलिकावात)

का भी भय रहता है। समुद्री डाकू नीले कपड़े पहनकर जहाजों को लूटते रहते हैं। इसलिए तुममें से जो अपनी जान देने को तैयार हैं और अपना माल-मत्ता लड़कों को सौंप चुके हैं वे ही इस यात्रा पर चलने की सोचें। संसार में वीर कम हैं, डरपोक बहुत हैं।” नियामक की यह दिल दहलानेवाली बात सुनकर भीड़ बिसक गई। जहाजियों ने वेत्र काट दिया और पालें खोल दीं। नियामक द्वारा संचालित (महाकर्णधारसम्प्रेरित) उस नाव ने अतुकूल वायु से रफ्तार पकड़ ली और धीरे-धीरे वह रत्नद्वीप पहुँच गई।^१

सिंहल में जहाज के पहुँचने पर कर्णधार ने व्यापारियों से कहा—“इस द्वीप में ऐसी काँचमणियाँ मिलती हैं जो देवने में बिल्कुल असली रत्नों की तरह मातूम पड़ती हैं। इसलिए तुम लोगों को रत्न खरीदने के लिए उनकी पूरी जाँच-पड़ताल करनी चाहिए; नहीं तो घर लौटने पर केवल तुम अपने भाग्य ही को कोसेगे। इस द्वीप में काँच-कुमारिकाएँ रहती हैं जो आदमियों को पकड़क उन्हें खूब पींती हैं। यहाँ ऐसे नशीले फल भी होते हैं जिन्हें खाने से सात दिन तक आदमी सोता रहता है। यहाँ की प्रतिकूल हवा जहाज को अपने रास्ते से हटा देती है।” इस तरह खबरदार किये जाने के बाद व्यापारियों ने खूब परखकर सच्चे रत्न खरीदे और कुछ दिनों के बाद अतुकूल हवा में अपना जहाज भारत के लिए खोल दिया। रास्ते में उन्हें बहुत बड़े-बड़े मच्छ मिले तथा बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को खाती हुई दिखाई दीं। व्यापारियों ने एक देवमास (तिमिंगल) को तैरते हुए देखा। उसके बदन का तिहाई भाग पानी के ऊपर उठा हुआ था। उसने जैसे ही अपने जबड़े खोले, समुद्र का पानी उसके मुँह से हरहरा कर निकलने लगा। पानी के जोर से कछुए, जल-अश्व (वल्गमक), सूँघ और दूसरे बहुत किस्म की मछलियाँ उसके मुँह में घुसकर पेट के अन्दर पहुँच गईं। उसे देखकर व्यापारियों ने सोचा कि प्रलय नजदीक है। उन्हें इस घबराहट में पड़ा हुआ देवकर कर्णधार ने उनसे कहा—“तुम सबने पहले ही समुद्र में तिमिंगल-भय के बारे में सुन लिया था, वही भय उपस्थित हो गया है। पानी से निकलती हुई एक चञ्चल-पी जो तुम्हें दिखाई देती है वह तिमिंगल का सिर है और जो भाग तुम्हें माणिकों की कतार-सा दिखलाई देता है वह उसके ओठ हैं, जबड़ों के भीतर सफेद रेखा उसके दाँत हैं और जलते हुए गोले उसकी आँखें हैं; अब हमें आसन्न मृत्यु से कोई नहीं बचा सकता। अब तुम सब मिलकर अपने इष्टदेवताओं की प्रार्थना करो।” व्यापारियों ने वही किया; किन्तु उसका कोई असर नहीं हुआ; पर जैसे ही बुद्ध की प्रार्थना की गई वैसे ही तिमिंगल ने अपना मुँह बन्द कर लिया। इस तरह व्यापारियों की जान बच गई।^२

उपयुक्त कहानियों में हम यथार्थवाद और अलौकिकता का एक विचित्र सम्मिश्रण देखते हैं और कुछ हद तक यह ठीक भी है; क्योंकि इन कथाओं का उद्देश्य बौद्धों की धर्मभावना को बढ़ाना था। उस प्राचीन काल में, आज की तरह, विज्ञान नहीं था। इसलिए, जब मनुष्य के सामने विपत्तियाँ आती थीं तब वे उनके प्राकृतिक कारणों को जाने बिना ही उनके अलौकिक कारणों को खोज करने लगते थे। पर इतना सब होते हुए भी संस्कृत-साहित्य की समुद्री कहानियाँ वास्तविक घटनाओं पर आश्रित थीं। हमें इस बात का पता है कि ये समुद्री व्यापारी अनेक कष्टों को सहते हुए भी विदेशयात्रा से कभी विमुक्त नहीं हुए। उनके छोटे-छोटे जहाज लूफान में पड़कर

हूँ जाते थे। ऐसी घटनाओं में अधिकतर यात्री तो जान खो बैठते थे और जो थोड़े बहुत बचते थे वे द्वीपों पर जा लगते थे जहाँ से उनका उद्धार आने-जानेवाले जहाज ही करते थे। समुद्र के अन्दर पथरीली चट्टानों तथा जल-डाकुओं का भी जहाजियों को सामना करना पड़ता था। इन यात्राओं की सफलता कर्णधार या नियामक की कार्यकुशलता पर निर्भर होती थी। ये नियामक मँजे हुए नाविक होते थे और उन्हें अपने काम का पूरा ज्ञान होता था। उन्हें समुद्र की मड़लियों और तरङ्ग-तरङ्ग की हवाओं का भी पूरा ज्ञान होता था; समय पर वे व्यापारियों को भी सलाह देते थे।

संस्कृत-बौद्ध-साहित्य में हमें उस काल की श्रेणियों के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी मिलती है। बुद्ध के समय से इस समय की श्रेणियों काही सुगठित हो चुकी थी और उनका देश के आर्थिक जीवन में अपना स्थान बन चुका था। ये श्रेणियाँ अपने कानून भी बना सकती थीं; पर ऐसे नियमों की पाबन्दी के लिए यह आवश्यक था कि वे सर्वसम्मत हों।

इन नियमों को लेकर कमी-कमी सुकरमे भी चल जाते थे।^१ हम सुपारा के प्रसिद्ध व्यापारी पूर्ण की कहानी ऊपर पढ़ चुके हैं। एक समय उसने समुद्र-पार से पाँच सौ व्यापारियों के आने का समाचार पाया। पूर्ण ने जाकर उनके माल (दम्ब) के बारे में उनसे पूछा और उन लोगों ने उसे माल और उसकी कीमत बता दी। माल के दाम, आठ लाख मुहरों के बयाने (अवर्ग) में पूर्ण ने उन्हें तीन लाख मुहरों दीं और यह शर्त कर ली कि बाकी दाम वह माल उठाने के दिन चुका देगा। सौदा तै हो जाने पर पूर्ण ने माल पर अपनी मुहर लगा दी (स्वमुद्रालक्षितम्) और चला गया। दूसरे व्यापारियों ने भी माल आने का समाचार सुना और उन्होंने दलालों (अवचारकाः पुरषाः) को माल की किरम और दाम पुछने के लिए भेजा। दलालों ने दाम सुनकर माल का दाम कम कराने के ख्याल से व्यापारियों से कहा कि उनके कोठे (कोष्ठ-कोष्ठगाराणि) भरे हैं। पर, उनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा, जब उन्होंने सुना कि, चाहे उनके कोठे भरे हों या न हों, उनका माल पूर्ण खरीद चुका था। कुछ कहा-सुनी के बाद, जिसमें विक्रेताओं ने खरीदारों से कहा कि जितना पूर्ण ने बयाने की रकम दी थी उतनी रकम तो वे लोग पूरे माल के लिए भी नहीं दे सकते थे, दलाल पूर्ण के पास पहुँचे और उसपर डाँकेजनी का अभियोग लगाकर उसे बतलाया कि श्रेणी ने कुछ नियम बनाये थे (क्रियाकाराः कृतः) जिनके अनुसार श्रेणी का कोई एक सदस्य माल खरीदने का अधिकारी नहीं हो सकता था, उस माल को सारी श्रेणी ही खरीद सकती थी। पूर्ण ने इस नियम के विरुद्ध आपत्ति उठाई, क्योंकि वह नियम स्वीकृत करते समय वह अथवा उसके भाई नहीं बुलाये गये थे। उसके नियम न मानने पर श्रेणी ने उसपर साठ कार्षापण जुर्माना किया। सुकदमा राजा के पास गया और पूर्ण वहाँ से जीत गया।

कुछ दिनों के बाद राजा को उन वस्तुओं की आवश्यकता पड़ी जिन्हें पूर्ण ने खरीदा था। राजा ने श्रेणी के सदस्यों से उन्हें भेजने को कहा पर वे ऐसा न कर सके; क्योंकि माल उनके प्रतिद्वन्द्वी पूर्ण के अधिकार में था। उन्होंने राजा से प्रार्थना की कि वे पूर्ण से माल ले लें। पर राजा ने ऐसा करने से इन्कार कर दिया। फल मारकर महाजनों ने पूर्ण के पास अपना आदमी भेजा; पर उसने माल बेचने से इन्कार कर दिया। इस आकत से अपना छुटकारा न देखकर

महाजनों का एक प्रतिनिधि-मंडल पूर्ण से मिला। उसने पूर्ण से दाम के दाम पर माल खरीदना चाहा; पर पूर्ण ने उनसे दूना दाम वसूल करके ही छोड़ा।

ऊपर की कहानी से पता लगता है कि जिस समय यह कहानी लिखी गई, उस समय तक श्रेणियों काफी विकसित हो गई थीं। ऐसा मान्य पड़ता है कि महाजनों की श्रेणी सामूहिक रूप से सौदा खरीदती थी; श्रेणियाँ अपने नियम बना सकती थीं, लेकिन इसके लिए यह आवश्यक था कि नियम स्वीकार करने में श्रेणी के सब सदस्य एकमत हों।

समुद्री व्यापार में भी कभी-कभी विचित्र तरह के मुकदमे सामने आते थे। बृहत्संहिता-श्लोक-संग्रह (१।४।२१-२६) में कहा गया है कि एक समय उड्यन जब अपने दरबार में आये तो दो व्यापारियों ने उन्हें अपनी कहानी सुनाई। व्यापारियों के पिता ने समुद्रयात्रा में अपनी जान खो दी थी। बड़े भाई की भी वही दशा हुई। इसके बाद उनके भाई की स्त्री ने सारी जायदाद पर अपना अधिकार कर लिया। व्यापारियों ने राजा के पास माल के बैटवारे की इर्बास्त दी। राजा ने उनकी भाभी को बुलवाया। उनकी भाभी ने कहा, “यद्यपि मेरे पति का जहाज डूब गया, तथापि यह बात पूर्णतः सिद्ध नहीं हो सकी है कि मेरा पति मर ही गया है। इस बात की सम्भावना है कि दूसरे सांघात्रिकों की तरह वह भी लौट आवे। इसके अतिरिक्त मैं गर्भवती हूँ और मुझे सन्तान होने की सम्भावना है। इन्हीं कारणों से मैंने अपने देवरों को सम्पत्ति नहीं दी। राजा ने उसकी बात मान ली।”

हमें तत्कालीन साहित्य से यह भी ज्ञात होता है कि श्रेणियों का राजा के ऊपर काफी प्रभाव होता था। नगरसेठ, जो राज्य का मुख्य महाजन होता था, राजा के सलाहकारों में होता था और समय पड़ने पर वह धन से भी राज्य की मदद करता था। अब प्रश्न यह उठता है कि उस युग में कितनी तरह की श्रेणियाँ थीं। इस सम्बन्ध में हमें बहुत नहीं पता लगता, फिर भी महावस्तु से हमें इस सम्बन्ध में कुछ थोड़ा-बहुत विवरण मिलता है। लगता है, नगरों में कुशल कारीगरों का विशेष स्थान था। जो सबसे अच्छे कारीगर होते थे उन्हें महत्तर कहा जाता था।^१ मालाकार महत्तर गजरे (कण्ठगुणानि), गन्धसुकुट और तरह-तरह की, राजा के उपभोग-योग्य मालाएँ बनाता था। कुम्भकार महत्तर तरह-तरह के मिट्टी के बर्तन बनाता था। वर्धकी महत्तर तरह-तरह की कुर्तियाँ, मंच-पीठ बनाने में चतुर था। धोबियों का चौधरी अपने फन में सानी नहीं रखता था। रँगरेज महत्तर अच्छी-से-अच्छी रँगई करता था। ठठेरों का सरदार सोने-चाँदी के और रत्नवर्जित बर्तन बनाता था। सुवर्णकार महत्तर सोने के गहने बनाता था। वह अपने गहनों की ज़िलाई, पालिश इत्यादि कामों में बड़ा प्रवीण होता था। मणिकार महत्तर को जवाहिरातों का बड़ा ज्ञान होता था और वह मोती, वैडूर्य, शंख, मूँगा, स्फटिक, लोहितांक, यशव इत्यादि का पारखी होता था। शंखवलयकार महत्तर, शंख और हाथीदाँत की कारीगरी में उस्ताद होत था। शंख और हाथीदाँत से वह छूंटियाँ, अंजनशलाका, पेडियाँ, भृंगार, कड़े, चूड़ियाँ और दूसरे गहने बनाता था। यंत्रकार महत्तर खराद पर चढ़ाकर तरह-तरह के खिलौने, पंखे, कुर्तियाँ, मूर्तियाँ इत्यादि बनाता था। तरह-तरह के फूलों, फलों और पक्षियों की भी वह ठीक-ठीक नकल कर लेता था। बेंत बिननेवाला महत्तर तरह-तरह के पंखे, छाते, टोकरियाँ, मंच, पेडियाँ इत्यादि बनाता था।

महावस्तु में कपिलवस्तु की भ्रेणियों का उल्लेख है; साधारण भ्रेणियों में सौचणिक (हैरिणिक), चारर बेचनेवाले (प्रावारिक), शंख का काम करनेवाले (शंखिक), हाथी-दौत का काम करनेवाले (दन्तकार), मनीयारे (मणिकार), पत्थर का काम करनेवाले (प्रास्तरिक), गन्धी, रेशमी और ऊनी कपड़ेवाले (कोशानिक), तेली, धी बेचनेवाले (घृतकुशिक), गुड़ बेचनेवाले (गौलिक), पान बेचनेवाले (वारिक), कपास बेचनेवाले (कार्पाथिक), दही बेचनेवाले (दधिक), पूरे बेचनेवाले (पूथिक), खोंड बनानेवाले (खण्डकारक), लड्डू बनानेवाले (मोडकारक), कन्दोई (कण्डुक), आटा बनानेवाले (समितकारक), सत्तू बनानेवाले (सक्तुकारक), फल बेचनेवाले (फलवणिज), कन्द-मूल बेचनेवाले (मूलवणिज), सुगन्धित चूर्ण और तेल बेचनेवाले (चूर्णकृद्-गन्ध-तैलिक), गुड़ बनानेवाले (गुडपाचक), खोंड बनानेवाले (खण्डपाचक), सोंठ बेचनेवाले, शराब बनानेवाले (सीधुकारक) और शक्कर बेचनेवाले (शर्कर-वणिज) थे ।^१

इन भ्रेणियों के अलावा कुछ ऐसी भ्रेणियाँ होती थीं, जिन्हें महावस्तु में शिल्पायतन कहा गया है । इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इन शिल्पायतनों ने देश की आधिभौतिक संस्कृति के विकास में बहुत हाथ बैठाया होगा और इनके द्वारा बनाई हुई वस्तुएँ देश के बाहर भी गई होंगी और इस तरह भारत और विदेशों का सम्बन्ध और भी दृढ़ हुआ होगा । इन शिल्पायतनों में लुहार, तौबी पौधनेवाले, ठंडे, पीतल बनानेवाले, रौंगे के कारीगर, शीशे का काम करनेवाले तथा खराद पर चढ़ानेवाले मुख्य थे । मालाकार, गहियाँ भरनेवाले (पुरिमकार) कुम्हार, चर्मकार, ऊन बिननेवाले, बेंत बिननेवाले, देवता-तन्त्र पर बिननेवाले, राक कपड़े धोनेवाले, रँगरेज, मुईकार, तौती, चित्रकार, सोने और चाँदी के गहने बनानेवाले, समूनों के कारीगर, पोताई के कारीगर, नाई, छेद करनेवाले, लेप करनेवाले, रथपति, सूत्रधार, कुएँ खोदनेवाले, लकड़ी-बॉस इत्यादि के व्यापार करनेवाले, नाविक, सुवर्ण-धोवक इत्यादि प्रसिद्ध थे ।

ऊपर हमने तत्कालीन व्यापार और उससे सम्बन्धित भ्रेणियों का घोडा-गा हाल दे दिया है । जैसे-जैसे देश की प्रारम्भिक सदियों में व्यापार बढ़ता गया, वैसे-वैसे, व्यापार के ठीक से चलने के लिए नियमों की आवश्यकता हुई । इसी के आधार पर सभिदारी, वाश पुरा न करने तथा माल न देने और भ्रेणि-सम्बन्धी नियमों की व्याख्या की गई । जिस तरह कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में तत्कालीन व्यापार-सम्बन्धी बहुत-से नियम दिये हैं उसी तरह नारदस्मृति में भी बहुत-से व्यापार-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है । सम्भव है कि नारदस्मृति का संकलन तो गुप्त-युग में हुआ, पर उसमें जो नियम हैं वे शायद ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में चालू रहे हों ।

नारदस्मृति के अनुसार, भागीदार एक काम में बराबर अथवा पूर्व निश्चित रकम लगाते थे ।^२ फायदा, नुकसान और खर्च भागीदारी के हिस्से के अनुपात में बँट जाता था । स्टोर, भोजन, नुकसानी, डलवाई तथा कीमती माल की रखवाली का खर्च एकरारनामे के अनुसार निश्चित होता था । प्रत्येक भागीदार को अपनी लापरवाही से अथवा अपने भागीदारों की

^१ महावस्तु, भा० ३, पृ० ११३; पृ० ३३२-३३३

^२ नारदस्मृति, ३ । २-७ उल्ल० जे० जॉर्जी, आक्सफोर्ड, १८८३

बिना अनुमति के काम करने से हुए घाटे को खूद उठाना पड़ता था। भागीदारी के माल की ईश्वरकोप, राजकोप, तथा डाकुओं से रक्षा करनेवालों को माल का दसवाँ हिस्सा मिलता था। किसी भागीदार की मृत्यु पर उसका उत्तराधिकारी भागीदार बन जाता था, पर उत्तराधिकारी न होने से उसके बाकी साझेदार उसके माल के उत्तराधिकारी हो जाते थे।

व्यापारी को शुल्कशाला में पहुँचकर अपने माल पर शुल्क देना पड़ता था। राज्यकर होने से इसका भरना ज़रूरी होता था। व्यापारी के शुल्कशाला जाने पर, नियुक्त समय के बाद माल बेचने पर और माल का ठीक दाम न बताने पर माल-मालिक को माल की कीमत का अठारह गुना दण्ड में भरना होता था। किसी परिणत ब्राह्मण के घरेलू सामान पर तो शुल्क नहीं लगता था; पर व्यापारी माल पर उसे भी शुल्क देना होता था। उसी तरह ब्राह्मण की दान में पाई रकम, नदों के साज-सामान और पीठ पर लदे हुए अपने सामान पर भी शुल्क नहीं देना पड़ता था।^१

अगर किसी राज्य में यात्री-व्यापारी मर जाता था तो उसका माल उसके उत्तराधिकारियों के लिए दस वर्ष तक रख लिया जाता था।^२ शायद, इसके बाद राजा का उसपर कब्जा हो जाता था।

जो लोग पूर्व-निश्चित स्थान तक माल पहुँचाने से इन्कार करते थे उन्हें मजदूरी का छठा भाग दण्ड में भरना पड़ता था। अगर कोई व्यापारी लड़कू जानवर अथवा गाड़ियों तय करके मुकर जाता था तो उसे किराये की रकम का एक चौथाई दण्ड भरना पड़ता था; पर उन्हें भी आधे रास्ते में छोड़ देने से पूरा किराया भरना पड़ता था। माल ढोने से इन्कार करने पर वाहक को मजदूरी नहीं मिलती थी। चलने के समय आनाकानी करने पर उसे मजदूरी का तिगुना दण्ड में भरना पड़ता था। वाहक की लापरवाही से माल को नुकसान पहुँचने पर उसे नुकसानी की रकम भरनी पड़ती थी; पर नुकसान यदि दैवकी या राजकोप से हुआ हो तब वह हरजाने का हकदार नहीं होता था।^३

माल न लेने-देने पर सजा मिलती थी। खरीदे हुए माल का बाजार-भाव गिर जाने पर ग्राहक माल और घाटे की रकम, दोनों का अधिकारी होता था। यह कानून देशवासियों के लिए ही था, पर विदेश के व्यापारियों को तो वहाँ के माल पर फायदा भी ग्राहक को भरना पड़ता था। खरीदे हुए माल की पहुँच न देने पर, आग अथवा चोरी की नुकसानी बेचनेवाले को भरनी पड़ती थी। अचानक माल डिलाकर बाद में खराब माल देकर ठगने पर बेचनेवाले को माल का दुना दाम और उतना ही दण्ड भरना पड़ता था। खरीदा माल दूसरे को दे देने पर भी वही दण्ड लगता था। पर, खरीदार के माल न उठाने पर बेचनेवाला उसे बिना किसी दण्ड के बेच सकता था। पर यह नियम तभी लागू होता था जब दाम चुकता कर दिया गया हो। दाम चुकता न करने पर बेचनेवाला किसी तरह जिम्मेदार नहीं होता था। व्यापारी लाभ के लिए ही माल खरीदते-बेचते थे। पर उनका फायदा दूसरी तरह के माल के दामों के अनुपात में होता था। इसलिए

१ वही, ३। १२-१४

२ वही, ३। १६-१८

३ वही, ६। १-६

व्यापारी के लिए यह आवश्यक था कि वह स्थान और समय के अनुसार ठीक दाम रखे ।^१

नारदस्मृति के अनुसार, राजा नगर और जनपद में धर्मियों, पुरों के नियमों को मानता था । राजा उनके नियम, धर्म, हाजिरी तथा जीवन-यापन की विधियों को भी मानता था ।^२

हिन्दुओं के राज्य में ब्राह्मणों को कुछ लाभ हक हासिल थे । ब्राह्मण बिना मासूल दिये हुए, सबसे पहले, पार उत्तर सकते थे ; उन्हें अपना मात्र खोने के लिए, वडही नाव का किराया भी नहीं भरना पड़ता था ।^३

१ वही, ८।५-१०

२ वही, १०।२-३

३ वही, १८।३८

आठवाँ अध्याय.

दक्षिण-भारत के यात्री

ईसा के पहले की सदियों में दक्षिण-भारत की पथ-पद्धति और यात्रियों के बारे में हमें अधिक पता नहीं लगता। पर इतना कहा जा सकता है कि तामिलनाडु के व्यापारियों का विदेशों से बड़ा सम्बन्ध था और खास कर बाबुल से। दक्षिण-भारत के इतिहास का अंधेरा ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में कुछ दूर हो जाता है। इस साहित्य के समय के बारे में विद्वान एकमत नहीं हैं; कुछ उसे ईसा की प्रारम्भिक सदियों में रखते हैं और कुछ उसे गुप्त-युग तक खींच लाते हैं।

दक्षिण-भारत के इस सुवर्णयुग की संस्कृति की कहानी हमें संगमयुग की प्रसिद्ध कथाओं शिलप्पदिकारम् और मण्मेललै तथा और फुटकर कविताओं से मिलती है। हमें इस युग के साहित्य से पता लगता है कि दक्षिण-भारत की संस्कृति उत्तर-भारत की संस्कृति से किसी तरह कम न थी। विदेशी व्यापार से दक्षिण में इतना अधिक धन आता था कि लोगों के जीवन का घरातल काफी ऊँचा उठ गया था। इस युग में समुद्री व्यापार खूब चलता था, जिससे दक्षिण-भारत के समुद्री तट का सम्बन्ध पश्चिम में सिन्ध तक, और पूर्व में ताम्रलिप्ति तक था। दक्षिण के व्यापारी अपना माल सिंहल, सुवर्णद्वीप और अफ्रिका तक ले जाते थे। रोम के व्यापारी भी बराबर दक्षिणी बन्दरगाहों में आते रहते थे और यहाँ से मिर्च और दूसरे मसाले, कपड़े तथा कीमती रत्न रोम-साम्राज्य में ले जाया करते थे। इसमें सन्देह नहीं कि रोम के व्यापारियों को इस युग में दक्षिण-भारत के समुद्र-तटों का अच्छा ज्ञान हो गया था और इस ज्ञान का तात्कालिक भौगोलिकों ने अच्छा उपयोग किया।

संगमयुग के साहित्य से हमें पता चलता है कि दक्षिण-भारत के मुख्य नगरों में जल और स्थल से यात्रा करनेवाले बड़े-बड़े सार्थवाह रहते थे। शिलप्पदिकारम्^१ के अनुसार, पुहार में, जो कावेरीपट्टीनम् का एक दूसरा नाम था, एक समुद्री सार्थवाह (मानाधिकन्) और एक स्थल का सार्थवाह (मासातुवान्) रहते थे। तामिल-साहित्य से दक्षिण-भारत के पथों पर प्रकाश नहीं पड़ता। इसमें सन्देह नहीं कि पैठन होकर उसका भड़ोच और उज्जैन से अवश्य सम्बन्ध रहा होगा। उज्जैन होकर तामिलनाडु के व्यापारी और यात्री काशी पहुँचते थे। मण्मेललै में तो काशी के एक ब्राह्मण की अपनी पत्नी के साथ कन्याकुमारी की यात्रा का उल्लेख है^२। शिलप्पदिकारम्^३ से पता लगता है कि उत्तर-भारत से माल से लदी हुई गाड़ियाँ

१. शिलप्पदिकारम्, श्री वी० आर० रामचंद्र दीक्षित द्वारा अनूदित, पृ० ८८, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, १९३१

२. एस० कृष्णस्वामी आर्यंगर, मण्मेललै इन इट्स हिस्टोरिकल सेटिंग, पृ० १४३, मद्रास, १९२८

३. शिलप्पदिकारम्, पृ० २६८

दक्षिण-भारत में जाती थी तथा उस जानेवाले माल पर मुहर होती थी। राजमार्गों तथा राज्यों की सीमाओं पर व्यापारियों से चुंगी भी वसूल की जाती थी^१।

तामिल-साहित्य से हमें दक्षिण-भारत के उन बन्दरों के नाम मिलते हैं जिनमें विदेशों के लिए जहाज खुलते थे। एक जगह इस बात का उल्लेख है कि मदुरा के समुद्रतट से जाया जानेवाले जहाज मणिपल्लवम्, में जिसकी राजधानी नागपुर थी, रुकते थे^२। पेरियार नदी के पास मुचिरी का बन्दरगाह था, जिसका महाभारत और पेरिप्लस में भी उल्लेख आता है। इस बन्दर का वर्णन एक प्राचीन तामिल कवि इस प्रकार करता है—“मुचिरी का वह बन्दरगाह जहाँ यवनों के मुन्दर और बड़े जहाज केरल की सीमा के अन्दर फेनिल पेरियार नदी का पानी काटते हुए सोना लाते हैं और वहाँ से अपने जहाजों पर मिर्च लादकर ले जाते हैं^३।” एक दूसरे कवि का कथन है—“मुचिरी में धान और मछली की अदला-बदली होती है, परों से वहाँ बाजारों में मिर्च के बोरे लाये जाते हैं, माल के बदले में सोना जहाजों से टोमियों पर लादकर लाया जाता है। मुचिरी में लहरों का संगीत कभी बन्द नहीं होता। वहाँ चेरराज कुछ वन अतिथियों को समुद्र और पहाड़ों की कीमती वस्तुएँ भेंट करते हैं।”

भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर माळवलि नदी पर घोशिड नामक एक बड़ा बन्दरगाह था, जिसकी पहचान किलन्दी नगर से पाँच मील उत्तर पल्लिकर गाँव से की जाती है^४। बौद्ध-संस्कृत-साहित्य में तुङ्गिचेर वन्न का नाम शायद इसी बन्दर को लेकर पड़ा^५।

कावेरी उस समय इतनी काफी गहरी थी कि उसमें बड़े जहाज आ सकते थे। उसके उत्तर किनारे पर कावेरीपट्टीनम् का बन्दरगाह था। नगर दो भागों में बँटा था। समुद्र से सटे भाग को मरुवरपाकम् कहते थे। पट्टिनपाकम् नगर के पश्चिम में पड़ता था। इन दोनों के बीच में एक खुली जगह में बाजार लगता था। नगर की सास सबकों का नाम राज-मार्ग, रथ-मार्ग, आपण-मार्ग इत्यादि था। व्यापारी वैद्य, ब्राह्मण और किसानों के रहने के अलग-अलग राजमार्ग थे। राजमहल, रथिकों, धुसवारों तथा राजा के अंगरक्षकों के मकानों से घिरा था। पट्टिनपाकम् में भाट, चारण, नट, गायक, विद्वक, शंखकार, माली, मोतीराज, हर षष्ठी चिल्लाकर समय बतानेवाले तथा राजदरबार से सम्बन्धित दूसरे कर्मचारी रहते थे। मरुवरपाकम् के समुद्रतट पर ऊँचे चबूतरे, गोशम और कोठे माल रखने के लिए बने थे। यहाँ माल पर चुंगी अदा कर देने पर शेर के पंजे की जो चोटों की राजमुद्रा थी, छाप लगती थी। इसके बाद माल उठाकर गोशमों में भर दिया जाता था। पास ही में यवनों की बस्ती थी। यहाँ बहुत तरह के माल विक्रते थे। इसी भाग में व्यापारी भी रहते थे^६।

१. वी० कनकसभै, दी टेमिलस् पट्टीन हंड्रेड इपर्स एगो, पृ० ११२, मद्रास १९०४

२. मणिमेसलै, २४, १६४—१७०

३. कनकसभै, वही, पृ० १९

४. वही, पृ० १६-१७

५. दिव्यावदान, पृ० २२१

६. कनकसभै, वही, पृ० २५

शिल्पशिकारम् में पुनः अथवा कावेरीपट्टीनम् का बहुत स्वाभाविक वर्णन आया है। वहाँ के व्यापारियों के पास इतना धन था कि उसके लिए बड़े-बड़े प्रतापशाली राजे भी ललचाया करते थे। सार्थ, जत और धन-मार्गों से, वहाँ इतने-इतने क्रिस्म के मात लाते थे कि मानो वहाँ सारी दुनिया का माल-मत्ता इकट्ठा हो गया हो^१। जहाँ देखिए वहाँ, खुली जगहों में, बन्दरगाह और उसके बाहर, मात-ही माल देख पड़ता था। जगह-जगह लोगों की आँखें अचूक सम्पत्तिवाले बत्तनों के मकानों पर पड़ती थीं। बन्दरगाह में देश-देश के नाविक देख पड़ते थे, पर उनमें बड़ा सद्भाव दिखाई पड़ता था। शहर की गलियों में लोग ऐपन, स्नानचूर्ण, फूल, धूप और अतर बेचते हुए, दीख पड़ते थे। कुछ जगहों में धुनकर रेशमी कपड़े और बड़िया सूती कपड़े बेचते थे। गलियों में रेशमी कपड़े, भूँगे, चन्दन, मुगा, तरह-तरह के कीमती गहने, बेतेब मोती तथा सोना विक्रता था^२। नगर के बीच, खुली जगह में, मात के भार, जिन पर तौल, संख्या और मालिकों के नाम लिखे होते थे, दीख पड़ते थे^३।

एक दूसरी जगह कावेरीपट्टीनम् के समुद्रतट का बड़ा स्वाभाविक चित्रण हुआ है^४। माधवि और कोवलन, नगर के बीच के राजमार्ग से होकर समुद्रतट के चेरीमार्ग पर पहुँचे जहाँ कैरल से माल उतरता था। यहाँ पर कहराती पनाकारण मानो कह रही थीं,—‘‘हम इस स्वेतबालुकाभिस्तार में यहाँ बसे हुए विदेशी व्यापारियों का मात देखती हैं।’’ वहाँ रंग, चन्दन, फूल, गन्ध तथा मिठाई बेचनेवालों की दुकानों पर दीपक जल रहे थे। चतुर सोनारों, पंक्तिबद्ध पिट्टु बेचनेवालों, इकलौ बेचनेवालों तथा फुटकर सामान बेचनेवाली लड़कियों की दुकानों में भी प्रकाश हो रहा था। मछुओं के दीपक जहाँ-तहाँ लुपलुपा रहे थे। किनारे पर जहाजों की ठीक रास्ता दिखलाने के लिए दीपग्रह भी थे। जाल से मछलियाँ फँसाने के लिए समुद्र में आगे बड़ी मछुओं की नावों से भी दीपक टिमटिमा रहे थे। भिन्न-भिन्न भाषाएँ बोलनेवाले विदेशियों तथा मालगोशम के पहरेदारों ने भी दीपक जला रखे थे। इन असंख्य दीपकों के प्रकाश में बन्दरगाह जगमगा रहा था। बन्दरगाह में समुद्री और पहाड़ी मालों से भरे जहाज लगे थे।

समुद्रतट का एक भाग केवल सैतानियों के लिए सुरक्षित था। वहाँ अपने साथियों के साथ राजकुमार और बड़े-बड़े व्यापारी आराम करते थे। सेमों में कुरात नाचने-गानेवातियों होती थीं। रंग-विरंगे कपड़े और भिन्न-भिन्न भाषाएँ कावेरी के मुहाने पर की भीड़ से मिलकर अजीब छटा पैदा करती थीं^५।

पट्टिन्पालि^६ से कावेरीपट्टीनम् के जीवन पर कुछ और अधिक प्रकाश पड़ता है। उसमें कहा गया है कि वहाँ सत्रों से मात मुफ्त में बाँटा जाता था। जैन और बौद्ध-मन्दिर शहर के एक भाग में स्थित थे। शहर के दूसरे भाग में ब्राह्मण यज्ञ करते थे।

१. शिल्पशिकारम्, पृ० १२

२. वही, पृ० ११०-१११

३. वही, पृ० ११२

४. वही, पृ० १२८-१२९

५. वही, पृ० १२९-१३०

६. इण्डियन ऐन्थिक्वरी, १९१२, पृ० १४८ से

कावेरीपट्टीनम् के रहनेवाले लोगों में मच्छीभार लोगों का एक विशेष स्थान था। वे समुद्र के किनारे रहते थे और उनका मुख्य भोजन मछली और कछुए का उबला मांस था। वे झूलों से अपने को सजाने के शौकीन थे और उनका प्यारा खेल मेढ़ों की लड़ाई था। छुट्टी के दिनों में वे अपना काम बन्द करके अपने घरों के आगे सुताने के लिए जाज फैला देते थे। समुद्र में और उसके बाद ताजे पानी में नहाकर वे अपनी स्त्रियों के साथ एक खम्भे के चारों ओर नाचते थे। वे मूर्तियाँ बनाकर अथवा दूसरे खेलों से भी अपना मन बहलाते थे। छुट्टीवाले दिनों में वे शराब नहीं पीते थे और घर पर ही ठहरकर नाच-गान और नाटक देखते-सुनते थे। चाँदनी में कुछ समय बिताकर वे अपनी स्त्रियों के साथ आराम करने चले जाते थे।

पुहार की कई मंजिलावाली इमारतों में सुन्दर स्त्रियाँ इकट्ठी होकर सड़क पर सुरुंग का महोत्सव देखती थीं। उस दिन इमारतें पताकाओं से सजा दी जाती थीं। पण्डित लोग भी अपने घरों पर पताका लगाकर प्रतिद्वन्द्वियों को शास्वार्थ के लिए ललकारते थे। जहाज भी उस दिन भण्डियों से सजा दिये जाते थे।

जैसा हम ऊपर देख आये हैं, जहाजों की हिफाजत के लिए दीगृहों की व्यवस्था थी। ये दीगृह पक्के बने होते थे। रात में इनपर तेज रोशनी कर दी जाती थी, जिससे आसानी के साथ जहाज बन्दरों में घुस सकें^१।

मणिमेखलै में शादुवन् की कहानी से दक्षिण-भारत के समुद्र-यात्रियों की विपत्तियों का पता चलता है^२। कहानी यह है कि शादुवन् के निर्धन हो जाने पर उसकी स्त्री उसका अनादर करने लगी। अपनी गरीबी से तंग आकर उसने व्यापार के लिए विदेश जाने का निश्चय किया। अभाम्यवश, जहाज समुद्र में टूट गया। मस्तूल के सहारे बहता हुआ शादुवन् नागद्वीप में जा लगा। इसी बीच में उसके कुछ साथी बचकर कावेरीपट्टीनम् पहुँचे और वहाँ शादुवन् की मृत्यु की खबर दे दी। यह सुनकर शादुवन् की स्त्री ने सती होने की ठानी, पर उसे एक अलौकिक शक्ति ने ऐसा करने से रोका और बताया कि शादुवन् जीवित है और जल्दी ही व्यापारी चन्द्रदत्त के बेंडे के साथ लौटनेवाला है। यह शुभ समाचार पाकर शादुवन् की स्त्री उसकी बात जोहने लगी।

इसी बीच में शादुवन् समुद्र से निकलकर एक पेड़ के नीचे सो गया। उसे देखकर नागा उसके पास पहुँचे और मारकर खा जाने की इच्छा से उसे जगाया। लेकिन शादुवन् उनकी भाषा जानता था और जब उसने उनकी भाषा में उनसे बात-चीत शुरू कर दी तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और वे शादुवन् को अपने नेता के पास ले गये। शादुवन् ने नेता को अपनी पत्नी के साथ एक गुफा में भालू की तरह रहते देखा। उसके आस-पास शराब बनाने के बरतन और बंदबुंदार सूखी हड्डियाँ पड़ी थीं। शादुवन् की बातचीत का उसपर अच्छा असर पड़ा। नायक ने शादुवन् के लिए मांस, शराब और एक स्त्री की व्यवस्था करने की आज्ञा दी, पर शादुवन् के इन्कार करने पर उसे बड़ा आश्चर्य हुआ। इसपर बातचीत में शादुवन् ने अहिंसा की महिमा बताई और नायक से वचन ले लिया कि वह दूटे हुए जहाजों के यात्रियों को भविष्य में आश्रय देगा। उसने

१. कनकसभै, वही, पृ० २६

२. मणिमेखलै, पृ० १५०-१५१

शादुवन को दूटे हुए जहाजों के यात्रियों से लूटे हुए चन्दन, अंगूर, कपड़े इत्यादि भेंट किये। इसके बाद शादुवन कवैरीपट्टीनम् लौट आया और आनन्दपूर्वक अपनी पत्नी के साथ रहने लगा।

ईसा की आरम्भिक सदियों में मदुरा के बाजार बड़े प्रसिद्ध थे।^१ शिलप्पदिकारम् में कहा गया है कि वहाँ के जौहरी-बाजार में पहुँचकर कोवलन् ने जौहरियों को बेदाग होरे, चमकदार पन्ने, हर तरह के मानिक, नीलम, बिन्दु, स्फटिक, सोने में जड़े पोवराज, गोमेश्क, लहसुनिया (वेङ्कै), विल्लौर, अंगारक और बड़िया किस्म के मोती और भूँगे बेचते देखा।

बजाजे में बड़िया-से-बड़िया कपड़ों के गट्ठर लदे हुए थे। सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े की गँठों में हर गँठ में सौ थान होते थे। अन्न और मसालों के बाजार में व्यापारी इधर-उधर तराजू, पड़े (पायली) और चना नापने के लिए अंबणम् लिये हुए घूमते दीख पड़ते थे। इन बाजारों में अन्न की बोरियों की छलियों के अतिरिक्त, सब मौसमों में कालीमिर्चा के हजारों बोरे देख पड़ते थे।

पट्टपाट्ट के अनुसार^२ मदुरा की इमारतें और सड़कें बहुत सुन्दर थीं। नगर की रक्षा के लिए उसके चारों ओर एक घना बन, गहरी खाई, ऊँचे तोरणद्वार और शहरपनाह थी। महल पर पताकाएँ लगी रहती थीं। उसके दो बाजार खरीदने-बेचनेवालों की भीड़, उत्सव-दिवसों की सूचना देनेवाली मुनादियों, हाथियों, गाड़ियों, फूलमाला और पान ले जाती हुई स्त्रियों, खाने के सामान बेचनेवाले फेरीदारों, लम्बे नकाशीदार कपड़े तथा गहने पहने हुए घुड़सवारों से भरे रहते थे। उच्चल की स्त्रियाँ गहने पहनकर झरोखों से उत्सव के अवसर पर सड़क पर खेल-तमाशे देखती थीं। बौद्ध स्त्रियाँ अपने पतियों और बच्चों के साथ बौद्ध-मन्दिरों को पुष्प और धूप लिये जाती थीं। ब्राह्मण यज्ञ और बलिर्कर्म में निरत रहते थे तथा जैन भी पुष्प लेकर अपने मन्दिरों को जाते थे।

मदुरा के व्यापारी सोना, रत्न, मोती और दूसरे विदेशी माल का व्यापार करते थे। शिल्पकार चूड़ियाँ बनाने थे, वेगड़ी रत्नों को काटकर उसमें छेद करते थे तथा सोनार सुन्दर गहने बनाते थे और सोने की कस लेते थे। दूसरे व्यापारी कपड़े, फूल और गन्ध-द्रव्य बेचते थे। चित्रकार बड़िया चित्र बनाते थे। छोटे-बड़े सभी दुनकर नगर में भरे रहते थे। कवि उनके शोर-गुल की तुलना उस शोर-गुल से करता है जो आधी रात में विदेशी जहाजों से माल उतारने और लादने के समय होता था।

पुहार तथा मदुरा के उपर्युक्त वर्णनों से यह पता चलता है कि ईसा की प्रारम्भिक सदियों में दक्षिण-भारत में तरह-तरह के रत्नों, कपड़ों, मसालों और सुगन्धित द्रव्यों का काफी व्यापार होता था। पट्टिन्पल्लै से पता चलता है^३ कि दक्षिण-भारत के प्रसिद्ध नगरों में जहाजों से थोड़े आते थे। कालीमिर्च सुचिरी से जहाजों पर लादकर आती थी। मोती दक्षिण समुद्र से आते थे तथा भूँगे पूर्वी समुद्र से। शिलप्पदिकारम्^४ से पता चलता है कि सबसे अच्छे मोती कोरकै से आते

१ शिलप्पदिकारम् पृ० २०७-२०८

२ इण्डियन एण्टिकेरी, १९११, पृ० २२४ से

३ कनकसभै, वही, पृ० २७

४ शिलप्पदिकारम्, पृ० २०२

थे, मध्यकाल में जिसका स्थान पाँच मोल भीतर हटकर कायल नामक बन्दरगाह ने ले लिया। गंगा और कावेरी के कोठों में पैदा होनेवाले सब तरह के माल, तथा सिंदूर और कालकम् (चर्मा) के मात भी बड़ी तावदाद में कावेरीपट्टीनम् में पहुँचते थे।

लगता है, विदेशों से शराब भी आती थी। कवि नहिरर पाण्ड्यराज नन्-मारु को सम्बोधन करके कहता है—‘सदा ब्रह्म-विजयी मार ! तुम अपने दिन सुनहरे प्वाल्लों में चाकी द्वारा दी गई और यवनों द्वारा लाई गई ठण्डी और सुगन्धित शराब पीकर शान्ति और सुख से व्यतीत करो।’^१

संगम-साहित्य से यह भी पता चलता है कि यवन-देश से दक्षिण-भारत में कुछ मिट्टी के बरतन और दीकट भी आते थे। कनकसभै के अनुसार इन दीकटों के ऊपर हंस बने होते थे अथवा इनका आकार दीपलक्ष्मी-जैसा होता था।^२

१ कनकसभै, वही, पृ० ३०

२ वही, पृ० ३८

नवाँ अध्याय

जैन-साहित्य में यात्री और सार्थवाह

(पहली से छठी सदी तक)

जैन ग्रंथों, उपांगों, खंडों, सूत्रों, चूर्णियों और टीकाओं में भारतीय संस्कृति के इतिहास का मसाला भरा पड़ा है, पर अभाम्यवश अभी हमारा ध्यान उधर नहीं गया है। इसके कई कारण हैं जिनमें मुख्य तो है जैन-ग्रन्थों की दुष्प्राप्यता और दुर्बोधता। थोड़े-से ग्रन्थों के सिवा, अधिकतर जैन-ग्रन्थ केवल भक्तों के पठन-पाठन के लिए ही छापे गये हैं। उनके छापने में न तो शुद्धता का खयाल रखा गया है, न भूमिकाओं और अनुक्रमणिकाओं का ही। भाषा-सम्बन्धी टिप्पणियों का इनमें सदा अभाव होता है जिससे पाठ समझने में बड़ी कठिनाई होती है। संस्कृति के किसी अंग के इतिहास के लिए जैन-साहित्य में मसाला ढूँढ़ने के लिए ग्रन्थों का आदि से अन्त तक पाठ किये बिना गति नहीं है, पर जो कड़ा करके एक बार ऐसा कर लेने पर हमें पता लगने लगता है कि बिना जैन-ग्रन्थों के अध्ययन के भारतीय संस्कृति के इतिहास में पूर्णता नहीं आ सकती; क्योंकि जैन-साहित्य भारतीय संस्कृति के कुछ ऐसे अंगों पर प्रकाश डालता है जिनका बौद्ध अथवा संस्कृत-साहित्य में पता ही नहीं लगता, और पता लगता है भी तो उनका वर्णन केवल सरसरी तौर पर होता है। उदाहरण के लिए, सार्थवाह के प्रकरण को ही लीजिए। ब्राह्मण-साहित्य, दृष्टिकोण की विभिन्नता से, इस विषय पर बहुत कम प्रकाश डालता है। इसके विरुद्ध बौद्ध-साहित्य अवश्य इस विषय पर अधिक विस्तृत रूप से प्रकाश डालता है, फिर भी उसका उद्देश्य कहानी कहने की ओर अधिक रहता है इसीलिए बौद्ध-साहित्य में सार्थवाहों की कथाएँ पढ़कर हम यह ठीक नहीं बतला सकते कि आखिर वे कौन-से व्यापार करते थे और उनका संगठन कैसे होता था। पर जैन-साहित्य तो बाल की खाल निकालनेवाला साहित्य है। उसे कवित्वमय गद्य से कोई मतलब नहीं। वह तो जिस विषय को पकड़ता है उसके बारे में जो कुछ भी उसे ज्ञात होता है, उसे लिख देता है; फिर चाहे कथा में भले ही असंगति आवे। जैन-धर्म मुख्यतः व्यापारियों का धर्म था और है इसीलिए जैन-धर्मग्रन्थों में व्यापारियों की चर्चा आना स्वाभाविक है। साथ-ही-साथ, जैन-साधु स्वभावतः घुमकड़ होते थे और इनका घूमना अखंड बन्द करके नहीं होता था। जिन-जिन जगहों में वे जाते थे वहाँ की भौगोलिक और सामाजिक परिस्थितियों का वे अध्ययन करते थे तथा स्थानीय भाषा को इसलिए सीखते थे कि उन भाषाओं में वे उपदेश दे सकें। आगे हम यह बतलाने का प्रयत्न करेंगे कि जैन-साहित्य से व्यापारियों के संगठन, सार्थवाहों की यात्रा इत्यादि प्रकरणों पर क्या प्रकाश पड़ता है। जैन अङ्ग और उपांग-साहित्य का काल-निर्णय तो कठिन है; पर अधिकतर अङ्ग-साहित्य ईसा की आरम्भिक शताब्दियों अथवा उसके पहले का है। भाष्य और चूर्णियाँ गुप्तयुग अथवा उसके कुछ बाद की हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि उसमें संगृहीत मसाला काफी प्राचीन है।

व्यापार के सम्बन्ध में जैन-साहित्य में कुछ ऐसी परिभाषाएँ आई हैं जिन्हें जानना इसलिए आवश्यक है कि दूसरे साहित्यों में प्रायः ऐसी व्याख्याएँ नहीं मिलती। इन व्याख्याओं से हमें यह भी पता चलता है कि माल किन-किन स्थानों में बिकता था तथा प्राचीन भारत में माल खरीदने-बेचने तथा लेजाने-लेआने के लिए जो बहुत-से बाजार होते थे उनमें कौन-कौन-से फरक होते थे।

जलपट्टन तो समुद्री बन्दरगाह होता था, जहाँ विदेशी माल उतरता था और देशी माल की चलान होती थी। इसके विपरीत, स्थलपट्टन उन बाजारों को कहते थे जहाँ बैलगाड़ियों से माल उतरता था।^१ दोणमुत्र ऐसे बाजारों को कहते थे, जहाँ जल और बल, दोनों से माल उतरता था, जैसे कि ताम्रलिति और भद्रकच्छ। निगम एक तरह के व्यापारियों, अर्थात्, उधार-पुरजे के व्यापारियों की बस्ती को कहते थे।^२ निगम दो तरह के होते थे, सांम्रहिक और असांम्रहिक।^३ टीका के अनुसार, सांम्रहिक निगम में रेहन-बट्टे का काम होता था। असांम्रहिक निगमवाले व्याज-बट्टे के सिवा दूसरे काम भी कर सकते थे। इन उल्लेखों से यह साफ हो जाता है कि निगम उस शहर या बस्ती को कहते थे जहाँ लेन-देन और व्याज-बट्टे का काम करनेवाले व्यापारी रहते थे। निवेश सार्थ की बस्तियों को कहते थे।^४ इतना ही नहीं, सार्थों के पञ्चाव भी निवेश कहलाते थे। पुत्रभेदन उस बाजार को कहते थे^५ जहाँ चारों ओर से उतरते माल की गाँठें खोली जाती थीं। शाकल (आधुनिक स्वालफोर्ट) इसी तरह का पुत्रभेदन था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, जैन-साधुओं को तीर्थ-दर्शन अथवा धर्म-प्रचार के लिए यात्रा करना आवश्यक था। पर उनकी यात्रा का ढंग, कम-से-कम आरम्भ में, साधारण यात्रियों से अलग होना था। वे केवल आवेशन, सभा, (धर्मशाला) तथा कुन्दार अथवा लोहार की कर्मशालाओं में पुत्राल डालकर पड़े रहते थे। उपर्युक्त जगहों में स्थान न मिलने पर वे सूने घर, स्मरान अथवा पेड़ों के नीचे पड़े रहते थे।^६ वर्षा में जैन-भिक्षुओं को यात्रा की मनाही है, इसलिए चामासे में जैन-साधु ऐसी जगह ठहरते थे जहाँ उन्हें प्राण भिक्षा मिल सकती थी और जहाँ भ्रमण, ब्राह्मण, अतिथि और भिक्षुमार्गों का डर उन्हें नहीं होता था।^७ जैन-साधु अथवा साध्वी के लिए यह आवश्यक था कि वह ऐसा मार्ग न पकड़े जिसपर लुटेरों और म्लेच्छों का भय हो अथवा जो अनाथों के देश से होकर गुजरे/साधु को अराजक देश, गण-राज्यों, वीरराज्यों, द्विराज्यों और विराज्यों में होकर यात्रा करने की भी अनुमति नहीं थी। साधु जंगल बचाते थे। नदी पड़ने पर वे नाव द्वारा उसे पार करते थे। ये नावें मरम्मत के लिए पानी के बाहर निकाल ली जाती थीं। जैन-साहित्य में नाव के माथा (पुरखो), गलही (मग्गखो) और मण्य का उल्लेख है। नाथिकों की भाषा के भी कई उदाहरण दिखे गये हैं, यथा—'नाव आगे लीचो

१ वृहत्कल्पसूत्र भाष्य, १०१०, सुनि पुचयविजय जी द्वारा सम्पादित १९१३ से।

२ वही, १०१०

३ वही, १११०

४ वही, १०२१

५ वही, १०२३

६ आचारंगसूत्र, १, ८, २, २-३

७ वही, २, ३, १, ८

(संचारणसि), पीछे खींचो (उकासित्तए), ढकेलो (आकसित्तए), गोन खींचो (आहर), ढाँड़ (आलित्तए)' । पतवार (पीढएण), बाँस (बंसेण), तथा दूसरे उपादानों (बलयेण, अवलुएण) द्वारा नाव चलाने का उल्लेख है । आवश्यकता पड़ने पर, नाव के छेद शरीर के किसी अङ्ग, तबले, कपड़े, मिट्टी, दुश्म अथवा कमल के पत्तों से बन्द कर दिये जाते थे ।^१

रास्ते में भिक्षुओं से लोग बहुत-से सार्थक अथवा निरर्थक प्रश्न करते थे । जैसे—‘आप कहाँ से आये हैं ?’ ‘आप कहाँ जाते हैं ?’ ‘आप का क्या नाम है ?’ ‘क्या आपने रास्ते में किसी को देखा था ?’ (जैसे, आदमी, गाध-भैंस, कोई चौपाया, चिड़िया, साँप अथवा जलचर) । ‘कहिए, हमें दिखाइए ?’ फल-मूल और वृक्षों के बारे में भी वे प्रश्न करते थे । साधारण प्रश्न होता था—‘गाँव या नगर कितना बड़ा है या कितनी दूर है ?’ साधुओं को अक्सर रास्ते में डाकूओं से भेंट हो जाती थी और उनसे सतये जाने पर उन्हें आरक्षकों के पास फरियाद करनी पड़ती थी ।^२

जैन-साहित्य से पता चलता है कि राजमार्गों पर डाकूओं का बड़ा उपद्रव रहता था । विपाकसूत्र^३ में विजय नाम के एक बड़े साहसी डाकू की कथा है । चोर-पल्लियों प्रायः बनों, खाइयों और बँसबाड़ियों से घिरी और पानीवाली पर्वतीय घाटियों में स्थित होती थीं । डाकू बड़े निर्भय होते थे, उनकी आँखें बड़ी तेज होती थीं और वे तलवार चलाने में बड़े सिद्धहस्त होते थे । डाकू-सरदार के मातहत हर तरह के चोर और गिरहकट उन इच्छानुसार यात्रियों को लूटते-मारते अथवा पकड़ ले जाते थे । विजय इतना प्रभावशाली डाकू था कि अक्सर वह राजा के लिए कर वसुला करता था । पकड़े जाने पर डाकू बहुत क्रोध देकर मार डाले जाते थे ।

लम्बी मंजिल मारने पर यात्री बहुत थक जाते थे, इसलिए उनकी थकावट दूर करने का भी प्रवन्ध था । पैरों को धोकर उनकी खूब अच्छी तरह मालिश होती थी । इसके बाद उनपर तेल, धी अथवा चर्बी तथा लोथ-चूर्ण लगाकर उन्हें गरम और ठंडे पानी से धो दिया जाता था । अन्त में, आलेपन लगा कर उन्हें धूप दे दी जाती थी ।^४

छठी सदी में जैन-साधु केवल धर्म-प्रचार के लिए ही विहार-यात्रा नहीं करते थे । वे जहाँ जाते थे, उन स्थानों की भली-भौति जाँच-पड़ताल भी करते थे । इसे जनपद-परीक्षा कहते थे । जनपद-दर्शन से साधु पवित्रता का बोध करते थे । इस प्रकार की विहार-यात्राओं से वे अनेक भाषाएँ सीख लेते थे । उन्हें जनपदों की अच्छी तरह से देखने-भालने का भी अवसर मिलता था । इस ज्ञानलाभ का फल उनके शिष्यवर्गों को भी मिलता था ।^५ अपनी यात्राओं में जैन-भिक्षु तीर्थ-करों के जन्म, निष्क्रमण और कैवली होने के स्थानों पर भी जाते थे ।^६

संचरणशील जैन साधुओं को अनेक देशी भाषाओं में भी पारंगत होना पड़ता था ।^७ अजनबी भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करके वे उनमें ही लोगों को उपदेश देते थे ।^८ यात्राओं

१ वही, २, ३, १, १०-२०

२ वही, ३, ३, १५-१६

३ वि० सू०, ३, २६-६०

४ आचारंगसूत्र, २, १३, १, ८

५ वृहत्कल्पसूत्रभाष्य, १२२६

६ वही, १२२०

७ वही, १२३०

८ वही, १२३१

में वे बड़े-बड़े जैतानाबों से मिलकर उनसे सूयों के ठीक-ठीक अर्थ समझते थे।^१ आचार्यों का उन्हें आदेश था कि जो कुछ भी उन्हें भिन्ना में मिले उसे वे राजकर्मचारियों को दिखला लें जिससे उनपर चोरी का सन्देह न हो सके।^२

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, साधु अपनी यात्राओं में जनपदों की अच्छी तरह परीक्षा करते थे। वे इस बात का पता लगाते थे कि भिन्न-भिन्न प्रकार के अन्न उपजाने के लिए किन-किन तरहों की सिंचाई आवश्यक होती है। उन्हें पता लगता था कि कुछ प्रदेश खेती के लिए केवल वर्षा पर अवलम्बित रहते थे (टीका में, जैसे, लाट, यानो गुजरात), किसी प्रदेश में नदी से सिंचाई होती थी (जैसे, सिन्ध); कहीं सिंचाई तालाब से होती थी (जैसे, द्रविड देश); कहीं कुँओं से सिंचाई होती थी (जैसे उत्तरापथ); कहीं बाढ़ से (जैसे बनाव में बाढ़ का पानी हट जाने पर अन्न बो दिया जाता था); कहीं-कहीं नावों पर धान बोया जाता था (जैसे काननद्वीप में)। ये यात्री मधुरा-जैसे नगरों की भी जाँच-पड़ताल करते थे, जिनके जीविकोपार्जन का सहारा खेती न होकर व्यापार हो गया था। वे ऐसे स्थानों को भी देखते थे जहाँ के निवासी मांस अथवा फल-फूल खाकर जीते थे। जिन प्रदेशों में वे जाते थे, उनके विस्तार का वे पता लगाते थे और स्थानीय रीति-रिस्मों (कल्प) से भी वे अपने को अवगत करते थे; जैसे सिन्ध में मांस खाने की प्रथा थी, महाराष्ट्र में लोग भोवियों के साथ भोजन कर सकते थे और सिन्ध में कलवारों के साथ।^३

आवश्यककृष्णि के अनुसार,^४ जैन-साधु देश-कथा जानने में चार विषयों पर—यथा हृन्द, विधि, विकल्प और नेपथ्य पर—विशेष ध्यान देते थे। हृन्द से भोजन, अलंकार इत्यादि से मतलब है। विधि से स्थानीय रिवाजों से मतलब है—जैसे, लाट, गोल्ल (गोरानरी जिला) और अंग (भागलपुर) में ममेरी बहिन से विवाह हो सकता था, पर दूसरी जगहों में यह प्रथा पूर्णतः अमान्य थी। विकल्प में खेती-बारी, घर-दुआर, मन्दिर इत्यादि की बात आ जाती थी तथा नेपथ्य में वेषभूषा की बात।

अराजकता के समय यात्रा करने पर साधुओं और व्यापारियों को कुछ नियम पालन करने पड़ते थे। उस राज्य में, जहाँ का राजा भर गया हो (वैराज्य), साधु जा सकते थे। पर शत्रु-राज्य में वे ऐसा नहीं कर सकते थे।^५ गौलिमक, बहुधा दयावश, साधुओं को आगे जाने देते थे। वे गौलिमक तीन तरह के होते थे; यथा संयतभद्रक, शहिभद्रक और संयत-शहिभद्रक। अगर पहला साधुओं को छोड़ भी देता था तो दूसरा उन्हें पकड़ लेता था। पर इन लोगों से कुछकारा मिल जाने पर भी राज्य में घुसते ही राजकर्मचारी उनसे पूछता था—“आप किस पगडरबड़ी (उत्पथ) से आये हैं ?” अगर साधु इस प्रश्न का ठीक उत्तर देते तो उन्हें सीधा रास्ता न पकड़ने के कारण गिरफ्तार कर लिया जाता था। यह कहने पर कि वे सीधे रास्ते से आये हैं, वे अपने को तथा गौलिमकों को कठिनार्द्ध में डाल सकते थे। गौलिमकों की निरुक्ति

१ वही, १२३४

२ वही, १२३८

३ वही, १२३४

४ आवश्यककृष्णि, पृ० २८१; अ तथा २८१ रत्नकाम, १४२८

५. वृ० क० सू० भा०, २०६२

यात्रियों की चोरों से रक्षा करने के लिए होती थी। स्थानपालक (थानेदार) लोगों को बिना आज्ञा के आने-जाने नहीं देते थे। यही कारण था कि घुमावदार रास्ते से आनेवाला बड़ा भारी अपराधी माना जाता था। कभी-कभी स्थानपालक सोते रहते थे और उनकी शालाओं में कोई नहीं होता था। अगर ऐसे समय साधु धीरे से खिसक जाते तो पकड़े जाने पर वे अपने साथ-ही-साथ स्थानपालकों को भी कैसा सकते थे (४० क० ५० भा०, २७७२-७५)।

सार्थ पाँच तरह के होते थे, ^१ मंडोवार्थ, अर्थात् माल ढोनेवाले सार्थ, ^२—बहलिका, इस सार्थ में ऊँट, खच्चर, बैल इत्यादि होते थे, ^३—भारवह, इस सार्थ में लोग स्वयं अपना माल ढोते थे, ^४—औरिका, यह उन मजदूरों का सार्थ होता था जो जीविका के लिए एक जगह से दूसरी जगह घूमते रहते, ^५—कार्पटिक सार्थ, इसमें अधिकतर भिक्षु और साधु होते थे। ^१

सार्थ द्वारा ले जानेवाले माल को विधान कहते थे। माल चार तरह का होता था, यथा—(१) गणिम—जिसे गिन सकते थे, जैसे हरी, सुपारी इत्यादि। (२) धरिम—जिसे तौल सकते थे, जैसे शक्कर। (३) मेय—जिसे पाली तथा सेतिका से नाप सकते थे, जैसे चावल और घी। (४) परिच्छेय—जिसे केवल आँखों से जाँच सकते थे, जैसे कपड़े, जवाहिरात, मोती इत्यादि ^२।

सार्थ के साथ अतुरंगा (एक तरह की गाड़ी), डोली (यान), घोड़े, भैंसे, हाथी और बैल होते थे जिनपर चलने में असमर्थ बीमार, घायल, बच्चे, बूढ़े और पैरल चढ़ सकते थे। कोई-कोई सार्थवाह इसके लिए कुछ किराया वसूल करते थे, पर किराया देने पर भी जो सार्थवाह बच्चों और बूढ़ों को सवारियों पर नहीं चढ़ने देते थे, वे क्रूर समझे जाते थे और लोगों को ऐसे सार्थवाह के साथ यात्रा करने की कोई राय नहीं देता था ^३। ऐसा सार्थ, जिसके साथ दंतिक (मोदक, मण्डक, अशोकवर्त्ता—जैसी मिठाइयाँ), गेहूँ, तिल, गुड़ और घी हो, प्रशंसनीय समझा जाता था, क्योंकि आपत्तिकाल में, जैसे बाढ़ आने पर, सार्थवाह पूरे सार्थ और साधुओं को भोजन दे सकता था ^४।

यात्रा में अक्सर सार्थों की आकस्मिक विपत्तियों का, जैसे घनघोर वर्षा, बाढ़, डाकूओं तथा जंगली हाथियों द्वारा मार्ग-निरोध, राज्यक्षोभ तथा ऐसी ही दूसरी विपत्तियों का, सामना करने के लिए तैयार रहना पड़ता था। ऐसे समय, सार्थ के साथ खाने-पीने का सामान होने पर वह विपत्ति के निराकरण होने तक एक जगह ठहर सकता था ^५। सार्थ अधिकतर कीमती सामान ले आया और ले जाया करता था। इनमें केशर, अगर, चोया, कस्तूरी, इंगुर, शंख और नमक मुख्य थे। ऐसे सार्थों के साथ व्यापारियों और खास करके साधुओं का चलना ठीक नहीं समझा जाता था, क्योंकि इनके लुटने का बराबर भय बना रहता था ^६। रास्ते की कठिनाइयों से बचने के लिए छोटो-छोटे सार्थ बड़े सार्थों के साथ मिलकर आगे बढ़ने के लिए रुके रहते थे।

१. वही, ३०६६

२. वही०, ३०७०

३. वही०, ३०७१

४. वही०, ३०७२

५. वही०, ३०७३

६. वही०, ३०७४

कभी-कभी दो सार्थवाह मिलकर तय कर लेते थे कि जंगल में अथवा नदी या दुर्ग पहुँचने पर वे रात-भर ठहर कर सबरे साय-साध नदी पार करेंगे ।^१

सार्थवाह यात्रियों के आराम का ध्यान करके ऐसा प्रबन्ध करते थे कि उन्हें एक दिन में बहुत न चलना पड़े । जैवतः परिशुद्ध सार्थ एक दिन में उतनी ही मंजिल मारता था जितनी बन्धे और बड़े आराम से तय कर सकते थे । सूर्योदय के पहले ही जो सार्थ चल पकटा था उसे कालतः परिशुद्ध सार्थ कहते थे । मावतः परिशुद्ध सार्थ में बिना किसी भेद-भाव के सब मतों के साधुओं को भोजन मिलता था^२ । एक अच्छा सार्थ बिना राज्य-मार्ग को छोड़े हुए धीमी गति से आगे बढ़ता था । रास्ते में भोजन के समय वह ठहर जाता था और गन्तव्य स्थान पर पहुँचकर पत्राव डाल देता था^३ । वह इस बात के लिए भी सर्वशः प्रयत्नशील रहता था कि वह उसी सड़क को पकड़े जो गाँवों और चरागाहों से होकर गुजरती हो । वह पत्राव भी ऐसी ही जगह डालने का प्रयत्न करता था जहाँ साधुओं को आसानी से भिक्षा मिल सके^४ ।

सार्थ के साथ यात्रा करनेवालों को एक अथवा दो सार्थवाहों की आज्ञा माननी पड़ती थी । उन दोनों सार्थवाहों में एक से भी किसी प्रकार अनबन होने पर यात्रियों का सार्थ के साथ यात्रा करना उचित नहीं माना जाता था । यात्रियों के लिए भी यह आवश्यक था कि वे उन राज्यों और अपराज्यों में विश्वास करें जिन्हें सारा सार्थ मानता हो । सार्थवाह द्वारा नियुक्त चालक की आज्ञा मानना भी यात्रियों के लिए आवश्यक था^५ ।

सार्थों के साथ साधुओं की यात्रा बहुधा सुखकर नहीं होती थी । कभी-कभी उनके भिक्षाइन पर निकल जाने पर सार्थ आगे बढ़ जाता था और उन बेचारों को भूले-थामे इधर-उधर भटकना पड़ता था^६ । एक ऐसे ही भूले-भटके साधु-समुदाय का वर्णन है जो उन गावियों के, जो राजा के लिए लकड़ी लाने आई थीं, पड़ाव पर पहुँचा । यहाँ उन्हें भोजन मिला और ठीक रास्ते का भी पता चला । लेकिन साधुओं को ये सब कष्ट तभी उठाने पड़ते थे जब सार्थ उन्हें स्वयं भोजन देने को तैयार न हो । आवश्यकचूर्णि^७ में इस बात का उल्लेख है कि क्षितिप्रतिष्ठ और वसन्तपुर के बीच यात्रा करनेवाले एक सार्थवाह ने इस बात की मुनादी करा दी कि उसके साथ यात्रा करनेवालों को भोजन, वस्त्र, बरतन और दवाइयाँ सुफ्त में मिलेंगी । पर ऐसे उदारदृश्य भक्त बोधे ही होते होंगे, साधारण व्यापारी अगर ऐसा करते तो उनका दिवाला निश्चित था ।

हमें इस बात का पता है कि जैन साधु खाने-पीने के मामले में काफ़ी विचार रखते थे । यात्रा में गुड़, घी, केले, खजूर, शक्कर तथा गुड़-घी की पिन्नी उनके विहित खाद्य थे । घी न मिलने पर वे तैल से भी काम चला सकते थे । वे उपर्युक्त भोजन इसलिए करते थे कि

१. वही, ४८०३-०४

२. वही, ३०७६

३. वही, ३०७६

४. वही, ३०७६

५. वही, पृ० १०८१-८३

६. आवश्यकचूर्णि, पृ० १०८

७. वही, पृ० ११६ से

वह थोड़े ही में लुना शान्त कर देनेवाता होता था और उससे प्यास भी नहीं लगती थी। पर ऐसा तर माल तो सदा मिलनेवाता नहीं था और इसीलिए वे चना, चबेना, मिठाई और शालिचूर्ण पर भी गुजर कर लेते थे^१। यात्रा में जैन साधु अपनी दवाओं का भी प्रबन्ध करके चलते थे। उनके साथ वात-पित्त-कफ सम्बन्धी बीमारियों के लिए दवाएँ होती थीं और घाव के लिए मलहम की पट्टियाँ।^२

सार्थ के लिए यह आवश्यक था कि उसके सदस्य वन्य पशुओं से रक्षा पाने के लिए सार्थवाह द्वारा बनाये गये बाड़ों को कभी न लाँचें। ऐसे बाड़े का प्रबन्ध न होने पर साधुओं को यह अनुमति थी कि वे कैंटीली माड़ियों से स्वयं अपने लिए एक बाड़ा तैयार कर लें। वन्य पशुओं से रक्षा के लिए पड़ावों पर आग भी जलाई जाती थी। जहाँ डाकुओं का भय होता था वहाँ यात्री आपस में अपनी बहादुरी की डींगें इसलिए मारते थे कि डाकू उन्हें सुनकर भाग जायें; लेकिन डाकुओं से मुकाबला होने पर सार्थ इधर-उधर छितराकर अपनी जान बचाता था^३।

ऐसे सार्थ, जिसमें बच्चे और बूढ़े हों, जंगल में रास्ता भूल जाने पर साधु वन-देवता की कृपा से ठीक रास्ता पा लेते थे^४। वन्य पशुओं अथवा डाकुओं द्वारा सार्थ के नष्ट हो जाने पर अगर साधु विलग हो जाते थे तो सिवाय देवताओं की प्रार्थना के उनके पास कोई चारा नहीं रह जाता था^५।

भिक्षमंगों के सार्थ का भी बृहत्कल्पसूत्र-भाष्य में सुन्दर वर्णन दिया गया है। खाना न मिलने पर ये भिक्षमंगे कन्द, मूल, फल पर अपना गुजारा करते थे; पर ये सब वस्तुएँ जैन साधुओं को अभिच्छ थीं। इन्हें न खाने पर अक्सर भिक्षमंगे उन्हें डराते भी थे। वे भिक्षुओं के पास एक लम्बी रस्सी लाकर कहते थे—‘अगर तुम कन्द, मूल, फल नहीं खाओगे तो हम तुम्हें फाँसी पर लटककर आनन्द से भोजन करेंगे^६।’

सार्थ के दूसरे सदस्य तो जहाँ कहीं भी ठहर सकते थे, पर जैन साधुओं को इस सम्बन्ध में भी कुछ नियमों का पालन करना पड़ता था। यात्रा की कठिनाइयों को देखते हुए इन नियमों का पालन करना बड़ा कठिन था। सार्थ के साथ, सन्ध्या-समय, गहरे जंगल से निकलकर जैन साधु अपने लिए विहित स्थान की खोज में जुट पड़ते थे और ठीक जगह न मिलने पर कुम्हारों की कर्मशाला अथवा दूकानों में पड़े रहते थे।^७

यात्रा में जैन साधु तो किसी तरह अपना प्रबन्ध कर भी लेते थे पर साध्वियों को बड़ी कठिनाई उठानी पड़ती थी। बृहत्कल्पसूत्र (भा० ४, पृ० ६७२) के एक सूत्र में कहा गया है कि साध्वी आगमनगृह में, छाये अथवा बेपर्दे घर में, चतुर्तरे पर, पेड़ के नीचे अथवा खुले

१. वृ० क० सू० भा०, २०१३-१४

२. वही, २०१४

३. वही, ३१०४

४. वही, ३१०८

५. वही, ३११०

६. वही, ३११२-१४

७. वही, ३४४२-४४

में अपना बैरा नहीं ढाल सकती थी। आगमनग्रह में सब तरह के यात्री ठिक सकते थे। मुसाफिरों के लिए ग्राम-वभा, प्रपा (बावड़ी) और मन्दिरों में ठहरने की व्यवस्था रहती थी^१। साध्वियों यहाँ इसलिए नहीं ठहर सकती थीं कि पेशाब-पाखाना जाने पर लोग उन्हें बेशरम कहकर हँसते थे^२। कभी-कभी आगमनग्रह में चोरी से कुछे खुसकर बरतन चठा ले जाते थे। ग्रहस्थों के सामने साध्वियों अपना चित भी निश्चय नहीं कर पाती थीं^३। इन आगमनग्रहों में बहुधा बदमाशों से चिरी बदमाश औरतें और बेव्याएँ होती थीं। पास से चारात अथवा राज-यात्रा निकलती थी जिसे देखकर साध्वियों के हृदय में पुरानी बातों की याद ताजी हो जाती थी। आगमनग्रह में वे युवा पुरुषों से नियमानुसार बातचीत नहीं कर सकती थीं और ऐसा न करने पर लोग उन्हें पृष्ठा के भाव से देखते थे। यहाँ से चोर कभी-कभी उनके कपड़े भी चठा ले जाते थे। इसी तरह रण्डी-भट्टाओं से घिरकर उनके पतन की सम्भावना रहती थी^४। तीन बार विहित स्थान खोजने पर भी न मिलने से, साध्वियाँ आगमनग्रह अथवा बाड़े से घिरे मन्दिर में ठहर सकती थीं, लेकिन उनके लिए ऐसा करना तभी विहित था जब वे स्थिर बुद्धि से विधिमियों से अपनी रक्षा कर सकें। पास में भले आदमियों का पकोस आवश्यक था^५। मन्दिर में भी जगह न मिलने पर वे ग्राम-महत्तार के यहाँ ठहर सकती थीं^६।

ऊपर हम देख आये हैं कि जैन-साहित्य के अनुसार व्यापारी और साधु किस तरह यात्रा करते थे और उन्हें यात्राओं में कौन-कौन-सी तकलीफें उठानी पड़ती थीं और सार्थ का संगठन किस प्रकार होता था। स्थलमार्ग में कौन-कौन रास्ते चलते थे, इसका जैन-साहित्य में अधिक विवरण नहीं मिलता। अहिच्छत्रा (आधुनिक रामनगर, बरेली) को एक रास्ता था जिससे उत्तर-प्रदेश के उत्तरी रास्ते का बोध होता है। इस रास्ते से धन नाम का व्यापारी माल लादकर व्यापार करता था।^७ उज्जैन और पम्पा के बीच भी, लगता है, कोशाम्बी और बनारस हाकर व्यापार चलता था। इसी रास्ते पर धनवसु नामक सार्थबाह के लुटने का उल्लेख है।^८ मथुरा प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था और यहाँ से दक्षिण मथुरा के साथ बराबर व्यापार होता था।^९ शूर्पारिक से भी व्यापार का उल्लेख है।^{१०} स्थल-मार्ग से व्यापारी ईरान (पारसदीव) तक की यात्रा करते थे।^{११} रेगिस्तान की यात्रा में लोगों को बड़ी तकलीफ उठानी पड़ती थी।^{१२} रेगिस्तानी रास्तों में सीधे दिखलाने के लिए कोलें गड़ी होती थीं।^{१३}

अपने धार्मिक आचारों की कठिनाता के कारण जैन साधु तो समुदयात्रा नहीं करते थे; पर जैन सार्थबाह और व्यापारी, बौद्धों की तरह, समुदयात्रा के कायल थे। इन

- | | |
|---------------------------|----------------------------|
| १ वही, २४८६ | २ वही, २४६० |
| ३ वही, २४२४ | ४ वही, २४२२-२६ |
| ५ वही, २५०४ | ६ वही, २५०७, |
| ७ ज्ञाता धर्मकथा, १२, १४६ | ८ आवश्यक नियुक्ति, १२७६ से |
| ९ आवश्यकचूषि, पृ० ४७२ से | १० वृ० क० सू० भा०, २२०६ |
| ११ आवश्यकचूषि, पृ० ४४८ | १२ वही पृ० २२३ |

यात्राओं का बड़ा सजीव वर्णन प्राचीन जैन-साहित्य में आया है। आवश्यकचूर्णि से पता चलता है कि दक्षिण-मधुरा से सुराष्ट्र को बराबर जहाज चला करते थे। एक जगह कथा आई है कि पण्डु मथुरा के राजा पण्डुसेन की मति और सुमति नाम की दो कन्याएँ जब जहाज से सुराष्ट्र को चलीं तो रास्ते में तूफान आया और यात्री इनसे बचने के लिए रुद और स्कन्द की प्रार्थना करने लगे।^१ हम आगे चलकर देखेंगे कि चम्पा से गम्भीर, जो शायद ताम्रलिप्ति का दूसरा नाम था, होते हुए सुवर्णद्वीप और कालियद्वीप को, जो शायद जंजीवार का भारतीय नाम था, बराबर जहाज चला करते थे।

समुद्र-यात्रा के कुशलपूर्वक समाप्त होने का बहुत कुछ श्रेय अनुकूल वायु को होता था।^२ निर्गमकों को समुद्री हवा के रुखों का कुशल ज्ञान जहाजरानी के लिए बहुत आवश्यक माना जाता था। हवाएँ सोलह प्रकार की मानी जाती थीं; १ प्राचीन वात (पूर्व), २ उदीचीन वात (उत्तराहट), ३ दक्षिणात्य वात (दक्षिणाहट), ४ उत्तरपौरस्त्य (सामने से चलती हुई उत्तराहट), ५ सत्वसुक (शायद चौआई), ६ दक्षिण-पूर्वतुंगार (दक्खिन-पूरव से चलती हुई जोरदार हवा को तुंगार कहते थे), ७ अपर दक्षिण बीजाप (पश्चिम-दक्षिण से चलती हवा को बीजाप कहते थे), ८ अपर बीजाप (पछुआ), ९ अपरोत्तर गर्जभ (पश्चिमोत्तरी तूफान), १० उत्तरसत्वासुक, ११ दक्षिण सत्वासुक, १२ पूर्वतुंगार, १३ दक्षिण बीजाप, १४ पश्चिम बीजाप, १५ पश्चिम गर्जभ और १६ उत्तरी गर्जभ।

समुद्री हवाओं के उपर्युक्त वर्णन में सत्वासुक, तुंगार तथा बीजाप शब्द नाविकों की भाषा से लिये गये हैं और उनकी ठीक-ठीक परिभाषाएँ सुशुद्ध हैं, पर इसमें सन्देह नहीं कि इनका सम्बन्ध समुद्र में चलती हुई प्रतिकूल और अनुकूल हवाओं से है। इसी प्रकरण में आगे चलकर यह बात सिद्ध हो जाती है। सोलह तरह की हवाओं का उल्लेख करके चूर्णिकार कहता है कि समुद्र में कालिकावात (तूफान) न होने पर तथा साथ-ही-साथ अनुकूल गर्जभ वायु के चलने पर निपुण निर्गमक के अधीन वह जहाज, जिसमें पानी न रखता हो, इच्छित बन्दरगाहों को सज्जल पहुँच जाता था। तूफानों से, जिन्हें कालिकावात कहते थे, जहाजों के डूबने का भारी खतरा बना रहता था।

ज्ञाताधर्म की दो कहानियों से भी प्राचीन भारतीय जहाजरानी पर काफी प्रकाश पड़ता है। एक कथा में कहा गया है कि चम्पा में समुद्री व्यापारी (नाव वणियगा) रहते थे। ये व्यापारी नाव द्वारा गणिम (गिनती), धरिम (तौल), परिच्छेद तथा मेय (नाप) की वस्तुओं का विदेशों से व्यापार करते थे। चम्पा से यह सब माल बैलगाड़ियों पर लाद दिया जाता था। यात्रा के समय मित्रों और रिश्तेदारों का भोज होता था। व्यापारी सबसे मिल-मिलाकर शुभ मुहूर्त में गम्भीर नाम के बन्दर (पोयपत्तण) की यात्रा पर निकल पड़ते थे। बन्दरगाह पर पहुँचकर गाड़ियों पर से सब तरह का माल उतारकर जहाज पर चढ़ाया जाता था और उसके साथ ही खाने-पीने का भी सामान जैसे चावल, आटा, तेल, घी, गोरस, मीठे पानी की द्रव्यियाँ,

१ आवश्यकचूर्णि, पृ० ७०६ अ

२ वही, पृ० ६६

३ आवश्यकचूर्णि, ३८६ और ३८७ अ०

ओपधियों तथा बीमारों के लिए पथ्य भी लाद दिये जाते थे । समय पर काम आने के लिए पुआल, लकड़ी, पहनने के कपड़े, अन्न, शस्त्र तथा और बहुत-सी वस्तुएँ और कीमती माल भी साथ रख लिये जाते थे । जहाज छूटने के समय व्यापारियों के मित्र और सम्बन्धी शुभकामनाएँ तथा व्यापार में पूरा फायदा करके कुशतत्पूर्वक लौट आने की हार्दिक इच्छा प्रकट करते थे । व्यापारी, समुद्र और वायु की पुष्प और गन्धद्रव्य से पूजा करने के बाद, मस्तुनों (चलनवाहानु) पर पताकाएँ चढ़ा देते थे । जहाज छूटने के पहले वे राजाज्ञा भी ले लेते थे । मंगलवाचों की तुमुतध्वनि के बीच जब व्यापारी जहाज पर सवार होते थे तो उस बीच बन्दी और चारण उन्हें यात्रा के शुभ मुहूर्त का ध्यान दिलाते हुए, यात्रा में सफल होकर कुशत-मंगल-पूर्वक वापस लौट आने के लिए, उनके प्रति अपनी शुभकामनाएँ प्रकट करते थे । कर्णधार, कुक्षिधार (डोंड चलानेवाले) और खलासी (गर्भिज्जकः) जहाज की रस्सियों ढीली कर देते थे । इस तरह बन्धन-मुक्त होकर पाल हवा से भर जाते थे और पानी काठता हुआ जहाज आगे चल निकलता था अपनी यात्रा सफ़राल समाप्त करके जहाज पुनः वापस लौटकर बन्दर में लंगर डाल देता था । *

एक दूसरी कहानी में भी जहाजी व्यापारियों द्वारा सामुद्रिक विपत्तियों का सामना करने का अच्छा चित्र आया है । इस कहानी के नायक एक समय समुद्रयात्रा के लिए हरिवर्षीय नगर से बंदरगाह की रवाना हुए । रास्ते में तूफ़ान आया और जहाज डगमगाने लगा, जिससे पबराकर निर्यामक क्रिकत-व्यभिगूह हो गया, यहाँ तक कि जहाजरानी की विद्या भी उसे विस्मृत हो गई । गडबडी में उसे दिशा का भी ध्यान नहीं रहा । इस विकट परिस्थिति से रक्षा पाने के लिए निर्यामक, कर्णधार, कुक्षिधार, गर्भिज्जक और व्यापारियों ने नहा-धोकर इन्द्र और रुद्र की प्रार्थना की । देवताओं ने उनकी प्रार्थना सुन ली और निर्यामकों ने बिना किसी विघ्न-बाधा के कालियद्वीप में अपना जहाज लाकर वहाँ लंगर डाल दिया । इस द्वीप में व्यापारियों को सोने-चाँदी की लदानें, हीरे और दूसरे रत्न मिले । वहाँ धारीशर घोड़े यानी जेबे भी थे । सुगन्धित काष्ठों की गमगमाहट तो बेहोशो जानेवाली थी । व्यापारियों ने अपना जहाज सोने-जवाहरात इत्यादि से खूब भरा और अनुकूल दक्षिण-वायु में जहाज चलाते हुए सफ़राल बंदरगाह में लौट आये और वहाँ पहुँचकर राजा कनककेतु की सौगात देकर भेंट की । कनककेतु ने सबसे पूछा कि उनकी यात्राओं में सबसे विचित्र देश कौन-सा देख पड़ा । उन्होंने तुरन्त कालियद्वीप का नाम लिया । इसपर राजा ने व्यापारियों को वहाँ से जेबे लाने के लिए राजकर्मचारियों के साथ कालियद्वीप की यात्रा करने को कहा । इस बात पर व्यापारी राजी हो गये और उन्होंने व्यापार के लिए जहाज में माल भरना शुरू किया । इस माल में बहुत-से धातु भी थे जैसे, बीणा, धमरी, कच्छपवीणा, भण्ड, पट्त्रमरी और विचित्र बीणा । माल में काठ और मिट्टी के खिलौने (कट्टकम्म, पोत्थकम्म), तबकीरें, पुते खिलौने (लेप्पकम्म), माताएँ (पंथिम), गुँधी वस्तुएँ (वेडिम), भरावदार खिलौने (पुरिम), पड़े सूत से बने कपड़े (संघाश्म) तथा और भी बहुत-सी नेत्र-सुखद वस्तुएँ थीं । इतना ही नहीं, उन्होंने जहाज में कोष्ठ (कोट्टुडुडाम), मोंगरा, केतकी, पत्र, तमालपत्र, लामची, केसर और लस के सुगन्धित तेल के कुण्डे भी भर लिये । कुछ व्यापारियों ने खोंड, गुह, शककर, बुरा (मरस्पयडी) तथा पुण्योत्तरा और पट्योत्तरा नाम की शककरें अपने माल में रख लीं । कुछ ने रोपेंदार कम्बल (कोवव), मलयवृक्ष की छाल के रेशे से बने कपड़े, गोत तकिये इत्यादि विदेशों में बिक्री के सामान भर

लिये । कुछ जौहरियों ने हंसगर्भ इत्यादि रत्न रख लिये । खाने के लिए जहाज में चावल भर लिया गया । कालियद्वीप में पहुँचकर छोटी नावों (अस्थिका) से माल नीचे उतारा गया । इसके बाद जेब्रा पकड़ने की बात आती है ।^१

कालियद्वीप का तो ठीक-ठीक पता नहीं चलता, पर बहुत सम्भव है कि यह जंजीबार हो, क्योंकि जंजीबार के वही अर्थ होते हैं जो कालियद्वीप के । जो कुछ भी हो, जेब्रा के उल्लेख से तो प्रायः निश्चित-सा है कि कालियद्वीप पूर्वी अफ्रिका के समुद्रतट पर ही रहा होगा ।

उपर्युक्त विवरणों से हमें पता चल जाता है कि प्राचीनकाल में भारतवर्ष का भीतरी और बाहरी व्यापार बड़े जोर से चलता था । इस देश से सुगन्धित द्रव्य, कपड़े, रत्न, खिलौने इत्यादि बाहर जाते थे और बाहर से बहुत-से सुगन्धित द्रव्य, रत्न, सुवर्ण इत्यादि इस देश में आते थे । दालचीनी, मुरा (लोबान), अनलद, बालछड़, नलद, अगर, तगर, नख, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, कुठ, जटामांसी इत्यादि का इस देश से दूसरे देशों के साथ व्यापार होता था ।^२ कपड़ों का व्यापार भी काफी उन्नत अवस्था में था । रेशमी वस्त्र बहुधा चीन से आता था । गुजरात की बनी पटोला साड़ियाँ काफी विख्यात थीं । मध्य-एशिया और बलख से समूर और परमीने आते थे । इस देश से मुख्यतः सूती कपड़े बाहर जाते थे ।^३ काशी के वस्त्र इस युग में भी विख्यात थे तथा अपरान्त (कोंकण), सिन्ध और गुजरात में भी अच्छे कपड़े बनते थे । ^४ इतिहाससूत्र-भाष्य के अनुसार, नेपाल, ताम्रलिप्ति, सिन्धु और सोवीर अच्छे कपड़ों के लिए विख्यात थे ।

जैन-साहित्य से यह भी पता चलता है कि इस देश में विदेशी दास-दासियों की भी खूब खपत थी । अन्तगड्दसाओ^५ से पता चलता है कि सोमालीलैण्ड, वंजुप्रदेश, यूनान, सिंहल, अरब, फरगना, बलख और फारस इत्यादि से इस देश में दासियाँ आती थीं । ये दासियाँ अपने-अपने मुक्त के कपड़े पहनती थीं और इस देश की भाषा न जानने के कारण, इशारों से ही बातचीत कर सकती थीं ।

देश में हाथीदाँत का व्यापार होता था और वह यहाँ से विदेशों को भी भेजा जाता था । हाथीदाँत इकट्ठा करने के लिए व्यापारी पुलिंदों को बयाना दे रखते थे । इसी तरह शंख इकट्ठा करनेवाले मोंफियों को भी बयाने का रूपया दे दिया जाता था ।^६

उत्तरापथ के तंगण नाम के म्लेच्छ, जिनकी पहचान तराई के तंगणों से की जा सकती है, सोना और हाथीदाँत बेचने के लिए दक्षिणपथ आया करते थे । किसी भारतीय भाषा के न जानने से वे केवल इशारों से सौदा पटाने का काम करते थे । अपने माल की वे राशियाँ लगा देते थे और उन्हें अपने हाथों से ढँक देते थे और उन्हें तबतक नहीं उठाते थे जबतक पूरा सौदा नहीं पट जाता था ।^७

१ वही, १७, पृ० १३७ से

२ जे० आई० एस० ओ० पृ०, ८ (११४०), पृ० १०१ से

३ वही, ८ (११४०), पृ० १८८ से

४ वृ० क० सू० भा०, ३११२

५ अन्तगड्दसाओ, वारनेट का अनुवाद, पृ० २८ से २९, जंदन, १९०७

६ आवरणकचूषि, पृ० ८२३

७ वही, पृ० ११०

जैन-साहित्य से पता लगता है कि इस देश में उत्तरापथ के बोहों का व्यापार खूब चलता था और सीमाप्रान्त के व्यापारी, बोहों के साथ, देश के कोने-कोने में पहुँचते थे। कहानी है कि उत्तरापथ से एक बोहे का व्यापारी द्वारका पहुँचा। वहाँ और राजकुमारों ने तो उससे जूँचे-मूँरे और मोटे-ताजे बोहे खरीदे; पर कृष्ण ने सुलक्षण और दुबले-पतले बोहे खरीदे।^१ दीवालिया के खरच भी प्रसिद्ध होते थे।^२ जैन-साहित्य से पता चलता है कि गुप्त-युग में भारत का ईरान के साथ व्यापारिक सम्बन्ध काफी बड़ गया था। इस व्यापार में आदान-प्रदान की मुख्य वस्तुओं में शंख, सुपारी, चन्दन, अगूर, मजीठ, सोना, चाँदी, मोती, रत्न और मूँगे होते थे।^३ माल की उपयुक्त तालिका में, शंख, चन्दन, अगूर और रत्न तो भारत से जाते थे और ईरान इस देश की मजीठ, चाँदी, सोना, मोती और मूँगे भेजता था।

जैन-प्राकृत कथाओं में एक जगह एक ईरानी व्यापारी की सुन्दर कथा आई है। ईरान का यह व्यापारी वेन्नवड नामक बन्दर को अपने बड़े जहाज में शंख, सुपारी, चन्दन, अगूर, मजीठ तथा ऐसे ही दूसरे पदार्थ भरकर चला। हमें कहानी से पता चलता है कि जब ऐसा जहाज किसी टापू अथवा बन्दरगाह में पहुँचता था तो वहाँ उसपर लदे माल को इसलिए जाँच होती थी कि उसपर वही माल लदा है जिसके निर्यात के लिए मालिक को राजाज्ञा प्राप्त है अथवा दूसरा माल भी। वेन्नवड में जब ईरानी जहाज पहुँचा तो वहाँ के राजा ने जहाज पर के माल की जाँच के लिए एक श्रेष्ठि को नियुक्त कर दिया और उसे आज्ञा दी कि आधा माल राजस्व में लेकर बाकी आधा व्यापारी को लौटा दे। बाद में, राजा को कुछ शक हो गया और उसने माल को अपने सामने तंगलने की आज्ञा दी। श्रेष्ठि ने राजा के सामने माल तौला। माल की गौंटों को भक्तभोरने और परखी लगाने पर पता चला कि मजीठ की गौंटों में कुछ बेशकीमती वस्तुएँ छिपी हैं। राजा का सन्देह अब विश्वास में परिणत हो गया और उसने दूसरी गौंट भी खोलने की आज्ञा दी। सब गौंटों की जाँच के बाद यह पता चला कि ईरानी व्यापारी सोना, चाँदी, रत्न, मूँगे और दूसरी कीमती वस्तुएँ जहाँ-तहाँ छिपाकर निकाल ले जाना चाहता था। व्यापारी गिरफ्तार कर लिया गया और न्याय के लिए आरक्षकों के हाथ सौंप दिया गया।^४

जैन-साहित्य से पता चलता है कि उस समय के सभी व्यापारी ईमानदार नहीं होते थे। विदेशों से कीमती माल लाने पर बहुत-से व्यापारी यही चाहते थे कि किसी-न-किसी तरह, चन्दे राजस्व न चुकाना पड़े। रायप सेधिय^५ में अंक, शंख और हाथीदाँत के उन व्यापारियों का उल्लेख है जो राजमार्ग छोड़कर कच्चे और बीहड़ रास्ते इसलिए पकड़ते थे कि शुल्क-शालाओं से बच निकलें। पकड़ लिये जाने पर ऐसे व्यापारियों को कठिन राजदण्ड मिलता था।^६

१ वही, पृ० ४२४ अ

२ दशवैकालिकचूर्ण, पृ० २१३

३ उत्तरापथयन टीका, पृ० १४ अ

४ मेयर, हिन्दू टेक्स, पृ० २११-१२

५ रायपसेधियसूत्र, ५०

६ उत्तरापथयन टीका, पृ० २२२ अ

दसवाँ अध्याय

गुप्तयुग के यात्री और सार्य

गुप्तयुग भारतीय इतिहास का स्वर्णयुग माना जाता है। इस युग में भारतीय संस्कृति भारत की सीमाओं को पार करके मध्यएशिया और और मलय-एशिया में छा गई। इस संस्कृति के संवाहक व्यापारी, बौद्ध भिक्षु और ब्राह्मण पुरोहित थे जिन्होंने जल और स्थलमार्ग की अनेक कठिनाइयों को भेलते हुए भी विदेशों से कभी सम्पर्क नहीं छोड़ा।

हिन्द-एशिया में, गुप्तयुग के पहले भी, भारतीय उपनिवेश बन चुके थे, पर गुप्तयुग में भारत और पूर्वी देशों का सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध और बढ़ा। इस युग के संस्कृत-साहित्य में पूर्वी द्वीपपुंज के लिए, जैसा कालिदास से पता चलता है (द्वीपांतरानीत लवंगपुष्पैः), द्वीपांतर शब्द चल निकला था। मार्कण्डेयपुराण (५.७।५-७) में समुद्र से आवेष्टित इन्द्रद्वीप, कोरुमान, ताम्रपर्णी (ताम्रपर्णी?), गभस्तिमान, नागद्वीप, सौम्य, गन्धर्व और वारुण (बोर्नियो?) द्वीप का उल्लेख है। वामनपुराण^१ के अनुसार, इन नव द्वीपों को भारतीयों ने युद्ध और वाणिज्य द्वारा पावन किया (इज्यायुद्धवाणिज्याभिः कर्मभिः कृतपावनाः)।

उस युग में व्यापारियों और धर्म-प्रचारकों की कहानी जानने के पहले हमें उस युग का इतिहास भी जान लेना आवश्यक है; क्योंकि इतिहास जानने से ही यह पता चल सकता है कि किस तरह इस देश में एक ऐसे राज्य की स्थापना हुई जिसने संस्कृति के सब अंगों को, चाहे वह कला हो या साहित्य, धर्म हो अथवा राजनीति, व्यापार हो अथवा जीवन का सुख, सभी की समान रूप से प्रोत्साहन दिया। सम्राट् समुद्रगुप्त की विजयों ने देश की विभिन्न शक्तियों को एक सूत्र में प्रथित करने का प्रयत्न किया। उसकी विजय-यात्राओं से पुनः भारत के राजमार्ग जाग-से उठे। पहले धक्के में, पश्चिम युक्तदेश तक उसकी विजय का डंका बज गया। इसके बाद पञ्चावती और उत्तर-पूर्वी राजपुताने की बारी आई और उसकी फौजों ने मारवाड़ में पुष्करणा (पोखरण) तक फतह कर ली। पूर्वी भारत में उनकी विजय-यात्रा से समतट, डवाक (ढाका?), कामरूप और नेपाल उसके बस में आ गये। मध्य-भारत में उसकी विजय-यात्रा कौशाम्बी से शुरू हुई होगी। वहाँ से डाहल जीतने के बाद उसे पूर्व-मध्य प्रदेश में कई जंगली राज्यों को जीतना पड़ा।

अपनी पंजाब की विजय-यात्रा में समुद्रगुप्त ने पूर्वी पंजाब और राजस्थान के यौधेयों को जीता। जलन्धर और स्यालकोट के मद्र लोगों ने उसकी अधीनता स्वीकार की। अन्त में उसकी शाहानुशाहियों से भी मुठभेड़ हुई। यहाँ इसके बारे में कुछ जान लेना आवश्यक है। इतिहास के अनुसार, कनिष्क के वंश की, तीसरी सदी में, समाप्ति हो गई जिसका कारण ईरानियों का पूनर्जीवन था। आर्देशर प्रथम (२२४-२४१ ई०) ने खुरासान यानी मर्ग, बलख और खारिजम, जो

तुर्बार-साम्राज्य के उत्तरी भाग के द्योतक थे, जीत लिया। आर्देसर और उसके उत्तराधिकारियों का शकस्तान पर भी अधिकार हो गया। उस समय शकस्तान में सीस्तान, अरखोसिया और भारतीय शकस्तान शामिल थे। इस बृहद् ईरानी-साम्राज्य का पता हमें सासानी ठिकों से लगता है जो हमें बतलाते हैं कि कुछ ईरानी राजे कुषाणसाह, कुषाणसाहानुसाह और शकानराह की पदवी धारण करते थे।

हमें समुद्रगुप्त के प्रयाग के स्तम्भ-लेख से पता चलता है कि उसका दैनपुत्र शाहानुसाहियों से दौत्य सम्बन्ध था। समुद्रगुप्त ने उत्तर-पश्चिमी भारत की सीमा को अपनी विजय-यात्रा से बाहर छोड़ दिया था। गुप्तों और भारतीय सखानियों के अच्छे सम्बन्ध की भत्तक हम उत्तर-भारत के एक नये पट्टे पर पाते हैं जिसके अनुसार भारतीय, शकों को अपने में मिलाकर, हिन्दूकुश के रास्ते मध्य-एशिया में उपनिवेश बनाने लगे। उस युग में गुप्तगुप्त के व्यापारी मध्य-एशिया के सब रास्तों का व्यवहार करते थे। तारीम की पाटी के उत्तरी नवलिस्तानों में भारतीय प्रभाव बहुत मजबूत था। वहाँ स्वानीय ईरानी बोली के अतिरिक्त भारतीय प्राकृत का व्यवहार होता था तथा वहाँ की कला पर भारतीय संस्कृति की स्पष्ट छाप है।

समुद्रगुप्त की रणिय में विजय-यात्रा, मातूम होता है, रुक्मिकोषल, उड़ीसा (बिलासपुर, रायपुर और सम्भलपुर) और उसकी राजधानी श्रीपुर (सीरपुर, रायपुर से चालीस मील पूर्व), महाकान्तार (पूर्वी गोंडवाना), एरगडपल्ली (चीकाकोल के पास गंजम जिले में), देवराष्ट्र (येल्लम चिलि) विजगापटाम्, गिरिकोडूर (कोडूर, गंजम जिला), अवमुक्त (गोदावरी जिले में शायद नीलपल्ली नामक एक पुराना बन्दर), पिष्टपुर (पीठपुरम्), कौरात (शायद पीठपुरम् के पास कोल्लूर भील), पल्लक (पल्लक, नेलोर जिला), कुम्भलपुर (उत्तरी आर्कट में कुड्डलूर) और कांची तक पहुँचकर उसकी सेनाओं ने विजय की।

पर समुद्रगुप्त के साथ भारत की प्राचीन पञ्चगङ्गी पर गुप्त-युग की विजय-यात्राएँ समाप्त नहीं होती। समुद्रगुप्त के सख्सी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य ने भी इन रास्तों पर अपनी विजय का चमत्कार दिखलाया। इस बात के मानने के कारण हैं कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने मथुरा में अपनी विजय को मजबूत किया।^१ लगता है कि मथुरा में अपनी शक्ति मजबूत हो जाने पर चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ३८८ और ४०६ ई० के बीच मालवा, गुजरात और मुराष्ट्र को जीता। इन सब विजय-यात्राओं से चन्द्रगुप्त द्वितीय का साम्राज्य काफी बड़ गया। अभी तक यह ठीक-ठीक पता नहीं लगा है कि 'मिहोरी-स्तम्भ' का राजा चन्द्र कौन था। पर अधिकतर विद्वान उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय ही मानते हैं। अगर यह बात सही है तो महाजतापशाली चन्द्रगुप्त ने बाढ़ीक तक अपनी विजय-पताका उड़ाई थी। इतना ही नहीं, प्रतीत होता है कि उसकी सेना ने सिन्ध को भी विजित कर लिया था। मीरपुर खास में गुप्त-कालीन एक बहुत बड़े स्तूप का होना ही इस बात का परिचायक है कि गुप्तों की शक्ति वहाँ तक पहुँच गई थी। विष्णुपदगिरि यानी शिवालिक की पहाड़ियों पर विजय-स्तम्भ खड़ा करने के भी शायद यही मानी होते हैं कि चन्द्रगुप्त की सेनाएँ महापथ से होकर कलज में घुसी।

कुमारगुप्त प्रथम (४१५-४५६) को, सबसे पहले, दुष्टों के धावे का धक्का लगा, पर उसके उत्तराधिकारी स्कन्दगुप्त (४५८-४७८) की तो उनका भयंकर सामना करना पड़ा। लगता

है, द्रुण पंजाब और उत्तर-प्रदेश से होते हुए सीधे पाटलिपुत्र तक जा पहुँचे और उस नगर को लूटकर नष्ट-व्रष्ट कर दिया। कुम्हारार के पास की खुदाई से बात की पुष्टि होती है कि स्कन्दगुप्त के समय पाटलिपुत्र पूरा तहस-नहस कर दिया गया था, पर लगता है, द्रुणों का अधिकार बहुत दिनों तक इस नगर पर नहीं रह सका। स्कन्दगुप्त ने फिर उन्हें अपनी सेनाओं से खदेड़ दिया। हटती हुई द्रुण-सेना के साथ बढ़ते हुए स्कन्दगुप्त का, गाजीपुर के नजदीक, भीतरी सैयपुर के पास, प्रसिद्ध विजय-स्तम्भ है। लगता है, द्रुण-सेना परास्त की गई और इस तरह थोड़े दिनों तक गुप्त-साम्राज्य समाप्त होने से बच गया, किन्तु उसमें हास के लक्षण प्रकट हो गये थे और इसीलिए वह बहुत दिनों तक नहीं चल सका। सातवीं सदी की अराजकता से उत्तरभारत का श्रीहर्ष ने उद्धार किया और गुप्त-संस्कृति की परम्परा कायम रखी। इसके बाद का इतिहास मध्यकालीन भारत का इतिहास हो जाता है।

द्रुणों का आक्रमण इतिहास की एक प्रसिद्ध घटना है। चीनी ऐतिहासिकों के अनुसार, द्रुणों ने बाम्यान, कापिशी, लम्पक और नगरहार जोतने के बाद गन्धार जाता। उन्होंने भागते हुए किन्दार-कुषाणों को कश्मीर में डकेल दिया और पंजाब में घुसकर गुप्तों को हराया। भारतीय राजाओं द्वारा ५२६ ई० में हराये जाकर द्रुण दक्षिण की ओर घूम गये जहाँ सासानी लोग केवल तुर्कों की मित्रता से बच सके। खगान तुर्कों द्वारा द्रुणों की शक्ति तोड़ दिये जाने पर, सुसरो नौशीरवों कलख का मालिक बन बैठा। बाद में, ईरानियों और बाइजेसिडनों की दुश्मनी से तुर्कों का प्रभाव बढ़ गया।

इस युग में बहुत-से चीनी बौद्ध भिक्षु भारत-यात्रा को आये। इनमें से फाहियान (करीब ४०० ई०) ने भारत की भौगोलिक और राजनैतिक अवस्थाओं का कम वर्णन किया है। सोंगयुन, गन्धार में, करीब ५२१ ई० में पहुँचा, जब द्रुणों का उपद्रव बहुत जोरों से चल रहा था, पर उसके यात्रा-विवरण में भी जनता की तकलीफों का कोई उल्लेख नहीं है। फाहियान और सोंगयुन, दोनों ही भारत में उड़ीयान के रास्ते घुसे; पर सातवीं सदी के मध्य में, युनानच्वाब् ने बलख से तक्षशिला का रास्ता पकड़ा। लौटते समय उसने कन्धारवाला रास्ता पकड़ा। उस समय तुर्कान और कपिश के बीच का प्रदेश तुर्कों के अधीन था। इषिककोल में खगान तुर्कान ने युनानच्वाब् की बड़ी खातिर की। ताशकुर्गन पर पहुँचकर वह ईरान और पामीर के बीच फैले हुए प्राचीन कुषाण-साम्राज्य की सीमाओं का ठीक-ठीक वर्णन करता है^१।

उस समय तुर्कों के साम्राज्य की सीमा ताशकुर्गन तक थी; पर हिन्दूकुश के उत्तर और दक्षिण से सासानियों की सत्ता गायब हो चुकी थी। उत्तर में तुबारिस्तान छोटे-छोटे बीस राज्यों में बँट चुका था। ये राज्य खगान तुर्क के खाँ के सबसे बड़े भाई के अधिकार में थे। युनानच्वाब् ताशकुर्गन में कुछ दिन तक ठहरने के बाद कापिशी, नगरहार, पुष्पपुर, पुष्करावती, उदभाण्ड होते हुए तक्षशिला पहुँचा। बाम्यान पहुँचने के पहले वह तुबारिस्तान की सीमाएँ छोड़ चुका था। कापिशी के राजा के अधिकार में दस छोटे-छोटे राज्य थे।

चौदह बरस बाद, जब युवानच्वाब् भारत से वापस लौटा, तब भी, अफगानिस्तान की राजनीतिक अवस्था वही थी। इस यात्रा में कापिशी के राजा ने उसकी बड़ी खातिर की।

इस यात्रा में वह उदभाण्ड से लम्पक पहुँचा। यहाँ से चारम की ही घाटी से होकर वह बन्तु पहुँचा। उस युग में बन्तु की सीमा बजोरिस्तान से बड़ी थी और उसमें गोमल, मोब (गम्बावती) और कन्दर की घाटियाँ आ जाती थीं। वहाँ से चलकर उसने तोबा काकेर की पर्वतश्रेणी पार की और गजनी और तर्नाक की घाटी पहुँचा। यहाँ से भारतीय सीमा पार करके वह केलात-ए-गजनी के रास्ते से साओ-क्यूत, यानी, जागुड पहुँचा (जिसका आधुनिक नाम जगुरी है)। जागुड के उत्तर में हजिरथान था, जिसका नाम उजरिस्तान अथवा गजिस्तान है। यहाँ के बाद हजारों लोगों का प्रदेश पड़ता था। युवानच्वाब् के अनुसार, इस प्रदेश का अधिकारी एक तुर्क राजा था। यहाँ से उत्तर चलता हुआ वह दस्त-ए-नाबुर और बोकान के दरों से होकर लोएर की ऊँची घाटी पर पहुँचा। यहाँ से चलकर उसका रास्ता इरात काबुल के रास्ते से जलरोज पर अथवा कन्धार-गजनी-काबुल के रास्ते से मैदान में मिलता था। कपिशा से पगमान होते हुए, उसने कपिशा की सीमा पर बहुत-से छोटे-छोटे राज्य पार किये और खाबक होते हुए अन्दराब की घाटी से खोस्त पहुँचा और वहाँ से बदख्शा, वहाँ होते हुए वह पामीर पहुँच गया।

इतिहास बतलाता है कि गुप्तयुग में राजनीतिक एकच्छन्नता की वजह से भारतीय व्यापार की बड़ी उन्नति हुई और उज्जैन तथा पाटलिपुत्र अपने व्यापार के लिए मशहूर हो गये। पद्मगन्धतकम्^१ में, उज्जैन में घोड़े, हाथी, रथ और विप्राहियों तथा तरह-तरह के माल से भरे बाजारों का उल्लेख है। उभयामिचारिका^२ में कुल्लमु^३ की, माल से खचाखच भरी दुकानों और लेने-बेचनेवालों की, भीड़ का उल्लेख है। पाटलिपुत्रकम् के अनुसार, सार्वभौम-नगर (उज्जैन) के बाजारों में देशी और समुद्र-पार से लाये माल का ढेर लगा रहता था^४।

इस रोजगार की चलाने के लिए सराके होते थे जिनके चौधरी (नगरधेष्ठि) का नगर में बड़ा मान होता था। जैसा हमें मुदाराजब से पता चलता है, नगरसेठ व्यापार और लेन-देन के बिना अदालत में कानूनी सलाह भी देता था। हमें कुमारगुप्त और कुषगुप्त के लेखों से पता चलता है कि कोटिवर्ध विषय का राज्यपाल केनवर्मन्, एक समिति की सहायता से (जिसके सदस्य नगरधेष्ठि, सार्थवाह, प्रथम कुलिक, प्रथम शिल्पी और प्रथम कायस्थ होते थे) राज्य करता था। 'नगरसेठ' नगर का सबसे बड़ा व्यापारी और महाजन होता था तथा 'सार्थवाह' एक जगह से दूसरी जगह माल ले जाने और ले आने का काम करता था। उभयामिचारिका^५ में तो धनदत्त सार्थवाह के पुत्र समुद्रदत्त की उस युग का कुल्लेर कहा गया है। एक दूसरी जगह, धनमित्र सार्थवाह के वर्णन से पता चलता है कि गुप्तकाल के सार्थवाह खूब माल खरीदकर देशावर जाते थे। कभी-कभी चोर उन्हें लुट लेते थे और यदा-कदा राजा

१. चतुर्मासि, श्री एम० आर० के० कवि और श्री एस० के० आर० शास्त्री द्वारा सम्पादित १, पृ० ४-५, पटना, १९२२

२. वही, ३, पृ० २-३

३. वही, ४, पृ० १०

४. फ्लीट, वही, पृ० १३१

५. चतुर्मासि, ३, पृ० ५

भी उनका धन हर लेता था^१। प्रथम कुलिक भी नगर का कोई बड़ा व्यापारी होता था। शायद इस युग में नगर का द्वितीय कुलिक भी होता था। अभिलेखों से तो उसका पता नहीं चलता; पर महावस्तु^२ के अनुसार, वह नगरसेठ के लिए काम करता था। नगरसेठ, सार्थवाह और निगम के सदस्यों के मान का पता इस बात से भी चलता है कि वे खास-खास अवसरों पर राजा के साथ होते थे^३।

गुप्तकाल के व्यापार और लेन-देन में निगम का भी बड़ा हाथ रहता था। इसमें शक नहीं कि निगम मध्यकालीन सराफे का द्योतक था। बृहत्कल्पसूत्रभाष्य (१०६१-१११०) के अनुसार, निगम दो तरह के होते थे। एक तो केवल महाजनी का काम करता था और दूसरा महाजनी के अतिरिक्त दूसरे काम भी कर लेता था।

निगम, सेठ, सार्थवाह और कुलिकों में घना सम्बन्ध होता था। गुप्त-युग में इनकी संयुक्त मसहली होने का प्रमाण हमें बसाढ़ से मिली मुद्राओं से मिलता है^४। ऐसा होना आवश्यक भी था; क्योंकि इन सबका व्यापार में समान रूप से सम्बन्ध होता था।

गुप्तयुग में श्रेणियाँ होने के भी अनेक प्रमाण हैं^५। अभाम्यवश, श्रेणियों पर उस काल के लेखों से बहुत अधिक प्रकाश नहीं पड़ता। कुमारगुप्त प्रथम के समय के मन्दसोर के लेख^६ से पता चलता है कि लाट् देश से आये हुए रेशमी वस्त्र के बुनकरों की एक श्रेणी थी और उस श्रेणी के सदस्य अपने व्यवसाय पर अभिमान करते थे। स्कन्दगुप्त के समय के एक लेख से^७ पता लगता है कि तेलियों की भी श्रेणी होती थी।

विष्णुप्रेष के ५६२ ई० के एक लेख से पश्चिम-भारत में राजा और व्यापारियों के सम्बन्ध पर अच्छा प्रकाश पड़ता है^८। उसके राज्य में रहनेवाले व्यापारियों ने आचारस्थिति-पात्र की माँग की, जिससे वे अपनी रक्षा कर सकें। पूर्व समय से चले आते हुए इन नियमों में से बहुत-से नियम तत्कालीन व्यापार पर काफ़ी प्रकाश डालते हैं। राजा व्यापारी की सम्पत्ति को, बिना उसके पुत्र के मरे, जबरदस्ती नहीं ले सकते थे। व्यापारियों पर झूठा मुकदमा चलाने की मनाही थी। उन्हें केवल शक से कोई नहीं पकड़ सकता था। पुरुष के अपराध में स्त्री गिरफ्तार नहीं की जा सकती थी। मुर्दे और मुद्रालेह की उपस्थिति में ही मुकदमा सुना जा सकता था। माल बेचने में लगे दुकानदार की गवाही नहीं मानी जाती थी। राजा और सामन्तों के आने पर बैलगाड़ी, खाद और रसद जबरदस्ती नहीं वसूली जा सकती थी। यह भी नियम था कि सब श्रेणी के लोग एक ही बाजार में दुकान नहीं लगा सकते थे, अर्थात् भिन्न-भिन्न व्यवसाय के लोगों को शहर के भिन्न-भिन्न भागों में बसने

१. वही, ३, पृ० १०

२. महावस्तु, ३, पृ० ४०५-४०६

३. वही, ३, पृ० १०२

४. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एजुअल रिपोर्ट, १९०३-१९०४, पृ० १०४

५. प्लीड, वही, नं० १८, पृ० ८६ से

६. प्लीड, वही, नं० १६, पृ० ७१

७. प्रोसीडिंग्स ऐण्ड ट्रैन्जेक्शन्स ऑफ़ द आल इण्डिया ओरियण्टल कॉन्फरेंस

फिफ्थीन्थ सेशन, बम्बई, १९४६, पृ० २७१ से

की अनुमति थी, एक ही जगह नहीं। श्रेष्ठियों के सदस्यों को शायद बाजार का कर नहीं देना पड़ता था। राजकर केवल महल में राजा के पास अथवा उस काम के लिए नियुक्त किसी कर्मचारी के पास लाया जाता था, दूसरे के पास नहीं। दूसरे देश से आये हुए व्यापारी को, कानून की निगाह में, वे अधिकार नहीं थे जो उस देश के व्यापारियों की थे। डेल्ट चतानेवाले और नील निकालनेवाले को कोई कर नहीं देना पड़ता था। बाकली भरनेवाले और म्वाले से किसी तरह की बेगारी नहीं ली जा सकती थी। पर में अथवा दुकान पर काम करनेवाले व्यक्ति अदालत की मुहर, पत्र और दूत से तभी बुलवाये जा सकते थे जबकि उनपर फौजदारी का मुकद्दमा हो। देवूजा, यज्ञ और विवाह में लगे हुए लोगों को जबरदस्ती अदालत में नहीं बुलवाया जा सकता था। कर्जदार की जमानत हो जाने पर उसे हथकड़ी नहीं लग सकती थी, न उसे अदालत के पहरे में ही रखने की अनुमति थी। आपाड़ और पूस में उन गोशमों की जाँच होती थी जहाँ अन्न भरा जाता था। लगता है कि इनपर सवा रुपया धर्मादा देना पड़ता था। बिना राजकर्मचारियों की सूचना दिये हुए अगर पोतेदार धर्मादा वसूल करके अन्न बेच देता था तो उसे शुल्क का अठगुना दण्ड भरना पड़ता था। लगता है कि कोई सरकारी कर्मचारी हर पाँच दिन पर राजकर की वसूली जमा करता था। ऐसा न करने पर उसे छः रुपये का दण्ड लगता था और शायद चवन्नी धर्मादा। ऐसा माना जाता है कि प्रथम कुलिक (जिसे लेल में उत्तर-कुलिक कहा गया है), जब नापने और जोखने के सम्बन्ध का कोई मुकद्दमा होता था तब अदालत के बाहर नहीं जाने पाते थे। उन्हें यह भी आवश्यक होता था कि अदालत के तीन बार बुलाने पर वे अवश्य वहाँ हाजिर हों। ऐसा न करने पर सवा दो रुपये दण्ड लगते थे। नकली रुपये बनानेवाले को सवा छः रुपये दण्ड लगते थे। लगता है कि नील बनानेवाले को तीन रुपये कर में भरने पड़ते थे और उतना ही तैलियों को भी। जो व्यापारी एक बरस के लिए बाहर जाते थे उन्हें अपने देश में आपस आने पर कोई कर नहीं देना पड़ता था, पर बार-बार बाहर जाने पर उन्हें बाहर जाने का कर भरना पड़ता था। माल से भरी नाव का किराया और शुल्क बारह रुपये होता था और उसपर धर्मादा सवा रुपये लगता था। मैंग और ऊँठ के बोझ पर सवा पाँच रुपया धर्मादे के संग लगता था। बैल के बोझ पर डारै रुपया, गधे के बोझ पर सवा रुपया धर्मादे के साथ और गठरियों पर सवा रुपये कर लगता था और जिन अँकड़ों पर वे लटकाई जाते थे उनपर चार आता। तौ फल की गठरियों पर दो विशेषक मापूल धर्मादे के साथ लगता था। एक नाव धान का कर तीन रुपया लगता था। सूखी-गीली लकड़ी से भरी-पूरी नाव का मापूल सवा रुपये धर्मादे के साथ होता था। बॉव-भरी नाव का धर्मादे के संग मापूल सवा रुपया होता था। अपने घिर पर धान उठाकर ले जानेवाले को किसी तरह का कर नहीं देना पड़ता था। जीरा, धनिया, राई इत्यादि दो पसर, नमूने के लिए, निकाल लिये जाते थे। विवाह, यज्ञ, उत्सव के समय कोई शुल्क नहीं लगता था। मद्य-भरी नाव पर पाँच रुपया मापूल और सवा रुपये धर्मादा लगता था। शायद जाड-भरी नाव पर धर्मादे सहित सवा रुपया मापूल लगता था। सीधु नाम की मदिरा पर उसका एक चौथाई भाग मापूल भरना होता था। छीनी, कोली, और मोचियों को अपनी वस्तुओं के मूल्य का शायद आधा, कर में दे देना पड़ता था। लोहार, रथकार, नाई और कुम्हार से जबरदस्ती बेगारी ली जा सकती थी।

उपयुक्त आचारपात्रस्थिति से हमें व्यापार के कई पहलुओं का ज्ञान होता है। लगता है, व्यापारियों ने अदालत से अपनी रक्षा करने का पूरा बन्दोबस्त कर लिया था। हमें यह भी पता

लगता है कि व्यापार पर उस समय मासूल की क्या दर थी। यह भी मालूम पड़ता है कि व्यापारियों से मासूल के साथ-साथ धर्मादा भी वसूल किया जाता था। छोपी, कोली इत्यादि कारीगरों से गहरा राजकर वसूल किया जाता था।

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति^१ में, जिसका समय शायद गुप्तकाल काल हो सकता है, तथा महा-वस्तु में भी अनेक श्रेणियों का उल्लेख है। हम महावस्तु की श्रेणियों का वर्णन कर आये हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में अठारह श्रेणियों का उल्लेख है। बौद्ध-साहित्य में अठारह श्रेणियों का उल्लेख तो आता है, पर उनके नाम नहीं आते। वे अठारह श्रेणियाँ इस प्रकार हैं।— (१) कुम्हार, (२) रेशम बुननेवाला (पट्टइल्ला), (३) सोनार (सुवर्णकार), (४) रसइया (सुवकार), (५) गायक (गन्धन्व), (६) नाई (कासवग), (७) माला-कार, (८) कच्छकार (काछी), (९) तमोली, (१०) मोची (चम्मयह), (११) तेली (जन्तपीलग), (१२) अंगोछे देवनेवाले (गंडी), (१३) कपड़े छापने-वाले (छिम्प), (१४) ठठेर (कंसकार), (१५) दर्जा (सीवग), (१६) ग्वाले (गुआर), (१७) शिकारी (मिल्ल) तथा (१८) मछुए।

गुप्तयुग के साहित्य में अक्सर व्यापार की बहुत बड़ाई की गई है। पंचतन्त्र^२ में बहुत-से व्यवसायों को बताने के बाद व्यापार की इसलिए तारीफ की गई है कि उससे धन और इज्जत, दोनों मिलती थी। व्यापार के लिए माल सात विभागों में बाँटा गया है; यथा— (१) गन्धी का व्यवसाय (गन्धिक व्यवहार), (२) रेहन-बट्टे का काम (निक्षेप-प्रवेश), (३) पशुओं का व्यापार (गोष्ठीकर्म), (४) परिचित प्राहक का आना, (५) माल का भूठा दाम बताना, (६) भूठी तौल रखना और (७) विदेश में माल पहुँचाना (देशान्तर-भारडनयनम्)। गन्धी के व्यापार की इसलिए तारीफ की गई है कि उससे काफ़ी फायदा मिलता था। महाजन नित्य मनाया करते थे कि कैसे जमा करनेवाला मरे कि उसका माल गायब हो जाय। पशु के व्यापारी सोचते थे कि उसके पशु ही उसकी सम्पत्ति हैं। व्यापारी सोचता था कि परिचित प्राहकों के आने पर सौदा अच्छा बिकेगा। चोर-व्यापारी भूठी तौल में मजा लेता था।

विदेशी व्यापार पर दो सौ से तीन सौ तक प्रति बार फायदा होता था। इस उन्नत व्यापार के लिए सबकों के प्रबन्ध की आवश्यकता थी। गुप्तयुग में, लगता है, सबकों के प्रबन्ध के लिए एक अधिकारी होता था। उसके काम का तो हमें पता नहीं, पर यह माना जा सकता है कि वह यात्रियों की देख-रेख करता था और उन्हें सीमान्त-प्रदेश के दुश्मनों से बचाता था। यशोवर्मन् के नालन्दा के शिलालेख से पता चलता है कि उसके तिगिन (तिगिन) नाम का एक मन्त्री मार्गपति था^३। तिगिन शब्द से मालूम पड़ता है कि वह शायद कोई तुर्क रहा होगा।

हम ऊपर देख आये हैं कि गुप्तयुग में गुप्त नरेशों की सेनाएँ बराबर मार्गों पर इधर से उधर जाती रहती थी। इस युग में कूच करती हुई सेना का बहुत ही सुन्दर वर्णन बाण के

१. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३, ४३, पृ० १३३-३४

२. पंचतन्त्र, पृ० ६ से, बम्बई : १९२०

३. पपिमाफिया इण्डिका, २०, ४२

हर्षचरित' में दिया हुआ है। हर्ष, कुल्लोन्चार करने के बाद, कपड़े पहनकर गरी पर बैठ गये। लोगों में इनाम बाँटने के बाद उन्होंने कैदियों को छोड़ देने की आज्ञा दी और जयजयकार के साथ सेना-सहित चले पड़े। सेना की कूच सरस्वती नदी के पास एक बड़े मन्दिर से शुरू हुई। वहाँ गाँव के महत्तर की प्रार्थना पर उन्होंने सेना की कूच करने का हुक्म दिया।

रात का तीसरा पहर बीतते ही कूच के नगाड़े बजने लगे। नगाड़े पर आठ चोटों से सेना को यह बता दिया गया कि उसे आठ कोस जाना था। नगाड़ों की गड़गड़ाहट के साथ ही अजीब गड़गड़ो मच गई। कर्मचारी उठा दिये गये और सेनापतियों ने पाटिपतियों को जगा दिया। हजारों मशालें जला दी गईं और सेनापति की फठोर आज्ञा से अद्वारोही आँख मलते हुए उठ बैठे। हाथीबानों में हाथी और घुड़साल में घोड़े जान पड़े। तम्बू-कनात खड़ा करनेवाले फर्राशों (सहचिन्तक) ने रातदिव्यों (पटझड़ी), कनातें (काण्डपट), मण्डप और बितान लपेट लिये। मालबाने के अथर्वजों ने घालियों, फठोरों और दूसरे सामान हाथियों पर लाद लिये। मोठी-ताजी कुटनियों बड़ी मुश्किल से चल रही थीं। ऊँट बलबला रहे थे। सम्भ्रान्त स्त्रियाँ हाथियों पर चल रही थीं और घोड़े पर चढ़ी हुई राजसेविकाओं के आगे पैदल सिपाही चल रहे थे। बहादुरों ने कूच करने के पहले अपने मस्तक पर तिलक कर लिये थे। बड़े-बड़े सेनापति खूब सजे-सजये घोड़ों पर चल रहे थे। बीमारी से बचने के लिए घोड़ों के मुँह में बन्दर रक्त दिये गये थे। चलने के पहले स्त्रियों ने हाथियों पर चित्र खींच दिये थे। फौज के चलने के बाद कुछ बदमाशों ने पीछे बचा हुआ अनाज लूट लिया। गावियों और बैलों पर नौकर चल रहे थे। व्यापारियों के बैल शोर-मुल से भटक गये। लोग टाँगनों की तारीफ कर रहे थे। कहीं-कहीं खच्चर गिर पड़े।

कूच करने की वही में बड़े सरदार हाथियों पर चढ़े थे तथा उनके साथ हथियार-बन्द घुड़सवार चल रहे थे। ठीक सुबोध के समय कूच का राँव बजा और राजा की सवारी एक हथिनी पर निकली। लोग भागने लगे। हथिनी आसन्नरदारों से घिरकर आगे बढ़ने लगी। राजा, लोगों के अभिवादन, हँसकर, धिर हिलाकर अथवा पूछ-ताछ करके स्वीकार करने लगे।

उसके बाद बाजे बजने लगे और आगे-आगे जमर और जूनों की भीक बढ़ी। लोग बात करने लगे—'बड़ो बेठा, आगे।' 'अरे भाई, तुम पीछे क्यों पड़े हो?' 'लीजिए, भागनेवाला घोड़ा है।' 'क्यों तुम लँगड़े की तरह भटक रहे हो? देखते नहीं कि हरील हमपर दूट रहा है।' 'अरे निर्दय बदमाश, ऊँट क्यों बढ़ाये जा रहा है, देखता नहीं, एक लफका पड़ा है।' 'दोस्त, रामिल, इस बात का ध्यान रखना कि कहीं भूल में गिर न जाओ।' 'अरे बेहूदे, देखता नहीं कि सत्तू का बोरा फट गया है? जख्मी क्या है, सीधे से चल।' 'अरे बैल, अपना रास्ता छोड़कर तू पोंछों में घुसा जा रहा है।' 'अरे भीमरिन, क्या तू आ रही है?' 'अरे तेरी हथिनी हाथियों में घुसना चाहती है।' 'अरे, भारी बोरा एक तरफ फुट गया है। जिससे सत्तू गिर रहा है, फिर भी तू मेरा चित्ताना नहीं सुनता।' 'तू खन्डक में चला जा रहा है, जरा ख्याल कर।' 'अरे खीरवाले, तेरा मेठा दूट गया है।' 'अरे कहिल, रास्ते में गधे घुसना।' 'जुप रह बैल।' 'अरे गुलाम, कितनी देर तक बेर चुनता रहेगा?' 'हमें बहुत रास्ता तै करना है। अरे दोस्त, तू रुकता क्यों है? एक बदमाश के लिए पूरी फौज रुकी

हुई है।' 'अरे बुढ़े, देव, आगे सड़क बड़ी ऊबड़-खाबड़ है, कहीं शम्कर का बरतन न तोड़ देना।' 'गंडक, अन्न की गहरी लदान है, बैल उसे ढो नहीं सकता।' 'अरे, जलरी से बड़कर खेत से थोड़ा चारा काट ले, हमारे जाने पर कौन पूछ करेवाला है।' 'अरे भाई, अपने बैल दूर रख, खेत पर रखवारे हैं।' 'अरे, गाड़ी फँस गई; उसे निकालने के लिए एक मजदूर बैल जोत।' 'पागल, तू औरतों को कुचल रहा है! क्या तेरी आँखें फूट गई हैं?' 'अरे बदमाश महावत, तू क्यों मेरे हाथी की सूँड़ से खिलवाड़ कर रहा है।' 'अरे जंगली, कुचल दे उसे।' 'अरे भाई, तुम कीचड़ में किसल रहे हो।' 'अरे दीनबन्धु, जरा बैल को कीचड़ से निकालने में मदद करो।' 'अरे लड़के, इस तरफ से चल, हाथियों के दल में से निकलने की गुज़ाईश नहीं है।'

इधर शोहदे तो लरकर का छोड़ा हुआ खाना उड़ा रहे थे, उधर बेचारे गरीब सामन्त बैलों पर चढ़े अपनी किस्मत को रो रहे थे। राजा के बरतन मजदूर ढो रहे थे। रसोईखाने के नौकर जानवर, चिड़िया, छाछ के बरतन और रसोईखाने के बरतन ढो रहे थे।

जिन देहातियों के खेतों से होकर फौज गुजरती थी, वे डर जाते थे। बेचारे दही, गुड़, खॉइ और फूल लाकर अपने खेतों के बचाने की प्रार्थना करते थे और वहाँ के अधिकारियों की निन्दा अथवा स्तुति करते थे। कुञ्ज राजा की बड़ाई करते थे तो कुछ अपनी जायदाद के नष्ट होने से डरते थे। हर्ष की सेना का चाहे जितना बल रहा हो, इसमें शक नहीं कि उसमें अनुशासन की कमी थी और शायद इसीलिए उसे पुलकेशन द्वितीय से हार खानी पड़ी।

गुप्तयुग में चीन और भारत का सम्बन्ध पहले से भी अधिक दृढ़ हुआ। हमें पता है कि शायद चीन और भारत का सम्बन्ध ६१ ई० में आरम्भ हुआ जब हान राजा मिंग ने पश्चिम की ओर भारत से बौद्ध भिक्षु बुलाने के लिए दूत भेजे। धर्मरक्षित और कश्यप-मातंग भारत से अनेक ग्रन्थों के साथ आये और चीन में प्रथम विहार बना।

दक्षिण-चीन का भारत के साथ सम्बन्ध तो शायद ईशा-पूर्व दूसरी सदी में ही हो चुका था। पर बाद में बौद्धधर्म के कारण यह सम्बन्ध और बढ़ा।

जैसा हम पहले देख आये हैं, हान-युग से, चीन से भारत की सबके मध्य-एशिया होकर गुजरती थीं। मध्य-एशिया में भारत और चीन, दोनों ने मिलकर एक नवीन सभ्यता को जन्म दिया। जिस प्रदेश में इस नवीन सभ्यता का विकास हुआ, उसके उत्तर में तियानशान, दक्षिण में कुनलुन, पूर्व में नानशान और पश्चिम में पामीर हैं। इन पर्वतों से नदियाँ निकलकर तक्लामकान के रेगिस्तान की ओर जाती हुई धीरे-धीरे बालू में गाँव हो जाती हैं। भारत के प्राचीन उपनिवेश इन्हीं नदियों के दूनों में बसे हुए थे। जैसा हम ऊपर देख आये हैं, मध्य-एशिया में, कुषाण-युग में, बौद्धधर्म का प्रचार हुआ। काश्मीर और उत्तर-पश्चिमी भारत के रहनेवाले भारतीय खोतान और काशगर की ओर बढ़े, और वहाँ छोटे-छोटे उपनिवेश बनाये जिनके वंशज अपने को भारतीय कहने में गर्व मानते थे और जिन्हें भारतीय सभ्यता का अभिमान था।

गुप्तयुग में, पहले की ही तरह, मध्य-एशिया का रास्ता काबुल नदी के साथ-साथ हिंदा, नगरहार होता हुआ बाम्यान पहुँचता था। बाम्यान से रास्ता बलख चला जाता था, जैसा हम पहले देख आये हैं। यहाँ से एक रास्ता सुग्ध होता हुआ सीर दरिया पार करके ताशकन्द पहुँचता

था और वहाँ से पश्चिम की ओर चलता हुआ तिवानशान के दरों से होकर उज्जुरकान पहुँचता था। दूसरा रास्ता बदख्श और पामीर होते हुए काशगर पहुँचता था। भारत और काशगर का सबसे छोटा रास्ता सिन्धु नदी की उपरती घाटी में होकर है। यह रास्ता गिजगिट और यासीन नदी की घाटियों से होता हुआ ताराकुरगन पहुँचता है, जहाँ सबसे दूसरा रास्ता आकर मिल जाता है। काशगर पहुँचकर मध्य-एशिया का रास्ता फिर दो शाखाओं में बँट जाता था। दक्षिणी रास्ता तारोम की इन के साथ-साथ चलता था। इस रास्ते पर काशगर, वारकन्द, खोजान और नीया के समृद्ध राज्य और बहुत-से छोटे-छोटे भारतीय उपनिवेश थे। यहाँ के बाशिन्दे अधिकतर ईरानी नस्ल के थे जिनमें भारतीयों का समावेश हो गया था। खोजान तो शायद अरोक के समय में ही भारतीय उपनिवेश बन चुका था। यहाँ गोमती बिहार नाम का मध्य-एशिया में सबसे बड़ा बौद्ध-बिहार था जिसमें अनेक चीनी यात्री बौद्धधर्म की शिक्षा पाने आते थे। मध्य-एशिया के उत्तरी रास्ते पर उज्जुरकान के पास भदक, कुची, अगिन (काराशहर) और तुरकान पड़ते थे। कुची के प्राचीन शासकों के सुवर्णपुत्र, हरदेव, सुवर्णदेव इत्यादि भारतीय नाम थे। कुची भाषा भारतीय भाषा की एक स्वतन्त्र शाखा थी।

✓ मध्य-एशिया के उत्तरी और दक्षिणी मार्ग यशव के फाटक पर मिलते थे। वही के कुछ ही पाव तुनहुआंग की प्रसिद्ध गुहाएँ थीं जहाँ चीन जानेवाले बौद्ध यात्री आकर ठहरते थे।

✓ जिस समय भारतीय व्यापारी और बौद्ध भिक्षु अनेक कठिनाइयों को सहते हुए मध्य-एशिया से चीन पहुँच रहे थे, वही युग में भारतीय नाविक मलय-एशिया के साथ अपना व्यापारिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध बढ़ा रहे थे। हम ऊपर देत आये हैं कि कुवाण-युग में भारतीय व्यापारी सुवर्णभूमि में जाकर बसने लगे थे। गुन्युग में और अधिक संख्या में भारतीय मलय-एशिया और हिन्दचीन में जाने लगे।

ईसा की प्राथमिक शताब्दियों में भारतीय भूसंस्थापकों ने सुदूर-पूर्व में अनेक उपनिवेश स्थापित किये जिनमें फूनान, चम्पा और श्रीविजय मुख्य थे। फूनान में कम्बुज और स्वाम के कुछ भाग आ जाते थे और उसकी स्थापना यहाँ की रानी से विवाह कर ब्राह्मण कौशिकन्य ने की थी। ईसा की छठी सदी में फूनान की आबाद मानकर भारत से नये आनेवाले भूसंस्थापकों ने कम्बुज की स्थापना की। अपने सुवर्ण-युग में कम्बुज में आधुनिक कम्बुज, स्वाम और अमल-वणत की दूसरी रियासतों के भाग आ जाते थे।

ईसा-पूर्व दूसरी सदी में चम्पा, यानी, आधुनिक अनाम की भी नींव पड़ी। चम्पा का चीन के साथ, जल और स्थल, दोनों से ही सम्बन्ध था। कम्बुज और चम्पा, दोनों ही बहुत काल तक भारतीय संस्कृति के आभारी रहे। संस्कृत वहाँ की राजभाषा हो गई और ब्राह्मण-धर्म वहाँ का धर्म।

मलय-आवदीप के दक्षिण, समुद्र में, जावा तथा सुमात्रा के पूर्वी किनारे पर, श्रीविजय-राज्य इतिहास में बहुत प्रसिद्ध हुआ। श्रीविजय के विस्तृत राज्य में मलय-आवदीप, जावा इत्यादि प्रदेश शामिल थे। हमें फाहियन से पता लगता है कि पाँचवीं सदी में यवदीप हिन्दू-धर्म का केन्द्र था। बौद्धधर्म वहाँ छठी सदी में चीन जानेवाले बौद्ध भिक्षुओं द्वारा लाया गया।

✓ सातवीं सदी में, जावा का नाम हटकर श्रीविजय का नाम आ जाता है। श्रीविजय के राजाओं ने भारत और चीन के संग बराबर सम्बन्ध रखा। इस्लाम से हमें पता लगता है कि की विजय में बौद्ध और ब्राह्मण-धर्मों को पढ़ने का प्रबन्ध था।

चीनी यात्रियों के यात्रा-विवरण से हमें पता लगता है कि भारत से हिन्द-एशिया और चीन तक बराबर जहाज चलते रहते थे तथा इस मार्ग का बौद्ध यात्री और भारतीय व्यापारी, दोनों ही समानरूप से उपयोग करते थे। सातवीं सदी के मध्य में, जब मध्य-एशिया पर से चीन का अधिकार हट गया, तब, भारत के संग उसका सीधा सम्बन्ध केवल समुद्र-मार्ग से रह गया।

हमें बौद्ध-साहित्य से पता लगता है कि गुप्तयुग में भी भरुकच्छ, सुमारा और कल्याण (भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर) तथा ताम्रलिप्ति (पूर्वी तट पर) बड़े बन्दरगाह थे। कॉसमोस ईसिडोरोस अपने ग्रन्थ किश्चियन टोपोग्राफी^१ (छठी सदी) में बतलाते हैं कि उस युग में सिन्धु समुद्री व्यापार का एक बड़ा भारी केन्द्र था और वहाँ ईरान और हब्शा से जहाज आते थे तथा विदेशों को वहाँ से जहाज जाते थे। चीन और दूसरे बाजारों से वहाँ रेशमी कपड़े, अग्रर, चन्दन और दूसरी चीजें आती थीं जिन्हें सिन्धु के व्यापारी मालावार और कल्याण भेज देते थे। उस युग में कल्याण का बन्दरगाह तौबा, तीवी और बहुत अच्छे कपड़ों के लिए प्रसिद्ध था। सिन्धु से जहाज सिन्धु के बन्दरगाह में जाते थे जहाँ कस्तूरी, एरगडी और जशमासी का व्यापार होता था। सिन्धु से जहाज सीधे ईरानी, हिमयारी तथा अरबों के बन्दर में भी जाते थे। इन प्रदेशों की उपज सिन्धु आती थी। कॉसमोस ने निम्नलिखित बन्दरगाहों का उल्लेख किया है—सिन्धुस (सिन्धु), ओरोहोथा (सौराष्ट्र), कलियाना (कल्याण), सिबोर (चौल) और माले (मालावार)। उस समय के बड़े-बड़े बाजारों में पार्तो, मंगरोथ (मंगलोर), सलोपतन, नलोपतन और पौडुपतन थे, जहाँ से मिर्च बाहर भेजी जाती थी। भारत के पूर्वी समुद्रतट पर मरल्लो के बन्दरगाह से शंख बाहर जाते थे तथा कावेरीपट्टीनमू के बन्दरगाह से अलवांजेनमू। इसके बाद, लेखक लवंग-प्रदेश और चीन का उल्लेख करता है।

हम ऊपर कह आये हैं कि गुप्तयुग में हिन्द-एशिया के लिए 'द्वीपान्तर' शब्द प्रचलित हो चुका था। ईशानगुहदेवपद्धति से हमें पता लगता है कि भारतीय बन्दरगाहों में द्वीपान्तर के जहाज बराबर लगा करते थे।^२

स्थल और जलमार्ग से बहुत व्यापार बढ़ जाने पर भी यात्रा की तो वही कठिनाइयाँ थीं, जैसी पहले। फाहियान्, जिसने भारत की यात्रा ३६६ ई० से ४१४ ई० तक की, समुद्रयात्रा की कठिनाइयों का उल्लेख करता है^३। सिन्धु से फाहियान् ने एक बड़ा व्यापारी जहाज पकड़ा जिसपर दो सौ यात्री थे और जिसके साथ एक छोटा जहाज बैठा था कि किसी आकस्मिक दुर्घटना के कारण बड़े जहाज के नष्ट होने पर वह काम में आ सके। अनुकूल वायु में वे पूर्व की ओर दो दिनों तक चले; इसके बाद उन्हें एक लूफान का सामना करना पड़ा जिससे जहाज में पानी रसने लगा। व्यापारी दूसरे जहाज पर चढ़ने की आतुरता दिखाने लगे, लेकिन दूसरे जहाज के आदमियों ने, इस डर से कि कहीं दूसरे अपनी बड़ी संख्या से उन्हें दबोच न लें, फौरन अपने जहाज की लड़ाई काट दी। आसन्न मृत्युभय से व्यापारी भयभीत हो गये और इस डर से कि कहीं जहाज में पानी न भर जाय, वे अपने भारी माल को जल्दी से समुद्र में फेंकने लगे। फाहियान् ने भी अपना षडा, गड्डा, और जो भी कुछ हो सका, समुद्र में फेंक दिया,

१. मैक्क्रियडल, नोट्स फ्रॉम ऐन्थोन्ट इण्डिया, पृ० १६० से

२. मेमोरियल सिन्नवॉ जेवी, पृ० ३६२-३६७

३. गाइल्स, दी ट्रेवल्स आफ् फाहियान्, केम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, १९२३

लेकिन उसे इस बात का भय था कि व्यापारी कहीं उसकी पुस्तकें और सूक्तियां न फेंक दें। इस भय से रक्षा पाने के लिए उसने कुप्रानयित् पर अपना ध्यान लगाया और अपना जीवन चीन के बौद्धसंघ के हाथों में रखने का संकल्प करते हुए कहा—‘मैंने धर्म के लिए ही इतनी दूर की यात्रा की है। अपनी प्रचण्ड शक्ति से, आशा है, आप मुझे यात्रा से सफल लौटा दें।’

तेरह रात और दिन तक हवा चलती रही। इसके बाद वे एक द्वीप के किनारे पहुँचे और यहाँ, भाटा के समय, उन्हें जहाज में उस जगह का पता लगा जहाँ से पानी रसता था। यह छेद फौरन बन्द कर दिया गया और उसके बाद जहाज पुनः यात्रा पर चल पड़ा।

‘समुद्र जल-डाकुओं से भरा है और उनसे भेड़ के मानी सत्तु है। समुद्र इतना बड़ा है कि उसमें पूर्व-पश्चिम का पता नहीं चलता; केवल सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रों की गतिविधि देखकर जहाज आगे बढ़ता है। बरवाणी मौसम की हवा में हमारा जहाज बह चला और अपना ठीक रास्ता न रख सका। रात के अँधियारे में, टकराती और आग की लपटों की तरह चकाचीप करनेवाली लहरों, विशाल कछुओं, समुद्री गोहों और इसी तरह के भीषण जल-जन्तुओं के सिवा और कुछ नहीं देखा पड़ता था। वे कहीं जा रहे हैं, इसका पता न लगने से व्यापारी पस्तहिम्मत हो गये। समुद्र की गहराई से जहाज को कोई ऐसी जगह भी न मिली जहाँ वह नौगर-शिला ढालकर रुक सके। जब आकाश साफ हुआ तब उन्हें पूर्व और पश्चिम का ज्ञान हुआ और जहाज पुनः ठीक रास्ते पर आ गया। इस बीच में अगर जहाज कहीं जलगत शिला से टकरा जाता तो किसी के बचने की सम्भावना नहीं थी।’

इस तरह यात्रा करते सब लोग जात्रा पहुँचे। वहाँ ब्राह्मण-धर्म की उन्नति थी और बौद्धधर्म की अवनति। पाँच महीने वहाँ रहने के बाद, फाहियान एक दूसरे बड़े जहाज पर, जिस पर १०० यात्री भरे थे, सवार हुआ। सब लोगों ने अपने साथ पचास दिनों तक का सीधा-सामान ले लिया था।

कैप्टन पहुँचने के लिए जहाज का रुख उत्तर-पूर्व में कर दिया गया। उस रास्ते पर चलते-चलते, एक रात उन्हें गहरे तूफान और पानी का सामना करना पड़ा। इसे देखकर घर लौटनेवाले व्यापारी बहुत डरे, लेकिन फाहियान ने फिर भी कुप्रानयित् और चीन के भिक्षु-संघ की याद की और उन्होंने अपनी शक्ति का सबेरा बल दिया। इतने में सबेरा हो गया। जैसे ही रोशनी हुई कि ब्राह्मणों ने आपस में सलाह करके कहा—‘जहाज पर इस अमण के कारण ही यह दुर्गति हुई है और हमें इस कठिनाई का सामना करना पड़ा है। हमें इस भिक्षु को किसी टापू पर उतार देना चाहिए। एक आदमी के लिए सबकी जान खतरे में डालना ठीक नहीं।’ इसपर फाहियान के एक संरक्षक ने जवाब दिया—‘अगर आप इस भिक्षु को किनारे उतार देना चाहते हैं तो मुझे भी आपको उसके साथ उतारना होगा; अगर आप ऐसा नहीं करना चाहते तो मेरी जान ले सकते हैं, क्योंकि, मान लीजिए, आपने इन्हें उतार दिया, तो मैं चीन पहुँचकर इसकी खबर वहाँ के बौद्ध राजा को दूँगा।’ इसपर ब्राह्मण पक्षराने और फाहियान को उसी समय उतार देने की उन्हें हिम्मत नहीं पड़ी। इसी बीच में आकाश में अँधेरा छाने लगा और निर्गमक को शिवाज्ञान भूल गया। इस तरह वे सत्तर दिनों तक बहते रहे। सीधा-सामान और पानी समाप्त हो गया। खाना बनाने के लिए भी समुद्र का पानी लेना पड़ता था। मीठा पानी आपस में बँट लिया गया और हर मुसाफिर के हिस्से में केवल दो पाइण्ट पानी आया। जब सब खाना-पानी समाप्त हो गया तब व्यापारियों ने आपस में सलाह की—‘कैप्टन की यात्रा

का साधारण समय पचास दिन का है; हम इस अवधि के ऊपर बहुत दिन बिता चुके हैं। ऐसा पता चलता है कि हम रास्ते के बाहर चले गये हैं।' इसके बाद उन्होंने उत्तर-पश्चिम का रुख किया और बारह दिनों के बाद शान्तुंग अन्तरीम के दक्षिण में पहुँच गये। यहाँ उन्हें ताजा पानी और सब्जियाँ मिली।

✓ जैसा हम ऊपर कह आये हैं, गुप्तयुग और उसके बाद भी भारतीय संस्कृति का मध्य-एशिया और चीन में प्रसार करने का मुख्य श्रेय बौद्ध भिक्षुओं को था। सौभाग्यवश, चीनी भाषा के त्रिपिटक से ऐसे भिक्षुओं के चरित्र पर कुछ प्रकाश पड़ता है जिससे पता लगता है कि उनका उद्साह धर्म-प्रसार में अक्षणीय था। कोई कठिनाई उन्हें आगे बढ़ने से रोक नहीं सकती थी। इनमें से कुछ प्रधान भिक्षुओं के पर्यटन के बारे में हम कुछ कह देना चाहते हैं।

✓ गुप्तयुग में धर्मयशस्व एक कश्मीरी बौद्ध भिक्षु, मध्य-एशिया के रास्ते, ३६७ से ४०१ के बीच, चीन पहुँचे। तमाम चीन की सैर करते हुए उन्होंने बहुत-से संस्कृत-ग्रन्थ चीनी में अनुवाद किये। पुष्यव्रात नाम के एक दूसरे बौद्ध भिक्षु ३६८ और ४१५ के बीच चीन पहुँचे और अनेक बौद्ध ग्रन्थों का उन्होंने चीनी भाषा में अनुवाद किया।

गुप्तयुग में भारत से चीन जानेवालों में कुमारजीव का विशेष स्थान था। इनके पिता कुमारदत्त, कश्मीर से कूचा पहुँचे और वहाँ के राजा की बहन से विवाह कर लिया। इसी माता से कुमारजीव का जन्म हुआ। नौ वर्ष की अवस्था में, वे अपनी माता के साथ कश्मीर आये और वहाँ बौद्ध-साहित्य का अध्ययन किया। कश्मीर में तीन वर्ष रहने के बाद कुमारजीव अपनी माता के साथ काशगर पहुँचे। वहाँ कुछ दिन रहने के बाद, वे तुरफान पहुँचे। ३८३ ई० में कूचा चीनियों के अधिकार में आ गया और कुमारजीव बन्दी बनाकर लांगचाउ लाये गये। वहीं वे लोकुआंग के साथ ३६८ ई० तक रहे। बाद में, वे चांगतांग चले गये और वहाँ उनकी मृत्यु हुई^२।

एक दूसरे बौद्ध भिक्षु, बुद्धयशस्व, धूमते-वामते कश्मीर से काशगर पहुँचे जहाँ उन्होंने कुमारजीव को विनय पढ़ाया। कूचा की विजय के बाद वे काशगर से कहीं चले गये और, दस बरस बाद, फिर कूचा पहुँचे। वहाँ उन्हें पता लगा कि कुमारजीव कृतज्ञांग में हैं। वे उनसे मिलने के लिए रात ही को निकल पड़े और रेगिस्तान पार करके कृतज्ञांग पहुँचे। वहाँ उन्हें पता लगा कि कुमारजीव चांगतांग चले गये। ४१३ ई० में वे कश्मीर लौट आये^३।

गौतम प्रज्ञाश्रुति बनारस के रहनेवाले थे। वे, मध्य-एशिया के रास्ते, ५१६ ई० में लोयंग पहुँचे। उन्होंने ५३८ और ५७३ ई० के बीच बहुत-से ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया^४। उपशून्य उज्जैन के राजा के पुत्र थे। वे ५४६ ई० में दक्षिण-चीन पहुँचे। किंग्लिंग में उन्होंने चीनी भाषा में कई ग्रन्थ अनुवाद किये। ५४८ ई० में वे खोतन पहुँचे^५।

✓ जिनगुप्त गम्बार के निवासी थे और पुरुषपुर में रहते थे। बौद्धधर्म का अध्ययन करने के बाद, सत्ताईस वर्ष की उम्र में, वे अपने गुरु के साथ बौद्धार्म का प्रचार करने निकल

१. सी० सी० बागची, ल कैनों बुधीक आ चीन १, पृ० १७४-१७७

२. वही, पृ० १७८-१८५

३. वही, पृ० २००-२०३

४. वही, पृ० २६१

५. वही, पृ० २६२-२६६

पड़े। कपिश में एक सत्र रहने के बाद, वे हिन्दूकुश के पश्चिम पाद को पार करके श्वेतदुर्गो के राज्य में पहुँचे और वहाँ से ताशकुतगन होते हुए खोतान पहुँचे। यहाँ कुछ दिन ठहरकर वे चांग्वाउ (खिनिगकांगु) पहुँचे। रास्ते में जिनगुस को अनेक कठिनाइयाँ उठानी पड़ीं और उनके साथियों में से अधिकतर भूतभ्यास से मर गये। ५५६-५६० में वे चांग्वाउ पहुँचे जहाँ रहकर उन्होंने अनेक प्रयोगों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। बाद में वे उत्तर-पश्चिमी भारत को लौट आये और दस बरस तक वे कागान दुर्गो के साथ रहे। ५०५ ई० में वे पुनः चीन लौट गये^१।

✓ बुद्धभद्र कपिशवस्तु के रहनेवाले थे। तीस वर्ष की अवस्था में, बौद्धधर्म का पूरा ज्ञान प्राप्त करके, उन्होंने अपने साथी संघदत्त के साथ यात्रा करने की सोची। कुछ दिन कश्मीर में रहने के बाद, वे संघ द्वारा चीन जाने के लिए चुने गये। काहियान के साथी चेथेन् के साथ वे घूमते-घामते पामीर के रास्ते से चीन में पहुँचे। उनकी जीवनी में इस बात का उल्लेख है कि वे तांग्किन् पहुँचे थे। शायद वे आसाम तथा ईरावदी की उपरली पाटी और युनान के रास्ते वहाँ पहुँचे होंगे। जो भी हो, तांग्किन् से उन्होंने चीन के लिए जहाज पकड़ा। राजा से अनवन होने के कारण, उन्हें दक्षिण-चीन छोड़ देना पड़ा। यहाँ से वे पश्चिम में कियान्ग्लिन् पहुँचे, जहाँ उनकी सुवानघाउ (४२०-४२२) से भेंट हुई और उसके निमन्त्रण पर वे नानकिन् पहुँचे^२।

✓ गुप्तयुग के यात्रियों में गुणवर्मन् का विशेष स्थान था। वे कश्मीर के राजवंश के थे। बीस वर्ष की अवस्था में उन्होंने सील प्रहण किया। जब वे तीस वर्ष के थे, उन्हें कश्मीर का राज्यपद देने की बात आई। पर उन्होंने उसे स्वीकार नहीं किया। वे राज्य छोड़कर बहुत दिनों तक इधर-उधर घूमते रहे, पर अन्त में, लंका पहुँचकर बौद्धधर्म का प्रचार किया। लंका से वे आना पहुँचे और वहाँ के राजा को बौद्धधर्म में दीक्षित किया। गुणवर्मन् की ख्याति चारों ओर बढ़ने लगी। ४२४ ई० में उन्हें चीन-सम्राट् का बुलावा आया, पर गुणवर्मन् की इच्छा चीन जाने की नहीं थी। वे भारतीय सार्धनाइ नदि के जहाज पर एक छोटे-से देश को जाने के लिए तैयार हो चुके थे। लेकिन जहाज बढ़कर कैप्टन पहुँच गया और, इस तरह, ४२९ ई० में, चीनी सम्राट् से उनकी भेंट हुई। कियेन्से के जेतवन-विहार में ठहरकर उन्होंने बहुत-से प्रयोगों का चीनी भाषा में अनुवाद किया^३।

✓ धर्ममित्र कश्मीर के रहनेवाले थे और उन्होंने बहुत-से बड़े-बड़े बौद्ध भिक्षुओं से शिक्षा पाई थी। वे बड़े भारी पुष्पकूट भी थे। पहले वे कुछ दिनों तक कूचा जाकर रहे; फिर वहाँ से तुर्गुशांगु पहुँचे। ४२४ ई० में उन्होंने में दक्षिण चीन की यात्रा की। उनकी मृत्यु ४४० ई० में हुई^४।

✓ नरेंद्रयशस्व उड़ीषान् के रहनेवाले थे। बचपन में उन्होंने पर छोड़कर सम्पूर्ण भारत की यात्रा की। बाद में अपने घर लौटकर, वे हिन्दूकुश पार करके मध्य-एशिया में पहुँचे। उस समय

१. वही, पृ० २०९-२७८

२. वही, पृ० ३४१-३४३

३. वही, पृ० ३७०-३७३

४. वही, पृ० ३८८-३८९

तुर्कों और अवरेसों की लड़ाई हो रही थी जिसमें तुका ने अवरेसों को समाप्त कर दिया। इनकी मृत्यु ५८६ ई० में हुई^१।

धर्मगुप्त लाट देश के रहनेवाले थे। तेईस वर्ष की अवस्था में वे कन्नौज के कौमुदी संधाराम में रहते थे। इसके बाद, वे पाँच साल तक एक देश के देव-विहार में रहे। वहाँ से चीन-यात्रा के लिए वे कपिश पहुँचे और वहाँ दो बरस तक रहे। वहाँ उन्होंने साथी से चीन में बौद्ध-धर्म के फलने-फूलने की बात सुनी। हिन्दूकुश के पश्चिमी पाद की यात्रा करते हुए उन्होंने बदर्शाँ और बर्लों की यात्रा की। इसके बाद ताशकुरगन में एक साल रहकर वे काशगर पहुँचे और वहाँ दो साल रहकर कूचा पहुँचे। वहाँ कई साल रहकर वे किया जाऊँ जाते समय, रेगिस्तान में, ६१६ में, बिना पानी के मर गये^२।

नन्दी मध्य-देश के रहनेवाले एक बौद्ध भिक्षु थे। वे सिंहाल में कुछ काल तक ठहरे थे और दक्षिण-समुद्र के देशों की यात्रा करके उन्होंने वहाँ के रहनेवालों के साहित्य और रीति-रिवाजों का अध्ययन किया था। ६५५ ई० में वे चीन पहुँचे। ६५६ में चीनी सम्राट् ने उन्हें दक्षिण-समुद्र के देशों में जड़ी-बूटियों की खोज के लिए भेजा। वे ६६३ ई० में पुनः चीन लौट आये^३।

बौद्ध भिक्षुओं के यात्रा-विवरणों से, कहीं-कहीं, उन कठिनाइयों का पता चलता है जो यात्रियों को उन निर्जल रेगिस्तानों में उठानी पड़ती थीं। ऐसा ही एक वर्णन हमें फाहियान के यात्रा-विवरण में मिलता है। फाहियान की यात्रा का आरम्भ ३६६ ईस्वी में चांगन (शेंसे के सेगन जिला) से हुआ। चाङ्गान् से फाहियान अपने साथियों के साथ लुंग् (पश्चिमी शेंसे) पहुँचे और वहाँ से चाङ्ग्यिह (कांसे का कौचाउ जिला)। यहाँ उन्हें पता लगा कि रास्ते में बड़ी गड़बड़ी है। वहाँ कुछ दिन रहकर वे तुनुहुआंग (गांसु, जिला कांसे) पहुँचे। तुनुहुआंग के हाकिम ने उन्हें रेगिस्तान पार करने के साधनों से लैव कर दिया। यात्रियों का यह विश्वास था कि रेगिस्तान भूत-प्रेतों का आड़ा है और वहाँ गरम हवा बहती है। इन उत्पातों का सामना होने पर यात्रियों की मृत्यु निश्चित थी। रेगिस्तान में थलचरों और नभचरों का पता भी नहीं था। बहुत गौर करने पर भी यह पता नहीं चलता था कि रेगिस्तान किस जगह पार किया जाय। रास्ते का पता जानु पर पड़ी पशुओं और मनुष्यों की सुखी हड्डी से चलता था^४। इस भयंकर रेगिस्तान को पार करके फाहियान और उसके साथी शेन्शेन् (लोपनोर) पहुँचे और वहाँ से, पन्द्रह दिन बाद, वृती (काराशहर) पहुँचे। वहाँ से खोतन पहुँचकर वे गोमती-विहार में ठहरे और वहाँ की प्रसिद्ध रथ-यात्रा देखी। वहाँ से फाहियान यारकन्द होते हुए स्कई के रास्ते लदाख पहुँचे। वहाँ से सिन्धु नदी के साथ-साथ वे उड्डीयान और स्वात होते हुए पुरुषपुर पहुँचे और वहाँ से तक्षिला। यहाँ से उन्होंने नगरहार की यात्रा की। रोह प्रदेश में कुछ दिन ठहरने के बाद वे बन्तु पहुँचे। बन्तु से, राजपथ द्वारा, वे मधुता पहुँचे। वहाँ से, संकाशय होकर, कान्यकुब्ज में गंगा पार करके वे साकेत पहुँचे और फिर वहाँ से श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली, पाटलिपुत्र,

१. वही, ४४२-४४३

२. वही, ४१४-४१५

३. वही, पृ० २००-२०२

४. जेम्स जेगे, ड्रैक्लस ऑफ फाहियान, पृ० १८, ऑक्सफोर्ड, १८८६

राजगृह, गया और वाराणसी की यात्रा की। तीर्थयात्रा समाप्त करने के बाद फाहियान तीन साल तक पाटलिपुत्र में रहे। इसके बाद वे चम्पा पहुँचे और वहाँ से गंगा के साथ-साथ ताम्रलिप्ति पहुँचे। वहाँ से एक बड़े जहाज पर चढ़कर, पन्द्रह दिन में, वे सिंहल पहुँचे^१। वहाँ सबा के अरब-यात्रियों से उनकी भेंट हुई^२।

१. वही, पृ० १००

२. वही, पृ० १०४

ग्यारहवाँ अध्याय

यात्री और व्यापारी

(सातवीं से ग्यारहवीं सदी तक)

हर्ष की मृत्यु के बाद देश में बड़े-बड़े साम्राज्यों का समय समाप्त हो गया और देश में चारों ओर अराजकता फैल गई। कन्नौज ने पुनः फिर उठाने की कोशिश की; पर कश्मीर के राजाओं ने उनकी एक न चलने दी। इसके बाद देश की सत्ता पर अधिकार करने के लिए बंगाल और बिहार के पालों, मालवा और पश्चिम-भारत के गुर्जर प्रतिहारों तथा राष्ट्रकूटों में गंगा-यमुना की घाटियों के लिए लड़ाई होने लगी। करीब आधी सदी के लड़ाई-झगड़े के बाद, जिसमें कभी विजयलक्ष्मी एक के हाथ आती थी तो कभी दूसरे के, अन्त में उसने गुर्जर प्रतिहारों को ही बर लिया। ८३६ ई० के पूर्व उन्होंने कन्नौज पर अपना अधिकार कर लिया और अपने इतिहास-प्रसिद्ध राजा भोज और महेन्द्रपाल की वजह से वे पुनः उत्तर-भारत में एक बड़ा साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ हुए। इन दोनों राजाओं का अधिकार करनाल से बिहार तक और कठियावाड़ से उत्तर बंगाल तक फैला हुआ था। इस साम्राज्य की प्रतिष्ठा से सिन्ध के मुस्लिम-साम्राज्य को बहुत बड़ा धक्का लगा और इसीलिए गुर्जर प्रतिहार इस्लाम के सबसे बड़े शत्रु माने जाने लगे। अगर इन अरबों की दक्षिण के राष्ट्रकूटों भी सहायता न मिली होती तो शायद सिन्ध का अरब-साम्राज्य कभी का समाप्त हो गया होता।

अब हमें सातवीं सदी के मध्य के बाद से भारत के इतिहास पर एक सिंहावलोकन कर लेना चाहिए। हर्ष की मृत्यु के समय के राज्यों का पता हमें युगानुवाङ्मय के अध्ययन से लगता है। उत्तर-पश्चिम में कपिश की सीमा में काबुल नदी की घाटी तथा हिन्दूकुश से सिन्धु तक का प्रदेश शामिल था। इस राज्य की सीमा सिन्धु नदी के दाहिने किनारे से होती हुई सिन्ध तक पहुँचती थी और उसमें पेशावर, कोहट, बन्ट, डेरा इस्माइल खान और डेरा गाजी खान शामिल थे। कपिश के पश्चिम की ओर जागुड पड़ता था जहाँ से केसर आती थी। इस जागुड की पहचान अरब भौगोलिकों के जाबुल से की जा सकती है। कपिश के उत्तर में ओपियान था। पर लगता है कि कपिश का अधिकतर भाग सरदारों के अधीन था। कपिश का सीधा अधिकार तो काबुल से लेकर उदभाण्ड के मार्ग तक, कपिश से अरबोसिया के मार्ग तक, और जागुड से निचले पंजाब के मार्ग तक था।

कपिश के पश्चिम में गोर पड़ता था। उत्तर-पश्चिम में कोहवावा और हिन्दूकुश की पर्वत-शृंखलाएँ बाम्यान तथा तुर्क-साम्राज्य के दक्षिणी भाग को अलग करती थीं। उसके उत्तर में लम्पक से सिन्धु नदी तक काफिरिस्तान पड़ता था। नदी के बाएँ किनारे पर कश्मीर के दो सामन्त-राज्य उरशा और सिंहपुर पड़ते थे। सिंहपुर से टक्कराज्य शुरू होता था जो ब्यास से सिंहपुर और स्यालकोट से मूलस्थानपुर तक फैला हुआ था। दक्खिन में सिन्ध के तीन भाग थे जिसमें आखिरी भाग समुद्र पर फैला हुआ था। इसका शासक मिहिरकुल का एक वंशज था।

अपनी यात्रा में युवानच्चांग ने सिन्ध की सैर तो की ही, साथ-ही-साथ वह दक्षिणी बज्जुचिस्तान में हिंदोल नदी तक गया। यह भाग ससानियों के अधिकार में था, पर इतना होते हुए भी ईरान और कपिश के राज्य एक दूसरे से, एक जगह के सिवा, जहाँ बलख को कन्धार का रास्ता दोनों देशों की सीमा छूता था, नहीं मिलते थे। इस प्रदेश में दोनों देशों की चौकियाँ रहती थीं। इस जगह के सिवा ईरान, अफगानिस्तान और कपिश के बीच में किसी का प्रदेश नहीं था। पश्चिम में एक ओर गोरिस्तान और गर्जिस्तान, सीस्तान और हेरात तथा दूसरी ओर जागुड पड़ते थे। दक्षिण-पूर्व की ओर फिरनरों का देश था जिसका नाम युवानच्चाङ् की-कियाङ्ना बतलाता है, जो अरब भौगोलिकों का कान है। ब्राह्मणों का यह देश बोलान के दक्षिण तक फैला हुआ है।^१

उपर्युक्त भौगोलिक ज्ञानबीन से यह पता लग जाता है कि स्वतः दूयों के साम्राज्य का कौन-सा भाग याज्दीगिर्द के साम्राज्य में गया और कौन-सा हर्षवर्धन के। इससे हमें यह भी पता लगता है कि सातवीं सदी का भारत सिन्धु नदी के दक्षिणी किनारे से ईरानी पठार तक फैला हुआ था। इस देश की प्राचीन सीमा लम्पक से आरम्भ होकर कपिश को दो भागों में बाँट देती थी। पश्चिम में वृजिस्थान और जागुड छूट जाते थे। सीमा हिंदोल तक पहुँच जाती थी।

भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा का यह राजनीतिक नक्शा आर्गंतुक घटन-ओं की ओर भी इशारा करता है। युवानच्चाङ् के पहले अध्याय से पता चलता है कि ईरानी राज्य प्राचीन तुबारिस्तान के पश्चिम मुर्गाब से सटकर चलता था। उसके ग्यारहवें अध्याय में रोमन-साम्राज्य की स्थिति ईरान के उत्तर-पश्चिम मानी गई है। इन दोनों में बराबर लड़ाई होती रहती थी और अन्त में दोनों ही अरबों द्वारा हराये गये। हमें यह भी पता लगता है कि उस समय ससानी बज्जुचिस्तान, कन्धार, सीस्तान और द्रंगियाना के कब्जे में थे। अरब सेना ने इस प्रदेश को जीतने के लिए कौन-सा रास्ता लिया इसे इतिहासकार निश्चित नहीं कर सके हैं। इस सम्बन्ध में एक समस्या यह है कि सिन्ध और मुलतान लेने के बाद मुसलमानों को उस प्रदेश से सटे पंजाब के ऊँचे प्रदेश को लेने में तीन सौ वर्ष क्यों लग गये। श्री फूरो के अनुसार, इसका कारण यह है कि कारमानिया से बज्जुचिस्तान होकर सिन्ध का रास्ता कादिसिया (ई० ६३६) और निहाबन्द की लड़ाइयों के बाद मुसलमानों के हाथों में आ गया था; पर कपिश से कन्धार तक के उत्तर से दक्खिन और उत्तर से पश्चिम के राजमार्ग उनके अधिकार में नहीं आये थे। ईरानियों के हाथ से निकलकर भी उनका कब्जा ऐसे हाथों में पड़ गया था जो उनकी पूरी तौर से रक्षा कर सकते थे।

ऐतिहासिकों को इस बात का पूरा पता है कि मुसलमानों ने किस फुतों के साथ एशिया और अफ्रिका जीत लिये। बाइजेंटिनों और इरानियों की लड़ाइयों में कमजोर होकर ससानी एक ही सटके में समाप्त हो गये। करीब ६५२ में याज्दीगिर्द तृतीय उसी रास्ते से भागा, जिससे हखामनी द्वारा भागते हुए मर्व में मारा गया था। अरब आगे बढ़ते हुए बलख पहुँच गये और इस तरह भारत और चीन का स्वतन्त्र मार्ग से सम्बन्ध कट गया। देखने से तो यह पता लगता है कि भारत-ईरानी प्रदेश अरबों के अधिकार में चला गया था; पर ताज्जुब की बात है कि काबुल का पतन ८७१ में और पेशावर का पतन १००६ ई० में हुआ। ७५१ और ७६४ के बीच में

दुर्भाग की कन्धार-यात्रा से तो ऐसा पता चलता है कि जैसे कुछ हुआ हो न हो। यह भी पता चलता है कि इस सदी में मध्य-एशिया पर चीनियों का पूरा अधिकार था।

जिस समय अरब भारत की उत्तर-पश्चिमी सीमा पर विजय कर रहे थे, उसके भी पहले, ६३६ ई० में, अरबों के बड़े ने भड़ोच और धाना पर आक्रमण कर दिया था। यह आक्रमण जज और स्थल, दोनों ही ओर से हुआ; पर इसका कोई विशेष नतीजा नहीं निकला। सिन्ध के सूबेदार जुनेद ने ७२४-४३ ई० के बीच काठियावाड़ और गुजरात पर पाँचे मारे, पर अवनिजनाथय पुनर्केशिद ने, जैसा कि नौवारी ताम्रपत्र (७३८-३९) से पता चलता है, उसकी एक न चलने दी। अरबों को यह सेना सिन्ध, कच्छ, सौराष्ट्र, चाबोःक और गुर्जर देश पर धाता करके, लगता है, नववारी तक आई थी। सिन्ध से यह धावा कच्छ कीरन से होकर हुआ होगा। गुर्जर प्रतिहार भोज प्रथम ने, करीब ७५५ में, शावद इन्हीं म्लेच्छों को हराया था। बलभी का पतन भी इन्हीं अरबों के धावे का नतीजा था। पर, लाख गिर मारने पर भी, इन धावों का विशेष असर नहीं हुआ, और इसका कारण गुर्जर प्रतिहारों की वीरता ही थी। अगर राष्ट्रकूट अरबों की मदद न करते तो शावद उनका सिन्ध में टिकना भी मुश्किल हो गया होता।

धर्म और केन्द्रीकरण में द्वैधीभाव से सप्तमी कीरन अरबों के सामने गिर गये। इसके विपरीत, हिन्दू अपने देशत्व और विकेन्द्रीकरण की वजह से काफ़ी दिनों तक टिके रह गये। अरबों की उद्योग वीरता भी उन्हें जीत देती थी। पर अरबों की यह वीरता बहुत दिनों तक नहीं चली, भारत की विजय तो इस्लामी मजहब माननेवाले तुर्कों और अफगानों द्वारा हुई। पर ऐसा होने में कुछ समय लगा। ऐसा लगता है कि जब उत्तर-पश्चिम भारत के रूर कबीलों का जोर दृढ़ हुआ तब विजेताओं का आगे बढ़ना सरल हो गया। फिर भी, अरबों के इस देश में कदम रखने के पाँच सौ बरस बाद ही, १२०६ ई० में, कुतुबुद्दीन ऐबक दिल्ली के तख्त पर बैठ सका और, उसके भी सौ बरस बाद, अलाउद्दीन अधिकांश भारत का सुबतान बन सका।

मध्य-एशिया में चीन ने ६३० में दक्षिणी तुर्की-साम्राज्य और ६५९ में उसका पूर्वी भाग जीत लिया; पर चीनियों का यह डोला-बाला साम्राज्य अरबों का मुद्राविला नहीं कर सकता था। करीब ७०५ में अरबों ने परिवर्द्ध प्रदेश जीत लिया। जिस समय उत्तर में यह घटना घट रही थी, उसी समय अफगानिस्तान में भी ऐसी ही घटना पड़ी। चीस्तान, कन्धार, बलूचिस्तान और मकरान पर धावे मार-मार करके थक चुके थे। ७१२ ई० में मुहम्मद बिन कासिम ने सिकन्दर का रास्ता पकड़ा और पूरे सिन्ध की घाटी को जीत लेने की ठान ली। उसकी इच्छा पूरी तो नहीं हो सकी; पर मुसलमान सिन्ध और सुलतान में पूरी तरह से जम गये। उस समय अफगानिस्तान का ऊँचा पठार दो सैद्धों के बाजुओं के बीच में था गया था, पर मुहम्मद कासिम के पतन और सल्लु ने काबुल के शाहियों को बचा दिया, क्योंकि मुहम्मद कासिम अपने भारतीय प्रदेश और खुरतान से सीधा सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका था। भारत के महापार्श्व का जीतने में मुसलमानों को ३५० वर्ष (ई० ६४४ से १०२२) लग गये।

६५२ ईसवी में ससानियों के पतन के बाद, ६५९ में, तुर्कों को चीनियों से काफ़ी मुक़दाम उठाना पड़ा। जिस समय मुसलमानों के धावे शुरू हुए, उस समय तुलारिस्तान, कुन्दुज और काबुल तुर्कों के हाथ में थे। तुर्कों द्वारा चीनी दरबार को लिखे गये ७१६ ई० के पत्र से पता

लगता है कि उनका साम्राज्य ताशकुरगन से जाबुलस्तान तक और मुरगाव से सिन्धु नदी तक फैला हुआ था। उसी तुर्क राजा के लड़के के ७२७ ई० में लिखे एक पत्र से पता लगता है कि उसका बाप अरबों का क़ैदी हो चुका था, पर चीनी सम्राट् ने उसकी बात अनसुनी कर दी। कपिश की भी वही दशा हुई। ६६४ ई० में वह अरबों का करद राज्य हो गया। ६८२ में, अरबों को कपिश के धागे से सुँह की खानी पड़ी। आठवीं सदी के पहले भाग में कपिश चीनी साम्राज्य के अधीन था। पर ७५१ ई० में चीनी गुब्बारा फूट गया, फिर भी, ओमादयाद और अम्बासी लोगों के गृहकृतह के कारण तथा खुरासान के स्वतन्त्र होने के कारण, उत्तर-पश्चिम भारत को शान्ति मिलती रही।

७५१ ई० में चीनियों का प्रभुत्व अपने पश्चिमी साम्राज्य पर से जाता रहा। उसी साल सम्राट् ने बुसुंग नामक एक छोटे मण्डारिन को कपिश के राजदूत को अपने साथ लाने को कहा। पर वह इतमदगल परिवर्तु प्रदेस का रास्ता लेने में उरता था। इसलिए, उसने खोतान और गन्धार के बीच का मुश्किल रास्ता पकड़ा। गन्धार में पहुँचाकर बुसुंगू बीमार पड़ गया। इसके बाद भारत में बौद्ध-तीर्थों की यात्रा करते हुए, चालीस बरस बाद, वह अपने देश को लौटा। उसके अनुसार, कपिश और गन्धार के तुर्कों राजकुमार अपने को कनिष्क का वंशपर मानते थे और वे बराबर बौद्ध-विहारों की देख-रेख करते रहते थे। ललितारिख्य के अधिकार में कमरौ की भी वही उम्रि हो चुकी थी। तीन-चार पुरतों तक तो कोई विशेष घटना नहीं पड़ी; लेकिन, एकाएक, ८७०—८७१ में, खुरासान का सूबेदार बनने के बाद ही याकूब ने बाम्यान, काबुल और अरखोविया जीत लिये। याकूब की सैंकसी हिरात और बलज की राजधानियों को कब्जे में करके दक्षिण में सीस्तान की ओर मुक्की और इस तरह मुसलमानों का भविष्य की विजय का रास्ता खुल गया।

मुसलमान इतिहासकारों का एकस्वर से कहना है कि उस समय काबुल में शाही राज्य कर रहे थे। उनकी यह राय प्रायः सभी इतिहासकारों ने मान ली है। पर, श्री फ़ूरो की राय में, इस प्रदेश की राजधानी कापिशी थी, काबुल नहीं। अरब इतिहासकार कापिशी का जो ७६२-६३ ई० में लूट ली गई थी, उल्लेख नहीं करते। इस घटना के बाद, लगता है, शहर दक्षिण की ओर काबुल में चला गया था और शायद इसीलिए मुसलमान इतिहासकार, काबुल के शाहियों का नाम लेते हैं।

कापिशी से राजधानी हटाकर काबुल ले जाने की घटना ७६३ ई० के बाद पड़ी होगी। शेवकी और कमरी के गाँवों के पास यह पुराना काबुल ८७१ ई० में याकूब ने जीत लिया। मुसलमानों ने जिस तरह सिंध में मंसुरा में नई राजधानी बनाई, उसी तरह उन्होंने काबुल में भी अपना काबुल बसाया। इसका कारण शायद यह हो सकता है कि उन्हें हिन्दुओं के पुराने नगरों में बुतपरस्ती नजर आती थी। इस्ताखरी के अनुसार, काबुल के मुसलमान बालाहिसार के किले में रहते थे और हिन्दू उपनगर में बसे हुए थे। हिन्दू व्यापारियों और कारीगरों के धीरे-धीरे मुसलमान हो जाने पर, नवीं सदी के अन्त तक, काबुल एक बड़ा शहर हो गया। फिर भी, १५० साल तक, इसका गौरव गजनी के आगे भीमा पड़ता था। पर, ११५० में गजनी के नष्ट हो जाने पर, काबुल की महिमा बढ़ गई।

काबुल नदी की निचली घाटी और तक्षिला प्रदेश को जीतने में मुसलमानों को लगभग २५० वर्ष लगे। ८७२ से १०२२ ईसवी तक, लगभग से गन्धार तक काबुल की घाटी और

उत्तर पंजाब भारतीय राजाओं के अधिकार में थे जो अपनी स्वतंत्रता के लिए बराबर लड़ा-भिड़ा करते थे। अन्तिम शाही राजा, जिसका नाम अलबेकनी लगतुर्रमान देता है, अपने मन्त्री लखिलय द्वारा पश्च्युत कर दिया गया। राजतरंगिणी से ऐसा पता लगता है कि यह घटना बाबुल के आक्रमण के पहले घटी, क्योंकि बाबुल में बाबूय के हाथ केवल एक फौजदार लगा। प्रायः लोग ऐसा समझ लेते हैं कि बाबुल के पतन के बाद ही उसके बाद के प्रदेश का भी पतन हो गया और इसीलिए शायद हिन्दू राजे न तो बाबुल में अपने मन्दिरों में दर्शन कर सकते थे और न तो वे लोग नदी में अभिषेक या स्नान ही कर सकते थे। प्राचीन समय की तरह, पेशावर उनकी जाड़े की राजधानी नहीं रह गया थी। वे वहाँ से हटकर उदभासडपुर में अपने राज्य की रक्षा के लिए चले आये थे। इस बड़े साम्राज्य के होते हुए भी बिना कोहिस्तान और बाबुल के हिन्दूशाहियों का पतन अवश्यम्भावी था, पर मुसलमानों के साथ इस असमान युद्ध में उन्होंने बड़ी चौरता दिखाई और लफ्ते-लफ्ते ही उनका अन्त हो गया। अलबेकनी और राजतरंगिणी का कहना है कि उनके पतन के बाद उत्तर-पश्चिमी भारत का दरवाजा उसी तरह खुल गया, जिस तरह पृथ्वीराज के पतन के बाद उत्तरभारत का।

पर, शाहियों के शत्रु—मुसलमानों की हम उतनी प्रशंसा नहीं कर सकते। उनसे प्रतिद्वन्द्वी मुसलमान गुलाम तुर्क थे। इन सेलजुक तुर्कों ने न केवल एशिया-मइनर को ही जीता; वरन् उनके धावों से यूरप भी तंग आ गया और वहाँ से क्रुसेड चलने लगे। बुलारा के एक अमीर द्वारा वेहजत होने पर अलसगिन ने गजनी में शरण ग्रहण की। इसके बाद सुबुक्तगीन हुआ जिसके पुत्र महमूद ने भारत पर लूट-पाट के लिए बहुत-से धावे किये। ६६७ और १०३० ई० के बीच, उसने भारत पर सत्रह धावे मारकर कांगड़ा से सोमनाथ, और मथुरा से कन्नौज तक की भूमि को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। बहुत-सा धन इकट्ठा करने के बाद भी वह लालची बना रहा। उसने केवल गजनी की सजावट की, पर उस गजनी की भी उसकी मृत्यु के १२७ वर्ष बाद अफगानों ने बदला लेने के लिए लूटकर नष्ट कर दिया।

हमें वहाँ गजनवियों और हिन्दू शाहियों की लड़ाई के बारे में कुछ अधिक नहीं कहना है, पर, १०२२ ई० में त्रिलोचनपाल की मृत्यु के बाद, भारत का महाजनपथ पूरी तौर से मुसलमानों के हाथ में आ गया। हुदरए आलम (६२०-६२३ ई०) के आधार पर हम दसवीं सदी के अन्त में उत्तर-पश्चिम भारत का एक नक्शा खड़ा कर सकते हैं। ओमान के समुद्रतट से सिन्धु नदी के पूर्वी किनारे तक के प्रदेश में सिन्ध और मुल्तान के सूबे स्वतन्त्र थे। इस प्रदेश की सीमा लाहौर तक पहुँची हुई थी; पर जलन्धर तक कन्नौज के सुजैर प्रतिहारों का राज्य था। उत्तर-पश्चिम भारत हिन्दू शाहियों के अधिकार में था और उनके दक्षिण-पश्चिम में—मुल्तमान और दजारजात के पहाड़ी इलाके में—काफिर रहते थे। लगता है, इस इलाके की पूर्वी सीमा गर्बेज से होती हुई गजनी के पूरब तक जाती थी। पश्चिमी सीमा उस जगह थी, जहाँ मुसलमानों द्वारा विजित प्रदेश और हिन्दुओं के अधिकृत प्रदेश की सीमा मिलती थी। यह सीमा जगदाशिक से शुरू होकर सुर्वरुद की घाटी को छोड़ती हुई नगरहार की ओर चली जाती थी। वहाँ से यह पहाड़ियों से होकर प्राचीन कापिशो के पूर्व में गोरबन्द और पंजशीर के संगम तक जाती थी। इस संगम के ऊपर पर्वान चरावानियों के हाथ में था। उत्तरी काफिरों के देश की सीमा पंजशीर से काफो दूर पवती थी और नदी के दक्षिणी किनारे से होकर वहाँ की सीमा से जा मिलती थी।

उपयुक्त राजनीतिक नक्शा द्वितीय मुस्लिम आक्रमण के बाद बदल गया। पूर्व की ओर

मुसलमानों का साम्राज्य पंजाब और हिन्दुस्तान की ओर बढ़ गया। पश्चिम में वह समानियों और सुदूरों के राज्य से होकर निकल पड़ा। विजेताओं ने पहले बुलारा और समरकन्द के साथ परिवर्तु प्रदेश जीता; इसके बाद उन्होंने खुरासान के साथ बलख, मर्ग, हेरात और निशापुर पर कब्जा करके उन्हें काबुल और खीस्तान के साथ मिला दिया। सुदूर, जिनके अधिकार में ईरान का दक्षिणी-पश्चिमी भाग था, किरमान और मकरान के साथ सिन्ध के दक्षिणी रास्तों पर कब्जा किये हुए थे। शाहियों का अधिकार सिन्धु नदी के दक्षिणी तट के बड़े प्रदेश पर था। हमें इस बात का पता चलता है कि पूर्व से पश्चिम तक शाहियों का साम्राज्य लगभग से व्याप्त तक फैला हुआ था और उसके बाद कन्नौज का राज्य शुरू होता था। उत्तर में, शाहियों की सीमा कर्नौली से मुसलमान तक फैली हुई थी। चीनी लोगों से यह पता लगता है कि स्वात भी शाहियों के अधिकार में था। पर, अभास्यवश, दक्खिन-पश्चिम का पर्वतीय इलाका स्वतन्त्र था। कल्हण के शब्दों में, भारतीय स्वतन्त्रता के अनन्योपासक शाही इस तरह, दक्षिण के जंगली भैंसे—तुर्कों और उत्तर के जंगली सूअर—दरदों के बीच में फँस गये।

इस बात का समर्थन हुदद ए आलम से भी होता है कि दसवीं सदी के अन्त में मुसलमान आकगनिस्तान के पठार के मालिक थे। काबुल से बलख और कन्धार के बीच रास्ता साफ होने से लगभग होकर कापिशी और नगरहार के रास्ते की उन्हें परवाह नहीं थी। शायद इसी कारण से पंजाबियों ने निजराबों में एक छोटा-सा स्वतन्त्र राज्य कायम कर लिया था। वे खुरासान के अमीर अबबा हिन्दू शाही, इनमें से किसी का अधिकार नहीं मानते थे।

हुदद ए आलम से हमें यह भी पता लगता है कि गोर का प्रदेश—हेरात के दक्षिण-पूर्व में फरहूद की ऊँची घाटी—दसवीं सदी के अन्त तक हिन्दू-देश था।

हम ऊपर देखा आये हैं कि किस तरह विलोचनपाल की हार के बाद ही भारत का उत्तरी-पश्चिमी कांठ मुस्लिम विजेताओं के लिए खुल गया। गजनी के महमूद ने १०१८ ई० में महापथ से चलते हुए बुलन्द शहर, मथुरा होते हुए कन्नौज को लूटकर समाप्त कर दिया। इस तरह से, मुसलमानों के लिए उत्तरी भारत का दरवाजा खुल गया। याभिनी स्वतन्त्र लाहौर में बस गई और गंगेयदेव के राज्य में तो, १०३३ ईसवी में, मुसलमानों ने बनारस तक घुसकर वहाँ के बाजार लूट लिये।^१ उत्तर-प्रदेश के गाहड़वाल को भी इस नया उपद्रव का सामना करने के लिए तैयारी करनी पड़ी। जब चारों ओर महमूद के आक्रमण से ब्राहि-ब्राहि मंच रही थी और कन्नौज का विशाल नगर सर्वश के लिए भूमिगत कर दिया गया था, उसी समय, यवनों के अत्याचार से मध्यदेश को बचाने के लिए चन्द्रदेव ने गाहड़वाल बंरा की स्थापना की। उनकी दो राजधानियों, कन्नौज और बनारस, कही जाती हैं; पर इसमें शक नहीं कि मुसलमानों के सन्निध्य से दूर होने के कारण बनारस से ही राजकाज चलता रहा। बारहवीं सदी के आरम्भ में गोविन्दचन्द्रदेव को पुनः मुसलमानों के धावों का कई बार सामना करना पड़ा। गोविन्दचन्द्र की रानी कुमार देवी के एक लेख से पता चलता है कि एक समय तो मुसलमानों की लपेट में बनारस भी आ गया था; पर गोविन्दचन्द्रदेव ने उन्हें हराकर अपने साम्राज्य की रक्षा की। महापथ पर इसके बाद की कहानी तो बरी कथामय है। जयचन्द्रदेव ११७० ई० में बनारस की गद्दी पर बैठे। इन्हीं के समय में दिल्ली का पतन हुआ और इस तरह

महापथ का गंगा-यमुना का फाटक सर्वदा के लिए मुसलमानों के हाथ में आ गया। ११६४ ई० में काशी का पतन हुआ। इसके बाद उत्तर-भारत के इतिहास का दूसरा अध्याय शुरू होता है।

२

हम उपर्युक्त खण्ड में भारत की राजनीतिक उथल-पुथल का वर्णन कर चुके हैं। इस युग में भारतीय व्यापार और यात्रियों के सम्बन्ध में हमें चीनी, अरब तथा संस्कृत-साहित्य से काफी मसाला मिलता है। हमें चीनी स्रोत से पता लगता है कि गुप्तयुग और उसके बाद तक चीन और भारत का व्यापार अधिकतर ससानियों के हाथ में था। हिन्दचीन, सिंहल, भारत, अरब और अफ्रीका के पूर्वी समुद्र-तट से आये हुए सब माल को चीन में फारस के माल के नाम से ही जाना जाता था; क्योंकि उस माल के लानेवाले व्यापारी अधिकतर फारस के लोग थे।^१

सातवीं सदी में चीन के सामुद्रिक आवागमन में अभिवृद्धि हुई। ६०१ ई० में एक चीनी प्रतिनिधि-मण्डल समुद्र-मार्ग से स्याम गया जो ६१० ई० में वहाँ से वापस लौटा। इस यात्रा को चीनियों ने बड़ी बहादुरी मानी। जो भी हो, चीनियों को इस युग तक भारत के समुद्री मार्ग का बहुत कम पता था। युवान्-च्वांग तक को सिंहल से सुमात्रा, जावा, हिन्दचीन और चीन तक की जहाजरानी का पता नहीं था। पर यह दशा बहुत दिनों तक नहीं बनी रही। करीब सातवीं सदी के अन्त में, चीनी यात्रियों ने जहाज इस्तेमाल करना शुरू कर दिया और कैण्टन से पश्चिमी जावा और पालेमबेंग (सुमात्रा) तक बराबर जहाज चलने लगे। यहाँ पर अक्सर चीनी जहाज बदल दिये जाते थे और यानी दूसरे जहाज पर चढ़कर नौकोवार होते हुए सिंहल पहुँचते थे और वहाँ से ताम्रलिप्ति के लिए जहाज पकड़ लेते थे। इस यात्रा में चीन से सिंहल पहुँचने में करीब तीन महीने लगते थे। चीन से यह भारत-यात्रा उत्तर-पूरबी मौसमी हवा के साथ जाड़े में की जाती थी। भारत से चीन को जहाज दक्षिण-पश्चिमी मौसमी हवा में अप्रैल से अक्टूबर के महीने तक चलते थे।^२

चीनी व्यापार में भारत और हिन्द-एशिया के साथ व्यापार का पहला उल्लेख लि-वान के तांग-कुओ-शि-मु में मिलता है। इस व्यापार में लगे कैण्टन आनेवाले जहाज काफी बड़े होते थे तथा पानी की सतह से इतने ऊपर निकले होते थे कि उनपर चढ़ने के लिए ऊँची सीढ़ियों का सहारा लेना पड़ता था। इन जहाजों के विदेशी निर्यातकों की नावध्यक्ष के दफ्तर में रजिस्ट्री होती थी। जहाजों में समाचार ले जाने के लिए सफेद कबूतर रले जाते थे जो हजारों मील उड़कर खबर पहुँचा सकते थे। नाविकों का यह भी विश्वास था कि अगर चूड़े जहाज छोड़ दें तो उन्हें दुर्घटना का सामना करना पड़ेगा। हर्ष का अनुमान है कि यहाँ ईरानी जहाजों से मतलब है।^३ जो भी हो, समुद्रतट पर चलनेवाले भारतीय नाविकों का यह विश्वास अबतक है।

अभाम्यवशा, भारतीय साहित्य में हमें इस युग के चीन और भारत के व्यापारिक सम्बन्ध के बहुत-से उल्लेख नहीं मिलते, पर भारतीय साहित्य में कुछ ऐसी कहानियाँ अवश्य बच गई हैं जिनसे बंगाल की खाड़ी और चीनी समुद्र में भारतीय जहाजरानी पर काफी प्रकाश पड़ता है।

१. क्रोडरिक हर्ष और डबल्यू-डबल्यू० राकहिल, चाओ जूफूआ, पृ० ७८, सेबट पीटर्सबर्ग, सन् १८११

२. वही, पृ० ८-१

३. हर्ष, जे० आर० पृ० पृ०, १८४६, पृ० १७-१८

आचार्य हरिभद्र सूरि ने (करीब ६७०-७२= ई०) ऐसी ही कई कहानियों समराइयकहा में दी हैं। पहली कहानी धन की है।^१

धन ने अपनी गरीबी से निस्तार पाने के लिए समुद्र-यात्रा का निश्चय किया। उसके साथ उसकी पत्नी और उसका मुख्य नन्द भी हो लिये। धन ने विदेश का माल (परतीरक भाएब)^२ इकट्ठा किया और उसे जहाज पर भेज दिया। उसकी पत्नी के मन में पाप था। उसने अपने पति को मारकर नन्द के साथ भाग जाने का निश्चय कर लिया था। इसी बीच में जहाज तैयार हो गया (संवाचितप्रवहण) और उसपर भारी मात (शुक्क मांड) लाद दिया गया। दूसरे दिन धन समुद्र की पूजा करके और गरीबों को दान देकर अपने साथियों के साथ जहाज पर चढ़ गया। जहाज का लंगर उठा दिया गया। पालें (धितपठ) हवा से भर गईं तथा जहाज पानी चीरता हुआ नारियल वृक्षों से भरे समुद्रतट को पार करता हुआ आगे बढ़ा।

नाव पर धनश्री ने धन को विप देना आरम्भ किया। अपने जीवन से निराश होकर उसने अपना माल-मत्ता नन्द को सुपुर्द कर दिया। कुछ दिनों बाद, जहाज महाकटाह पहुँचा और नन्द सीगात लेकर राजा से मिला। वहाँ नन्द ने जहाज से माल उतरवाया और धन की दवा का प्रबन्ध किया, पर उससे कोई फायदा नहीं हुआ। इसपर नन्द ने मालिक के साथ देश लौटने की सोची। उसने साथ का माल बेचना और वहाँ का माल (प्रतिभाएब) लेना शुरू कर दिया। राजा से मिलने के बाद जहाज खोल दिया गया।

जब धनश्री ने देखा कि उसका पति जहर से नहीं मर रहा है तब उसने एक दिन धन को समुद्र में गिरा दिया और झूठ-गूठ रोने-पीटने लगी। नन्द बड़ा दुखी हुआ। जहाज रोक दिया गया और सबेरे धन को पानी में खोज की गई, पर उसका कोई पता नहीं चला।

धन का भाग्य अच्छा था। समुद्र में एक तख्ते के सहारे सात दिन बहने के बाद आप-से-आप उसकी बीमारी ठीक हो गई और वह किनारे जा लगा। अपनी ली की बंदमाशी पर रोकलप कर वह आगे बढ़ा। रास्ते में उसे श्रावस्ती की राजकन्या का हार मिला जो उसने जहाज टूटने के समय अपनी दाढ़ी को सुपुर्द कर दिया था। आगे चलकर उसने महेश्वरदत्त से रास्ते में गाढ़ी बिद्या प्राप्त की। इसके बाद कहानी का समुद्र-यात्रा से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता है।

वसुभूति की समुद्र-यात्रा से भी हमें इस युग की जहाज-रानी का सुन्दर चित्र मिलता है।^३ कथान्तर में कहा गया है कि ताम्रलिति से बाहर निकलकर कुमार और वसुभूति सार्ववाह समुद्रदत्त के साथ चल निकले। जहाज दो महीने में सुवर्णभूमि पहुँच गया। वहाँ उत्तरकर वे धीपुर पहुँचे। वहाँ उनकी अपने बाल-मित्र श्वेतविका के मनोरथदत्त से, जो यहाँ व्यापार के लिए आया था, मुलाकात हुई। बड़ी खातिरदारी के बाद, उसने उनके वहाँ आने का कारण पूछा। कुमार ने बतलाया कि उनका उद्देश्य अपने मामा—सिंहल के राजा से भेंट करना था। इस तरह कुछ दिन बीत गये। सिंहल के लिए सुवर्णद्वीप से जहाज तो बहुत मिलते थे, पर मनोरथदत्त ने अपने मित्र को रोکنने के लिए उसे इसकी खबर नहीं दी। पर, कुछ दिनों के बाद, कुमार को यह पता लग गया और जब मनोरथदत्त को पता लगा कि उनके मित्र का काम जहरी है तो उन्होंने तुरंत एक सजे-सजाये जहाज का प्रबन्ध कर दिया। मनोरथदत्त कुमार

१. समराइयकहा, पृ० २१४ से, संवई, १४३८

२. वही, पृ० २१८ से

के साथ समुद्रतट पर पहुँचे। जहाज के मालिक ईश्वरदत्त ने उन्हें नमस्कार किया और बैठने के लिए उन्हें आसन दिये। मनोरथदत्त ने ईश्वरदत्त को बहुत तनदेही के साथ अपने मित्रों को हवाले कर दिया। समुद्र को बलि चढ़ाने के बाद, पाल खोल दिये गये (वत्सूतसितपटः)। निर्वात्मक ने जहाज को इच्छित दिशा की ओर घुमा दिया। जहाज लंका की ओर चल दिया। तेरह दिन के बाद, एक बड़ा भारी तूफान उठा और जहाज काबू के बाहर हो गया। निर्वात्मक चिन्तित हो उठे, पर उन्हें उत्साह देते हुए कुशल नाविकों की भीति कुमार और वसुभूति ने पाल की रस्सियों काटकर उन्हें बटोर लिया (क्षिन्नाः सितपटनिकन्धनारज्जवः, मुकुलितः सितपटः) और लंगर छोड़ दिये (विमुक्ताः नागराः)। इतना सब करने पर भी, माल के बोम से, लुभित समुद्र से और ओले पकने से जहाज टूट गया। कुमार के हाथ एक तख्ता लग गया जिसके सहारे तीन रात बहते हुए वे किनारे पर आ लगे। पानी से बाहर निकलकर उन्होंने अपने कपड़े निचोड़े और एक बैसवारी में बैठ गये। कुछ देर बाद, वे पानी और फलों की खोज में एक गिरिनरी के किनारे जा पहुँचे। यहाँ से कथा का विषय दूसरा हो जाता है और कथाकार हमें बताता है कि किस तरह कुमार की अपनी पिपताम विलासवती से भेंट हुई और उसने अपने देश लौटने की किस तरह सोची। उन्होंने द्वीप पर एक टूटा हुआ पोतभञ्ज खड़ा किया। कई दिनों के बाद, भञ्ज देखकर बहुत-से नाविक अपनी नावों में कुमार के पास आये और उनसे बताया कि महाकटाह के सार्थवाह यानुदेव ने मलय देश जाते हुए भिन्न पोतभञ्ज देखकर उन्हें तुरंत कुमार के पास भेजा। कुमार अपनी श्री विलासवती के साथ जहाज पर गये। इस घटना के बाद भी उन्हें अनेक आपत्तियाँ उठानी पड़ीं और वे अन्त में मलय पहुँच गये।

समराध्वकथा में धरण की कहानी से भी भारत, दीवान्तर और चीन के बीच की जहाजरानी का पता चलता है। एक समय सार्थवाह धरण ने खूब अधिक धन पैसा करके दूसरों की मदद करने की सोची। धन पैसा करने के लिए वह अपने माता-पिता की आज्ञा से एक बड़े सार्थ के साथ पूर्वी समुद्रतट पर वैजयन्ती नाम के एक बड़े नगर की तरफ चल पड़ा। वहाँ विदेशों में खपनेवाला माल (परतीरक भाण्ड) उसने एक जहाज पर लाद लिया। एक अच्छी सायत में वह नगर के बाहर समुद्रतट पर पहुँचा और वहाँ समुद्र की पूजा करके गरीबों को धन बाँटा। इसके बाद, अपने गुरु को मन-ही-मन नमस्कार करके, वह जहाज पर सवार हो गया। वैगहारिणी शिलाओं के फेंकने के बाद जहाज हलका हो गया (आकृष्टाः वैगहारण्यः शिलाः) और पाल में हवा भरने से जहाज चीन द्वीप की ओर चल पड़ा।

कुछ दिनों तक तो जहाज की प्रगति ठीक रही; लेकिन उसके बाद एक भयंकर तूफान आया। समुद्र को जुम्प देखकर नाविक डिग्न हो उठे। जहाज को सीधा करने के लिए पाल उतार लिया गया (ततः समेन गमनारम्भेणापसारितः शितपटः) और जहाज को रोकने के लिए नागर शिला डील दी गईं। इन सब प्रयत्नों के बाद भी जहाज नहीं बच सका। धरण एक तख्ते के सहारे बहता हुआ सुवर्णद्वीप में आ लगा। वहाँ पहुँचकर उसने कैले साकर अपनी भूत मिटाई। रात में, सूरज डूबने पर, उसने आग जलाई और पत्तियाँ बिछाकर उसपर सो गया। सवेरे उठने पर उसने देखा कि जिस जगह उसने आग जला दी थी वह सोने की हो गई है और तब उसे पता लगा कि वह संयोग से धातुक्षेत्र में पहुँच गया था। अब उसने सोने की ईंटें बनाना शुरू किया।

और दस-दस ईंटों के सौ ढेर लगाकर उनपर अपनी सुहर कर दी। इसके बाद उसने अपना पत्ता देने के लिए भिन्नपोतध्वज लगा दिया।

इस बीच चीन से सार्थवाह सुवदन ने जो जहाज पर मामूली किस्म का मात (साभाएंड) लादकर देवपुर की ओर जा रहे थे, भिन्न पोतध्वज देवा। तुरंत जहाज रोककर उन्होंने कई नाविकों को धरण के पास भेजा। नाविकों से पूछने पर धरण को पता लगा कि भाग्य के फेर से सुवदन गरीब हो चुके थे और उनके जहाज पर कोई खास मात नहीं लदा था। इस पर धरण ने सुवदन को बुलाया। उससे पूछने पर भी यही पता लगा कि वह देवपुर को एक हजार सुवर्ण का मात ले जा रहा था। यह सुनकर धरण ने उससे मात फेंक देने का आग्रह किया और उसका सोना लाद लेने के लिये कहा। उसके लिए उसने उसे तीन लाख सुहरें देने का वादा किया। सुवदन ने सोना लाद लिया। इसके बाद कहानी आती है कि बिना आज्ञा के सोना ले जाने से सुवर्ण-द्वीप की अधिष्ठात्री देवी का धरण पर कोप हुआ और उसे मनाने के लिए धरण ने अपने को समुद्र में फेंक दिया। वहाँ से हेमकुण्डल ने उसकी रक्षा की। धरण ने उससे श्रीविजय का समाचार पूछा। अपने रक्त के साथ धरण सिंहल पहुँचा और वहाँ से रत्न खरीदकर वह फिर देवपुर वापस आ गया और टोप्प श्रेष्ठ से मिलकर अपनी सुसुविधें बतलाईं। इसी बीच में सुवदन सार्थवाह ने धरण का सोना पचा जाना चाहा। राजाज्ञा से बिना मासूज दिये वह देवपुर पहुँचा। वहाँ उसकी धरण से सुताकात हुई और दोनों ने चीन जाने का निश्चय किया। रास्ते में सुवदन ने उसे समुद्र में गिरा दिया। पर टोप्प श्रेष्ठ के आश्चर्यों ने उसकी जान बचाई। बाद में धरण ने सुवदन पर राजा के यहाँ नालिश की और उसमें उसकी जीत हुई।

अगर ऊपर की कथाओं से अतिरंजिता निकाल दी जाय तो सातवीं सदी की भारत से चीन तक की, जहाजरानी पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उपर्युक्त कथाओं से हम इस नतीजे पर पहुँचते हैं। (१) ताम्रलिप्ति और वैजयन्ती भारत के समुद्र-तट पर बड़े बन्दरगाह थे जहाँ से जहाज सिंहल, महाकाशह (पश्चिमी मलाया में केरा) और चीन तक बराबर आते-जाते थे। देवपुर, जिसके सम्बन्ध में हम कुछ आगे जाकर कहेंगे, एक बड़ा व्यापारिक केन्द्र था। सुवर्णभूमि के श्रीपुर बन्दर में भारतीय व्यापारी व्यापार के लिए ज.या करते थे। श्रीविजय उस समय बड़ा राज्य था। (२) भारतीय जहाजों को बंगाल की खाड़ी और दक्षिण-चीन के समुद्र में भयंकर तूफानों का सामना करना पड़ता था जिनसे जहाज टूट जाते थे। उनसे बचे हुए जहाजों कभी-कभी तख्तों के सहारे बहते हुए किनारे लग जाते थे। वहाँ वे भिन्न पोतध्वज खड़ा करते थे जिन्हें देखकर दूसरे जहाजवाले नाव भेजकर उनका उद्धार करते थे। (३) सुवर्णभूमि से व्यापारी सोने की ईंटें, जिनपर उनके नाम छपे होते थे, लाते थे।

हम पहले देल आये हैं कि ईसा की आरंभिक सदियों में किस तरह सुवर्णभूमि और चीन के साथ भारत का सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ रहा था। गुप्तयुग में भी इस व्यापार और सांस्कृतिक प्रसार को अधिक उत्तेजना मिली। युनानी और भारतीय स्त्रोतों के अध्ययन से यह पता चलता है कि सुवर्णभूमि में उपनिवेश बनाने का श्रेय ताम्रलिप्ति से लेकर पूर्वी भारत के समुद्र-तट के प्रायः सब बन्दरगाहों को था; पर दक्षिण-भारत के बन्दरगाहों को उसका विशेष श्रेय था। हरिभद्र की कहानियों से भी इसी बात की पुष्टि होती है। सुवर्णभूमि में भारतीय व्यापारी प्रायः जलमार्ग से होकर ही पहुँचते थे। पर इस बात की सम्भावना है कि हिन्दु-चीन से मलय-प्रायद्वीप की शायद स्थलमार्ग भी चलते थे। इन मार्गों पर भयंकर प्राकृतिक बाधाएँ थीं,

पर, जैसा हम भारत से पानीर होकर चीन के रास्ते के सम्बन्ध में देख आये हैं, व्यापारियों के लिए कठिनाइयाँ कुछ विशेष महत्व नहीं रखती थीं। बंगाल की खाड़ी में जल-बाक़ुओं के उपद्रव से तो प्राकृतिक कठिनाइयाँ सरल ही पड़ती रहीं होंगी। इस्तिग का कहना है कि ७वीं सदी में भारतीय बन्दरगाहों से दक्षिण-पूर्व जानेवाले जहाजों को अण्डमन द्वीप के रहनेवाले नरभक्षकों से सदा डर बना रहता था। मलाका के जलडमरूमध्य में व्यापार की अभिवृद्धि से मलय के निवासियों को भी लुटपाट का मौका मिला। बाद में, श्रीविजय-द्वारा मलाका के जलडमरूमध्य की कड़ी निगरानी होने से भी स्थलमार्गों का महत्व बढ़ गया होगा। विद्वानों का विचार है कि डमरूमध्य के चक्कर से बचने के लिए भारतीय यात्रियों को का की तंग गर्दन पार करके प्रायद्वीप के पूर्वी किनारे पर पहुँचने का पता चल गया था। दक्षिण-भारत के नाविक बंगाल की खाड़ी पार करके अण्डमन और नीकोबार के बीच का पतला समुद्री रास्ता अथवा उसके दक्खिन नीकोबार और आचीन के बीच का रास्ता पकड़ते थे। वे पहले रास्ते से तफ़्फ़ोल पहुँचते थे और दूसरे रास्ते से केदा। केदा से सिगोरा और त्राँग से पातालुंग होते हुए करबोन खाड़ी पर सिगोरा और का से चुम्पोन पहुँचना सरल था। तफ़्फ़ोल से चैय को भी रास्ता था।

मध्य-भारत तथा समुद्री किनारे के यात्रियों के स्वाम को खाड़ी पहुँचने के लिए रास्ता तराय से चलकर पर्वत पर होता हुआ तीन पगोडा के दर्रे से निकलकर कनबोबुली नदी से होता हुआ मेनाम के डेल्टा पर पहुँचता था। उत्तर में मेनाम की घाटी का रास्ता पश्चिम में मोलमीन के बन्दर और राहँग के गाँव को मिलानेवाला रास्ता था।^१ अन्त में हम एक और रास्ते की कल्पना कर सकते हैं जो कोरत के पठार से खितप होकर मेनाम और मेकॉग और सुन नदी की घाटी को मिलता था और उत्तर में आबाम से ऊपरी बर्मा और युन्नान होकर भारत और चीन का रास्ता चलता था। श्री क्वारिट्ज़ वेल्स की राय में, सुन नदी की घाटीवाला रास्ता जहाँ पूर्वी स्वाम के पठार को पार करता था वहीं पासोक नदी के बायें किनारे पर एक बड़ा शहर था जिसे आज भी धीदेव कहते हैं।^२ यहाँ बसनेवाले यात्री शायद कृष्णा और गोदावरी के बीच के हिस्से से आये थे। धीदेव स्वाम के पठार और मेनाम नदी की घाटी के बीच के रास्ते में, एक बड़ा व्यापारिक शहर था। शायद इस धीदेव से हम समराट्चकडा के देवपुर की पहचान कर सकते हैं।

इस युग में पल्लव-साम्राज्य के भू-स्थापकों ने भी हिन्द-एशिया में अपना काफी प्रभाव बढ़ाया। नरसिंहवर्मन् (करीब ६३०-६६० ई०) ने तो सिहल के राजा माणवर्मन् की सहायता के लिए दो बार जहाजी बेंचे भेजे। मवालिपुरम् और कांचीवरम् उस युग में बन्दरगाह थे और वहीं से होकर शायद सिहल और सुवर्णभूमि को जहाज चलते थे।^३ सिहल में मिले हुए ८वीं सदी के एक संस्कृत-लेख से पता चलता है कि समुद्र-यात्रा में कुशल भारतीय व्यापारियों का सार्थ, जो माल खरीदने-बेचने और जहाजों में भरने में कुशल था, सिहल में व्यापार करता था।^४ ये दक्षिण के व्यापारी थे अथवा नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता; पर इन क्लेशों से हरिभद्र द्वारा सिहल और भारत के साथ पवित्र व्यापारिक सम्बन्ध की पुष्टि हो जाती है।

१. के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री, हिस्ट्री ऑफ़ श्रीविजय, पृ० १८-१९, सदास, १९४६

२. क्वारिट्ज़ वेल्स, टुवर्कस् अंगकोर, पृ० १०० से

३. जे० आर० ए० एस० बी०, १९३६; भा० १, पृ० ५

४. वही, पृ० १२

हम ऊपर बता चुके हैं कि ७वीं सदी में किस तरह भारतीय व्यापारी और भू-स्वायत्त विदेशों में अपनी कीर्ति बढ़ा रहे थे। देश की भीतरी एव-पद्धति पर भी, पहले की तरह ही, व्यापार चल रहा था और साव्यों की अनुविधाओं में भी कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा था। यात्रा पर निकलने के पहले, सार्थवाह अपने साथ यात्रियों को सुविधा के साथ ले जाने की घोषणा मुनारी से करा देते थे। साधियों के इच्छा हो जाने पर सार्थवाह उन्हें उपदेश देता था, “साधिको, देखो, मंजिल पर पहुँचने के दो रास्ते हैं। एक रास्ता सीधा जाता है पर इसरा जरा घूमकर। घुमावदारों रास्ते से कुछ समय अवश्य लगता है, पर सीमा पार करके सीधे-सीधे गन्तव्य नगर पहुँचने में आसानी पड़ती है। सीधा रास्ता कठिन है। इसमें समय तो कम लगता है किन्तु इसपर खँकार जानवर लगते हैं और इसपर के पेड़ों के फल और पत्तियाँ विषैली होती हैं। इस रास्ते पर मधुर-भासी ठग साथ देने की तैयार रहते हैं, पर इनके फेर में नहीं पड़ना चाहिए। सुसार्थिक यात्रा में बाजी कभी एक दूसरे से अलग नहीं होते; क्योंकि अलग होने में खतरे की सम्भावना रहती है। रास्ते में शवानत मिल सकता है, पहाड़ भी पार करना पड़ता है। वैद्यकाधियों के पास कभी नहीं ठहरना चाहिए; क्योंकि उनके पास ठहरने से विपत्ति की आशंका बनी रहती है। नजदीक के रास्ते में खाना-पीना भी मुश्किल से मिलता है। रास्ते में सबको दो पहर तक पहरेशरी करनी चाहिए।”^१

धरण की कहानी से भी यह पता लगता है कि रास्ते में चोर-बाहुओं और जंगली जातियों का भय रहता था। धरण अपनी यात्रा में कुछ पशवों (प्रयाणिक) के बाद उत्तरापुर में अचलपुर पहुँचा। वहाँ साल बेचकर उसने अठगुना फायदा किया। वहाँ से माल लाइकर वह माकड़ी की ओर चला। यात्रा में एक जंगल मिला जहाँ जंगली जानवर लगते थे। यहाँ सार्थ ने पहाड़ ढाँटा और पहरों का प्रबन्ध करके लोग सौ गये। आधी रात में सिंगे बजाकर शवरों और भिल्लों ने सार्थ पर घावा बोल दिया जिससे साथ की जियाँ भयभीत हो गईं। सार्थ के सैनिकों ने उनका मुकाबला किया पर उन्हें भागना पड़ा। बहुत-से साधिक मारे गये। उनका माल लूट लिया गया। कुछ यात्रियों को शवर पकड़कर भी ले गये।^२

३

हम पहले खण्ड में सातवीं और आठवीं सदी की जहाजरानी पर प्रकाश डाल चुके हैं। हम यह भी देख चुके हैं कि ७ वीं सदी के मध्य भाग में किस तरह सुसलमान अपनी प्रभुता बढ़ा रहे थे। ७ वीं सदी के अन्त तक तो फारस की लाई की जहाजरानी अरबों के कब्जे में आ गई थी। ७ वीं सदी के मध्य में अरबों का भोजन और शाने पर धावा भी सावद वहाँ के व्यापार पर कब्जा करने के लिए ही हुआ था। नवीं सदी तक तो अरब इतने प्रबल हो गये थे कि चौदहवीं सदी तक माल-शगर से लेकर दक्षिण-चीन के समुद्र तक इन्हीं की जहाजरानी का बोतबाता रहा। १२ वीं सदी में तो चीनी लोग अरबों को ही एकमात्र विदेशी अभिष्टापक मानने लगे थे। इस युग में भारतीय जहाजरानी पर भी प्रकाश डालने के लिए हमें अरब भौगोलिकों की शरण में जाना पड़ता है; क्योंकि अरबों का जैसे-जैसे समुद्र पर अधिकार

१. समराहचक्रहा, पृ० ४०६ से

२. वही, पृ० २१० से

बढ़ता गया वैसे-वैसे भारतीयों की जहाजरानी कम होती गई, गोकि हीपान्तर को भारत से जहाज इस युग में भी जाते रहे ।

अरब तीन तरफ से—यथा, पूर्व में फारस की खाड़ी से, दक्षिण में हिन्दमहासागर से और पश्चिम में लालसागर से घिरा हुआ है । इसीलिए हिजा की पहली दो सदियों में इसे जजीरत-अल-अरब कहते थे । अरब एक धीरान देश है और इसीलिए वहाँ के वाशिनदों को अपनी जीविका चलाने के लिए न जाने कब से व्यापार का आश्रय लेना पड़ा । हम देख आये हैं कि सुदूर पूर्वकाल से ही भारत और अरब में व्यापारिक सम्बन्ध था । लालसागर के आगे भारतीय माल ले जाने का काम तो अरब ही करते थे; क्योंकि ईसा की आरंभिक सदियों में इस व्यापार में रोमनों ने भी हाथ बटाय़ा था ।

अरब में इस्लाम के आ जाने के बाद वहाँ के लोगों ने अपनी जहाजरानी में आशातीत उन्नति की । भारत के साथ उनका अधिक सम्पर्क बढ़ने से अरबों में बहुत-से जहाजरानी के शब्द आ गये । अरबी दार (किनारा) संस्कृत के वार शब्द का ही रूप है । दोनोव डोंगी का, बारजद बेड़े का, हुरी (एक छोटी नाव) होबी का तथा बानाई वणिक् का रूप है ।

भारतीयों की तरह अरब भी जहाजरानी में बड़े कुशल थे । वे लक्षणों से जान जाते थे कि तूफान आनेवाला है और उससे बचने के लिए वे पूरा प्रयत्न करते थे । उन्हें समुद्री हवाओं का भी पूरा ज्ञान था । अबुहनीफा दैनूरी [मृ० हि० २८२] ने निर्वाचक-शास्त्र पर किताब-उल-अनवा नाम का ग्रन्थ लिखा जिसमें उन्होंने बारह तरह की हवाओं का उल्लेख किया है—यथा जनुब (दखिनाहट), शुमाल जरबिया (उत्तराहट), तैमनादाजन (दखिनाहट), कबूल दबूल (पछियाँ), नकवा (उत्तर-पूर्वी), अजीब (काली हवा), बादलुश (अच्छी हवा), हरजफ (उत्तराहट), और सारुफ ।^१ इस सम्बन्ध में हम अपने पाठकों का ध्यान आवश्यकतार्थ में उल्लिखित सोलह तरह की हवाओं की ओर दिलाना चाहते हैं । अबु हनीफा के प्रायः सब नाम इस तालिका में आ गये हैं । संस्कृत का गर्जम यहाँ हरजफ हो गया है और कालिकावात अजीब । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि अबुहनीफा की हवाओं की तालिका का स्रोत क्या है । शायद भारतीय साहित्य से यह तालिका ली गई हो तो कोई ताज्जुब नहीं ।

भारतीय जहाजों की तरह अरबों के जहाज भी रात-दिन चला करते थे । दिन में अरब जहाजी पहाकों, समुद्री नक्षत्रों और समुद्रतट के सहारे अपने जहाज चलाते थे, पर रात में तक्षत्रों की गति ही उनका सहारा थी ।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, खलीफा उस्मान के समय, बहरेन के शासक इकम ने अपने जहाजी बेड़े से थाना और भदोच पर आक्रमण किया । अब्दुल मलिक के राज्यकाल में हज्जाज बिन युसुफ पूर्वी प्रदेश का शासक नियुक्त किया गया । यह प्रदेश ईराक से तुर्किस्तान और सिन्ध तक फैला हुआ था । हज्जाज के शासनकाल में अरबों के व्यापारी-जहाज सिन्ध तक पहुँचने लगे । एक समय, कुछ ऐसे ही जहाज समुद्री डाकूओं द्वारा लूट लिये गये । इसपर खफा होकर हज्जाज ने जल, पल, दोनों ओर से सेना भेजकर सिन्ध को फतह कर लिया ।^२

१. इस्लामिक कन्वर्, अक्टूबर, १९४१, पृ० ४४३

२. इस्लामिक कन्वर्, जनवरी, १९४१, पृ० ७२

हज्जाज के पहले, फारस की खाड़ी और सिन्ध नदी पर चलनेवाले जहाज रस्सी से सिले तख्तों से बने होते थे, लेकिन भूमध्यसागर में चलनेवाले जहाज कील ठोककर बनते थे। हज्जाज ने ऐसे ही जहाज बनवाये और पानी को रोकने के लिए अलकतरे का प्रयोग किया। उसने नौकदार नावों की जगह चौरस नावें भी बनवाईं।

अपने चाचा अलहज्जाज की मृत्यु के बाद मुहम्मदबिन-कासिम ने सुराष्ट्र के लोगों से, जो उस समय द्वारका के उत्तर बेट के समुद्री डाकुओं से लड़ रहे थे, मिल कर लिया।^१ सिन्ध फतह करने में अरबी बेड़े का काफी हाथ था। १०७ हिजरी में जब जुनैद-बिन-अब्दुल रहमान अलमुरौ सिन्ध का शासक नियुक्त हुआ तब उसने राजा जयसी से समुद्री लड़ाई लड़कर मराठल और भड़ोच फतह कर लिया।

भारत के पश्चिमी समुद्रतट पर अरबों के ये धावे केवल नाममात्र के थे, पर जल्दी ही एक ऐसा धावा हुआ जिससे वलभी का अन्त हो गया। अलबेहनी का कहना है कि ७५० से ७० के बीच वलभी के एक गह्वार ने अरबों को रुपये देकर वलभी के विरुद्ध मन्सूरा से जहाजी बेड़ा भेजने को तैयार कर लिया।^२ इस भारतीय अनुश्रुति का समर्थन अरब के इतिहास से भी होता है। १५६ हिजरी में, अरबों ने अब्दुल मुल्क के सेनापतित्व में गुजरात पर जहाजी हमला किया। हिजरी १६० में वे बारबुद पहुँचे (इब्न-असीर)। लगता है कि अरबी का बारबुद वलभी का विकृत रूप है।

ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अरबों ने सिन्ध और काठियावाड़ पर हमला करके अपने लिए समुद्री मार्ग साफ कर लिया। उन्होंने साथ-ही-साथ यह भी साबित कर दिया कि उनके नये जहाजी बेड़े भारतीय राजाओं के बेड़ों से कहीं मजबूत थे। पर आठवीं और नवीं सदी में अरबों का यह प्रभाव सिन्ध, गुजरात और कोंकण के समुद्रतट तक ही सीमित रहा; भारत का पूर्वी समुद्री तट उनके हमलों से सुरक्षित रहा और वहाँ से भारतीय सार्ववाह अपने जहाज बराबर द्वीपान्तर और चीन तक चलाया करते थे।

अरब भौगोलिकों के अनुसार अरब और चीन के बीच में सात समुद्र पड़ते थे। मासूदी के अनुसार^३, फारस की खाड़ी ओखुल्ला से आबदान तक पहुँचती थी। इसकी अकृति त्रिभुजाकार थी जिसकी चोटी पर ओखुल्ला पड़ता था। इसकी पूर्वी भुजा पर ईरान का समुद्र तट पड़ता था और इसके बाद हुरसज का समुद्रतट। उसके बाद मकरान का समुद्रतट शुरू होता था। सिन्ध का समुद्री तट सिन्धु नदी के मुहाने तक चलता था और वहाँ से भड़ोच का समुद्री तट शुरू हो जाता था।

याकूबी के अनुसार^४ लाट का समुद्र रास अल्-जुमजुमा से आरम्भ होता था। इस समुद्र में पूर्वी अफ्रिका का समुद्रतट पड़ता था। इस समुद्र में बिना नौवनों की सहायता के नाव चलाना कठिन था। मासूदी के अनुसार, फारस की खाड़ी छोड़ने पर लाट-समुद्र मिलता था। यह इतना बड़ा था कि जहाज उसे दो महीने में पार कर सकते थे; पर अनुकूल वायु में,

१. इब्जियट, भा० १, पृ० १२३

२. सचाऊ, अलबेहनी, १, पृ० ११३

३. लीम दे प्रेयरी दौर, भा० १, पृ० २३८ से २४१

४. फेर्रो, डे रिलेसियाँ, भाग १, पृ० ४६

यात्रा एक महीने में भी समाप्त हो जाती थी। गुजरात के समुद्रतट पर सैमूर (चौल), सुवारा (सोवारा), याना, सिन्दान (दमान) और खम्भात पड़ते थे।

तीसरे समुद्र को हरकिन्द कहते थे। यह नाम शायद हरकेलि से पड़ा। इसकी पहचान बंगाल की खाड़ी से की जाती है। लाट समुद्र और हरकिन्द के बीच में मालदी और लकादी पड़ते थे जो इन दोनों समुद्रों की अलग करते थे। इन द्वीपों में अम्बर बड़ी तादाद में मिलता था और नारियल की बड़ी पैदावार होती थी।^१

इसके बाद, हिन्दगडासागर में, सिरनदीय (सिंहल) पड़ता था जो मोतियों और रत्नों का घर था। यहाँ से द्वीपान्तर की ओर समुद्री रास्ते निकलते थे। इसके बाद रामनी (सुमात्रा) पड़ता था जिसे हरकिन्द और शलाहूत (मलक्का स्ट्रेट) के समुद्र घेरे हुए थे।^२

सिंहल के बाद लांगबाजूस (निकोबार) पड़ता था जहाँ नंगे जंगली रहते थे। जब जहाज निकोबार के द्वीपों के पास से गुजरते थे तब वहाँ के रहनेवाले अपनी नावों में चढ़कर जहाज के पास जाते थे और नारियल और अम्बर से लोभे बंशते थे। निकोबार के टापू असह्यमन के समुद्र से अलग होते थे। दो टापुओं में नरमच्छक रहते थे जो किनारे पर आनेवालों को खा जाते थे। कभी-कभी अनुकूल हवा के न मिलने से जहाजों को यहाँ ठहरना पड़ता था, और पानी समाप्त होने पर नाविकों को किनारे पर जाना पड़ता था।^३

हरकिन्द के बाद, माधुदी, कलाह, सिम्फ (चम्पा), तथा चीन के समुद्रों का नाम लेता है और इस तरह, सब मिलाकर, सात समुद्र हो जाते हैं।

सुलेमान एक दूसरी जगह कहता है कि चीनवाले जहाज सीराफ पर लड़ते और उतरते थे। वहाँ बसरा और ओमान से माल चीन जाने के लिए आता था। यहाँ पानी गहरा न होने से छोटे जहाज बड़े जहाजों पर घुसींते से माल लोद सकते थे। बसरा और सीराफ के बीच का रास्ता १२० फरसंग (करीब ३२० समुद्री मील) पड़ता था। सीराफ से माल लादकर और पानी भरकर जहाज मशकत को, जो ओमान के छोर पर पड़ता था, चल देता था। सीराफ और मशकत के बीच का रास्ता दो सौ फरसंग (४४० मील) था। मशकत से जहाज पश्चिम-भारत के समुद्र-तट और मलाया के लिए चलते थे। मशकत से क्वीलन की यात्रा में एक महीना लगता था।^४

क्वीलन में मीठा पानी भरकर जहाज बंगाल की खाड़ी की तरफ चल देते थे। रास्ते में लांगबाजूस पड़ता था। यहाँ से जहाज कलाहवार पहुँचकर मीठा पानी लेते थे। इसके बाद जहाज निमुमा पहुँचते थे जो कलाहवार से छः दिनों के रास्ते पर था। वहाँ से वे कुदंग होते हुए चम्पा की खात (अनाम और कोचीन चीन) पहुँचते थे। यहाँ से सुन्दरभूत का रास्ता दस दिनों का था। इसके बाद दक्षिण चीन-समुद्र आता था। इस समुद्र के पूर्वी भाग में मवहान नाम का टापू सईदीय और कलाह के बीच में पड़ता था और लोग इसे भारत का ही भाग मानते थे।^५

१. फोर्ी, पोइवाज दु मायार्ी अरब सुलेमान, पृ० ३१-३२, पेरिस १८३२

२. वही, पृ० ३१-३४

३. वही, पृ० ३४

४. वही, पृ० ३६-४०

५. वही, पृ० ४०-४१

सुलेमान जिस रास्ते से चीन गया, उसके समझने में हमें किसी कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ता। सीराफ से उसका जहाज सीधे मशकत पहुँचा और वहाँ से क्वीलन। क्वीलन से बंगाल की खाड़ी को पाक जलमलमध्य से होकर जाने में निकोबार-द्वीपसमूह के एक द्वीप में जहाज ठहरता था। वहाँ से वह कलाहवार (का का बन्दर, मलाया-शायद्वीप के उत्तर में) पहुँचता था। यहाँ से तियोमा का टापू (मलय के दक्खिन-पूर्व में तियोमन टापू), तियोमा से कुदंग (सांजाक की खाड़ी में सेगावें नदी के मुहाने पर), कुदंग से चम्पा (यानी चम्पा की उस समय की राजधानी), चम्पा से सुन्दरकूलात (शायद हैनान का टापू) और अन्त में सुन्दरकूलात से पोर्ट द ला चीन की खाड़ी से खानहू यानी कैटरन।

इस यात्रा में सीराफ से कैटरन तक करीब पाँच महीने लगते थे।

इब्नखुर्दावह (हिजरी की तीसरी सदी) इस रास्ते का और खुलकर बयान करता है^१। उसके अनुसार, यह रास्ता बसरा, खारक का टापू, लावान का टापू, ऐरोन का टापू, खैन, कैश, इब्रकवान, हुरमुज होता हुआ सारा पहुँचता था। सारा उस समय सिन्ध और फारस के बीच की सीमा था और वहाँ से देबल के लिए जहाज चलते थे। सारा से देबल, सिन्ध नदी का मुहाना और औतगीन जहाज पहुँचता था। यहाँ से भारत की सीमा आरम्भ होती थी। औतगीन से आगे कोली, सन्दान, मली और बलीन पड़ते थे। बलीन के आगे मार्ग अलग-अलग हो जाते थे। समुद्रतट पर चलनेवाले जहाज पापटन चले जाते थे। वहाँ से संजली-कवरकान, गोदावरी का मुहाना, और कोलकान होते हुए जहाज चीन पहुँचते थे। दूसरे जहाज बलीन से सरन्दीव और वहाँ से जावा जाते थे। कुछ बलीन से सीधे चीन चले जाते थे।

भारत के पश्चिमी और पूर्वी तट के बन्दरगाहों के बारे में हमें अलबेदनी से भी कुछ पता चलता है। उसके अनुसार, भारतीय समुद्रतट मकरान की राजधानी तीज से आरम्भ होकर दक्खिन-पूरब को देबल की ओर जाता था। देबल के आगे चलकर लोहारानी (कराची), कच्छ, सोमनाथ, खम्मात, भडोच, सन्दान (डामन), सुवारा और थाना पड़ते थे। इस समुद्रतट पर कच्छ और सोमनाथ के जल-डाकुओं का जिन्हें बवारिज (बावरिए) कहते थे, बड़ा उपद्रव रहता था। थाना के बाद, जिमूर, बल्लम, कंजी होते हुए जहाज सिंदल पहुँचते थे और वहाँ से चोलमण्डल पर रामेश्वर^२।

सुलेमान के अनुसार, बसरा और बगदाद को चीनी माल बहुत घड़ी तावदाद में पहुँचता था। इसका कारण खानहू में घड़ी-घड़ी आग लगना कहा गया है जिससे निर्यात के माल को बहुत नुकसान पहुँचता था। अरब में चीनी माल न पहुँचने का कारण समुद्र में बहुत-से जहाजों का टूटना था जिससे माल आने-जाने में बड़ी कमी पड़ जाती थी। रास्ते में जल-डाकुओं से भी बड़ा नुकसान पहुँचता था। अरब और चीन के बीच के बन्दरगाहों में भी अरब जहाजों को काफी दिन तक ठहरना पड़ता था जिससे अरब व्यापारियों को अपना माल लाचार होकर बेच देना पड़ता था। कभी-कभी हवा जहाजों को ठीक रास्ते से हटाकर यमन अथवा दूसरे देशों की ओर ढकेल देती थी जहाँ व्यापारी अपना माल बेच देते थे। चीन और अरब के बीच व्यापार की कमी का एक यह भी कारण था कि व्यापारियों को जहाजों की मरम्मत के

१. सुलेमान नदवी, अरब और भारत के सम्बन्ध, पृ० ४८-४९, प्रयाग, १९३०

२. सच्चाऊ, अलबेदनी, पृ० २०९

लिए अथवा और किसी दुर्घटना की वजह से काफी दिन तक ठहरना पड़ता था।^१ जो भी हो, ऐसा मासूम पड़ता है कि नवीं सदी में अरबों का व्यापार अधिकतर भारत, मलाया, सिंहल से ही था, चीन से कम।

चीन के बाहरी व्यापार को तांग सम्राट् हि-कुसुंग (८७४-८८६) के समय की एक दुर्घटना से भी काफी धक्का लगा। उस समय सेना ने बगावत करके कई नगरों को लूट लिया जिससे व्यापारियों को मलय के पश्चिमी समुद्रतट पर कलाह को भागना पड़ा और यह बन्दर, कम-से-कम १०वीं सदी के आरम्भ तक, अरब-व्यापार का मुख्य केन्द्र बना रहा। १०वीं सदी के अन्त में केएन और तुआनचू पुनः चीन के बाहरी व्यापार के मुख्य केन्द्र बन गये और चीन का अरब, मलय, तांकिंग, स्याम, जावा, पश्चिमी सुमात्रा तथा पश्चिमी बोनियो से पुनः सीधा व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित हो गया^२। इस युग में भारत का चीन के साथ व्यापार का क्या हाल हुआ, इसका हमें पता नहीं; पर बहुत सम्भव है कि अरबों के साथ शायद उन्हें भी अपना व्यापार मलय-प्रायद्वीप, स्याम, सुमात्रा और जावा के साथ ही कुछ दिनों तक सीमित रखना पड़ा हो।

अरबों की नजर में भारतीय व्यापार का बड़ा महत्त्व था। हजरत उमर ने जब एक व्यापारी से भारत के बारे में पूछा तो उसने कहा—‘उसकी नदियाँ मोती हैं, पर्वत काल हैं और वृक्ष इत्र हैं।’ अरब और भारत के व्यापार का सबसे बड़ा बन्दर उस समय ओबुल्ला था। इस बन्दर का भारत के साथ इतना घना सम्बन्ध था कि अरब उसे भारत का ही एक अंग समझते थे। २५६ हिज्रा में ओबुल्ला के नष्ट हो जाने पर बसरा भारतीय व्यापार का केन्द्र बन बैठा। अरबों का सिन्ध पर अधिकार हो जाने पर यह व्यापार और बढ़ा और इसका मासूल खिलाफत की आय का एक बड़ा साधन हो गया। सीराफ ३३६ हिज्रा में नष्ट हो गया। उम्मान के पास, कैस नामक एक टापू था। याकूत का कहना है कि भारतीय राजाओं में इस टापू के शासक का बहुत मान था; क्योंकि उसके पास बहुत-से जहाज थे। काजवीनी (हिज्री ६८६) के अनुसार, कैस भारत के व्यापार का मण्डी और उसके जहाजों का बन्दर था। भारत से वहाँ अच्छा-से-अच्छा माल लाया जाता था।^३ अवृजैद सैराफी (ई० ६वीं सदी) इस बात का कारण बतलाते हुए कि जहाज लालसागर होकर भिख क्यों नहीं जाते और जहा से लौटकर भारत क्यों चले जाते हैं, कहता है—‘इसलिए कि चीन और भारत के समुद्र में मोती होते हैं, भारत के पहाड़ों और जंगलों में जवाहिरात और सोने की खानें हैं, उसके जानवरों के मुँह में हाथीदाँत हैं, इसकी पैदावार में आबनूस, बेंत, जड़, कपूर, लौंग, जायफल, बकम, चन्दन और सब प्रकार के सुगन्धित द्रव्य होते हैं, उसके पक्षियों में तोते और मोर हैं और उसकी भूमि की विष्टा में कस्तूरी है।’^४

इब्र खुर्दादबह (हि० २५०) में भारत से ईराक जानेवाली वस्तुओं की सूची में ये सब चीजें हैं—सुगन्धित लकड़ियाँ, चन्दन, कपूर, लौंग, जायफल, क्वावचीनी, नारियल, सन के कपड़े

१. फेरी, सुलेमान, पृ० ३७-३८

२. हर्न, चाओलुङ्गआ, पृ० १८-१९

३. नदवी, वही, पृ० ४१-४६

४. वही, २४-२५

और हाथदौत, सरन्दीब के सब प्रकार के लाल, मोती, बिल्लौर और जवाहरात पर पालिश करने का कौराब, मालाबार से काली मिर्च, गुजरात से सीसा, दक्खिन से बक्कम और सिन्ध से कुटवाँस और बेंत ।

हुदूदए आलम (६८२-८३) से हमें पता चलता है कि १०वीं सदी में अरब में कामरूप से सोना और अग्रर, उड़ीसा से शंख और हाथीदाँत ; माजाबार से मिर्च, खम्भात से जूते, रायविसड से पगड़ी के कपड़े, कन्नौज के राज्य से जवाहरात, मलमल, पगड़ियाँ, जड़ी-बूटी और नेपाल से कस्तूरी आती थी ।^१ मामुदी और खुखारो भी खम्भात के जूनों की प्रशंसा करते हैं । थाना के कपड़े प्रसिद्ध थे जो या तो वहाँ बनते थे या देश के भिन्न-भिन्न भागों से वहाँ आते थे ।^२

मुसदर बिन मुहलहिल (३३१ हि०) के अनुसार, भारत के गजायर वरतन अरब में चीनी वरतन की तरह बिकते थे । व्यापारी लोग यहाँ से सागौन, बेंत, नेजे की लकड़ियाँ, रेबन्दी-चीनी, तेजपात, ऊद, कपूर और लोबान ले जाते थे । इब्नुल फकीह (हि० ३३०) के अनुसार, भारत और सिन्ध से सुगन्धित द्रव्य, लाल, हीरा, अग्रर, अम्बर, लौंग, सम्बुल, कुलंजन, दालचीनी, नारियल, हरे, तृतिया, बक्कम, बेंद, चन्दन, सागौन की लकड़ी और काली मिर्च बाहर जाती थी ।^३ अरब लोग भारत से चीन को गैंडे के सींग ले जाया करते थे । वहाँ इनकी बेशकीमत पेटियाँ बनती थीं । भारत से खाने के लिए सुपारियाँ भी जाने लगी थीं ।^४ भारत के सुप्रसिद्ध मलमल के बारे में सुलेमान लिखता है—“यहाँ जो कपड़े बुने जाते हैं वे इतने बारीक होते हैं कि पूरा कपड़ा (थान) एक अंगुठी में आ जाता है । ये कपड़े सूती होते हैं और इन्हें मैंने स्वयं देखा है ।” लगता है, इस युग में भारत से छपे कपड़े मिल जाते थे । ऐसे बहुत से कपड़ों के नमूने मिल में मिले हैं ।^५

दसवीं सदी में सिन्ध के सोने के सिक्कों की भारत में बड़ी माँग रहती थी । सुन्दर पेटियों में सजी पन्ने की अँगूठियाँ यहाँ आती थीं । मूँगे और दहज की भी यहाँ काफी माँग थी । मिछी शराब की भी कुछ खपत थी । हम से रेशमी कपड़े, समुर, पोस्तीन और तलवारे आती थीं । फारस के गुलाबजल की भी कुछ खपत थी । बसरे से देवल और खजूर आता था । चोल-मण्डल में अरबी घोड़ों की माँग थी ।^६

इस युग की भारतीय जहाजरानी का अरबी अथवा चीनी साहित्य में उल्लेख नहीं है । शायद इसका कारण यह हो सकता है कि अरबों और चीनियों ने सुमात्रा और जावा की जहाजरानी और भारत की जहाजरानी को एक ही मान लिया हो; क्योंकि वे सुमात्रा और जावा को भारत का ही एक भाग मानते थे । जो भी हो, अरबों के भौगोलिक साहित्य में बहुत-से ऐसे प्रसंग आये हैं जिनसे पता चलता है कि भारतीय व्यापारी फारस की खाड़ी में बराबर जाया करते

१. वी० मिनेस्की, हुदूद अल-आलम, पृ० ८६ से, लखन १९१०

२. नदवी, वही, पृ० २१-२६

३. वही, पृ० २७-२८

४. वही, पृ० ६६-६७

५. फिस्तर, ले खाब अफ्रिमे द फोस्तात ए ल एन्द्स्तान, पेरिस, १९३८

६. नदवी, वही, पृ० ६८

थे। ईसा की नवीं सदी में, अबूजैद सैराफी, इस प्रसंग में कि भारतीय सहभोज नहीं करते थे, लिखता है—‘ये हिन्दू व्यापारी सीराफ में आते हैं। जब कोई अरब व्यापारी उन्हें भोजन के लिए निमन्त्रण देता है तब वे सौ और कभी उससे भी अधिक होते हैं। पर उनके लिए यह जहरी होता है कि हर एक के सामने अलग-अलग थाल रखा जाय जिसमें कोई दूसरा सम्मिलित न हो सके।’ यहाँ हम भारतीयों के उस रिवाज का उल्लेख पाते हैं जिसके अनुसार अरबों की तरह दस्तरखान में बैठकर एक साथ खाना मना था। बुजुर्ग इब्न शहरयार ने अजायबुल हिन्द में बीसों जगह बानियाना के नाम से अरब जहाजों के भारतीय यात्रियों का नाम लिया है।^१

४

दसवीं सदी के बाद भी, चीन के व्यापार में अरबों और भारतीयों का बहुत बड़ा हाथ रहा। चू-कु-फाई (११७८ ई०) लिखता है—‘कीमती माल के व्यापार में कोई भी जाति अरबों (ता-शी) का मुकाबला नहीं कर सकती। इनके बाद जावा (शो-पो) के लोगों का नम्बर आता है, तीसरा पालेमबेंग (सान-फो-त्सी) के लोगों का और इसके बाद दूसरों का।’^२ लगता है, चू-कु-फाई ने जावा और पालेमबेंग के व्यापारियों में हिन्दुस्तानियों को भी शामिल कर लिया है।

पिंग-चू-को-तान (११२२ ई०) में कहा गया है कि किया-तु नाम के जहाज चीनी समुद्र में बराबर आते-जाते रहते थे।^३ श्री हर्थ का कहना है कि ये जहाज मालबार के समुद्रतट पर चलनेवाले कतुर नाम के जहाज थे। कालीकट के ये जहाज साठ से पैंसठ हाथ तक के होते थे और इनके दोनों सिरे नुकीले होते थे।^४

पिंग-चू-को-तान से यह भी पता चलता है कि किया-लिंग यानी कलिंग के समुद्रतट पर चलनेवाले बड़े जहाजों पर कई सौ आदमी सफर करते थे, पर छोटे जहाजों पर सौ या उससे कुछ अधिक। ये व्यापारी अपने में से किसी व्यापारी को अपना नायक चुन लेते थे और वह अपने सहायक की मदद से सब काम-काज चलाता था। केएन के नावध्यक्ष की आज्ञा से, वह अपने अनुयायियों की मदद से हल्की बेल्ट की सजा दे सकता था। इस नायक के लिए यह भी आवश्यक था कि वह अपने किसी साथी के मर जाने पर उसके माल को फिहरिस्त तैयार करे।^५

इन व्यापारियों का यह कहना था कि वे उसी समय समुद्र यात्रा करते थे जब जहाज बड़ा हो और उसमें काफी संख्या में यात्रा करनेवाले हों; क्योंकि रास्ते में बहुत-से जलडाकू अपने देश को न जानेवाले जहाजों को लूट लिया करते थे। भेंट माँगने की प्रथा भी इतनी अधिक थी कि भेंट माँगनेवालों को तृप्त करना भी आसान काम नहीं था। इसके लिए साथ में सौगात का काफी सामान रखना पड़ता था। इसलिए, छोटे जहाज काम के नहीं होते थे।

व्यापारी चिट्ठियाँ डालकर, जहाज की जगह को आपस में बाँट लेते थे और अपनी जगहों में माल लाद लेते थे। इस तरह प्रत्येक व्यापारी को कई फुट जगह माल रखने को मिल

१. वही, पृ० ७१

२. हर्थ और रॉकहिल, ज्वाभोलुकुआ, पृ० २३

३. वही, पृ० ३०, फु० नो० २

४. वही, पृ० ३१-३२

जाती थी। रात में व्यापारी अपने सामानों पर ही विस्तर डालकर सो रहते थे। सामान में बरतन-भौंडे काफी होते थे।

नाविकों को तूफान और बरसात का इतना भय नहीं होता था जितना जहाज के समुद्र में टिक जाने का। ऐसा होने पर उसकी मरम्मत केवल बाहर से ही हो सकती थी और इसके लिए विदेशी दास काम में लाये जाते थे।

जहाजों के निर्यामक समुद्र के किनारों से भली-भाँति परिचित होते थे। रात में, नवतंत्रों की गति से, वे अपने जहाजों का संचालन करते थे और दिन में सूर्य की सहायता से। सूर्य के हूब जाने पर वे कुतुबनुमा की सहायता लेते थे अथवा समुद्र की सतह से कैलिग्रा डोरी की मदद से थोड़ी मिट्टी निकाल कर और उसे सूँघ कर अपना स्थान निश्चित करते थे। यह परीक्षा शायद आर्यसूर के सुगारगजातक की भूमि-परीक्षा थी।

उपर्युक्त वर्णन में हम कुतुबनुमा का उल्लेख पाते हैं। बीजले^१ का कहना है कि चीनी नाविक तीसरी सदी में फारस की खाड़ी की यात्रा में कुतुबनुमा काम में लाते थे, पर इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई प्रमाण नहीं दिया है। इस बात का भी कोई प्रमाण नहीं है कि चीनी जहाज इस युग में अथवा इसके बाद भी फारस की खाड़ी तक पहुँचते थे। श्री रेनो^२ कुतुबनुमा-सम्बन्धी अनेक अरबी उल्लेखों को जाँचने के बाद इस प्रमाण पर पहुँचते हैं कि बारहवीं सदी के अन्त में और तेरहवीं सदी के आरम्भ में कुतुबनुमा का प्रयोग साधारणतः से होने लगा था। पर हम यहाँ मिलिन्दप्रश्न की जहाजरानी-सम्बन्धी एक उल्लेख की ओर पाठकों का ध्यान दिलाना चाहते हैं। इसमें कहा गया है कि चीन तक चलनेवाले भारतीय जहाजों पर एक यन्त्र होता था जिसकी हिफाजत निर्यामक करता था और उसे किसी को छूने नहीं देता था। इस यन्त्र का किसलिए प्रयोग होता था इसका हमें मिलिन्दप्रश्न से कोई उत्तर नहीं मिलता। हो सकता है कि यह कुतुबनुमा हो। जो भी हो, यह तो निश्चित है कि बारहवीं सदी में इसका प्रयोग होने लगा था। भारतीय साहित्य में तो मुझे इसका कोई पुराना उल्लेख नहीं मिलता है।

चाओ-जु-कुआ भी बारहवीं और तेरहवीं सदियों में चीन और अरब के व्यापार पर काफी प्रकाश डालता है। उससे पता चलता है कि उस युग में चीनियों, अरबों, और भारतीयों का हिन्दमहासागर में काफी पाव का व्यापारिक सम्बन्ध था। तांकिंग में अगर, सोना, चाँदी, लोहा, ईंगुर, कौड़ी, गेंडे के साँग, सीप, नमक, लौकर, कपास और सेमल की रुई का व्यापार होता था।^३ अनाम में जहाज के पहुँचने पर राज-कर्मचारी एक चमड़े की बही के साथ उसपर चढ़ जाते थे और इस बही में सफेद रंग से माल का ब्योरा भर देते थे। इसके बाद माल उतारने की आज्ञा दी जाती थी। इसमें से राजस्व माल का $\frac{१}{२०}$ भाग होता था। बाकी माल का हेर-फेर हो जाता था। खाते में बिना दर्ज माल जब्त कर लिया जाता था।^४ अनाम में विदेशी व्यापारी कपूर, कस्तूरी, चन्दन, लखेरे बरतन, चीनी मिट्टी के बरतन, सीसा, राँगा, समुद्र और शम्बर का व्यापार करते थे। कम्बुज में हाथीदाँत, तरह-तरह के अगर, पीला मोम, सुर्बाब के पर,

१. बीजले, डॉन ऑफ जियोग्राफी, १, ४१०

२. ए० डी० रेनो, जियोग्राफी द अडुलफिदा, १, पृ० cciii-cciv

३. चाओजुकुआ, पृ० ४९

४. वही, पृ० ४८—४९

डामर की रजन, विदेशी तेल, सोंठ, सागौन की लकड़ी, ताजा रेशम, और सूती कपड़े का व्यापार होता था। कम्बुज के माल के बदले में विदेशी व्यापारी चाँदी, सोना, चीनी बरतन, साटन, चमड़े से मढ़े डोल, सम्शु, शक्कर, मुरब्बे और सिरका देते थे।^१ मलय प्रायद्वीप में इलायची, तरह-तरह के अग्रर, पीला मोम और लाल किनो गोंद का व्यापार होता था।^२ पालेम्बेण (पूर्वी सुमात्रा) में कलुए की खपड़ियाँ, कपूर, अग्रर, लाका की लकड़ी, लवंग, चन्दन और इलायची होती थी। यहाँ बाहर से मोती, लोबान, गुलाबजल, गडॅनिया के फूल, मुरा, हॉग, कुठ, हाथीदाँत, मूँगा, लहसुनिया, अम्बर, सूती कपड़े और लोहे की तलवारें आती थीं। माल की अदला-बदली के लिए सोना, चाँदी, चीनी बरतन, रेशमी किमखाब, रेशम के लच्छे, पतले रेशमी कपड़े, शक्कर, लोहा, सम्शु, चावल, सूखा गलांगल, रुचबाब^३ और कपूर काम में लाते थे।^३

सुमात्रा उस जल-डमरूमध्य का रत्नक था जिससे निकलकर विदेशी जहाज चीन जाते थे। प्राचीनकाल में श्रीविजय के राजाओं ने जल-डाकुओं को रोकने के लिए वहाँ एक लोहे की सिकड़ी, जो ऊपर उठाई-गिराई जा सकती थी, लगा रखी थी। व्यापारी जहाजों के आने पर वह नीचे गिरा दी जाती थी। बारहवीं सदी में शान्ति होने से यह सिकड़ी उतार ली गई थी और लपेटकर किनारे पर रख दी गई थी। कोई भी जहाज बिना मलक्का के जल-डमरूमध्य में आये आगे बढ़ने नहीं दिया जाता था।^४

मलय-प्रायद्वीप के क्वातन-प्रान्त में पीला-मोम, लाका की लकड़ी, अग्रर, आवनूस, कपूर, हाथीदाँत और गेंडे के सींग मिलते थे। इनकी अदला-बदली के लिए विदेशी व्यापारी रेशमी छाते, किटीसोल, हो-ची के रेशमी कपड़े, सम्शु, चावल, नमक, शक्कर, चीनी बरतन और सोने-चाँदी के प्याले काम में लाते थे।^५

लंकासुक (केदा की चोटी के पास) समृद्ध देश था। यहाँ हाथीदाँत, गेंडे के सींग और तरह-तरह के अग्रर होते थे। विदेशी व्यापारी सम्शु, चावल, हो-ची के रेशमी कपड़े और चीनी बरतनों से अदल-बदल करते थे। पहले वे माल की कीमत सोने-चाँदी से निर्धारित करते थे। बेरनंग (मलय) में भी अग्रर, लाका की लकड़ी और चन्दन, हाथीदाँत, सोना-चाँदी, चीनी बरतन, लोहा, लखेरे बरतन, सम्शु, चावल, शक्कर और गेहूँ से बदले जाते थे।^६

बोर्नियो में चार तरह के कपूर, पीला मोम, लाका की लकड़ी और कलुए की खपड़ियाँ होती थीं। इनसे अदला-बदली के लिए व्यापारी सोना-चाँदी, नकली रेशमी कपड़े, पटोले, रंगीन रेशमी कपड़े, शीशे के मन के और बोटल, रॉगा, हाथीदाँत के जन्तर, लखेरी तरतरियाँ, प्याले तथा नीले चीनी बरतन काम में लाते थे।^७

१. चाओजुकुआ, पृ० २३

२. वही, पृ० ५७

३ वही पृ० ११

४ वही पृ० ११-१२

५ वही पृ० १७

६ वही पृ० ६८-६९

७ वही पृ० १२६

जावा में गन्ना, तारो, हाथीदाँत, मोती, कपूर, कछुए की खपड़ियाँ, सोंफ, लवंग, इलायची, बड़ी पीपल, लाका की लकड़ी, चटाइयाँ, विदेशी तलवारों के फल, मिर्च, सुपारी, गन्धक, केसर, सम्पन की लकड़ी और तोतों का व्यापार होता था। विदेशी व्यापारी माल की अदला-बदली सोना-चाँदी, रेशमी कपड़े, काला दमिशक, ओरिस की जड़, ईंगुर, फिटिकरी, सोहागा, संखिया, लोहे की तिपाइयाँ तथा सफेद और नीले चीनी बरतनों से करते थे।^१

पूर्वकाल की तरह, १२वीं सदी में भी, सिंहल रत्नों के लिए प्रसिद्ध था। लहसुनिया, पारदर्शी शीशा, मानिक और नीलम वहाँ से बाहर जाते थे। यहाँ इलायची, मूलान की छाल तथा सुगन्धित द्रव्य भी होते थे जिन्हें व्यापारी चन्दन, लवंग, कपूर, सोना-चाँदी, चीनी बरतन, घोड़े और रेशमी कपड़ों से बदलते थे।^२

मालाबार के समुद्र-तट से भी बड़ा व्यापार चलता था। यहाँ मोती, तरह-तरह के विदेशी रंगीन सूती कपड़े तथा सादे कपड़े मिलते थे। यहाँ से माल पेरारक के समुद्रतट पर क्वालातेरोंग और पालमबेंग जाता था और वहाँ हो-ची के रेशमी कपड़े, चीनी बरतन, कपूर, रुबार्ब, लवंग, भीमसेनी कपूर, चन्दन, इलायची और अगर से बदला जाता था।^३

गुजरात से नील, लाल किनो, हड़ और छींट अरब के देशों में भेजी जाती थी। गुजरात में मालवा से दो हजार बैलों पर लादकर बाहर भेजने के लिए सूती कपड़े आते थे।^४

चोलमण्डल से मोती, हाथीदाँत, मुँगा, पारदर्शी शीशा, इलायची, अर्ध पारदर्शी शीशा, रंगीन रेशमी कोर के सूती कपड़े तथा सादे सूती कपड़े बाहर भेजे जाते थे।

आठवीं सदी से बारहवीं सदी तक के^५ साहित्य में भी बहुधा भारतीयों के समुद्री व्यापार का उल्लेख आता है, विशेष कर द्वीपान्तर के साथ। अरबों की तरह भारतीय नाविकों की भौगोलिक वृत्ति जागरित न होने से, हमें भारतीय साहित्य में बन्दरगाहों और उनसे चलनेवाले व्यापार का पता नहीं चलता; पर इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि इस युग में भी भारतीय व्यापारी जल और धूल की यात्रा से जरा भी नहीं घबराते थे। जेमेन्द्र अपनी अवदानकल्पलता^६ में वदर द्वीप-अवदान में कहते हैं—

“हर्म्यारोहणहेलया यदचलाः स्वभ्रैः सदाभ्रंजिहा

यद्वा गोष्पदलीजया जलभरचोभोद्धताः सिन्धवः।

जंघ्यन्ते भवनस्थलीकजनया ये चाटवीनां तटाः

तद्वीर्यस्य महात्मनां विजसतः सत्त्वोर्जितं स्फूजितम्॥”

इस श्लोक से पता चलता है कि कैसे अद्रम्य उत्साहवाले, खेल-ही-खेल में ऊँचे पहाड़ पार कर जाते थे, छोट्टे तालाब की तरह सागर को पार कर जाते थे और किस तरह वे जंगलों को उपवन की तरह पार कर जाते थे।

१ चाओलुकुआ, पृ० ७८

२ वही पृ० ७३

३ वही पृ० ८८-८९

४ वही पृ० १२-१३

५ वही पृ० १६

६ जेमेन्द्र, अवदानकल्पलता, ४१२, कलकत्ता, १८८८

द्वीपान्तर का उल्लेख कथा-सरित्सागर में शक्तिदेव की कहानी में भी आता है और, जैसा हम देव आये हैं, ईशानगुरुदेवपद्धति से^१ हमें पता चलता है कि दोणमुख अर्थात् नदी के मुहानेवाले बन्दरों से द्वीपान्तर को जहाज चलते थे। भविष्यत्कथा^२ में भारत से द्वीपान्तर जाने का सुन्दर वर्णन है। कवि कहता है—

“वहयाइँ वहन्ति जलहर रौदि दुत्तरि अस्थाहि मासमुहि ।

लघन्तइँ दीवन्तर थलाइँ पेक्खन्ति विविह कोऊलाइँ ॥”

अर्थात्—वे अथाह, दुस्तर समुद्र में अपने जहाज चलाकर द्वीपान्तर के स्थलों को पार करके नाना प्रकार के कौतूहल देखते थे ।

अब प्रश्न उठता है कि जिन जहाजों पर भारतीय नाविक इस युग में यात्रा करते थे वे कैसे होते थे ? इस प्रश्न का उत्तर भोज अपने युक्तिकल्पतरु में दे देते हैं । मध्यकाल के और दूसरे शास्त्रों की तरह, भोज ने भी नौकाओं और जहाजों के वर्णन में शास्त्रीयता का पक्ष लिया है, फिर भी उनके वर्णन में बहुत-सी ऐसी बातें हैं जिनसे भारतीय जहाजों का नक्शा हमारे सामने आ जाता है । सबसे विचित्र, पर ठीक बात, जो भोज भारतीय जहाजों की बनावट के सम्बन्ध में बताते हैं वह यह है कि जहाज में लोहे की कीलें लगाना मना था । जहाज के तख्ते रस्सी से सी दिये जाते थे^३ । इसका कारण भोज यह बताते हैं कि जलस्थ चुम्बकीय शिलाओं से खिंचकर लोहे की कीलोंवाले जहाज उन शिलाओं से टकराकर टूट जाते थे । पर इस बात में कोई तथ्य नहीं है । ठीक बात तो यह है कि अरबों की तरह भारतीय भी अपने जहाज के तख्तों को नारियल की जटा की रस्सियों से सीकर बनाते थे । उन्होंने अपने जहाजों में कील लगाना क्यों नहीं सीखा, इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिलता ।

भोज के अनुसार, नावें दो प्रकार की होती थीं—सामान्य, जो नदी पर चलती थीं और विशेष अर्थात् वे जहाज जो समुद्र में चलते थे । नदी पर चलनेवाली सामान्य नावों के नाम भोज ने जुदा, मध्यमा, पटला, भया, दीर्घा, पत्रपुटा, गर्भका और मन्थरा दिये हैं । उपयुक्त तालिका में जुदा पनसुइया के लिए, मध्यमा मम्मोली नाव के लिए, भीमा बड़ी नाव के लिए, चपला तेज नाव के लिए और मन्थरा धीमी नाव के लिए है । पटला शायद पटैले के लिए है जिसका व्यवहार गंगा ऐसी नदियों में माल ढोने के लिए अब भी होता है (देखिए, हॉबसन-जॉबसन पढ़ें) । गर्भका अरब गोराब का रूपान्तर माजूम पड़ता है । यह नाव गेली की तरह होती थी और समुद्री अथवा नदी की लड़ाइयों में काम में आती थी (देखिए, हॉबसन-जॉबसन प्राव) । इन नावों में भीमा, भया और गर्भका सन्तुलित नहीं मानी जाती थीं^४ ।

१ ईशानगुरुदेवपद्धति, त्रिवेन्द्रम-संस्कृत-सारीज (६७), पृ० २३७

२ भविष्यत्कथा, २१।३-४. हरमन याकोबी द्वारा सम्पादित, ग्युनिश, १९१८

३ नसिन्धुगाढाहन्ति लौहबन्धं सल्लौहकान्तैर्हियते हि जौहम् ।

विपद्यते तेन जलेषु नौका गुणैव बन्धं निजगाद भोजः ॥

राधाकुमुद गुर्जर्री, ए डिस्ट्री ऑफ इण्डियन शिपिंग, पृ० २१, फु० नो० २, लंडन, १९१२

४ वही, पृ० २२-२३

समुद्र में चलनेवाली नावें दो किस्म की होती थीं, यथा दीर्घा और उन्नता। दीर्घा नावें छः तरह की होती थीं। उनके नाम और नाप निम्नलिखित हैं—दीर्घिका (३२ × ४ × ३½ हाथ), तरणी (४ × ६ × ४½ हाथ), लोला (६४ × ८ × ५½ हाथ), गत्वरा (८० × १० × ६½ हाथ), गामिनी (६६ × १२ × ८½ हाथ), तरी (११२ × १४ × ११½ हाथ), जंघाला (१२ × १६ × १२½ हाथ), झाविनी (१४४ × १८ × १४½ हाथ), धारिणी (१६० × २० × १६ हाथ), और वेगिनी (१७६ × २२ × १७½ हाथ)। इनमें लोला, गामिनी और झाविनी अशुभ मानी जाती थीं।

उपर्युक्त तालिका में कुछ नाम, यथा लोला, दीर्घिका, गामिनी, वेगिनी, धारिणी और झाविनी गुणवाचक हैं। तरी और तरणी समुद्र के किनारे चलनेवाले जहाज मातृम पड़ते हैं। पर इस तालिका में दो नाम ऐसे हैं जिनपर विचार करना आवश्यक है। गत्वरा, मेरी समझ में, मालावार के समुद्रतट पर चलनेवाले कतुर नाम के जहाज का संस्कृत रूप है। कतुर के दोनों सिरे नोकदार होते थे और सत्रहवीं सदी में यह गैली से भी तेज चल सकता था (हॉबसन-जॉबसन, देखो कतुर)। इसमें भी शक नहीं कि जंघाला जंक का रूप है जिसका प्रयोग चीनी जहाजों के लिए १३०० ई० से बराबर चला आता है। जंक की व्युत्पत्ति चीनी च्वेन से की गई है। प्राचीन अरबों ने जंक शब्द मलाया के नाविकों से सुना होगा; क्योंकि जंक शब्द जावानी और मलय 'जोंग' और 'अजोंग' (बड़े जहाज) का रूपान्तर है (हॉबसन-जॉबसन, देखो जंक)। अब प्रश्न यह उठता है कि जंघाला संस्कृत में किस भाषा से लिया गया—चीनी से अथवा मलय से? संस्कृत का शब्द तो यह मातृम नहीं होता। सम्भव है कि संस्कृत में यह शब्द हिन्द-एशिया से आया हो। इस सम्बन्ध में मैं एक दूसरे शब्द जंगर पर ध्यान दिलाना चाहता हूँ जिससे मद्रास के समुद्रतट पर चलनेवाली एक नाव का बोध होता है। यह नाव दो नावों को जोड़कर और उनपर तख्तों का चौतरा और बॉस का बाड़ लगा कर बनती थी। इस शब्द की उत्पत्ति तमिल-मलयाली संगडम-चन्नाटम् से मानी गई है जिसकी व्युत्पत्ति के लिए हमें संस्कृत संघाट की शरण जाना पड़ता है। इस शब्द के बारे में एक उल्लेखनीय बात यह भी है कि ईसा की पहली सदी में परिश्रव में इसका व्यवहार हुआ है। अब प्रश्न यह उठता है कि जंक, जंगर और जंघाला में क्या सम्बन्ध है और ये शब्द किस भाषा के शब्द के रूपान्तर हैं? बहुत सम्भव है कि संस्कृत संघाट से ही यह शब्द बना है। चोलमण्डल और कलिंग से यह शब्द हिन्द-एशिया पहुँचा होगा और वहाँ उसका रूप जोंग हो गया होगा। बाद में, इसी शब्द को चीनी जंक कहने लगे।

'उन्नता' किस्म की नावों के बारे में और कुछ न कहकर केवल यही बतला दिया गया है कि वे ऊँची होती थीं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शायद इस जहाज का पेंडा माल लादने के लिए काफी गहरा बनता था। उन्नता के निम्नलिखित भेद थे; यथा ऊर्ध्वा (४ × २४ × २४ हाथ), अनुर्ध्वा (४ × २४ × २४ हाथ), स्वर्णमुखी (६४ × ३२ × ३२ हाथ), गभिणी (८० × ४० × ४० हाथ) और मन्धरा (६६ × ४८ × ४८ हाथ)। इसमें ऊर्ध्वा, गभिणी और मन्धरा अशुभ मानी जाती थीं। स्वर्णमुखी नाम के जहाज तो अठारहवीं सदी में भी बंगाल के समुद्रतट और गंगा में चलते थे।

१. राधाकुमुद मुकर्जी, ए हिस्ट्री अफ इण्डियन शिपिंग, पृ० २३-२४

२. वही, पृ० २४

‘युक्तिकल्पतरु’ का कहना है कि उस समय जहाज सोने-चाँदी और ताँवे के अलंकारों से सजये जाते थे। चार मस्तूलवाले जहाज सफेद रंग से, तीन मस्तूलवाले लाल रंग से दो मस्तूलवाले पीले रंग से और एक मस्तूलवाले नीले रंग से रंगे जाते थे। इन जहाजों के मुख सिंह, महिष, नाग, हाथी, बाघ, पत्नी (वत्सल और मोर) मेंढक और मनुष्य के आकार के होते थे^१।

कमरों की दृष्टि से जहाजों को युक्ति कल्पतरु तीन भागों में बाँटता है; यथा, (१) सर्वमन्दिरा, जिसमें जहाज के चारों ओर रहने के कमरे बने होते थे। इन जहाजों पर घोड़े, सरकारी खजाना और औरतें चलती थीं। (२) मध्यमन्दिरा, इस जहाज पर कमरे डेक के बीच में बने होते थे। ये जहाज लम्बे समुद्री सफरों और लड़ाई के काम में आते थे^२।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, इस काल में भी बंगाल की खाड़ी और हिन्दमहासागर में जलदस्तुओं का भय रहता था। जेमेन्द्र ने अपने बोधिसत्त्वावदानकल्पलता में कहा है कि किञ्च तरह कुछ व्यापारी अशोक के पास नावों द्वारा समुद्र में डাকা डालने की शिकायत लेकर पहुँचे। उन्होंने यह भी कहा कि अगर डाके रोकें न गये तो वे अपना व्यापार छोड़कर कोई दूसरी वृत्ति ग्रहण कर लेंगे^३। यहाँ नावों से तात्पर्य अण्डमान और नीकोबार के रहनेवालों से है। इनकी लूट-खसोट की आदतों का वर्णन मणिमेखलै और नवीं सदी के अरब यात्रियों ने किया है।

इस युग के भारतीय साहित्य में देश के आयात-निर्यात-सम्बन्धी बहुत कम वर्णन हैं, फिर भी, कपड़ों और रत्नों के व्यापार के कुछ उल्लेख हमें मिल जाते हैं। मानसोल्लास से हमें पता चलता है कि पोद्दालपुर (पैठन), चीरपल्लवी, नागपत्तन (नागपटनम्), चोलमण्डल, अल्लिकाकुल (चिकाकोल), सिंहल, अनहिलवाड (अणहिलपट्टन), मूलस्थान (मुलतान), तोण्डीदेश (तोंडीमण्डल), पंचपट्टन, महाचीन (चीन), कलिंगदेश और वंग देश के कपड़ों का काफी व्यापार चलता रहता था।^४

इस युग में रत्न-शास्त्र के बहुत-से ग्रन्थ लिखे गये जिनसे हमें भारत के रत्न-व्यवसाय के बारे में पता लगता है। निम्नलिखित महारत्न गिनाये गये हैं—वज्र (हीरा), मुक्ता, माणिक्य, नील (नीलम) तथा मरकत (पन्ना)। उपरत्नों में जमुनिया, पुखराज, लहसुनिया और प्रवाल गिनाये गये हैं। बुद्धभट्ट ने इनमें शेष (ऑनिकस), करकेतन (काइसोवेरिल), भीष्म (?), पुलक (गर्नेट), रुधिराक्ष (कारनेलियन) भी गिनाये हैं। छः और उपरत्नों के यथा—विमलक, राजमणि, शंख, ब्रह्ममणि, ज्योतिरस (जैस्पर) और सस्यक नाम आते हैं।^५ फिरोजा और लाजवर्द भी उपरत्न माने गये हैं।

रत्नों के व्यापारी रत्नों की परीक्षा उत्पत्ति, आकार, रंग, जाति तथा दोष-गुण देखकर निर्धारित करते थे।^६

१. राधाकुमुद मुकुर्जी, ए हिस्ट्री अफ इण्डियन शिपिंग, पृ० २२

२. वही, पृ० २१

३. बोधिसत्त्वावदानकल्पलता, पृ० ११३-११४

४. मानसोल्लास, १, १, १७-२०

५. लुई फिनो, ले जेपियेर, आँदियाँ, पृ०, १७, पेरिस, १८१६

६. वही, २१-२४

शास्त्रों में हीरे का उत्पत्तिस्थान सुराष्ट्र, हिमालय, मार्तग (गोलकुण्डा की खान), पौरुष, कोसल, वैश्यातट तथा सुपार माना गया है। पर इनमें से अधिक जगहों में हीरा नहीं मिलता। शायद इनके नाम सूची में इसलिए आ गये हैं कि शायद वहाँ हीरे का व्यवहार होता था अथवा उन जगहों से हीरा बाहर भेजा जाता था। कलिंग यानी उड़ीसा के कुछ जिलों में अब भी हीरे मिलते हैं। कोसल से वहाँ दक्षिणकोसल की पन्ना की खदान से मतलब है। वैश्यातट से यहाँ चाँदा जिले की वेनगंगा और बैरागड़ की खदान से मतलब है।^१

वराहमिहिर के अनुसार मोती, सिंहुल, परलोक, सुराष्ट्र (खम्भात की खाड़ी), ताम्र-पर्णी (मनार की खाड़ी), पारशवास (फारस की खाड़ी), कौवेरवाट (कोवेरीपट्टन) और पाण्ड्यवाट (मदुरा) में मिलते थे। अगस्तिसमत् ने इसमें थारवटी, जिसका पता नहीं चलता, और बर्बर यानी लालसागर से मिलनेवाले मोतियों का नाम जोड़ दिया है। लगता है, सिंहुल में उस समय नकली मोती भी बनते थे।^२

सबसे अच्छे माणिक लंका में रावणगंगा नदी के पास मिलते थे। कुछ निम्नकोटि के माणिक कालपुर (बर्मा), अन्न और तुम्बर में मिलते थे। लंका में नकली माणिक भी बनते थे और अक्सर ठग व्यापारी उन्हें असली कहकर बेच देते थे।^३

लंका में, रावण गंगा के पास नीलम मिलता था। कालपुर (बर्मा) और कलिंग में भी नीलम की कुछ साधारण खानों का उल्लेख है।^४

रत्नशास्त्रों के अनुसार, मरकत बर्बरदेश में समुद्र-किनारे के एक रेगिस्तान से तथा भगध से आता था। पहली खान, निश्चय ही, गेबेलजबारह सुवियन रेगिस्तान के किनारे लालसागर के पास है। भगध की खान से, शायद, हजारीबाग के पास, किसी पन्ने की खान से मतलब है।^५

उपरत्न कहाँ से आते थे इसका तो कम उल्लेख है, पर फिरोजा फिलस्तीन और फारस से, लाजवर्द फारस से, मूँगा शायद सिकन्दरिया से और रुधिराच खम्भात के रतनपुर की खान से आते थे।^६

कृमिराग, जिसे बाद में किरमदाना कहते थे, कपड़े रँगने के लिए फारस से आता था; पर, लगता है कि फारस के व्यापारी किरमदाना के सम्बन्ध में भारतीयों को गप्पें सुनाते थे। ऐसी ही एक गप्प का उल्लेख हरिवंश के बृहत्कथाकोष की एक कहानी में है जिसमें कहा गया है कि एक पारसी ने एक लड़की खरीदी। उसे उसने छः महीने तक खिलाया-पिलाया। बाद में जोक द्वारा उसका खून निकाला। उसमें पड़े कीड़ों से किरमदाना बनाया जाता था जिसका व्यवहार ऊनी कपड़ों के रँगने के लिए होता था। भगवती आराधना की ५६७ वीं गाथा पर टीका करते हुए आशाधर ने भी यही कहा है कि चर्मरंग-विषय (समरकन्द) के म्लेच्छ, आदमी का खून

१. सुभाषितरत्नभाण्डागार २४—२६

२. वही, पृ० ३२-३३

३. वही, पृ० ३८—४१

४. वही, पृ० ४२—४३

५. वही, पृ० ५३—५४

६. बृहत्कथाकोष, १०२ (१), ८०—८१, स्त्री पृ० एन० अपाण्यम द्वारा सम्पादित, बंबई, १९३३

जौंक से निकलवाकर एक घड़े में रखते थे और उसमें पड़े कीड़ों के रंग से कम्बल रंगे जाते थे ।^१ अन्वासी-युग के एक लेखक जाहजि के अनुसार, किरमदाना स्पेन, तारीम और फारस से आता था । तारीम शीराज के पूर्व में एक छोटा-सा नगर था जो किरमदाना के घर, आर्मेनिया से कुछ दूर पड़ता था ।^२

६

अबतक तो हम भारतीयों और अरबों की समुद्रयात्रा के बारे में कह आये हैं । यहाँ हम यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि भारतीयों का, स्थल-मार्ग की यात्रा के प्रति, इस युग में क्या रुच था । तत्कालीन संस्कृत-साहित्य से पता चलता है कि स्थल-मार्ग पर उसी तरह यात्रा होती थी, जिसतरह दूसरे युगों में । रास्ते में चोर-डाकुओं का भी उसी तरह भय रहता था, जैसे पहले के युगों में । कष्ट भी कम नहीं थे । पर, इतना सब होते हुए भी, व्यापारी बराबर यात्रा करते रहते थे । केवल यही नहीं, वह तीर्थयात्रा का युग था और हजारों हिन्दू सब कष्ट उठाते हुए भी तीर्थयात्रा करते रहते थे । बहुत-से ब्राह्मण-परिणत भी अपनी जीविका के लिए देश भर में घूमा करते थे । दामोदर गुप्त ने कुट्टनीमतम् में कहा है कि जो लोग घूम-फिरकर लोगों के वेश, स्वभाव और बातचीत का अध्ययन नहीं करते, वे बिना साँग के बैल के समान हैं ।^३ सुभाषितरत्नभाण्डागार^४ में भी कहा गया है कि जो देशों की यात्रा नहीं करता और परिणतों की सेवा नहीं करता उसकी संकुचित बुद्धि पानी में पड़े घी की बूँद की तरह स्थिर रहती है, इसके विपरीत जो यात्रा करता है और परिणतों की सेवा करता है, उसकी विस्तारित बुद्धि पानी में तेल की बूँद की तरह फैल जाती है ।

यात्रा की प्रशंसा करते हुए सुभाषितरत्नभाण्डागार में कहा गया है कि यात्रा से तीर्थों का दर्शन, लोगों से भेंट-मुलाकात, पैसे का लाभ, आश्चर्यजनक वस्तुओं से परिचय, बुद्धि की चतुरता, बोलचाल में धड़का खुलना, ये सब बातें होती हैं । इसके विपरीत, घर में पड़े रहने-वाले गरीब का अतिपरिचय से, उसकी स्त्री भी अनादर करती है, राजा उसकी परवाह नहीं करते । पता नहीं, घर में रहनेवाला कुँए में पड़े कछुए की तरह संसार की बातें कैसे जान सकता है ।

जैसा ऊपर कहा गया है कि पति के यात्रा न करने पर तो उसकी स्त्री भी उसकी उपेक्षा अवश्य करती थी, पर जब वह जाने को तैयार होता था तो वही यात्रा की कठिनाइयों का स्मरण करके काँप उठती थी और तब वह यात्रा से अपने पति को विरत करना चाहती थी । सुभाषितरत्नभाण्डागार में एक जगह कहा गया है—“लज्जा छोड़कर वह रोती है, उसके वस्त्र का छोर पकड़ती है और ‘मत जाओ’ कहने के लिए अपनी अँगुलियाँ मुख पर रखती है, आगे गिरती है, अपने प्राणप्यारे को लौटाने के लिए वह क्या-क्या नहीं करती !”

१. वही, प्रस्तावना पृ० ८८

२. फिस्तर, वही पृ० २६-२७

३. दामोदर गुप्त, कुट्टनीमतम्, श्लोक २११, श्रीतनसुखराम द्वारा सम्पादित, बम्बई, संवत् १९८०

४. सुभाषितरत्नभाण्डागार, पृ० ८८

५. वही, पृ० ३२३

रास्ते में यात्री की क्या-क्या दुर्गति होती थी, इसका उल्लेख दामोदर गुप्त ने किया है १—‘चलने के परिश्रम से थका, कपड़े से अपना बदन ढाँके, धूल से सना पथिक सूरज डूबने पर ठहरने की जगह चाहता था। वह गिड़गिड़ाकर कहता था—माँ, बहिन, मुझपर दया करो, ऐसी निष्ठुर न बने; काम से तुम्हारे लड़के और भाई भी बाहर जाते हैं। सवेरे चल देने-वाले हम जल्दी क्यों घर से निकले ? जहाँ पथिक रहते हैं, वहीं उनका घर बन जाता है। हे माता, हम जैसे-तैसे तुम्हारे घर रात बिता लेंगे। सूरज डूबने पर, बताओ, हम कहाँ जायें ?’ घर के भीतरी दरवाजे पर खड़ी गृहिणियाँ इस तरह गिड़गिड़ानेवाले की भर्त्सना करती थीं—‘घर का मालिक नहीं है; क्यों रट लगाये हैं ? मंदिर में जा। देखो इस आदमी की ढिठाई, कड़ने से भी नहीं जाता।’ बहुत गिड़गिड़ाने पर कोई घर का मालिक, तिरस्कार से, दूटे घर का कोना दिखलाकर कहता था—‘यहीं पड़ रह।’ इसपर भी गृहिणी सारी रात कलह करती रहती थी—‘हे पति, तूने अनजाने को क्यों टिकाया ? घर में सावधान होकर रहना।’ निश्चय ही ठग चक्कर लगा रहे हैं। अरी बहन, तेरा भोला-भाला पति क्या करता है, ठग चक्कर लगा रहे हैं।’—बरतन इत्यादि मोंगने के लिए पड़ोस की ब्रियाँ इकट्ठी होकर डर से उससे ऐसा कहती थीं। सैकड़ों घर घूमकर भोज में मिले चावल, कुलथी, चोना, चना, और मसूर खाकर पथिक भूख मिटाता है। दूसरे के सिर खाना, जमीन पर सोना, मंदिर में घर बनाना तथा ईंट को तकिया बनाना यही पथिक का काम है।

✓ मध्य-युग के यात्रियों के लिए आज की-सी साफ-सुथरी सड़कें नहीं थीं। बरसात में तो कीचड़ से भरी सड़कों पर चलने में उनकी दुर्गति हो जाती थी। इस दुर्गति का भी सुभाषित-रत्नभाण्डागार २ में अच्छा वर्णन है जिससे पता चलता है कि कीचड़ में फँसकर यात्री रास्ता भूल जाते थे और अँधेरी रात में कदम-कदम पर फिसलकर गिरते थे। बरसात में ही नहीं, जाड़े में भी उनकी काफी फजीहत होती थी। ग्रामदेव की फूस की कुटिया में, दीवाल के एक कोने में पड़े हुए, ठण्डी हवा से उनके दाँत कटकटाते थे। बेचारे रात में सिकुड़ते हुए अपनी कयरी ओड़ते थे। ३

पर इस तरह की तकलीफों के लोग अभ्यस्त थे। उनकी यात्रा का उद्देश्य साधुचरित, जमसाधारण की उत्कृष्टताएँ, हँसी-मजाक, कुलटाओं की टेढ़ी बोली, गूढ़ शास्त्रों के तत्त्व, कियों की वृत्ति, धूर्तों के ठगने के उपायों का ज्ञान होता था। ४ घूमने में गोष्ठी का ज्ञान, तरह-तरह के हथियारों के चलाने की कला की जानकारी, शास्त्रों का अभ्यास, अनेक तरह के कौतुकों के दर्शन, पत्रच्छेद, चित्रकर्म, मोम की पुतलियाँ बनाने तथा पुतार्हे के काम का ज्ञान तथा गाने-बजाने और हँसी-मजाक का मजा मिलता था। ५

✓ ऊपर कहा जा चुका है कि इस युग में शास्त्रार्थ, ज्ञानार्जन अथवा जीविकोपार्जन के लिए लोग यात्रा करते थे। ऐसे ही यात्रियों में कर्मवीर कवि विलहण भी थे। इन्होंने विक्रमांक-

१. कुटनीमतम्, २१८-२३०

२. सुभाषित, पृ० ३४४

३. वही, पृ० २४८

४. कुटनीमतम्, पृ० २१४-२१५

५. वही, २३४-२३७

दैवचरित (१०८०-१०८८ के बीच) में अपने देश-पर्यटन का वर्णन किया है । अपनी शिन्हा समाप्त करके वे कश्मीर से यात्रा को निकले । घूमते-फिरते महापथ से वे मथुरा पहुँचे और वहाँ से कन्नौज, प्रयाग होते हुए बनारस । शायद बनारस में, उनकी कलचूरी राजा कर्ण से भेंट हुई और वे कर्ण के दरबार में कई साल रहे । उसका दरबार छोड़ने के बाद, धारा, अनहिलवाड और सोमनाथ की तारीफ सुनकर उन्होंने पश्चिम-भारत की यात्रा की । गुजरात में कुछ मिला नहीं, इसलिए क्रुद्ध होकर उन्होंने गुजरातियों की असभ्यता पर फवतियाँ कसीं । सोमनाथ देखने के बाद, बेरावल से वे जहाज पर चढ़े और गोकर्ण के पास होणावर में उतर गये । यहाँ से उन्होंने दक्षिण-भारत की यात्रा की और रामेश्वर का दर्शन किया । इसके बाद वे उत्तर की ओर फिरे और चालुक्यराज विक्रम ने उन्हें विद्यापति के आसन पर नियुक्त करके उनका आदर किया ।^१

बारहवाँ अध्याय

समुद्रों में भारतीय बेड़े

१

हम पहले के अध्यायों में कह आये हैं कि भारत का हिन्द-एशिया से सम्बन्ध प्रायः सांस्कृतिक और व्यापारिक था, पर इसके यह मानी नहीं होते कि भारतीयों को हिन्द-एशिया में अपने उपनिवेशों की स्थापना करने में वहाँ के निवासियों से किसी तरह की लड़ाई करनी ही नहीं पड़ी। कौशिल्य को, जिन्होंने पहले-पहल कूटनीति में भारतीय सभ्यता की नींव रखी, वहाँ की रानी से नौका-युद्ध करना पड़ा। इस भूस्थापना में और भी कितने भारतीय बेड़ों ने सहायता दी होगी—इसका पता हमें इतिहास से नहीं लगता, पर ऐसा मालूम पड़ता है कि शैलेन्द्र-वंश-द्वारा श्रीविजय की स्थापना में भी शायद भारतीय बेड़ों का हाथ रहा होगा। भारत के पश्चिमी समुद्रतट के बेड़ों का भी अरब कभी-कभी उल्लेख करते हैं, पर अरबों का बेड़ा भारतीयों के बेड़े से अधिक मजबूत होता था और इसीलिए भारतीयों को जलयुद्ध में उनसे सदा नीचा देखना पड़ता था।

अब हम पाठकों का ध्यान बारहवीं सदी की एक घटना की ओर ले जाना चाहते हैं जिससे पता चल जाता है कि उस युग में भी भारतीय बेड़े कितने मजबूत होते थे। ९वीं सदी के मध्य तक शैलेन्द्रों के साम्राज्य से जावा अलग हो गया। फिर भी, शैलेन्द्र कुछ कमजोर नहीं थे। १००६ में तो उन्होंने चढ़ाई करके जावा को ध्वस्त कर दिया। लेकिन उनपर विपत्ति के बादल दूसरी ओर से उमड़ रहे थे। दक्षिण के चोल-साम्राज्य ने अपने लिए एक बृहद् औपनिवेशिक साम्राज्य की कल्पना की और इस कल्पना को सफल बनाने के लिए उन्होंने भारत के पूर्वी समुद्रतट को जीतकर पहला कदम उठाया। शैलेन्द्रों का चोलों से पहले तो नाता ठीक था; लेकिन चोलों के साम्राज्यवाद ने आपस की सद्भावना बहुत दिनों तक नहीं चलने दी। कुछ दिनों की समुद्री लड़ाई के बाद राजेन्द्रचोल ने जावा के राजा को हराकर सुमात्रा और मलय-प्रायद्वीप में उसके राज्य पर अधिकार कर लिया। पर राजेन्द्रचोल के वंशधर इस विजय का लाभ उठाकर द्वीपान्तर में अपनी शक्ति को अधिक मजबूत न बना सके। १०५० तक समुद्री लड़ाई यदा-कदा चलती रही और अन्त में चोलों को इससे हाथ खींच लेना पड़ा।

चोलों के विजय-पराक्रम का श्रीगणेश परान्तक प्रथम के ६०७ में राज्यारोहण से हुआ। राजराज महान् ने (६८५-१०१२) अनेक युद्धों में विजय पाकर अपने को दक्षिण-भारत का अधिपति बना लिया। इनके पुत्र महान् पराक्रमी राजेन्द्र चोल (१०१२-१०३५) ने तो बंगाल तक अपने विजय-पराक्रम को बढ़ाकर चोलों की शक्ति को चरम सीमा तक पहुँचा दिया।

चोल एक बड़ी सामुद्रिक शक्ति के रूप में वर्तमान थे। इसलिए, शैलेन्द्रों के साथ उनका संयोग होना आवश्यक था। हमें चोलों और शैलेन्द्रों की लड़ाई का कारण तो पता नहीं। भाग्यवश, राजेन्द्रचोल के शिला-लेखों से हमें उसकी विजय के बारे में अवश्य कुछ पता चल जाता है। एक

लेख से पता चलता है कि उस सामुद्रिक विजय का आरम्भ ग्यारहवीं सदी में हुआ। राजराजेन्द्र के तंजोरवाले लेख और दूसरे लेखों से भी पता चलता है कि उसने हिन्द-एशिया में निम्नलिखित स्थानों पर विजय पाई। पण्डि की पहचान सुमात्रा के पूर्वी भाग में स्थित पनेई से की जाती है तथा मलैयूर की पहचान जंबी से। मयिरुडिपम् मलाया-प्रायद्वीप के मध्य में था और लंगशोकम् जोहोर के इस्थमस अथवा जोहोर में। मा-पप्पालम् शायद काके इस्थमस के पश्चिमी भाग में अथवा बृहत्पाहंग में था। मेविलिम्बंगम् की पहचान कर्मरंग से की जाती है और इसकी स्थिति लिगोर के इस्थमस में मानी जाती है। विलैपन्दु की पहचान पाण्डुरंग अथवा फनरंग से की जाती है और तलैतकोलम् की पहचान तकोपा से। माताप्रलिंगम् मलय-प्रायद्वीप के पूर्वी तरफ बंडोन की खाड़ी और नगोरथी धर्मराज के बीच में था। इलामुरिदेशम् उत्तरी सुमात्रा में था। मानक्वरम् की पहचान नीकोवार टापुओं से की जाती है और कडाह, कडारम् और किडारम की आधुनिक केदा से।^१

राजेन्द्र चोल की विजय के अन्तर्गत प्रायः सुमात्रा का पूर्वी भाग, मलय-प्रायद्वीप का मध्य और दक्षिणी भाग आ जाते थे। उसने दो राजधानियाँ—श्रीविजय और कडाह पर भी विजय पाई। शायद कलिंग से यह विजययात्रा १०२५ ई० में आरम्भ हुई।

भारतीय साहित्य में सामुद्रिक युद्धों के बहुत ही कम वर्णन हैं; इसलिए हमें धनपाल की तिलकमंजरी में भारतीय बेड़े का वर्णन पढ़कर आश्चर्य होता है। कहानी में कहा गया है कि इस भारतीय बेड़े को रंगशाला नगरी के राजपुत्र समरकेतु द्वीपान्तर अर्थात् हिन्द-एशिया में इसलिए ले गये कि वहाँ के सामन्त समय पर कर नहीं देते थे। द्वीपान्तर की तरफ समरकेतु की विजययात्रा का तिलकमंजरी में इतना सटीक वर्णन है कि यह मानने में हमें कोई दुविधा नहीं होनी चाहिए कि इसके लेखक धनपाल ने स्वयं यह चढ़ाई या तो अपनी आँखों से देखी थी अथवा इसमें किसी भाग लेनेवाले से इसका वर्णन सुना था। धनपाल धारा के सीयक और वाक्पतिराज (७७४-८६५) के समय हुए थे। मेरुतुंग इन्हें भोज का (१०१०-१०२५) समकालीन मानते हैं। तिलकमंजरी में वर्णित विजययात्रा में हम राजेन्द्र चोल की द्वीपान्तर की विजययात्राओं की मलक पाते हैं अथवा किसी दूसरे भारतीय राजा की, इसका तो निर्णय धनपाल के ठीक-ठीक समय निश्चित हो जाने पर ही हो सकता है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि धनपाल को द्वीपान्तर-यात्रा का पूरा अनुभव था।

तिलकमंजरी में यह द्वीपान्तर-यात्रा-प्रकरण बहुत लम्बा है और, पाठ-भ्रष्टता से, अनेक स्थानों पर ठीक-ठीक अर्थ नहीं लगते; फिर भी, विषय की उपयोगिता देखते हुए मैं नीचे इस अंश का स्वतन्त्र अनुवाद देता हूँ। इस अनुवाद में डा० श्रीवासुदेवशरण ने मेरी बड़ी सहायता की है जिसके लिए मैं उनका अभारी हूँ। कथा इस प्रकार आरम्भ होती है^२—

समरकेतु की विजययात्रा :

“सिंहल में हजारों विमानाकार महलों से भरा, सारे संसार के गहने की तरह तथा

१. डा० आर० सी० मजूमदार, दि स्ट्रगल बिटवीन दी शैकेन्द्रज पेण्ड दि चोलज, दी जर्नल ऑफ दी ग्रेटर इण्डिया सोसाइटी, भा १ (१९३४), पृ० ७१ से नीलकण्ठ शास्त्री, वही, पृ० ७२ से

२. तिलकमंजरी, द्वितीय संस्करण, पृ० ११३ से १४१, बम्बई, १९३८

आकाश चूपनेवाली शहरपनाह से धिरी रंगशाला नाम की नगरी थी। यहाँ मेरे पिता चन्द्रकेतु ने, देशकाल देवकर घमण्ड से भरे, समय पर बाकी कर न देनेवाले, आतुर्य और आराम से समय बितानेवाले, बुलाने पर न जाने का भूठा कारण बतलानेवाले, राजोत्सवों में न दिखलाई देनेवाले और घात से दुश्मनी दिखलानेवाले, सुवेल पर्वत के उपकण्ठ पर बसनेवाले सामन्तों को दबाने के लिए सिना को दक्षिणपथ जाने की आज्ञा दी। शत्रु के नाश करने के लिए सेना के चलने पर यथाशक्ति शास्त्रों से परिचित, नीतिविद्या में निपुण, धनुर्वेद, तलवार गदा, चक्र, भाला, बरछा इत्यादि हथियारों के चलाने में निहन्त से कुशलता-पात, नवयौवन में युवराज-पद पर आधीन मुझे सेना का नायक बनाया।” पृ० ११३

“मैंने सबेरे ही स्नान तथा अपने इष्ट देवताओं की पूजा करने के बाद वस्त्र आदि से ब्राह्मणों की पूजा करके, गणित-ज्योतिष के विद्वानों द्वारा धूपघड़ी से लग्न साध कर, सफेद दुकूल के कपड़े तथा सफेद फूलों की माला का शेरकर पहनकर, अंगराग से अपने शरीर को सजाकर, और बड़े और साफ मोतियों की नाभि तक पहुँचती हुई इकलव्री पहनकर, चन्दन और प्रवाल की मालाओं से लहराते तोरणवाले तथा सुगन्धित जल से छिड़काव किये गये आंगनवाले, सफेद कपड़े पहने वार-वनिताओं से आसेवित, और ‘हटो, बचो’ करते हुए प्रतीहारियों से युक्त सभामण्डप में प्रवेश किया।” पृ० ११४—११५

“वहाँ पवित्र मणिर्वंदिका के ऊपर रखे सोने के आसन पर बैठते ही वेश्याओं ने खनखनाते सोने के कड़ों से युक्त अपने हाथ उठाकर सामने रखी, दही, रोरी और पूर्ण कलश से यात्रा-मंगल सम्पादित किया। फिर मैं चाँदी के पूर्ण कुम्भ की वन्दना करके वेदध्वनि करते हुए ब्राह्मणों से अनुगम्यमान पुरोहितों के साथ दो कदम चलकर प्रथम कक्षद्वार के आगे वज्राङ्कुश महामात्र द्वारा लाये गये, सफेद ऐपन से लिपे शरीरवाले, मणियों के गहने (नक्षत्रमाला) पहने तथा सिन्दूर-संयुक्त कुम्भोंवाले, सुनहरे फूलवाले अमरवल्लभ नामक हाथी पर चढ़कर, बाएँ हाथ में धनुष लिये हुए और दोनों कन्धों के पीछे तरकश बाँधे हुए, सवार होकर चला। चारों ओर चौरियाँ मली जा रही थीं, वैतालिक हर्ष से जयध्वनि कर रहे थे, तुरतुरियाँ बज रही थीं तथा हाथियों पर कुछ सेवक नक्कारे पीठ रहे थे। आगे-आगे हाथी के दोनों ओर कलश, वराह, शरभ, शार्ङ्गल, मकर इत्यादि अनेक निशानवाले (चिह्नक) चल रहे थे।” पृ० ११५—११६

“पीछे - पीछे विजयाशीष देते हुए ब्राह्मण थे। पुरवासी धान का लावा फेंक रहे थे। वृद्धाएँ मनोरथ सिद्धि का आशीष दे रही थीं। पुरवनिताएँ प्रीति-भरी-आँखों से देख रही थीं। इन सबके बीच होकर हम धीरे-धीरे नगर के बाहर निकल आये (पृ० ११६) और कम से कम सीमा लाँघ गये। शरत्काल के लावण्य से युक्त पृथ्वी में धान की गन्ध से हवा सुरभित हो रही थी। जल में नाना प्रकार के पक्षी कलरव कर रहे थे। वहाँ सुगंधों ने अधखाई त्रिबुजुमंजरी (कजुनी) काट-काटकर जमीन रँग डाली थी। हाथियों की मदगन्ध से भ्रमर आकृष्ट हो रहे थे। रत्न-सेना दर्शकों को हटा-बढ़ा रही थी। हाथियों को पीलवानों ने पहले से बने तृण-कुटीरों की ओर बढ़ाया। वहाँ द्वीपान्तर जाने-वाला बहुत-सा सामान (भण्ड) इकट्ठा था। मृतक शोर-गुल मचाते हुए आभरण और पलान बेलों पर लाद रहे थे। नई सिली हुई लाल रावटी में बड़े-बड़े कंडाल रखे थे। प्रांगण में बोरियों की छल्लियाँ लगी हुई थीं। लोग बराबर आ-जा रहे थे। बहुत-से घोड़ों और खच्चरों के साथ

साथियों ने स्थान-स्थान पर डेरा डाल रखा था। साफ और शीतल जलवाली बावड़ी के चारों ओर घूने से पुते दालान बने थे। इसके द्वारों और दीवारों पर तग भोतर में भी अनेक देशताओं की मूर्तियाँ अंकित थीं। इसमें नीचे उतरने के लिए सीढ़ियाँ थीं। रास्ते की बावड़ियाँ पक्की ईंटों की बनी थीं। रास्ते के उपान्तस्थल में बरगद के पेड़ थे। बरसात के बाद, पृथ्वी धुलकर साफ हो गई थी। पास के गाँवों में रहनेवाले बनिये भात, दही की अथरियाँ, खाँड़ के बने लड्डू इत्यादि बेच रहे थे। वन की नदियों में पथिकों के छोटे-छोटे टुकड़ों पर मछलियाँ लड़ रही थीं। छाये हुए घर लताओं और वृक्षों से घिरे थे। आँगन में मगडप की छाया में दूध पीकर पुष्ट बड़े बुत्ते बैठे थे। घी तपाने में मठे के बिन्दु तड़क रहे थे। उसकी सुगन्धि उड़ रही थी। मठा मथने की मथनी की घरघराहट हो रही थी। घोषापिपति द्वारा बुलाये जाने पर सार्थ और पथिक अपनी पेटियों के साथ आ रहे थे। ब्राह्मणों के आज्ञानुसार लोग स्नान-दान इत्यादि क्रियाओं में लिप्त थे। भव्य सेना लोगों का ध्यान खींच रही थी। गले में घंटियाँ बाँधे गायें चर रही थीं और ग्वालिनें अपने कटानों से लोगों को आकृष्ट कर रही थीं।”

“अगले सबारों की हरौल देखकर ‘सेना आ रही है’ सेना आ रही है, यह समाचार चारों ओर फैल गया। लोग अपने-अपने काम छोड़कर कूड़ों के ढेरों पर इकट्ठे होने लगे। कुछ पेड़ों पर चढ़ गये, और कुछ ने अपने दोनों हाथ उठा लिये। कुछ ने अपनी कमर में छुरी खोस ली और सिर पर साफा बाँधकर हाथ में लाठी ले ली। कुछ के कन्धों पर बच्चे थे। सबकी आश्चर्य-चकित दृष्टि ऊँटों और हाथियों पर थी और प्रमाण, रूप तथा बल के अनुसार लोग बैलों के अलग-अलग दाम आँक रहे थे। ‘कहो, यह कौन राजपुत्र है, यह कौन रानी है? इस हाथी का क्या नाम है?’ ऐसे प्रश्नों की मझी से बेचारा गाँव का चौकीदार (ग्रामलाकुटिक) घबरा रहा था। बेचारे गवैये हथिनी पर चढ़ी मामूली वेश्याओं को महलों में रहनेवाली समझते थे। भाट को महाराज और हर्ग्य पहने बनिये को राजमहल का प्रबन्धक मानते थे। प्रश्न पुछकर भी बिना उसका उत्तर सुने वे दूसरी जगह चले जाते थे। देखते हुए भी आँगुली दिखाकर इशारा करते थे, सुनते हुए भी जोर से चिल्लाते थे। ऊँटों, घोड़ों और बैलों के झमेले में पड़कर लोग भागते और चिल्लाते थे तथा तालियाँ देकर हँसते थे। कुछ बेचारे इस आशा से रास्ते पर एकटक लगाये थे, कि राजकुमारों, राजकुमारियों और प्रधान गणिकाओं के हाथी आवेंगे। रास्ता देखते-देखते वे भूख-प्यास से व्याकुल थे। कोई बेचारे जब खलिदान से भूसा लेने पहुँचे तो उन्हें मालूम हुआ कि उनके पहले ही सवार उसे उठा ले गये थे। कोई चरी ले भागनेवालों से अपनी रक्षा कर रहा था। कुछ लोग घूस लेनेवालों से परेशान थे। कोई छूटे लोगों से पालेजों को लुटते देख हँसते थे। कोई गिरफ्तार लुटेरों की बात करता था। कोई दुःखी किसानों को, जिनके ईश्वर के खेत लुट चुके थे, सान्त्वना देता था। कोई-कोई खड़े धान के खेतों से राजा का अभिनन्दन करते थे। रहने के लिए ठिकाना न पानेवाले, ठाकुरों से जबरदस्ती अपने घरों से निकाले हुए कुछ लोग माल-असबाब लिये जगह ढूँढ़ते थे। प्रधान हस्तिपतियों को देखकर लोग घबराहट से कोठारों में अन्न रखने लगते थे, बाड़े में उपले छिपाने लगते थे और बगीचे से तरबूज, करेला और ककड़ी तोड़-तोड़कर घर में छिपाने लगते थे। स्त्रियाँ अपने गहने छिपाने लगती थीं। प्रामेयक सेना के स्वागत के लिए तोरण लगाए खड़े थे और भेंट के लिए फूल-फल हाथों में लिये थे। उस समय डेरे के बाँस बाँध शिये गये। मजीठिया और पीली कनातें (गृहपटल) तह कर ली गई और धीरे-धीरे हम समुद्र किनारे पहुँच गये।” पृ० ११८-१२२।

“वहाँ समतल जमीन में, जहाँ सुस्वादु पानी का सोता बह रहा था, खेमे पड़ गये। राजा के खेमे के कुछ दूर प्रधानामात्य के खेमे पड़ गये। सामन्तों के रंग-विरंगे चैदवोंवाले तम्बुओं (घनवितानों) से वे घिरे थे। प्रत्येक द्वार पर मकर-तोरण लगे थे। बीच-बीच में कर्मचारियों की कर्मशालाएँ बनी थीं। वीर शरीररक्षकों की रंग-विरंगी रस्सियोंवाली लयनिकाएँ (विश्राम गृह) एक दूसरे से सटी थीं। जमीन में गड़े खूंटों की तीन कतारों में बाँस बँधे थे और इस तरह से बने बाँसों से पड़ाव घिरा था। पड़ाव में सफेद, लाल और रंग-विरंगे मड़पोंवाले अजिर थे, और गुम्बदवाले पटागार थे।” पृ० १२३

“वियोग से चित्त खिन्न होने पर भी मैंने अमात्यमंडल से सलाह की और परम-मार्गालिक की हैसियत से नजर में भेंट की हुई वस्तुओं का निरीक्षण किया। मैंने बेलाकूल के आसपास के नगरों से समुद्र-यात्राक्षम जहाजों को दो-तीन दिनों में लाने की आज्ञा दी। सब काम समाप्त करके अगले दिन, दोपहर के बाद, मैं अपनी परिषद् और ब्राह्मणों के साथ-तुर्य, घोष के साथ चला। सुन्दर वेश-भूषावाली स्त्रियाँ समुद्र की गम्भीरता, बड़प्पन और मर्यादा के गीत गा रही थीं। मैंने आचमन करके पुरोहित के हाथ में स्वर्ण के अर्घ्यपात्र में दही, दूध और अक्षत डाला और अच्छी तरह से भक्ष्य, बलि, विलेपन, फूलमाला, अंशुक और रत्नालंकारों से, बड़े भक्ति-भाव से, भगवान रत्नाकर की पूजा की। यह सब करते-करते रात हो गई और कूच का नगाड़ा बजने लगा। राजद्वार पर ऊँचे स्वर से मंगल-तुर्य बजने लगे। लोगों को अपनी नींद तोड़कर बाहर आना पड़ा। मजदूरों को अपनी कुटियों के बिस्तरों को कूच से छोड़ना पड़ा। रसोइयों में चतुर दासियों ने ईन्धन जलाया और चूल्हों और अंगोठियों के पात्र तसले सजाये। जुगाली करने के बाद सामने रखते हुए चारों को खाने के लिए इकट्ठे होकर बैल एक दूसरे पर मुँह और सींग चलाने लगे। आदमी गड़े बाँस (ऊर्ध्वदण्डिका) उखाड़ने लगे और तरतीब से कौलें निकालकर पड़ाव का विस्तार कम करने लगे। डोरियों से छुटकर चारों खेमे अलग हो गये। पटकुटियाँ नीचे उतारकर तह कर ली गईं। पटमण्डप भी तह कर लिया गया। सामन्तों के अन्तःपुर की कनारें (काण्डपट) गोलिया दी गईं। दुष्ट वाहनों पर सवार चेष्टियों का भय देख, विट मजा लेने लगे। सेना के जोर-शोर के साथ चलने से लोगों में कुतूहल पैदा होने लगा। दूकानों (परय-विपरय-बोधी) के हट जाने पर ग्राहक हाथ में दाम लिये बूथा इधर-उधर भटकने लगे। नजदीक के गाँव में रहनेवाले कीकटों ने भोजन, चारा और ईन्धन सँभाले। प्रयत्न से सामान हटाकर सैनिकों के डेरे खाली हो गये। इस प्रकार अनवरत सैन्यदल समुद्र के किनारे की ओर चल पड़ा। क्रमशः दिन उगने पर लोगों ने अपने अभिमत देवताओं की पूजा की, खुद भोजन करके कर्मचारियों को खिलाया, बिखरे सामानों को इकट्ठा किया और सीधी जोड़ियों (गुल्या) पर स्त्रियों को सवार कराया। लोगों की ध्यास का ख्याल करके घड़े पानी से भर दिये गये। कमजोर भैंसों पर कंडाल, कुम्पे, कठीत, सूप और तसले लाद दिये गये। इस तरह पूरी सेना से अलग होकर कुछ साथियों के साथ मैं आस्थानमण्डप (दीवानखाना) से बाहर आया।” पृ० १२३—१२४

“चारों ओर के नौकर-चाकरों को हटाकर; अच्छे आसनों के हट जाने से मामूली आसनों पर बैठे हुए राजाओं के साथ सफर लायक हाथी-घोड़ों के साथ समुद्र के अवतार-मार्ग (गोदी) को देखा और वहाँ वेत्रिकों को जहाजियों के कामों को देखने के लिए भेजा। इनमें एक पचीस वर्ष का सुवा नाविक था। इस युवक के उज्ज्वल वेश और आकार को देखकर मैं

चकित हुआ और उसका परिचय पास में बैठे नौ-सेनाध्यक्ष यक्षपालित से पूछा। उसने निवेदन किया—‘कुमार, यह नाविक है और समस्त कैवर्त-तन्त्र का नायक है।’ उसकी बात पर अविश्वास करते हुए मैंने कहा—‘कैवर्तों के आकार से तो यह बिल्कुल भिन्न देख पड़ता है।’ इसके बाद यक्षपालित ने उसका जीवन-परिचय दिया। सुवर्णद्वीप के सांघात्रिक वैश्रवण को बुढ़ापे में तारक नाम का पुत्र हुआ। वह शास्त्रों का अध्ययन करने के बाद, जहाज पर बहुत-सा कीमती सामान (सारभाण्ड) लेकर, द्वीपान्तर की यात्रा किये हुए अनेक सांघात्रिकों के साथ रंगशातापुरी आया। वहाँ समुद्र के किनारे बसनेवाले जलकेतु-नामक कर्णधार के साथ उसकी मित्रता हुई और कालान्तर में जलकेतु की पुत्री प्रियदर्शना से उसका प्रेम हो गया। वह प्रेमिका की गलियों का चक्कर काटने लगा। एक दिन वह बाला उसे देखकर सीढ़ी से लड़खड़ाकर नीचे गिरी पर तारक ने उसे सँभाल लिया। इसके बाद प्रियदर्शना ने उसे पतिरूप में अंगीकार कर लिया और दोनों साथ रहने लगे। लोगों ने कहा कि उस कन्या को तो जलकेतु ने जहाज डूबने पर समुद्र से पाया था और वास्तव में वह बनियाइन थी। साथियों ने तारक को घर वापस चलने पर जोर दिया, रिश्तेदारों ने उलाहना दिया, पर यह सब होने पर भी तारक लाज के कारण घर नहीं लौटा और आस्थानभूमि (राजधानी) में जा पहुँचा। वहाँ चन्द्रकेतु ने उसे देखा। वह उसका हाल परिजनों से सुन चुका था। तारक को उसने अपने दामाद-जैसा मान देकर सब नाविक-तन्त्र का मुखिया बना दिया। नाविकों की मुखियागिरी करते हुए वह थोड़े ही दिनों में सब नौ-प्रचार-विद्या (जहाजरानी) सीख गया। कर्णधारों के सब काम उसे विशिष्ट हो गये। गहरे पानी में वह बहुत बार आया-गया। बहुत दूर होते हुए भी द्वीपान्तर के देशों को देखा। छोटे-छोटे जलपथों को भी अपनी आँखों से देखा और उनमें सम-विषम स्थानों की खून जाँच-पड़ताल कर ली (पृ० १२६-१३०)। कैवर्तकुल के दोष उसे छू तक नहीं गये थे और न उसमें बनियों की-सी भीरुता ही थी। पानी में डूबे जहाजों के उबारने में अनेक तरह की आपत्तियों से विर जाने पर भी वह आसानी से मकरमुख से निकल आता था। रसातल—गम्भीर जल की विपत्तियों से वह घबराता नहीं, इधीलिए इस अवसर पर इसे ही कर्णधार बनाना चाहिए, क्योंकि यह अपने ज्ञान और भक्ति से कुमार को समुद्र पार ले जाने में सक्षम होगा।’ मन्त्री यह सब कह ही रहे थे कि कैवर्त-नायक पास आया और सिर झुकाकर स्नेह और आदर के साथ ऊँची और साफ आवाज में बोला—‘युवराज, आपके विजय-प्रयाण की घोषणा सुनकर मैं समुद्रतट से आया हूँ और आते ही मैंने जहाजों में रस्सियाँ लगवा दी हैं। समस्त उपकरणों को लादकर मैंने उनपर काफी खाने का सामान रख लिया है, सुस्ताद जल से पानी के बरतनों को अच्छी तरह से भर लिया है, और काफी ईंधन भी साथ में ले लिया है। देह-स्थिति-साधन द्रव्य तथा धी, तेल कम्बल, देवाइयाँ, एवं द्वीपान्तर में और भी बहुत-सी न मिलनेवाली वस्तुएँ रख ली हैं। चारों ओर समर्थ नाविकों से युक्त मजबूत लकड़ी की बनी नावें गोदी (तीर्थ) पर लगवा दी हैं (पृ० १३०-३१) और उन नावों पर हथियारबन्द विपाही तैनात कर दिये हैं। रथ, हाथी, घोड़े इत्यादि जिनका यात्रा में कोई काम न था, लौटा दिये गये हैं। कुमार के जहाज का नाम विजययात्रा है। किसी काम से अगर विलम्ब न हो तो अभ्युदय के लिए आप प्रस्थान करें।’ उसकी यह बात सुनकर मौढूर्तिक ने मुमसे कहा कि प्रस्थान का उत्तम सुहूर्त आ पहुँचा है। इसके बाद मैं राजाओं से विरा हुआ पानी के पास पहुँचा। वहाँ खड़े होकर, भिर हिलाकर, हाथ जोड़कर, मीठी बातें कहकर, हँसकर,

स्नेह-दृष्टि से देखकर मैंने यथायोग्य अनुवरों, अभिजनों, वृद्धों, बान्धवों, सुहृदों और राजसेवकों को विश किया। प्रतीहारियों के 'नाव, नाव' आवाज लगाने पर जहाजी नाव लाये। उसपर चढ़कर पहले मैंने भक्ति-भाव से सागर को प्रणाम किया और इसके बाद तारक ने मुझे हाथ का सहारा देकर ऊपर चढ़ाया। नाव के पुरोभाग में स्थित मत्तवारण (केपिन) के बीच में बने आसन के पास मेरे पहुँचने पर दुष्टे हिलाकर मेरी अभ्यर्थना करके राजपुत्र और परिजन अपनी नावों पर चढ़ गये। इसके बाद द्वीपान्तर के सामन्तों का आह्वान करता हुआ प्रयाणकाल में मंगल-शब्द बजा। मल्लरी, पट्ट, पणव आदि बाजे भी बजने लगे और सुर मिलाकर वंशीजन जयजयकार करने लगे। शकुनपाठक श्लोक पढ़ने लगे और ऊँचे सुर में गीत गाये जाने लगे। नाव के सन्धिचरित्रों को बन्द कर दिया गया। दासियों ने ऐपन के मांगलिक थापे थाप दिये। ध्वजदण्ड पर रंगीन अंशुकवताका चढ़ा दी गई। यद्यपि सब नाविक अपने-अपने कामों में सावधानी से जुटे थे, फिर भी, उपकरणों को ठीक करके, कर्णधार होने के नाते, तारक अपने हाथ में ढाँड़ लेकर बैठ गया। अनुकूल हवा के झोंके में पाल (सितपट) चढ़ा दिये गये और नावें पानी को चीरती हुई धीरे-धीरे दक्षिण दिशा के पर्यन्त प्राप्त, नगर और सन्निवेशोंवाले प्रदेश में जा पहुँची। हम सब अनेक जलचर, पशु-पक्षियों और जल-मातृपों की कीड़ा देखते हुए और साम, दान, दण्ड, भेद से सामन्तों और राजाओं को जोतते हुए, वनों, प्रतिनगरों, कई खण्ड के महलों, मणि, सुवर्ण और रजत की खानों, मुक्तावाहिनी सीपियों के ढेरों तथा चन्दन-वनों को देखते हुए चले। देशान्तरों से आते हुए अनेक सांयात्रिकों का वहाँ ठूट लगा हुआ था और वे मावली लोगों के वहाँ से राजाओं के योग्य रत्न खरीद रहे थे। नाविक पानी में गोते मारने के लिए जलरी अंजन (उबड़न) लगाये हुए थे और मिट्टी का तेल (अग्निर्तल) आदि द्रव्यों का संग्रह कर रहे थे। मस्तूल उठाते हुए, पालों में डोरी लगाते हुए, लंगर उठाते हुए और मिठे पानी की हौदियों की सेंधों को मुँदते हुए हम आगे चले। द्वीपान्तर के किनारों पर नगर थे। वहाँ के निवासियों के पास रक्षा के लिए बाँस की ढालें थीं। कर्णाटकलिपि से उत्कीर्ण चौड़े पखर ताक-पत्रों पर लिखित पुस्तकें थीं; पर संस्कृत और देशी भाषाओं के काव्य-प्रबन्ध कम ही थे। लोगों में धर्माधर्म का कम विचार था। वर्णाश्रमधर्म के आचारों की कमी थी और पालंड-व्यवहार का बोलबाला था। उनकी स्त्रियों की वेश-भूषा सुन्दर और भङ्गीली थी। उनकी भाषा और बोली संमझ में नहीं आती थी। वे आकार में भीषण और विहृत वेशाडम्बरधारी थे। क्रूरता में वे यम के समान थे और रावण की तरह दूसरों की स्त्रियों के हरण की अभिलाषा रखते थे। वे काले रंग के थे। उनकी बोली में हृष्ट, दीर्घ और व्यंजन की कल्पना साफ थी। वे अपने कानों के एक छेद में चौड़े ताड़पत्र के बने ताटक पहनते थे। अन्धायत्रियता से सखी होने पर भी विकट कलह में लौड़े ताड़पत्र के बने ताटक पहनते थे। अन्धायत्रियता से सखी होने पर भी विकट कलह में विश्वास करते थे। लोड़े के खनकनाते कड़े वे अपनी कलाहियों में पहनते थे। इस तरह का निषादधियों से सुरक्षित, महारतनों का निधान, द्वीपान्तर दूर ही से दिखाई दिया (पृ० १२४-१२४)।"

द्वीपान्तर के वर्णन के बाद सुवेल पर्वत का आलंकारिक वर्णन आता है जिसमें मुख्य बातें ये हैं—“वहाँ राजताल था तथा लवंग की लताएँ और हरिचन्दन की बीधियाँ थीं। एक समय शिविर में रहते हुए, भेजे हुए दूतों के आने और उनके कहने पर सब नाविकों को वस्त्राभरण से प्रसन्न करके, नाव पर कुछ दिनों का खाने-पीने का सामान इकट्ठा कर राजपुत्रों और योद्धाओं के साथ आगे बढ़े और झपाटे के साथ, सेतु के पश्चिम की ओर से दबके हुए अपने

विषम-दुर्गबल से गर्वित किरातराज की राजधानी में अचानक जा धमके। दस्युगण को कराल शस्त्रों से समूल नष्ट करके उनकी स्त्रियों और द्रव्य के साथ शिविर में वापस आये। पहली कूच में, रात के तीसरे भाग में, 'युवराज कहाँ हैं?', 'युवराज कहाँ हैं?' पूछता हुआ अत्रि नाम का भट्टपुत्र मेरी नाव के पास आया और कहा कि सेनापति कहते हैं कि, 'यहाँ से पास ही समुद्र की बाईं ओर पंचशैलक द्वीप में रत्नकूट नाम का पर्वत है। वहाँ कास के जंगल के पास ठण्डा और मीठा जल है। वहाँ स्वच्छन्द रूप से चन्दन के वृक्षों के नीचे निरन्तर फलनेवाले नारियल, केले, कटहल तथा पिरण्डखजूर के वन हैं। नदी के किनारे देवता की पूजा के लिए बहुत-सी शिलाएँ हैं। वहीं डेरा डालना चाहिए। इतनी दूर आकर सेना थक गई है। रात के आलस और समुद्री हवा से लोग परीशान हैं। थके हुए नाविक डौड़ चलाने में तथा निद्रातुर कर्णधार मस्तूल सीधा करने में असमर्थ हैं। हवा भी हमारे खिलाफ बह रही है। थके हुए नियामक शिविर की ओर जहाज बढ़ाने में असमर्थ हैं। आस-पास में आश्रम-योग्य कोई प्रदेश, द्वीप, सजिवेश अथवा पर्वत भी नहीं है। सब जगह बँत के जंगलों से भरा पानी-ही-पानी है। अतएव, चार दिन ठहरकर और पीछे आते हुए सैनिकों का इन्तजार करके तथा घायल सैनिकों की मरहम-पट्टी करके, भूखे, पैदल सिपाहियों की भूख, विचित्र फलों से मिटाकर, हवा के वेग से फटे पालों को सीकर और डोरियाँ लगाकर गिरितट के आघात से टूटे जहाजों के फलकों का सन्धि-बन्धन करके, रीते जलपात्रों को पुनः मीठे पानी से भरकर और अच्छी ईंधन की लकड़ी लेकर, हम, रोज बिना रुके, प्रयाण कर सकते हैं। प्रभु की आज्ञा ही प्रमाण है।' मैंने जरा सोचकर कह दिया, 'ऐसा ही होगा।' और उसे विदा किया। इसके थोड़ी ही देर बाद सब जलचर लुभित हो गये। अपने अश्वों से भाग्य पट्टी उड़ने लगे। भारी-भारी जलहस्ती पानी के ऊपर आ गये। गुफाओं से शेर बाहर निकल आये। सारी सेना सैन्यावास की भेरी की आवाज सुनकर निरचल-सी हो गई। ध्वजाएँ फड़फड़ाते हुए, जल्दी चलने में धक्के से टूटते-टूटते अनेक यानपात्र कष्ट से घाट पहुँचे। दशो दिसाएँ शोर-गुल से पूँज गईं। 'आर्य! थोड़ा जाने का रास्ता दीजिए।' 'अंग, अपने अंगों से मुझे धक्का मत दो।' 'मंगलक, दूसरों को केहुनी से धक्का देना, यह कौन-सा बलदर्प है।' 'हंसदास्य, मेरे निवसन का छोर छूट गया है और पीछे से लगी लावण्यवती अपने स्तनों से धक्के दे रही है, इस तरह भीतर, बाहर, दोनों में मुझे पीड़ा हो रही है।' 'तरंगिके, दूर भाग, तेरे जघनरुपी भीत से तमाम सेना का रास्ता रुक गया है।' 'लवंगिके, परिकरबन्ध के दर्शन से भी परिचारक बिज्र शरीर होकर काँपता है। नाव से उतरते समय तेरे स्तन-जघन-भागों से पीड़ित प्रेक्षकों की लज्जा होगी।' 'व्याघ्रदत्त, दौड़ो, तुम्हारी बादी और सास जहाज से गिर गई हैं और मगर से उन्हें भय है।' 'आँसू क्यों बहाता है, दस्युनगर की नारियों के सोने के कर्णभूषण की बात सोच, नहीं तो कोई ठग तेरी गाँठ काट लेगा।' 'बलभद्रक, अच्छा होगा, अगर तू उप्रजनों से सताये गये मुझको दूसरों का भी धी दे दे।' 'मित्र वसुदत्त, क्या उत्तर दूँगा? मालिक के प्रिय लड्डू खाले जल से नष्ट हो गये।' 'मन्थरक, वह मोटी कथरी हाथ से गिरते ही तिमिगल निगल गया, अब जाड़े में ठिठुरकर मरना होगा।' 'भाई, तुमने गिरकर नौकरलक से टकरा दिया अपनी जवा तोड़ी; अब नौकर के अधीन होना पड़ेगा।' 'अग्निमित्र, तू सीढ़ी छोड़कर बड़े रास्ते क्यों जाता है? गिरकर ग्राहों का अतिथि हो जायगा।' 'अरे ग्रहिक, कछुए की पीठ वृषा मत ठोक, दो अंगुलियाँ जोड़कर कछुए का मर्मस्थान ठोक।' 'गहन बँतों के दलदल में सिर पर चावल का बोझ रखे हुए वृद्ध सेवक संकट में फँस गया है, उसे पाँव पकड़कर खींच लें।'।

इत्यादि। इस तरह की बातें सैनिक करते थे। उनमें से कुछ बातू पर सो गये, किसी को दौड़ने में सीप धँस गई, कोई-कोई फिसलती शिजा से रपटकर लोगों का हास्यभाजन बना। इस तरह सबके तीर आजाने पर वायुमण्डल उत्साहपूर्ण कोलाहल से भर गया।” (पृ० १३६-१४०)

“क्रम से तट पर लाये गये कुछ जहाजी भार कम होने से अब हल्के हो गये और पर्वत के पूर्व-दक्षिण भूभाग में पड़ाव डालने के लिए अपने आवास की ओर चले। पाल उतार लिये गये, खूब गहरे गाड़े गये मजबूत काठ की कीलों से जहाज बाँध दिये गये। जहाजों की भारी नागर-शिलाएँ नीचे लटका दी गईं। अपने सामान लेकर नाविक चले आये। बेचारे मजदूरों के हाथ बोझ ढोते-ढोते टूटने लगे। पुरोगामी सेवक मणिगुहागृह की ओर जाने लगे। वहाँ से लुटेरे साफ कर दिये गये। वहाँ लंबग और कूर के वृद्ध तने खड़े थे तथा स्वादिष्ट पानी के भरने भर रहे थे। राजा के प्रिय विट आदि सौंप के डर से चन्दनवृक्षों से हट गये थे। खूँटे गाड़कर पड़ाव की सीमा स्थिर कर दी गई थी। अमलों के खेम (पटसद्म) इधर-उधर लग गये थे। पड़ाव से भाङ्ग-भाँवाड़ और काँटे साफ कर दिये गये थे। जलदी से महलसरो ने झिरों के डेरे तान दिये। वेश्याओं ने भी अपने डेरे लगा लिये। सूखे चन्दन की आग कर दी गई। बेचारे ठण्ड और हवा से दुबली सैनिक अपने अंगों को मोड़कर थकावट मिटा रहे थे। प्रातःकाल सुबेल पर्वत की पश्चिमोत्तर दिशा से दिव्य मंगल-गीत की ध्वनि सुनाई पड़ी। मैंने यह जानना चाहा कि वह स्वर्गीय संगीत कहाँ से आ रहा है और उसके लिए यात्रा करना निश्चित किया। तारक ने पूछने पर कहा—“जाने में तो कोई हर्ज नहीं है; लेकिन रास्ता कठिन है। पर्वत-किनारे के समुद्र में महान् यत्न से भी जहाज चलाना मुश्किल है। वहाँ भीमकाय जलचर रहते हैं तथा पद-पद पर भयंकर भँवर जहाजों का मार्ग रोकते हैं। ऐसी नैसर्गिक कठिनाइयों के कारण कर्णधार सम-विषम जल-मार्गों में अपना रास्ता ठीक नहीं पकड़ सकते। रात में हर क्षण सहायता की आवश्यकता पड़ेगी।” यह सब सुनकर भी मैंने संगीतध्वनि का पता लगाने का निश्चय किया। तारक भी फौरन तैयार हो गया और नाव धीरे-धीरे संगीतध्वनि का अनुसरण करती हुई आगे बढ़ी।” (पृ० १४०-१४४)

“धैर्यवान् तथा जहाजरानी में कुशल तारक ने पाँच कर्णधारों को साथ ले लिया। निरन्तर जाँच करने से सब सैन्यों का विश्वास होते हुए भी, छोटे-छोटे छेद ऊन और मोम से बन्द कर दिये। हवा से टूटी-फूटी रस्तियों को नई रस्तियों से बदल दिया। मजबूत पालों को भी बार-बार जाँचकर वह अपनी कुशलता का परिचय देता था। ‘यह मकर-चक्र जा रहा है।’ ‘यहाँ नक्र-निकर पार कर रहा है।’ ‘यह शिशुमार-श्रेणी जा रही है।’ ‘यह सर्पों की श्रेणी तैर रही है।’ ‘दीवक लाओ, चारों ओर प्रकाश फैको।’ ‘दुष्ट जलचरों को पास से दूर भगाओ।’ ‘देखो, सामने, सिंघ मकर के ऊपर लपकना चाहता है, उसके मुँह की ओर जलदी से पानी पर तेल की लुकारी फेंको।’ ‘किनारे पर सोता जल-हस्तियों का यूथ समुद्र में कूद गया।’ ‘एक साथ ताली दिलवाकर कमलों को दूर भगा दो।’ जलहस्ती और मञ्जलियों के फुगड़ के पीछे धीमी गति से शिकार खेलने तिमिंगल को आते देख वहाँ महान् अनर्थ से बचने के लिए वह लोगों को कलकल करने से मना करता था। लहरों में पैरा हुई और कुम्हार के चाकों की तरह घूमती भौरियों से बचता हुआ वह बाईं ओर शीघ्रता के साथ उन भौरियों को लाँच जाता था। मेह और बकइर को देखकर वह लम्बी लगने, पाल की डोरियों को खींचने, लंगर डालने और ढाँड़ चलाने की आज्ञा देता था। ‘मकरक, रास्ते में आई चन्दन की डाल को ऊपर उठा दो।’ ‘शकुलक, लापरवाही से, नाव का पैरा तेल के कीचड़ में डूब गया है।’ ‘अधीर, मेरी बात मत सुन, निराकुल होकर चल। अपनी नौद-भरी

आँखों को खारे जल से धो ।' 'राजिलक, मना करने पर भी जहाज दक्षिण दिशा की ओर जा रहा है ; लगता है, तुम्हें दिङ्मोह हो गया है, बतलाने पर भी तुम्हें उत्तर दिशा का पता नहीं चलता, सप्तर्षि-मण्डल को देखकर नाव लौटा ।' (पृ० १४०-१४१)

उपशुद्ध विवरण से मध्यकालीन भारतीय राजाओं की विजययात्राओं के सम्बन्ध में बहुत-सी बातों का पता चलता है । बड़ी सज-धज के साथ समरकेतु विजय-यात्रा पर निकले थे । शुभ मुहूर्त में, पूजा करने के बाद, वे बाजे-गाजे के साथ, हाथी पर बैठे । उनकी सेना के पड़ाव का भी सुन्दर वर्णन आया है । पड़ाव में द्वीपान्तर जानेवाले माल का ढेर लगा था और घोड़े तथा खच्चरों के साथ सारथ भी वहाँ पड़े थे । बनिये भात, दही और लड्डू बेच रहे थे । सेना के आने का समाचार सुनकर गाँव के सब लोग इकट्ठे होने लगे और आपस में सेना के बारे में तरह-तरह के प्रश्न करने लगे और उत्कण्ठा से राजा के आने की बात जोहने लगे । इतना ही नहीं, उन्हें इस मजे का नुस्खाना भी उठाना पड़ा । सवार उनका भूसा लुट ले गये ; कोई उन्हें घेरकर घूस वसूल करता था; किसी के ईल के खेत लुट चुके थे और बहुतां को ठाकुरों ने घर से निकालकर उनके घर दखल कर लिये थे । लोग अन्न, तरकारियाँ, उपले इत्यादि छिपा रहे थे और ब्रियाँ अपने गहने-कपड़ों की फिक में थीं । बेचारे ग्राम के छोटे कर्मचारी फूल-फल से सेना का स्वागत कर रहे थे ।

समुद्र के पास डेरा पड़ने का भी अच्छा वर्णन आया है । पड़ाव में अनेक धनवितान (तम्बु) थे । राजा के डेरे से कुछ दूटकर अमात्य का डेरा था और बीच-बीच में कर्मचारियों के खेमे लगे थे । अंग रत्नों के विश्रामघर एक दूसरे से सटे हुए थे । पड़ाव के चारों ओर रत्ना के लिए बाँस का तिहरा बाड़ा था । पड़ाव में अजिर और पटागार नाम के भीषण-से खेमे थे ।

पड़ाव में पहुँचकर समरकेतु ने लोगों के उपायन स्वीकार किये और स्वस्थ होने के बाद मजबूत जहाजों को लाने की आज्ञा दी । इसके बाद कुमार के समुद्र-तीर पहुँचने का भी स्वाभाविक वर्णन है । उस समय ब्रियाँ समुद्र की महिमा गा रही थीं । कुमार ने समुद्र की बड़े भक्तिभाव से पूजा की । इतने में रात हो गई और पड़ाव उलड़ने लगा और सुबह कुमार के साथ जानेवाला सैन्यदल समुद्र-किनारे आ पहुँचा ।

समुद्र के किनारे प्रधान कर्णधार तारक से कुमार की भेंट हुई । तारक एक बहुत ही कुशल नाविक था । पानी में की अनेक आपत्तियों की वह जरा भी परवा नहीं करता था । नौप्रचारविद्या, यानी जहाजरानी पर उसे पूरा अधिकार था । वह बहुत बार द्वीपान्तर हो आया था और वहाँ के छोटे-छोटे जलमार्गों का भी उसे ज्ञान था । उसने कुमार से कहा कि मैंने जहाजों में नई रस्सियाँ लगा दी हैं और उनपर सब उपकरण और खाने-पीने का सामान जैसे, घी, तेल, कम्बल, औषधियाँ और द्वीपान्तर में न मिलनेवाली वस्तुएँ भर ली हैं तथा नावों पर सशस्त्र सैनिक तैनात कर दिये हैं । बाद में सबको विदा करके कुमार जहाज पर चढ़े और उनके साथी दूसरे जहाजों पर हो लिये । शंखध्वनि के बाद, बाजे-गाजे और विदों के बीच जहाज चल पड़ा । अनेक देशों को पार करते हुए और राजाओं और सामन्तों को जीतते हुए वे द्वीपान्तर पहुँचे । यहाँ विदेशी व्यापारियों की भीड़ लोगों से सोना और रत्न खरीद रही थी तथा नाविक जहरी उपकरणों का संग्रह कर रहे थे । द्वीपान्तर के निवासी बाँस की ढालें रखते थे । उनकी लिपि कर्णाटक-लिपि से मिलती-जुलती थी । वर्णाश्रम-धर्म के माननेवाले कम थे । ब्रियाँ भइकीले कपड़े पहनती थीं और आदमियों का वेश अजीब होता था । वे ताड़ के कुण्डल, और लोहे के कड़े

पहनते थे। दूसरे की बियों के अपहरण के लिए वे सदा तत्पर रहते थे। द्वीपान्तर में शाज, ताल, लवंग, चन्दन, कपूर इत्यादि होते थे।

किरातराज को हटाकर कुमार ने सुबेल के आस-आस इसलिए डेरा डाला कि उनके सैनिक और नाविक थक गये थे और घायलों की मलहम-पट्टी करना आवश्यक था। नाव से उतरते समय, नाविकों और सैनिकों की बातचीत का ढंग बिल्कुल आधुनिक नाविकों की तरह ही था। इस पड़ाव से संगीतध्वनि सुनकर कुमार ने उसके पीछे चलने का निश्चय किया। रास्ते में तारक ने रसियों को बदलकर, नाव के छेदों को बन्द करके, पालों को जाँचकर, जलचरों को प्रकाश से दूर भगाकर, लहरों और आवर्तों से बचकर अपनी जहाजरानी में कुशलता का परिचय दिया।

२

हम पहले खण्ड में देख आये हैं कि भारतीय बेड़े किस तरह ग्यारहवीं सदी में द्वीपान्तर जाते थे। भारत के पूर्वी और पश्चिमी समुद्रतट पर राजाओं के बेड़े और उनकी लड़ाइयों के कम उल्लेख हमें मिलते हैं। ७वीं सदी में सिन्ध से लेकर मालाबार तथा कन्याकुमारी से लेकर ताम्रलिप्ति तक भारतीय राजाओं के समुद्री बेड़े थे। ऐसे ही बेड़ों की, पश्चिमी तट पर, अरबों के बेड़ों से मुठभेड़ हुई होगी। हमें यह भी पता है कि किस तरह पल्लवराज नरसिंहवर्म्मा ने अपना बेड़ा सिंहलराज की सहायता के लिए भेजा था, पर इन बेड़ों के सम्बन्ध में अभिलेखों में बहुत कम उल्लेख मिलता है। भाग्यवशा, गोआ और कोंकण में कुछ ऐसे वीरगल हैं जिनपर जहाजों के चित्रण हैं। ये वीरगल उन वीरों की स्मृति में बनाये गये जिन्होंने किसी नाविक युद्ध में अथवा दुर्घटना में अपनी जान गँवाई थी। बम्बई के पास, वेस्टर्न रेलवे पर, बोरिविली स्टेशन से उत्तर-पश्चिम एक मील की दूरी पर, एकसर नामक गाँव में छः वीरगल हैं, जिनका समय ग्यारहवीं सदी हो सकता है। इनमें से दो वीरगलों पर तो जमीनी लड़ाई के दृश्य अंकित हैं। पहले वीरगल (१०' × ३' × ६") में चार खाने हैं। सबसे नीचे के खाने में, बाईं ओर, दो तलवारबन्द घुड़सवारों ने एक धनुर्धारी को मार गिराया है। दाहिनी ओर, मृतात्मा, दूसरी मृतात्माओं के साथ बादल पर चढ़कर, इन्द्रलोक जा रही है। दूसरे खाने में, दाहिनी ओर, दो घुड़सवार छः हाथियार-बन्द सिपाहियों का सामना करते हुए एक धनुर्धारी को छोड़कर भाग रहे हैं। तीसरे खाने में, बाईं ओर से एक पैदल सिपाही ने धनुर्धारी को एक भाला मारा है। पैदल सिपाही के पीछे, हाथियों पर सवार धनुर्धारी हैं और उनके नीचे ढाल-तलवार से लैव तीन आदमी। इसी खाने के दाहिनी ओर एक मृतात्मा दूसरी आत्माओं के संग विमान पर चढ़कर स्वर्ग जा रहा है। थोड़े ही ऊपर स्वर्ग-अप्सराएँ उसे शिवलोक में ले जा रही हैं। चौथे खाने में शिवलोक का प्रदर्शन हुआ है, बाईं तरफ एक स्त्री और पुरुष शिवलिंग की पूजा कर रहे हैं। दाहिनी ओर नाच-गान हो रहा है, ऊपर, अस्थिकलश के साथ-साथ माला लिये हुए अप्सराएँ दिखलाई गई हैं।

दूसरे नम्बर के वीरगल (१० फुट × ३ फुट × ६ इंच) में भी चार खाने हैं। सबसे नीचे के खाने में जमीन पर तीन मृत शरीर पड़े हुए हैं। इन तीनों मृत शरीरों पर अप्सराएँ फूल माला बरसा रही हैं। दाहिनी ओर, हाथियों पर सवार एक राजा, दूसरा सेनापति अथवा उसका मन्त्री है। राजा का हाथी खूब सजा हुआ है और उसकी अम्बारी पर छतरी लगी हुई है। हाथी अपनी सूँढ़ से एक आदमी को जमीन पर पटककर उसे रौंद रहा है। दूसरे खाने में मध्य की आकृति एक राजा की है। उसके ऊपर एक सेवक छाता ताने हुए है और एक दूसरा सेवक शायद

मुक्ताचमाल लिये हुए खड़ा है। दाहिनी ओर, एक सुवचन राजा से युद्ध कर रहा है। बहुत-से आदमी ऊपर और नीचे लड़ाई कर रहे हैं। तीसरे खाने में, बाईं ओर, एक दूसरे के पीछे तीन हाथी हैं जिनपर हाथ में अंशुल लिये हुए महावत बैठे हैं। सामने दो दक्षिण लड़ रहे हैं। बीच में एक राजा हाथी पर चढ़ा हुआ युद्ध कर रहा है। सिपाहियों के छिड़े हुए कान और बड़ी-बड़ी बालियाँ उनका कोंकण का होना सिद्ध करती हैं। अरब सौशगर मुजेवान का भी यह कहना है कि कोंकण के लोग बालियाँ पहनते थे^१। चौथे खाने में कैलाश का दृश्य है। बाईं ओर, मृत योद्धा है जिसके ऊपर अम्बराएँ माता गिरा रही हैं। दाहिनी ओर, स्त्रियाँ नाच-गा रही हैं। सिरे पर अस्थिकलश है जिसके अगल-बगल मालाएँ लिये हुए देवता उड़ रहे हैं।

तीसरे वीरगल (१० फुट × ३ फुट × ६ इंच) में चार खाने हैं। सबसे नीचेवाले खाने में मस्तूलों से लैव नोरुदार पाँच जहाज हैं जिनके एक ओर नौ डॉक चल रहे हैं। ये जहाज लड़ाई के लिए बड़ रहे हैं और उनके ऊँचे डेक पर धनुषीरी योद्धा खड़े हैं। इन पाँचों जहाजों में आखिरी जहाज राजा का है, क्योंकि उसमें गलही पर स्त्रियाँ देव पकती हैं। दूसरे खाने में चार जहाज हैं जो नीचे के बेड़े का एक भाग मानस पकते हैं। ये जहाज एक बड़े जहाज पर धावा कर रहे हैं जिसके नाविक समुद्र में गिर रहे हैं। उस खाने के ऊपर ग्यारहवीं सदी का एक लेख है जो अब पढ़ा नहीं जाता। तीसरे खाने में बाईं ओर, तीन आदमी शिवलिंग की पूजा कर रहे हैं। दाहिनी ओर, गन्धर्वों का एक दल है। चौथे खाने में हिमालय के बीच देवताओं-सहित शिव और पार्वती की मूर्ति है; सिरे पर अस्थिकलश है (आ० ५ अ० ४०)।

चौथे वीरगल (१० फुट × ३ फुट × ६ इंच) में आठ खाने हैं। सबसे नीचे के खाने में ग्यारह जहाज हैं जो अस्त्रों से सज्जित, सिपाहियों से भरे, एक जहाज पर आक्रमण कर रहे हैं। दूसरे खाने में बाईं ओर से पाँच जहाज दाहिनी ओर से आती हुई एक नाव से भिड़ रहे हैं; नाव के धावल सिपाही पानी में गिर रहे हैं। खाने के नीचे एक ग्यारहवीं सदी का लेख है जो अब पढ़ा नहीं जाता। तीसरे खाने में, जीत के बाद नौ जहाज जाते हुए दिखालाई दे रहे हैं। चौथे खाने में जहाजों से सेना उतकर कूच कर रही है। पाँचवें खाने में बाईं ओर से सेना बड़ रही है; शायद कोई सम्मानित आदमी, चार सेवकों के साथ, उनका स्वागत कर रहा है। छठे खाने में बाईं ओर आठ आदमी एक शिवलिंग की पूजा कर रहे हैं; दाहिनी ओर अम्बराओं और गन्धर्वों का नाच-गान हो रहा है। सातवें खाने में शायद शिव का चित्रण है; बाईं ओर अम्बराओं के साथ योद्धा हैं और दाहिनी ओर वादक नरसिंहा, शंख और भौंक बजा रहे हैं। आठवें खाने में स्वर्ग में महादेव का मन्दिर है (आ० ६)।

पाँचवें वीरगल में (९ फुट × ३ फुट × ६ इंच) चार खाने हैं। सबसे नीचे के खाने में छः जहाज मस्तूल और डॉकों से युक्त जा रहे हैं। पूरवाले एक जहाज में छत्र के नीचे एक राजा बैठा है। दूसरे खाने में बाईं ओर से छः जहाज और दाहिनी ओर से तीन जहाज बीच में भिड़ रहे हैं। इस लड़ाई में धावल होकर अबका मरकर बहुत-से वीर पानी में गिर रहे हैं। बीचवाले जहाज में अम्बराएँ मृत योद्धाओं पर माता फेंक रही हैं। तीसरे खाने में स्वर्ग का दृश्य है; बीच में एक लिंग है, जिसकी पूजा एक ऊँची पर बैठा हुआ योद्धा कर रहा है; उसके पीछे पूजा का सामान लिये हुए कुछ स्त्रियाँ खड़ी हैं; दाहिनी ओर गन्धर्व और अम्बराएँ गा-बजा रही हैं। सबसे ऊपर के खाने में एक राजा दरबार कर रहा है और अम्बराएँ उसे सलाम कर रही हैं (आ० ७)।

छठे वीरगल में (४ फुट \times १५ इंच \times ६ इंच) दो खाने हैं । नीचे के खाने में समुद्री लवण हो रही है और ऊपरी खाने में स्वर्ण में बैठा हुआ एक योद्धा है (था० ८) ।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, इन वीरगलों के लेखों के भिन्न जाने से यह कहना बहुत कठिन है कि वीरगलों पर उल्लिखित स्थल और जल की लवाई में भाग लेनेवाले कौन थे । स्वर्गीय श्री प्राज फर्नैण्डिस का यह मत था कि शायद ये वीरगल कदम्बों और शिलाहारों की किसी लवाई पर प्रकाश डालते हैं । जो भी हो, इसमें सन्देह नहीं कि यह लवाई कान्ति-ग्रहमियत रखती थी और शायद इस लवाई का स्थान सुपारा के समुद्री तट के आस-पास रहा होगा । यह मान लेने में हमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि यह समुद्री लवाई शायद सुपारा के पन्द्रगढ़ की कच्चे में करने के लिए लगी गई होगी ।

यहाँ हम म्यारहवीं सदी की उस ऐतिहासिक घटना की ओर ध्यान दिलाना चाहते हैं जिसमें मालवा के प्रसिद्ध सम्राट् भोज ने कोंकण की भित्त बनाया था । भोजराज के बाँसवाण के ताम्रपत्र^१ से पता लगता है कि १०२० ई० में कोंकण-विजयपूर्व के उपलक्ष्य में भोजदेव ने एक ग्राहण की कुछ जमीन दान में दी । इन्दौर के पास बेहना से मिले हुए १०२० ई० के ताम्रपत्र^२ से भी यह पता लगता है कि भोजदेव ने कोंकण-विजय के पूर्व पर न्यायपदा (कैरा जिले में नापट) में एक ग्राहण की एक गाँव दान दिया था । यशोवर्मन् के कालवन (नासिक जिला) के एक ताम्रपत्र^३ से हमें पता चलता है कि भोजदेव की कृपा से यशोवर्मन् ने सूर्यग्रहण के अवसर पर एक ग्राहण की कुछ दान दिया था । इन लेखों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भोजदेव ने १०१६ ई० के पहले कोंकण जीत लिया था । भोजराज का नासिक तक अधिकार होना भी इस बात की पुष्टि करता है । लगता है कि उज्जैनवाले महापय पर चलते हुए भोज की सेना नासिक पहुँची और वहाँ से नानाघाट के रास्ते से सोनाग । यहाँ उसकी शायद कोंकण के राजाओं से लड़ाई हुई होगी जिसमें दोनों ओर के समुद्री बलों ने भाग लिया होगा, पर भोज की यह विजय क्षणिक ही रही; क्योंकि १०२४ ई० के शायद कुछ पहले कन्हाणी के जयसिंह ने सप्त कोंकणों के अधिपति भोजराज को वहाँ से हटा दिया ।^४ भोजदेव का कोंकण के साथ परिचय का पता हमें दूसरी ओर से भी मिलता है । हम ऊपर देख आये हैं कि मुक्तिनपतक में भोजदेव ने जहाजों का आँखों-देखा वर्णन किया है । उनकी बातें केवल शास्त्रीय न होकर आँखों-देखी थीं । जो जहाज उन्होंने देखे, उनमें से अधिकतर कोंकण के समुद्रतट पर चलते थे और शायद कोंकण की लवाई में सुपारा से कुछ लंबाई जहाजों का बेड़ा लेकर भोज आये बड़े हों । हमें आशा है कि इस सम्बन्ध में विद्वज्जन और प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे ।^५

१. आना गजेटियर, भा० १२, पृ० २७-२८

२. इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, १२१२, पृ० २०१

३. एपिग्राफिया इण्डिका, भा० १८, पृ० ३१०-३२५

४. वही, भा० १२, पृ० ६३ से ७२

५. राय, डाइनिस्टिक हिस्ट्री आफ नादरन इण्डिया, भा० २, पृ० ६६८

६. डा० आल्फ्रेडर के अनुसार इन वीरगलों में शिलाहार राजा सोमेरवर (करीन १२४०-१२६२) पर यादवराज महादेव द्वारा हाथी-समेत फौज और जहाजी बेड़े का आक्रमण है, जिसमें सोमेरवर ने महादेव के हाथ में पड़ने के अनिश्चयपूर्वक पर नाम कबूल किया । इंडियन क्वैज़र, २, पृ० ४१७

तेरहवाँ अध्याय

भारतीय कला में सार्थ

पिछले अध्यायों में हमने ऐतिहासिक, भौगोलिक तथा व्यापारिक आधारों पर यह बतलाया है कि भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न युगों में विजेता, सार्थवाह और व्यापारी किस तरह जल और स्थलमार्गों से भारत का अंतराष्ट्रीय और अंतरदेशीय सम्बन्ध कायम रखे हुए थे। इस अध्याय में हम इस बात का प्रयत्न करेंगे कि भारतीय कला में सार्थ-सम्बन्धों कितना मसाला मिलता है। आरंभिक युग की भारतीय कला में साहस्यवाद होने से हम इस बात की आशा कर सकते हैं कि उसमें जल और स्थल-सम्बन्धी सार्थ के कुछ चित्र मिलेंगे; पर अभाग्यवश भारतीय जीवन के बहुत-से अंशों पर प्रकाश डालते हुए भी प्राचीन भारतीय कला यात्राओं के बारे में कुछ चुप-ची है। इसी वजह से हमें उसमें जहाजों और नावों के बहुत कम चित्रण देख पड़ते हैं तथा स्थलमार्ग से चलनेवाले सार्थों के जीवन पर भी उनसे अधिक प्रकाश नहीं पड़ता।

जैसा हम दूसरे अध्याय में देख आये हैं, इक्ष्वा-युग की संस्कृति में हमें नावों के केवल दो चित्रण मिलते हैं जिनमें एक पर तो फहराता हुआ पाल भी है। इन नावों के आगे और पीछे, दोनों नुकीले होते थे (आ० १-२)। इन दोनों चित्रों के बाद हमें बहुत दिनों तक किसी जहाज का चित्रण भारतीय कला में नहीं मिलता। ई० पू० दूसरी सदी में हमें फिर एक बार भारतीय जहाज का एक चित्रण मिलता है। भरहुत^१ में एक जगह एक नाव का चित्रण हुआ है जिसका आगा और पीछा दोनों नुकीले हैं। इस जहाज को तीन नाविक सेते हुए दिखलाये गये हैं। जहाज बने ही पुराने तरीके से बना मातूम पड़ता है। इसे बनाने के लिए नारियल की जटा से सिले हुए तख्ते काम में लाये गये हैं। जहाज पर एक तिमिंगल ने धावा कर दिया है जो जहाज से गिरे हुए कुछ यात्रियों को निगल रहा है (आ० ६)। के० चरम्पा^२ के अनुसार इस दृश्य में बुद्ध की रूप से तिमिंगल के मुख से वसुगुप्त की रक्षा का चित्रण है।

साँची में भी नावों के बहुत कम चित्रण हैं। केवल दो ही स्थानों में नावें दिखलाई गई हैं। एक जगह तो नदी पर चलती हुई एक मिले हुए तख्तों से बनी नाव दिखलाई गई है^३। (आ० १०) दूसरी जगह नाव एक अजीब जानवर की शक्ल में बनी हुई है (आ० ११) जिसका घब मछली की तरह और मुँह साँड़ की तरह है। नाव के बीच में एक मंडप है। नाव एक नाविक द्वारा खेई जा रही है^४।

१. चरम्पा, भरहुत, भा० १, पृ० Lx १४, आ० ८२

२. वही, भा० २, पृ० ७८ से

३. माशक, साँची, भा० २, पृ० Li

४. वही, पृ० Lxv

अमरावती, नागार्जुनी कुण्ड और गोली के अर्धचित्रों में भी सिवा अमरावती को छोड़कर और कहीं नाव का चित्रण नहीं मिलता। सातवाहन - युग से इन अर्धचित्रों का संबन्ध रहने से इस बात की आशा की जा सकती है कि इन अर्धचित्रों में जहाजों और व्यापारियों के चित्र अवश्य होंगे। भाग्यवश, जैसा कि हम पाँचवें अध्याय में देख आये हैं, श्रीयज्ञघातकर्णों के कुछ शिक्रे मिले हैं जिनके पट पर दो मस्तूलों, रस्सियों, पालों से सुसज्जित लुकीले किनारों-वाला एक जहाज है। इसमें शक नहीं कि ऐसे ही जहाज ईसा की दूसरी सदी में भारत के पूर्वी तट से एक ओर चीन तक और दूसरी ओर धिकन्दरिया तक चलते रहे होंगे।

अमरावती^१ के एक अर्धचित्र के बीच के भाग में एक नाव अथवा जहाज का चित्रण है (आ० १२)। नाव का तला सपाट है और माथा चौकोना। उसके बीच में एक मत्तवारण है जिसमें एक कुर्सी पर कोई परिचय-चिह्न है। पिछाड़ी पर एक नाविक ढाँड़े के साथ बैठा है। माथे पर एक हाथ जोड़े हुए बौद्ध भिक्षु है। लगता है, इस अर्धचित्र का अभिप्राय सिंहल अथवा किसी दूसरी जगह बुद्ध की धातु ले जाने से है।

गुप्तयुग में भी जैसा हम पहले देख आये हैं, भारतीय जहाजरानी बहुत ऊपर उठ चुकी थी; पर अभाग्यवश गुप्त-कला में हमें जहाजों के चित्रण कम मिलते हैं। बसाढ़ से मिली गुप्तकालीन एक मिट्टी की मुद्रा पर एक जहाज के ऊपर लक्ष्मी खड़ी दिखलाई गई हैं^२ (आ० १३)। इस मुद्रा पर की आकृति इतनी पेचीदा है कि उसका ठीक-ठीक वर्णन आसान नहीं है। सबसे पहले मुद्रा के निचले बंदों में एक साँग की तरह कोई वस्तु है जिससे एक जहाज के निचले भाग का बोध होता है। इस जहाज के मध्यभाग का बगल अग्राड़ी-पिछाड़ी से ऊँचा है। यहाँ पर दो समानांतररेखाएँ शायद जहाज के बीच मुसाफिरों के लिए माला (deck) की द्योतक हैं। जहाज का माथा बाईं ओर है। दाहिनी ओर पिछाड़ी की तरफ पानी में तिरछा जाता हुआ एक ढांडा है। ऊपर की रेखा के बाएँ कोने में, माथे की ओर, कमशः झुकती हुई दो समानांतररेखाएँ हैं। इनके पीछे तीन पताकादंड हैं जो उपर्युक्त रेखाओं से ऊँचे उठते हुए शिरे पर इस तरह पिछाड़ी की ओर झुक जाते हैं कि बाईं ओर का दंड सबसे अधिक झुका मालूम पड़ता है। जहाज के पिछाड़ी की ओर एक बड़ा ध्वजदंड है जिससे ध्वजाएँ लटक रही हैं। इन ध्वजाओं के बीच में एक पाएदार चौखंड चवुतरा है जिसपर एक देवी मलमल की साड़ी पहने खड़ी है। उसके दाहिनी ओर एक शंख है और उसके नीचे एक शेर है। शंख होने से इस बात में कोई संदेह नहीं रह जाता कि यह देवी लक्ष्मी हैं। यह ठीक ही है कि धन की अधिष्ठात्री देवी लक्ष्मी का सम्बन्ध भारत के जहाजों से दिखलाया जाय जो प्राचीनकाल में अपार धन इस देश में लाते थे। यह मुद्रा प्राचीन संस्कृत कदावत 'व्यापारे वसते लक्ष्मीः' को भी चरितार्थ करती है।

अजंटा के मितिचित्रों में हम जहाजों के चित्रण ढूँढ़ते हैं; पर उनमें जहाजों के चित्रण दो बार ही हुए हैं। सत्रहवीं नंबर की लेण में विजय की सिंहल-यात्रा का चित्रण है^३ (आ० १४ ए-बी)। इसमें एक नाव तो बिलकुल बंदों में कठोरे की तरह है जिसका मत्था मकर-मुख की तरह बना है। उसमें दो ढाँड़े लगे हुए हैं। इसमें धुइसवार चढ़े हुए हैं। इसके आगेवाली दो नावों पर जिनके आगे-पीछे नोकदार हैं, हाथी हैं। इन नावों के मुखों में भी मकराकार हैं।

१. फुगुसन, ट्रीपंड सर्पेंट बशिंग, पृ० Lxviii

२. आर्कियोलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, १९१३-१४, पृ० १२६-१२७, पृ० Xlvi, १३

३. हेरिचम, अजंटा, पृ०, Xlii, ५७

अजंटा की दूसरी नम्बर की लेण में,^१ जैसा कि हम सातवें अध्याय में देख आये हैं, पूर्णावदान के सम्बन्ध में एक जहाज का चित्रण है (आ० १५)। इस जहाज का आगा-पिछा नोकदार है और उसपर आँखें बनी हुई हैं। उसके दोनों ही विरे पर माथाकाठ लगे हुए हैं। जहाज में तीन पाल और मस्तूल हैं। पिछाड़ी पर एक चौथा पाल एक चौखटे में तिरछे मस्तूल के साथ लहरा रहा है। माथे की तरफ एक मतवारण है। उसके बाद छाएदार मंडपों के नीचे बारह खड़े हैं जिनसे शायद पीने के लिए पानी अथवा किसी दूसरे तरह के माल का तात्पर्य है। समुद्र में दो नारीमत्स्य तैरते हुए दिखाये गये हैं।

अजंटा में तीसरी जगह शावद नदी पर चलनेवाली नाव का चित्रण है^२ (आ० १६)। नाव अगाड़ी-पिछाड़ी पर नोकदार है और उसपर आँखें बनी हुई हैं। नाव के बीच में एक परदेदार मंडप है जिसके बीच में एक राजा बैठा है जिसके दोनों ओर दो-दो मुसाहिव हैं। पिछाड़ी की ओर एक आदमी के हाथ में छाता है और एक दूसरा आदमी पतवार से नाव का संचालन कर रहा है। माथे पर एक सीढ़ी पर चढ़ा हुआ नाविक डोंग चला रहा है।

ऊपर हम देख आये हैं कि प्राचीन भारतीय कला में नावों के कितने कम चित्रण हैं। माम्बवा बाराखुहर के अर्धचित्रों से हमें आठवीं सदी के मध्य के भारतीय जहाजों के अनेक चित्र मिल जाते हैं।^३ माथाकाठवाले (outrigger) की पाँच आर्हातियाँ मिलती हैं। ऊँची अगाड़ी-पिछाड़ीवाले ये बड़े जहाज युरोपियों के आने के पहले मलका के कुरा-कुरा जहाज से बहुत-कुछ मिलते हैं।

एक जहाज का माथाकाठ तीन तख्तों और तीन पालकी टेढ़ी लकड़ियों (Booms) से बना है (आ० १७)। माथाकाठ के ऊपर की सूचियों का उद्देश्य शायद धूमों की ठीक जगह पर रखने अथवा तूफान में जहाज को स्थिर रखने के लिए अथवा नाविकों के बैठने के लिए था। आज दिन भी देशी जहाजों पर यही व्यवस्था होती है। अगाड़ी और पिछाड़ी पर खले भाँवे लहरों का जोर तोड़ने के लिए बने हैं। पिछाड़ी की एक गेलरी में एक नाविक है। अजंटा के जहाज पर भी यह बनावट दोबल पड़ती है। जहाज माल से भर जाने पर नाविक इसका उपयोग लंगड़ा के रखने और समुद्र में उन्हें उतारने के लिए करते थे। इस जहाज के अगाड़ी और पिछाड़ी पर हम आँखें बनी देखते हैं जिनका लाक्षणिक अर्थ जहाज की गति अथवा समुद्र पर ध्यान है। ये आँखें अजंटा के जहाज और पूर्वी जावा के कुरा-कुरा तथा बटेविया के प्राहू पर भी देखी जा सकती हैं। पतवार जहाज के पिछाड़ी में है। दो मस्तूलों के बीच में कपड़े से ढका एक मतवारण (leekhouse) है। अगाड़ी का मस्तूल ऊँचा है। कुछ सामने झुके दोनों मस्तूल गोल लकड़ियों के बने हैं तथा जहाज की अगाड़ी-पिछाड़ी की रस्सियों से तने हैं। बाराखुहर के दूसरे माथाकाठवाले जहाजों से पता चलता है कि मस्तूलों पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ होती थीं। मस्तूल का विरा, जहाँ दो बिंदु मिलते हैं और जहाँ से रस्सियाँ निकलती हैं, जरा झुका हुआ है। वहाँ एक वस्तु है जिसकी तुलना मकासारी जहाज पेडुकावांग के मस्तूल पर लगी रस्ती की गेड्डरियों से की जा सकती है। दोनों वस्तुओं में चौखड़ी पालें लगी हैं। माथे पर

१. बाजदानी, अजंटा, भा० २, पृ० Xlii

२. चित्तिध, अजंटा, पृ० १०

३. कोस, बाराखुहर, भा० २, पृ० २३५-२३८, वी हाग, १८२०

एक तीसरी तिकोनी पाल है जिसका ऊपरी सिरा लहरतोड़ (washbrake) से और दूसरे सिरे मायाकाठ और पोडी (portside) से बंधे हैं। जहाज के नाविक अपने कामों में व्यस्त हैं, कोई पाल ठीक कर रहा है तो कोई पतवार पर जमा है। एक नाविक मायाकाठ पर है तो एक मस्तूल पर चढ़ा है।

दूसरे जहाज की चारों ओरों से खेबाई हो रही है (आ० १८)। छः डॉके लगे हुए हैं। पक्ष सामने दिखलाई देते हैं। जहाँ लहरतोड़ (washbrake) की राख बकर की तरह है। दूसरा मस्तूल एक काठ का है। मस्तूलों के सिरों पर नकाशियाँ बनी हुई हैं। जहाज के बीच में कपड़े से ढका मत्तवारण है। जहाज के कुछ खतावी मस्तूल ठीक कर रहे हैं।

तीसरे जहाज के सामने एक पालदार नाव है जिसमें पाँच आदमी दिखलाये गये हैं (आ० १९)। शायद यह नाव जहाजियों को किनारे पर उतारने के काम में लाई जाती थी। हम सम्राट् चक्रवा की कहानियों में देख आये हैं कि नवीं सरी के भारतीय जहाजों के साथ ऐसी नौकाएँ चलती थी। वैसे जहाज के आउटरिगर में चार जोड़े घुम लगे हुए हैं, पर सिर पर पाल का बगली बॉस (float) जिसे कोई पकड़े है, एकदम है। कुछ डॉकों के सिवा खेनेवालों के सिर भी देख पड़ते हैं। अगले मस्तूल में दो गोल लकड़ियों के जोड़ने की झल्ली (coupling blocks) और उनमें से रस्सियाँ निकलने के छेद साफ-साफ देख पड़ते हैं। जहाज के अगाड़ी-पिछाड़ी पर पताकाएँ भी साफ-साफ दीख पड़ती हैं। अगले मस्तूल के सिरे से फड़कती झंडी और भरे पाल हवा का रुख बता रहे हैं। दो गर्जों से बंधी हुई माथे पर की पाल तिकोनी है। और इसमें दो मायाकाठ लगते हैं। एक मायाकाठ पर एक खतावी पाल तानने की रस्सियाँ पकड़कर बैठा है। यहाँ भी हम एक फुल्ले की तरह गोल वस्तु देख सकते हैं जिसकी अबतक पहचान नहीं हो सकी है। छोटी नाव जुड़ग नाव की तरह दिखलाई देती है; पर उसका मात (deck) ऊँचा है। उसमें एक मस्तूल और चौखुटी पाल है। गज में दोनों ओर लगी पाल तानने की रस्सियाँ पकड़े खतावी बैठे हैं। माथे पर 'सॉर्स' दीख पड़ती है।

चौथा एक पातवाला छोटा जहाज है (आ० २०)। जिसमें मत्तवारण का पता नहीं चलता और न उसमें लंबे-चौड़े लहरतोड़ ब्रेक ही हैं। वे एकदम ठेड़े घुमों और दोहरी लिफकीदार पसलियों (floatings) से बने हैं। बगली और ऑब साफ-साफ दिखाई देती हैं। पतवार पर एक आदमी है। जहाज में रीतार्स, मीटर बँधती हुई बाढ़, अगाड़ी-पिछाड़ी बॉस के बने हुए लहरतोड़ तथा उनपर भड़ी जाली (grate) जलेखनीय हैं। मस्तूल दो लकड़ियों का बना है और उसपर सीढ़ी लगी है। मायाकाठ के सामने एक अलंकार-घा बना है। उसी तरह का अलंकार पहले जहाज पर दीख पड़ता है। नाविक पाल खतार रहे हैं। माथे पर कड़ा हुआ नाविक तो एक पाल खतार चुका है।

पाँचवाँ जहाज एक मस्तूल का है। उसपर मत्तवारण बहुत साफ देख पड़ता है (आ० २१)। डॉके और खेनेवालों के सिर भी देख पड़ते हैं। उनके सिरों के स्थान से पता

१. वही, आई० बी० ८८

२. वही, आई० बी० १०८

३. वही, आई० बी० २३

४. वही, आई० आई० ४१

लगता है कि खेने का काम ढाँचे खींचकर नहीं, बल्कि डकेलकर होता था। मस्तूल की छल्ली के ऊपर एक गद्दी-सी है। जहाज के आगे और पीछे गोल खंभों पर पुलिया (derrick) लड़ी हुई है। नाव के पीछे एक झंडा लगा है जिसमें माथाकाठ नहीं है। शायद उसके लिए जगह ही नहीं थी। इस जहाज में भी पाल उतारी जा रही है। इस जहाज के पीछे और आगे जलतोड़ काफी लगे हैं।

उपर्युक्त जहाजों के सिवा बाराबुद्ध के अर्धचित्रों में तीन और राजवृत जहाजों के नक्शे मिलते हैं। इनमें माथा डालुओं है और पीछा खड़ा। इन जहाजों में केवल एक मस्तूल है। इनमें पतवार नहीं दिखाई गई है। एक जहाज^१ पर खलाधियों में से कुछ पाल उतार रहे हैं और दूसरे मजदूरों मार रहे हैं (आ० २२)। दूसरा जहाज^२ बहुत टूट-फूट गया है। इसमें एक मस्तूल है जिसमें चौखूड़ी पाल बंधी हुई है। पाल के निचले गज पर एक नाविक चढ़ा हुआ है। एक दूसरे जहाज^३ पर एक लुबता हुआ मनुष्य उसपर झोंका जा रहा है, इस जहाज की बनावट दूसरे जहाजों से भिन्न है (आ० २३)। इसके पीछे पर एक गैलरी है जिसपर एक मनुष्य खड़ा है। शायद यह पतवारिया हो। जहाज के माथे पर भी एक गैलरी है। मस्तूल पर एक चौखूड़ी पाल है जो जहाज के पीछे और आगे से रस्सियों से तनी है।

श्री कान एर्प की राय है कि इनमें से बड़े जहाज समुद्र में चलते थे। इन जहाजों में हिन्दु-प्रभाव स्पष्ट है; पर शायद कुछ मस्तूलों में हम हिन्द-एशिया का प्रभाव देख सकते हैं।

२

प्राचीन भारतीय कला में स्थूलयात्रा-सम्बन्धी दृश्यों के भी बहुत कम चित्रण हुए हैं। अधिकतर इन चित्रों में तत्कालीन नागरिक सभ्यता को ही ध्यान में रखकर चित्रकार और मूर्तिकार आगे बड़े हैं। यदि हमें शहर के आंदोलन की जानना चाहे तो प्राचीन भारतीय कला में बहुत मर्यादा है। हम उसमें घूमे हुए रथ, घोड़े और हाथी तथा विमानों के अनेक चित्र पाते हैं; पर जहाँ तक शार्प का सम्बन्ध है, उसमें बहुत कम ऐसे दृश्य हैं जिनसे प्राचीन भारतीयों के यात्रा और उसके उपादानों पर प्रकाश पड़ता हो। जैसा हमें पता है, भारत में बहुत प्राचीनकाल से बैलगाधियों द्वारा यात्रा होती थी और इसके कहीं-कहीं चित्र प्राचीन भारतीय कला में बच गये हैं। भरहुत में^४ एक जगह एक बैलगाड़ी दिखाई गई है जिसकी बनावट किरूल आधुनिक सम्राट की तरह है। भरहुत में^५ एक दूसरी जगह एक गद्दीदार चौखूड़ी बैलगाड़ी दिखाई गई है जिसमें दो पहिए हैं और जिसका लंबा पीठक लकड़ी का बना है (आ० २४)। गाड़ी से बैल खोल दिये गये हैं और वे जमीन पर बिश्राम कर रहे हैं। बैलगाड़ी दौकतेबाला अथवा व्यापारी पीछे बाईं ओर बैठा है। डा० बरुआ की राय है कि इस दृश्य में वस्तुजातक अंकित है जिसमें बोधिसत्त्व शार्प के साथ एक रेगिस्तान में अपना रास्ता भूल गये; लेकिन चतुर्दश के कारण संकलन में अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच गये।

१. वही, आई० बी० २३

२. वही, आई० बी० २४

३. वही, आई० बी० ए० १२३

४. बरुआ, भरहुत, पृ० xlv

५. वही, पृ० lxix, आ० ८९

सौँची के अर्धचित्रों से पता लगता है कि कभी-कभी व्यापारी खूब सजे-सजाये बैलों पर भी यात्रा करते थे।^१ हमें प्राचीन साहित्य से इस बात का पता नहीं चलता कि सिवा सेना की छोड़कर लंबी यात्राओं के लिए घोड़े काम में लाये जाते थे अथवा नहीं, पर इसमें सन्देह नहीं कि पास की यात्राओं में लोग खूब सजे-सजाए घोड़ों पर यात्रा करते थे। ऐसे घोड़ों के चित्र सौँची में बहुत बार आये हैं।^२ हमें यह भी पता है कि प्राचीन भारत में हाथियों की सवारी लोगों में बहुत प्रचलित थी। सेना के तो हाथी एक अंग होते ही थे, पर राजाओं की दूर की यात्रा में वे बराबर उनके संग चला करते थे। पर जहाँ तक हमें पता है, शायद उन हाथियों का उपयोग व्यापार अथवा लंबी यात्राओं के लिए कभी नहीं होता था। सवारी और माल की ढुलाई में ऊँटों का उपयोग बहुत दिनों से होता था। सौँची में एक ऊँट-सवार का चित्रण हुआ है।^३

भरहुत के अर्धचित्रों में कई जगह माल रखने और दुकान-दौरी के चित्रण हुए हैं। एक जगह माल भरने के दो बड़े गोदाम और अन्न भरने के लिए एक बड़े भारी कोठार का चित्रण हुआ है^४ (आ० २५)। डा० बहआ इस दृश्य की पहचान गहपति जातक (न० १६६) से करते हैं जिसके अनुसार बोधिसत्त्व ने एक बार अपनी स्त्री को गाँव के महतो के साथ देखा। पर वह चतुर स्त्री उनको देखते ही फौरन कोठार में घुस गई और वहाँ से यह दिखलाने का नाट्य करने लगी कि वह उस महतो को मांस के बर्तने में धान्य दे रही थी।

एक दूसरी जगह भरहुत^५ में एक बाजार का दृश्य है (आ० २६) जिसमें तीन घर दिखलाये गये हैं। एक व्यापारी एक बर्तन से कोई चीज खरीदार के हाथ की थाली में उलट रहा है। दाहिनी ओर एक मजदूर है जिसके सामने दो मेढियोंवाली एक बहेगी पड़ी है।

भरहुत में एक दूसरी जगह^६ भी एक दुकान का दृश्य है। अर्धचित्र के दाहिनी ओर दो व्यापारी हैं जिनके दोनों ओर शायद दो कपड़े की गाँठें हैं और सामने जमीन पर केलों का ढेर लगा हुआ है। बाईं ओर टोपियों पहने हुए दो व्यापारी हैं जो शायद आपस में माल का दाम तय कर रहे हैं (आ० २७)।

मथुरा के अर्धचित्रों में भी कभी-कभी तत्कालीन गाड़ियों के चित्र आ जाते हैं। साधारण माल ढोने के लिये एक जगह मामूली-सी बैलगाड़ी दिखलाई गई है जिसके हाँकनेवाले और बैल जमीन पर बैठे हैं (आ० २८)। चढ़ने के लिए अच्छे बैलोंवाले शिकरम काम में आते थे^७ (आ० २६)। इस शिकरम के गाड़ीवान के बैठने की जगह आजकल के शिकरम की तरह जोत पर होती थी। बैलों की दुम जोत की रस्सियों में बँधी है।

मथुरा में एक दूसरी जगह^८ दो पहियोंवाली एक खुली घोड़ागाड़ी का चित्रण हुआ है

१. माशोज, सौँची, भा० २, प्र० xx(b)

२. वही, xxxi

३. वही, भा० ३, प्र० lxxvi, ६९ सी०

४. भरहुत, प्र० lxxvi, आकार, १०२

५. भरहुत वही, प्ले० XCV, आकृति १४३

६. वही, प्ले० XCV, आ० १४२

७. विन्सेन्ट स्मिथ, दी जैन स्तूप ऑफ मथुरा, प्ले० १२, एलाहाबाद, १९०१

८. वही, प्ले० XX

उस गाड़ी पर तीन आदमी बैठे हुए हैं; पर शिकरम की ही तरह कोचवान जोत पर बैठा दिखाया गया है (आ० ३०) ।

अमरावती के अर्धचित्रों से पता लगता है कि दक्षिणभारत में ईसा की आरंभिक सदियों में एक हल्की बैलगाड़ी माल ढोने और सवारी के काम में आती थी^१ (आ० ३१) ।

शायद राजकर्मचारियों और जल्दी यात्रा करनेवालों के लिए शिबिकाएँ होती थीं । अमरावती के अर्धचित्रों में दो तरह की शिबिकाओं का चित्रण हुआ है ।^२ इनमें एक शिबिका एक छोटे मंडप की तरह है । इसकी छत काफी अलंकारिक है और इसके चारों ओर बाड़ हैं (आ० ३२) । शिबिका में दोनों ओर उठाने के बाँस लगे हुए हैं । दूसरी शिबिका (आ० ३३) तो एक घर की तरह ही देख पड़ती है । इसमें नालदार छत और खिड़कियाँ हैं और भीतर बैठने के लिए आरामदेह गद्दियाँ लगी हुई हैं । यह कहना संभव नहीं है कि इस तरह के ठाटदार विमान दूर की यात्राओं में चلتे थे अथवा नहीं । कम-से-कम व्यापारी तो इस तरह की सवारियों पर नहीं चلتे थे ।

गोली के बौद्धस्तूप से मिले हुए अर्धचित्रों में^३ जो बैलगाड़ियों का चित्रण हुआ है वे काफी सजी-सजाई मातृम पड़ती हैं (आ० ३४) । इनका नक्शा चौखूटा है और इनकी बगलें बेंत से बुनी मातृम पड़ती हैं । बैलगाड़ी की छत भी खूब सजी है और उसके खुले सिरे पर परदा लगा हुआ है जो उठाकर छत पर ढाल दिया गया है । गाड़ीवान गाड़ी के जोत पर बैठा है ।

हम ऊपर के अध्यायों में कई बार देख आये हैं कि अक्सर समुद्री व्यापारी जब इस देश में उतरते थे अथवा यहाँ से जाते थे तब वे राजा से मिल लेते थे और उसे उपहार देकर प्रसन्न कर लेते थे । विदेशी व्यापारियों से राजा की भेंट का एक ऐसा ही दृश्य अमरावती और अजंठा के अर्धचित्रों में आया है ।^४ अमरावती में यह प्रकरण वेस्तन्तरजातक के सम्बन्ध में है जहाँ राजा बन्धुम को उपहार मिल रहा है । इस दृश्य में राजा सिंहासन पर बैठा हुआ है और उसे दो चामरग्राहिणियाँ और एक पंखेवाली घेरे हुए हैं । राजा के बाईं ओर राजमहिषी भी परिचारिकाओं से घिरी हुई बैठी है । चित्र की अप्रभूमि में कुत्ते, पाजामे, कमरबंद और बूट पहने हुए विदेशी व्यापारी फर्श पर घुटने टेककर राजा को भेंट दे रहे हैं । उनके दल का नेता राजा को एक मोती का हार भेंट दे रहा है (आ० ३५) ।

इसी तरह का एक दृश्य अजंठा के भित्तिचित्र में आया है जिसकी पहचान लोग अबतक पुलकेशिन द्वितीय के दरबार में ईरान के बादशाह खुसरो के प्रतिधिवर्ग से करते रहे हैं^५ । इस दृश्य में एक विदेशी व्यापारियों का दल राजदरबार के फाटक पर देख पड़ता है । इसमें के

१ शिवराम मूर्ति, अमरावती स्क्वचर्स इन मद्रास म्यूजियम, प्ले० X, आ० १६ मद्रास १९४२

२ वही, प्ले० X, आ० २०-२१

३ टी० एन० रामचंद्रन्, बुध्दिस्त स्क्वचर्स फ्रॉम ए स्तूप नियर गोली विलेज, गुन्दूर, प्ले० V, b, c, d, मद्रास, १९२६

४ शिवराम मूर्ति, वही प्ले० XX(b), ६, पृ० २४-३६

५ याजदानी, अजंठा, भा० १ पृ० ४६-४७

दो व्यापारी भीतर घुस आये हैं और उनके हाथों में सौगात की चीजें हैं। राजदरबार मुवाहिबों और उच्च पदस्थ कर्मचारियों से भरा है जिनमें तीन विदेशी भी दिखलाई देते हैं। राजा एक सिंहासन पर बैठा है और उसके पीछे चामरग्राहिणियाँ और दूसरे दास-दासी खड़े हैं। ये विदेशी ऊँची टोपियाँ, अँगरेखे, पाजामे और बूट पहने हुए हैं। उनमें से एक के हाथ में गहनों की रकाबी है। उनकी पोशाक से यह पता लगता है कि शायद वे परिचमी एशिया के रहनेवाले स्याम के व्यापारी थे।^१

पाँचवीं और छठी सदियों में शामी और ईरानी व्यापारियों के आगमन का पता हमें दण्डी के दशकुमारचरित के दो उल्लेखों से चलता है^२। तृतीय उच्छ्वास में खनति नामक एक यवन व्यापारी से एक बहुमूल्य हीरा ठगने का उल्लेख है। श्री गणेश जनार्दन आगशे का अनुमान है कि खनति शब्द शायद तुर्की खान शब्द का रूप है। दशकुमारचरित के दक्षिणी पाठ में खनति की जगह असभीति पाठ है जो प्रो० आगशे के मत से शायद फारसी शब्द आसफ का रूप है। पर खान शब्द ईरानी साहित्य में तुर्की से मंगोल-युग में आया। इसके मानी यह हुए कि दशकुमारचरित बहुत बाद का है। पर प्रायः सब विद्वान एकमत हैं कि दशकुमारचरित का समय ईसा की पाँचवीं-छठी सदी है। खनति शब्द शायद ईरानी धातु 'कन्दन' जिसके अर्थ खोदने के होते हैं, निकला है। इस शब्द की प्राचीनता की जाँच आवश्यक है। बहुत संभव है, खनति ससानी युग का एक व्यापारी था जो ईसा की पाँचवीं-छठी सदी में रत्नों के व्यापार के लिए भारत आता था। यवन शब्द का तो ईसा की आरंभिक सदियों के बाद भारतीय साहित्य में विदेशियों के लिए जिनमें ईरानी, अरब, शामी, यूनानी इत्यादि आ जाते थे, व्यवहार होने लगा था।

एक दूसरे यवन व्यापारी का उल्लेख दशकुमारचरित के छठे उच्छ्वास में आया है।^३ कहानी यह है कि भीमधन्वा की आज्ञा से मित्रगुप्त ताम्रलिप्ति के पास समुद्र में फेंक दिया गया। सबेरे उसे यवनों का जहाज देख पड़ा और यवन नाविकों ने उसे हूबने से बचाया। वे उसे अपने कप्तान (नाविक-नायक) रामेपु के पास ले गये। उन्होंने समझा—चलो, एक अच्छा मजबूत दास मिला जो जरा देर में ही उनकी सैकड़ों अंगूर की बेलें सींच देगा। इसी बीच में बहुत-सी नावों से धिरे एक जंगी जहाज (मद्गु) ने यवनों के जहाज को घेर लिया और तेजी के साथ धावा बोल दिया। बेचारे यवन हारने लगे। यह देखकर मित्रगुप्त ने यवनों से उसके बंधन खोल देने को कहा। बंधन खुलते ही वह शत्रुदल पर दूट पड़ा और उन्हें परास्त कर दिया। बाद में उसे पता चला कि उस जंगी जहाज का मालिक भीमधन्वा था। यवन नाविकों ने उसे बाँध कर खुर खुशियाँ मनाईं।

अब यहाँ प्रश्न उठता है कि यवन नाविक-नायक रामेपु किस देश का बसनेवाला था। अंगूर की लताओं के उल्लेख से श्री आगशे का अनुमान है कि शायद वह ईरानी रहा हो। पर वे रामेपु शब्द को फारसी अथवा अरबी से व्युत्पत्ति निकालने में असफल रहे। ईरानी और

१ जे० आर्इ० एस० ओ० पृ०, भाग १२, १३४४, पृ० ७४ से

२ दंडी, दशकुमारचरित, श्रीगणेश जनार्दन आगशे द्वारा संपादित, भूमिका पृ० xliv-xlv ; पाठ पृ० ७७, लाइन १८

३. वही, भूमिका पृ० Xiv, पाठ पृ० १०६-१०७

मध्यपूर्व एशिया की भाषाओं के प्रसिद्ध विद्वान डा० उनवाला ने मुझे यह सूचना दी है कि रामेशु नाम निश्चयपूर्वक शामी भाषा का है जिसका अर्थ होता है राम अर्थात् सुंदर और ईशु अर्थात् ईश्वर। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शाम के ईसाई व्यापारी भारत में व्यापार करने आते थे। रामेशु की शामी नस्लियत से इस बात की भी पुष्टि हो जाती है कि बंधुमवाले दृश्य में आनेवाले विदेशी व्यापारी शामी थे।

अजंटा के भित्तिचित्रों से भी यदा, कदा हमें उस समय के बाजार और गाड़ियों के चित्र मिल जाते हैं। वेस्सन्तरजातक में जब राजा वेस्सन्तर देश-निकाला पाकर नगर से निकल रहा है उस समय नगर की दुकानों और यात्रा की सवारियों के कुछ अंकन हुए हैं। जिस गाड़ी पर राजा, उसकी स्त्री तथा बच्चे सवार हैं उसका नक्शा समकोण है और उसमें चार घोड़े जुते हुए हैं, उसके आगे और पीछे चौखट हैं जो शायद गाड़ी ढाँकने के लिए व्यवहार में लाये जाते रहें होंगे। गाड़ी के अंदर गदियाँ लगी हुई हैं (आ० ३६)।

बाजार में दाहिनी ओर तीन दुकाने हैं जिनमें दुकानदार अपने काम में व्यस्त हैं। उनमें से एक दुकानदार जिसके सामने दो घड़े पड़े हुए हैं, राजा को प्रणाम कर रहा है। दूसरा तेल निकालकर एक प्याले में भर रहा है। तीसरे दुकानदार जिसके आस-पास बहुत-सी थालियाँ और छोटे घड़े पड़े हैं, वह स्वयं कोई चीज तौल रहा है बहुत संभव है कि यह दुकानदार कदाचित् जौहरी अथवा गन्धी हो (आ० ३७)।

अजंटा की सत्रहवीं गुफा में २ एक खली गाड़ी दिखलाई गई है जिसके चारों ओर वाड़े लगी हुई हैं (आ० ३८)।

उपयुक्त विवरण से हमें पता चलता है कि यात्रा की सवारियों में बहुत दिनों तक कोई विशेष अदल-बदल नहीं हुई। सातवीं सदी के बाद यात्राओं में किस तरह की सवारियाँ चलती थीं इनका पता हमें रुद्रिगत अर्धचित्रों से कम मिलता है। फिर भी हम अनुमान कर सकते हैं कि उन सवारियों में प्राचीन सवारियों से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा होगा।

१. लेडी हैरिंगम, अजंटा, प्र० XXIV, २१

२. वही, प्र० VIII, आ० १०

अनुक्रमणिका

अ

- अंग—४७, ४८, ५२, ६६, ७५, १३६, १६५
 अंगुतर—१६
 अंदराव—५, ६, २०, १७७
 अंधपुर (पैठन)—५५
 अंध (आंध्र)—२१५
 अंब—७१
 अंबलिठक—१८
 अंबष्ट—७३
 अंबाला—१२, २२
 अकबर—६
 अकानी—११३
 अकीक—३१, ११२, ११७, १२८, १२९, १४६
 अकादीयुग—३२
 अक्याब—१३३
 अग्रह—६७, ६८, ७२, १२८, २०६
 अग्रोहा—१५
 अग्रस्तस—४, १०६, ११०, १११, ११८, ११९
 १२६
 अग्रस्तिमत—२१५
 अगालव—१८
 अग्नि (कारा शहर)—१८३
 अग्नि तैल—२२५
 अग्निमाल (लालसागर)—५०, ६१, ६२, ६३
 १४८
 अग्निमित्र—२२६
 अग्रोतक (अग्रोहा)—१५
 अचलपुर—२२, १०१
 अचिरावती (राप्ती)—१८, ४८
 अछु—७५
 अछुवत—६६

- अजंठा—(अजन्ता, अजिठा)—२५, ११७
 १४५, २३३, २३४, २३८, २४०
 अजकूला नदी—१६
 अजपथ—५०, ५१, १३०, १३२, १३५, १३६,
 १४०
 अजमेर—२३, २५, २६
 अजातशत्रु—४८, ४९, ५०, ६६, १४२
 अजानिया—११४, १३५
 अजायबुल हिंद—२०८
 अजिनपवेणी (चटार्ह)—१४३
 अजीब (कालिकावात)—२०२
 अजौंग (जहाज)—२१३
 अटक—३, ५, ७, ८, ६, १०, १३, १४, २१, २२
 १२७
 अडमस (सुवर्ण रेखा नदी)—१२३
 अणहिल्ल पट्टन (अनहिलवाड)—२१४
 अतरंजीखेड़ा—२०
 अत्रि—२२६
 अथर्ववेद—३८, ३९, ४०, ४१, ४३
 अथेना देवी—७१
 अदन—३२, ६३, ११०, ११४, ११८
 अदष्ट—७२
 अधीर—२२७
 अथूलिस—११०, ११२, ११५, १८४
 अदास्य—७१
 अनहिलवाड—२१, २१४, २१८
 अनाथपिंडिक—१८, १४४
 अनाम—१३४, १८३, २०४, २०६
 अनुरंगा (गाढी)—१६६
 अनुसेठि—६७
 अनूप—६६

अनुष्वा- (कहाज)—२१३
 अन्तःपाल—८१
 अन्ताञ्जी—३, १३१, १३३
 अन्तिमोष्ठ—३, ४, ७४, ११०, १११
 अपरमेगण—११४, १३५
 अपरांत—८७, ८८, १०४, १०६, १७२
 अपरांतक—१००
 अपोलोगस—११५, १२१, १२८
 अपोलोडोटस—८६, ६०, ६२, ६४
 अप्रीति (अफरीदी)—४६
 अफगानिस्तान—२, ३, ४, ५, ७, ८, ९, ३०, ३१
 ३६, ३८, ४७, ७०, ७३, ७४, ८६, ८७, ८०
 ८६, ८८, १२१, १४२, १७६, १८१, १८२
 १८५
 अफरात नदी—४, ४६, ११५
 अफिका—६, १०६, ११०, ११२, ११५, १२१
 १२८, १२९, १३५, १४६, १७२, १८१
 १८६, २०३
 अफ्रीदी—६
 अशीरवा (आशीर)—६१
 अमुल मलिक—२०२
 अवृजैद सैराफी—२०६, २०७, २०८
 अवृशफर—१०६
 अवृहनीफा दैमुरी—२०२
 अम्बुलमुल्क—२०३
 अब्राहम—११५
 अभिसार—७५
 अभिज्ञान-मुद्रा—७६
 अमपुरी—२१
 अमरावती—१०१, २३३, २३८
 अमरी नाल संस्कृति—२६
 अमरोहा—२२
 अमृतसर—१२, ७२
 अयमुल—३०
 अयसिपाटक—१४०
 अयोध्या—१२, १४, १८, १६, २०, २१,
 १००, १७६ ।

अरबोसिया—७, ४६, ७०, ७४, ६०, ६५,
 ६६, १७५, १८०, १८३
 अरगंदाब—१६, ७०, ६४, ६५
 अरगरिटिक मलमल—१२८
 अरगद (उरैयुर)—११६
 अरब—६, २६, ४४, ५६, ६३, ७०, ७८,
 १०८, १०६, १०, ११२, ११३, ११४,
 ११५, ११७, ११८, १२१, १२२, १२५,
 १२७, २८, १२६, १३२, १४५, १७२,
 १८६, १८०, १८१, १८२, १८३, १८६,
 २०१, २०२, २०३, २०५, २०६, २०७,
 २०८, २०९, २११, २१२, २१४, २१६,
 २३६
 अरबसागर—१३, ४२, ४६, ५६, ७२, ११२
 अरबल—१६, १८, २३
 अरसक—७४
 अरसि (चावल)—४४
 अरसियोन—११२
 अरिआफे—१०४, १०५, १०६, ११३, ११४,
 ११६
 अरिआसी—७०
 अरिकमेड—११६
 अरितु—४३
 अरित्र (डांड)—४३
 अरिय—३८, ४६, ७०, ७४
 अरियाना—३८
 अरिस्तो—११०
 अरुण—१३८
 अर्जुन—६७, ६३
 अर्तकोन—७०
 अर्यशास्त्र—७६, ७७, ७८, ७९, ८४, ८६,
 ८७, १३०, १३४, १५३
 अर्मेनिया—१०६, २१६
 अरिनीय—१२६
 अलक—२४
 अलमी-विलमी—४३
 अलतमीन—१६४

अलप्पी—११८
 अलवीरुनी—१६, २१, २५, १६४, २०३
 २०५
 अल मुकब्बेर—११५
 अलमुग—४४
 अलसंद—१३१
 अलसंदक (मूंगा)—७८
 अल हज्जाज—२०३
 अलाउद्दीन—१६२
 अलीगढ़—२१
 अलीमसिद्द—२२
 अलोर—७३
 अलोसिंगी—१२३, १२४
 अल्लकप्प—४७
 अल्लसंद (सिकंदरिया)—१३०, १३३, १३५
 अल्लिकाकुल (चिकाकोल)—२१४
 अवंती—२४, ४७, ४६, ५०, ६६
 अवचारक (दलाल)—१५१
 अवतारमार्ग—२२३
 अवदान कल्पलता—२११
 अवदान शतक—१४२, १४५
 अवदंग (बयाना)—१५१
 अवनिजनाश्रय पुलकेशिन्—१६२
 अवमुक्त—१७५
 अवर्त (अपरांत)—१००
 अवरेस—१८८
 अवलाइटिस—११३
 अवस (रास्ते का भोजन)—४०
 अशोक—६, ६६, ७४, ७६, ७८, ८६, ६६,
 १६३, २१४
 अशमक—४७, ८७
 अश्वक नाग—१४०
 असक (अशमक)—६६
 असाई—६४
 असिक—६६
 असिकनी—६६
 असियानी—६४

असीरिया—४४, १११
 असुर—१४६
 अस्कावाद—४
 अस्थिका (छोटोनाव)—१७२
 अस्पस—७२
 अस्सक (अश्वक) २५
 अस्सकेन—७२
 अहमदनगर—२५
 अहमदशाह अब्दाली—८, १४
 अहमदावाद—२३, २५, २६
 अहिच्छत्रा—२०, ७५, ७६, १४१, १६६
 अहिल—४४
 अजु-अजुमी—१०६, ११०, २२१, १२५

आ

आंडून पाइरेटन—१०६
 आंडाई सिमुंडोन—१०६
 आंग्रि—२५, ७५, ६६, १०४, १२३, १३१
 आभि—७२
 आकर (पूर्वी मालवा)—२४, ६६
 आगमन-गृह—१६६
 आगरा—१४, १५, २२, २३, २४, २६, ६२
 आचारस्थितिपात्र—१७८
 आचीन—२००
 आचेर—१३५, १३७, १३८, १३६
 आजमगढ़—२२
 आजी नदी—१६
 आतिथ्य (बाहरीमाल)—८२
 आतिवाहिक (महसूल)—८०, ८२
 आदित्य—१४७
 आदिराज्य (अहिच्छत्रा)—१४१
 आदिस्थान—२१
 आबदान—२०३
 आभीर—६१, १००
 आयस्टर राक्स—११७
 आरव—७३
 आरवटी—२१५
 आराकान—२६, १२४, १२६

आर्कट—१७५
 आर्गायिर—१२५
 आर्जुनायन—६२
 आर्तक्षर—४७
 आर्तमिस देवी—१४१
 आर्देशर प्रथम—१७४, १७५
 आर्य—३, १५, २४, २८, ३५, ३६, ३७, ३८, ३९,
 ४०, ४१, ४२, ४५
 आर्यशूर—१४६, १४७
 आर्यावर्त—५६
 आर्षा—६३, ६४
 आलकंदक (मूंगा)—८७
 आलवक—१६
 आलवी (अरवल)—१६, १६
 आलावला (अरावली)—२३
 आलिका यक्षी—१४१
 आवश्यकपूर्ण—१६५, १६७, १७०, २०२
 आवसथ (विश्रामगृह)—४०
 आवेशन (धर्मशाला)—१६३
 आशाधर—२१५
 आष्टी—२६
 आसाम—२, ३, १२, १४, ६८, ८८, १२७, १२८,
 १३८, २००
 आसी—२१
 आस्थानमंडप—२२३
 आहार (नाविक)—१४७
 इ
 इंजिवेर (सोंठ)—४४
 ईदौर—२६, २३१
 इछावर—२६
 इटली—१०६, ११२, ११३, ११७, १२६
 इटारसी—२४
 इटावा—२३
 इस्सिंग—१८३, २००
 इन्द्र—३५, ४०, १४८, १७१
 इन्द्रधुम्न—१३६
 इन्द्रद्वीप—१३६, १७४

इवाडिउ (जावा)—१२५
 इब्न अल बैतार—१४५
 इब्न असीर—२०३
 इब्न कावान—२०५
 इब्न खुर्दादबह—२०५, २०६
 इब्नुल फकीह—२०७
 इब्राहीम—१४
 इरावरी नदी—१२४, १३८, १८७
 इलामुरिदेशम्—२२०
 इलाहाबाद—१२, १६, २३, ५०
 इषिक (ऋषिक)—६४
 इषी (ऋषिक)—६४
 इषुवेगा (वंचु नदी)—१३२, १३३
 इसिक कोल—१७६
 इसिडोरस—४
 इस्ताखरी—१६३
 इक्ष्वाकुकुत—१००

इ

ईराक—३, ७, ३०, २०२, २०६, २०७
 ईरान—३, ४, ५, ७, १३, २६, २८, २९, ३०, ३१,
 ३३, ३४, ३५, ३८, ६६, ७४, ८७, ९०, ९६,
 ९८, ९९, १२७, १६६, १७३, १७६,
 १८४, १९१, २०३

ईरानी कोहिस्तान—४६
 ईरानी मकरान—३०
 ईरीनन (कच्छ की खात)—११६
 ईशानगुरुदेव पद्धति—१८४, २१८
 ईश्वरदत्त—१६८
 ईसा—२४०

उ

उंड—८, ९, १०, ७१
 उक्कचेल (सोनपुर, विहार)—१७, १६
 उग्रनगर—१८
 उच-तुर्फान—१८३
 उजबक—५
 उजरिस्तान—१६, १७७

उज्जयिनी (उज्जैन)—५, २४, २५, ७६, ६८,

६६, १००, १०४, १०५

उज्जानक मठ—१३६

उज्जैन—१७, २३, २४, २५, ५०, ७७, ६०,

६५, ६६, ६८, १०२, १०५, १०७,

११७, १२२, १२८, १४४, १५६,

१६६, १७७, १८६, २३१

उड़ीसा-ओड़ीसा—६०, ६८, १००, १२०,

१२३, १३१, १३३, १४३, २०७, २१५

उड़ीयान (स्वात)—१६, २०, ६६, ७२,

१७६, १८७, १८८

उतानिपिस्त—६१

उत्कल (उड़ीसा)—१३१

उत्तरकुट—११, ४३, ६७

उत्तरपंचाल—४८, ५०

उत्तर पौरस्त्यवात—१७०

उत्तर प्रदेश—१५, १८, २०, २१, ३६,

५०, ६०, १७६

उत्तरापथ—१७, ६५, ८८, १६५, १७२,

१७३, २०१

उत्पथ (पगदंडी)—१६५

उत्सेचक (पानी उलीचनेवाला)—७६

उदमांड (उंड)—८, १०, १६, २०, ७१,

१७६, १७७, १६०, १६४

उदकमांड (उंड)—८, ६

उदयन—४८, ४६, १५२

उदाईमद्र—१५, ४६

उदीचीनवात (उत्तराहट)—१७०

उदुंबर—१५, १४२

उन्नता (जहाज)—२१३

उपगुप्त—१४१, १४३

उपनिधि—८४

उपरिशायेन—४५, ७१, ७४, ८६, ६०, ६१

उपशून्य—१८६

उंबरावती—१३२

उभयाभिसारिका—१७७

उमर (खलीफा)—२०६

उम्मेल केतेफ—११०

उरग—१४६

उरसा (हजारा जिला)—२०, १६०

उरमुंड (गोवर्धन)—१४१

उरवेल (गया)—१७, १६

उरयूर—१०७, ११६, १२३, १२६

उलूल बंदर—११३

उल्हास नदी—१०२

उषवरात—१०५

उष्ट्रकणिक—१३१

उस्मान—२०२

ऊ

ऊदवर्को—१४५

ऊर—३३, ४४

ऊर्ध्वदंडिका—२२३

ऊर्ध्वा (जहाज)—२१३

ऊन और ऊनी कपड़े—६६, ६७, ६८, ७७,

८२, १२६

ऋ

ऋग्वेद—३५, ३६, ३७, ३८, ३९, ४०,

४१, ४२, ४३

ऋषिक—६७, ६३, ६४, ६६, १०६

ए

एकदोणि (नाव)—५३

एकबातना—४, ६६

एक्सर—२२६

एमिडार्ड—११८

एटा—१६, २०

एनियस प्रोकेमस—१०६

एरंडपल्ली—१७५

एरियन—८

एरिया—७०

एलबद्धन—१३०, १३४

एलबुर्ज—४

एलम—३३

एलानकोन—१२३

एलानकोरस—१२३

एशिया—२, ३६, ४७, १०६, १३८, १८३,
१६१, २४०

एशिया-माइनर—३४, ३५, १०८, १३५,
१६४

एडुबुल चांतमूल—१००

ऐ

ऐतरेय ब्राह्मण—४०, ४१

ऐरोन टापू—२०५

ओ

ओजेन (उज्जैन)—१०४

ओङ्—६४, १३१

ओतला—१४१

ओपियान्—११३, १६०

ओपोन—११३, ११४, ११५

ओबोवला—ओबुवला—१२५, २०३, २०६

ओमान—६७, १६४, २०४

ओमाना—११५

ओम्माना—११५, १२१, १२८

ओरथ्युरा (उरैथुर)—१२३

ओरान्नबोस—११७

ओरिजा (अरिसि)—४४

ओरित—७३

ओरी—११५

ओर्तोस्पन—६१

ओर्रोहोथा (सुराष्ट्र)—१८४

ओवारक (मदी)—१०५

ओसिलिस—११०, ११३, ११४, १२१

ओहिंद (उंड)—८

औ

औतगीन—२०५

औदारिक सार्थ—१६६

औदुंबर—१५, ६२

औरंगाबाद—मुल्तान के पास—२३; आगरा
इलाहाबाद के रास्ते पर—२३; दक्खिन—

२५, २६, ६८

और्नोस—७१, ७२

औसान—११४

औसानी समुद्रतट—११४

क

कंक—११, १४, ६५

कंचणपुर—७५, ७६

कंजी (कांची)—२०५

कंटकसेल (घंटासाल)—१०१

कंटिकोस्सुल (घंटासाल)—१०१, १२१

कंठगुण (गजरा)—१५२

कंडुक (कंडुक)—१५३

कंडोन की खाड़ी—२००

कंधा—१४०

कंदर—१६, १७७

कंधार—५, १६, २३, २६, ३७, ३८, ७०, ७२,
६५, १११, १७६, १७७, १६१, १६२, १६५

कंपिल—१७, १८, ७६

कंपिलपुर—७५, ७६

कंबल—६६, ६७

कंबुज (कंबोडिया)—१२५, १३२, १८३, २०६,
२१०

कंबोज—११, ४७, ४६, ५०, ६७, ८८

कंसकार—१८०

कक्कोल (तकोपा)—१३३

कच्छ—५८, ६०, ६१, १०२, १०५, ११५, १६२
२०५

कच्छकार (काछी)—१८०

कच्छ का रन—२३, ११६, १६२

कच्छी गंदाव—१३

कजंगल (कौंजोल, राजमहल, बिहार)—१८,
१६, २१, ५०

कटाह—२२०

कटिहार—१२

कट्टिगारा—१२४

कट्टमारम् (वेड़ा)—४२

कडारम् (केदा)—२००

कडुलोर—६६, १२३

कराणकुज (कान्यकुब्ज)—१६, १८

कराहगिरि—६६

कड़ा—२१

कतवेदा नदी—१३४
 कतुर (जहाज)—२०८
 कथासरित्सागर—२१२
 कदंब—१००, २३१
 कनककेतु—१७१
 कनवावुरी नदी—२००
 कनारा—१००, १०५, १४३
 कनिष्क—६, २०, ६६, ६७, १०१, १०५, १०६,
 १०६, ११७, १४१, १७४
 कन्नौज—१४, २०, २१, २५, १२०, १३६, १८८,
 १६०, १६४, १६५, २०७, २१८
 कन्याकुमारी—२७, ६१, १०७, ११०, ११८,
 ११६, १२३, १५६, २२६
 कङ्गेरी—१०३
 कपास—३२, ४४, ८२, १२२, १३१, २०६
 कपिलवस्तु—१७, १६, २१, ४७, ४८, ५०, ७५,
 ७६, १५३, १८७, १८८
 कपिश—६, ७, १६, २०, ३७, ४५, ४६, ६७, ७०,
 ६०, ६२, ६५, ६६, ६८, १७६, १८७, १८८
 १६०, १६१, १६३
 कबरकान—१०५
 कबुर (काबुल)—६१
 कबूल-दबूल (पछिवाँ)—२०२
 कमर (कावेरीपट्टीनम्)—११८, १२१
 कमर (खेमेर)—१३२
 कमर की खाड़ी—११५
 कमलपुर (खेमेर)—१३१, १३२, १३४
 करकचा—७
 करकेतन (उपरत्न)—११, २१४
 करबिय (बन्दरगाह)—६२
 करमनासा नदी—२३
 करौंची—५, ३१, ७३, २०५
 करिकाल चोल—१०७
 करिपथ—५६
 कल्लूर—१२३,
 कल्लूर (दालचीनी)—४४
 कल्लूर (काबुल)—७, १२३

कर्ण कलचूरी—२१८
 कर्णधार—१४७, १५०, १५१, १७१, २२४,
 २२५, २२७
 कर्णप्रावरण—१३१
 कर्नाल-करनाल—२२, १६०
 कर्मरंग—२२०
 कर्मशाला—८३
 कलकत्ता—१२, १४
 कलात—११, ६
 कला में सार्थ—२३२ से
 कलाहवार—२०४, २०५, २०६
 कलिंग—५६, ६६, ७५, ७६, ८७, १००, १०६
 १०८, १२३, १२८, १३१, २०८, २१३,
 २१४, २१५, २०
 कलिंगपट्टनम्—१०१, १२३
 कल्लिगिकोन—१२३
 कल्याण—१०२, १०३, ११७, १२, १२८,
 १८४
 कल्लियेना (कल्याण)—१०२
 कलहण—१६५
 कलहात बंदर—११५
 कशेरुमान्—१७४
 कश्मीर—२, ३, १४, १५, २०, २२, २३, ३१, ४३,
 ८६, ८८, ६२, ६४, १००, १०२, १०६,
 ११०, ११७, १२०, १२२, १२६, १२७,
 १४०, १८२, १८६, १८७, १६०, १६३,
 १६५, २१८
 कश्यपपुर (मुलतान)—१३, ४७
 कश्यप मार्तण्ड—१८२
 कष्टवार—२८
 कशी (जाति)—३५
 कसूर—२०
 कस्पपाइरोस (कश्यपपुर)—१३, ४६
 कस्पपाइरिया—६२
 कस्पपपुर (कश्यपपुर)—५६, ४७
 कांगक्यू (कंक)—६५
 कांचाऊ—१८८

कांची—२१, ६१, १०७, १७५
 काजीवरम्—२५, २००
 कांडपट—१८१, २२३
 कांबोज—६३, ६४, ६५
 कांभू—६२, १८७
 कां से—१८८
 कांकजोल—१८, २१
 काञ्चोशान—७१
 काकान—१६१
 काँगड़ा—१५, १६४
 कागान तुर्क—१८७
 काजवीनी—२०६
 काठगोदाम—१८
 काठियावाड़—२३, ३०, ३१, ६०, १०१, १०२,
 ११६, १३२, १३५, १४३, १६०, १६२
 कादिसिया—१६१
 काननद्वीप—१६५
 कानपुर—२४
 काना—११४, ११८
 कान्तानाव (चमड़ा)—८६
 कान्यकुब्ज (कन्नौज)—२०, ७६, १८८
 कापिरी (बेग्राम)—७, ८, ६, १०, ११, १६
 ३७, ४५, ८६, ६६, १७६, १७७, १६३,
 १६४, १६५
 काफिर—१६४
 काफिरकिला—७१
 काफिरिस्तान—६, १६०
 काबुल—५, ७, ८, ६, १०, ११, १५, १६, २१,
 २२, २३, ६७, ७२, ६१, १०२, ११०, १११,
 १२७, १७७, १६०, १६१, १६२, १६३,
 १६४, १६५
 काबुल नदी—६, ७, ८, ६, १०, ११, ३७, ४७, ७०
 १८२, १६०, १६३
 कामरूप (आसाम)—२१, १७४
 कायल—१६१
 कायव्य—६
 कारमानिया—१६१

कारवार—११८
 काराकुम—४, ६
 काराकोतल—६
 काराकोरम—११, २६
 काराशहर—१८३, १८८
 कारुकार—८३
 कार्पटिकसार्थ—१६६
 कार्पासिक—११, १५३
 कार्पियन (दालचीनी)—४४
 कार्ले—१०३
 कार्पापण—१५१
 कालकम् (बर्मा)—१६१
 कालना नदी—२२
 कालपी—१५, २४
 कालपुर (बर्मा)—२१५
 कालमुत्त—१३०, १३१, १३४,
 कालाम—४७
 कालिकावात (तूफान)—१५६, १७०, २०२
 कालिदास—१७४
 कालिमेर की खाड़ी—१२३
 कालियद्वीप (जंजीबार)—१७०, १७१, १७२
 काली—११५
 कालीकट—२५, ११०, २०८
 कालीयक (जेम्बोडरी)—६७, ६८, १२८
 कावख्य (खावक)—६
 कावेरी नदी—२५, ६१, १०७, ११६, १५७
 १५८, १६१
 कावेरीपट्टीनम्—१०७, ११६, १२३, १२६,
 १२७, १३४, १५६, १५७, १५८, १५९,
 १६१, १८४, २१५
 काशगर—४, ११, १३३, १८२, १८३, १८६,
 १८८
 काशी—१२, ३६, ४७, ४८, ५०, ६६,
 ६६, ७५, ७६, ८७, १४३, १५६,
 १६०
 काशीपुर—२०
 काश्य—३०

कासगंज—१४१
 कासपगोत भिन्नु—५
 कासमस इंडिकोप्रायस्टस—१०३, १२४, १८४
 कासवग (नाई)—१८०
 कासिमबाजार—२३
 कासीकुत्तम (कपड़ा)—६६
 कासीय (कपड़ा)—६६
 किंग-लिंग—१८६
 किडारम् (केदा)—२२०
 किण्व (खमीर)—८२
 कितव (जाति)—११
 किताबुल अन्वा—२०२
 किन् लिन् (सुवर्णकुड्या)—१३४
 किपिन्—६३, ६४,
 कियॉग-लिन—१८७
 कियॉलिंग (कलिंग)—२०८
 किया चाऊ—१८०
 किया तु (कतुर)—२०८
 कियेन् ये—१८७
 किरगिज—११
 किरमान—१२८, १२६, १६५
 किरात—३६, १००, १०२, १३१, १३४, १३८
 किरिमदाना—८२
 किलंदी—१०७, १५७
 किलवा—११४
 किलात-ए-गिलजई—१६
 किस्सपुत—४७
 कीकट—२२३
 की-कियाङ्ना—१३७
 कीचक (बाँस)—१३७, १३८
 कीटगिरि—१६, १७
 कीलकान—२०५
 कुंतिनगर—१४१
 कुंतीयची—१४१
 कुंदमान—६, ११
 कुंज नदी—६, ११, १६२
 कुंभ (गुंज)—१३३

कुंभकार महत्तर—१५२
 कुश्मानयिन्—१८५
 कुएन लुन—क्विन लुन—११, १३८
 कुन्नूर-कुन्नूर—६४, ६६
 कुन्नूल कदकिस—६५, ६६
 कुटनीमतम्—२१६
 कुडक्क (कुर्ग)—७४
 कुडुवन—१५७
 कुणाला—७५, ७६
 कुण्णिद—६२
 कुतुबनुमा—१४७, २०६
 कुतुबुदीन ऐबक—१६२
 कुत्ते (भारतीय)—१२६
 कुदंग—२०४, २०५
 कुनार नदी—८, १०, ७२, ६१
 कुमा (काबुल नदी)—१०, ११, ३७
 कुमाऊँ—२०
 कुमारगुप्त प्रथम—१७५, १७७, १८६
 कुमारजीव—१८६
 कुमारदत्त—१८६
 कुमारदेवी—१६५
 कुमारवर्धन—१४१
 कुमारविषय—२१
 कुम्हारार—१७६
 कुररघर—१८
 कुरिया-मुरिया द्वीपसमूह—११५
 कुरुंवर—६६
 कुरु—४३, ४७, ५०, ७५, ७६
 कुरुजांगल—१७, १६
 कुरुष—३, ४५
 कुरुक्षेत्र—१४, १६, १६, २०, ३८
 कुर्ग—७४, १०७
 कुर्दिस्तान—१११
 कुल (स्थान)—८७
 कुलिक—१७७, १७८, १७९
 कुलिन्द—१३८
 कुलिन्देन—६२

कुलू—२०
 कुलती संस्कृति—३०, ३१, ३३
 कुवेर—१४६
 कुश्क—५
 कुवाण—४५, ६५, ६६, ६७, ६८, १०२, १०५,
 १०६, १०७, १२२, १७६, १८२, १८३
 कुवडा—७५
 कुवमाल—५६, १४८
 कुलीनारा—१७, १८, १६, २१, ४७
 कुसुमपुर (पादलिपुत्र)—४६, १७७
 कुस्थलपुर (कुडलुर)—१७५
 कुलिधार (खेवैया)—१७१
 कूचा—१८६, १८८
 कूची (कूचा)—१८३
 कूट—८७
 कूसांग—१८६
 कूप (मस्तूल)—६१
 कुमिराग—२१५, २१६
 कृष्ण—१६, ६८, १७३
 कृष्णपटनम्—१२३
 कृष्णमागर—३
 कृष्णा नदी—२५, १००, १०१, १२३, २००
 केकय—१६, १२६
 केतु (पुल)—३६
 केस—१६६, २००, २१०, २२०
 केन नदी—२४
 केन (हिरुनगोराब)—११०
 केना—१०६
 केनितार्ड—११८
 केप एलिकोट—११३
 केप नेम्रोस—१२४
 केप मौज—११५
 केपल—१०६
 केयहसबुड—१७
 केरल—१०७, ११८, ११६, १२२, १५७, १५८
 केलात-ए-गजनी १७७
 कैटन—१०३, १२४, १२७, १८५, १८७, १६६
 २०५, २०६, २०८

कैवर्त—१४७
 कैवर्ततंत्र—२२४
 कैश—२०५, २०६
 कैस्पियन समुद्र—३, ४, ३५, ३६, ४६, ६२, १११
 कोंकण—८७, ६८, ६९, १००, १०१, १०२
 १०३, १०६, १२२, १७२, २०३, २२६
 २३०, २३१
 कोंपु—१०७
 कोकचा—६
 कोकेले—१२४
 कोचीन—१०७, ११८, १२१
 कोचीन-चाइना—२६, १२४, २०४
 कोजव (कंबल)—६६, १७१
 कोड—२६
 कोटरी—१३
 कोटिबा (जहाज)—११६, १२१
 कोटिग्राम—१८
 कोटिवर्ष—७५, ७६
 कोटिवर्ष विषय—१७७
 कोटुवर—१५
 कोट्टायम्—१०७, ११०, ११७
 कोट्टार—१२३
 कोट्टियारा—२२३
 कोट्टूर—१२२, १७५
 कोट्टिवरिस (कोटिवर्ष)—७५
 कोर्नबट्टर—१०७, १२३, १२६
 कोरड—११२
 कोरकै—११६, १२६, १३१, १४३, १६०
 कोरत—२००
 कोरिम—१२३, १२४
 कोलंबिया—११६
 कोलकोर् (कोरकै)—१०७, ११६, १२३
 कोलपटन—१२१, १२४, १४३
 कोलातरपोत—११६
 कोलिय—४७, ४८
 कोली—२०५
 कोलो—११२

कोल्लगिरि—१३१

कोल्लूर मील—१७५

कोशाविक—१५३

कोष्ठ-कोष्ठानगर—१५१

कोसंबी (कौशांबी)—७५

कोसम (कौशांबी)—२७, ३८, ३९, ४७,
४८, ५०, ६९, ७५, ७६

कोवल—१६, १७, ३७, ३८, ३९, ४७,
४८, ५०, ६९, ७५, ७६, २१५

कोहकाक—४, ७०, ७१, १०६

कोइबाबा—६, १६०

कोह्वाट—१६०

कोहिस्तान—४६, ६१, १६४

कौटिल्य—५, ५९, ६०, ७६, ७७, १५३

कौडिन्य—१८३, २१९

कौनकेस (गोणक)—६६

कौरव—१४

कौराल (कोल्लूर मील)—१७५

कौवेरवाट (कविरीगडोनम्)—२१५

कौशांबी—१५, १६, १७, १८, १९, २४,
५०, ७६, ७७, ८७, ६०, १६९, १७४

फ्रेडियस—१३७

फ्रेडिसफोन—४, ११०

फयूल—२३

फाका इस्थमस—१३३, २००, २०५, २२०

क्रियाकार (नियम)—१५१

कुमु (खूर्म नदी)—३७

कॅगनोर—११०, ११२, ११८, १२३

कोरैन—११, ४३

कौचानम्—१४१

क्वांगसी—१३८

क्वांतन—२१०

क्वाला तेरोंग—२११

क्विलन—१२३, २०४, २०५

क्वेदा संस्कृति—२९

क्वेरोगिराड—१०४

ख

खंडचर्ममुंड—१३५

खंडपाचक—१५३

खंभात—६०, ११३, ११५, ११६, १३१, २०४,
२०५, २०७, २१५

खजलर बीमा—२२

खजरात—६६, १०४

खगान तुर्क—१७६

खजूर—१७, ६७, ६८, ७७, १४८

खत्ती साम्राज्य—३४

खनति व्यापारी—२३६

खमुराबी—३३

खरपथ—१३६

खस—११, ४६, ६८, १३३, १३३, १३८

खानदेश—२४

खानहू (कैटन)—२०५

खानाबाद—१०

खारक टाहू—२०५

खारान—६८

खारिखम—१७४

खाल-समूर—६७, ८६, १००

खावक—६, २०, ७१, १७७

खावत—१६

खिजान—६

खुरमाल (फारस की लाली)—५९, १३, २१५,
१४६

खुरासान—७, ७०, १७४, १६२, १६३, १६५

खूर्म नदी—१६, ३४, ३७, १७७

खूर्माबाद—२३

खुलम—६, ७१

खुसरो—२२, २३८

खुसरो नौशोरबी—१७६

खैन—२०५

खैबर—३, ८, ९, ६८

खैरखाना—७

खोतान—११, ६७, १११, १३६, १८२, १८३,
१८६, १८७, १८८

खोर-खीरी—११०, ११५

खोरास्म—४६

खोस्त—२०, १७७

खमेर—१३१, १३२

ग

गंगटोक—१२०

गंगण—११४, १३०, १३५

गंगदत्त—१३५, १३६, १३७

गंगा नदी—१२, १३, १४, १५, १६, १७, १८,
१९, २१, २२, २३, २४, २७, ३८, ३९, ४७,
४८, ४९, ५०, ५२, ६९, ७२, ७६, ८८, ११८,
११९, १२०, १२१, १२२, १२३, १२४,
१२७, १४२, १४४, १८८, १८९, १९०,
१९६, २१२, २१३

गंगासागर—२१

गंगे (तामलुक)—१२३

गंडी (अंगोड़ा बेचनेवाला)—१८०

गंजम—१७५

गंडक नदी—३८, १४२

गंडमक—२२

गंदारिस—४६

गंधमुकुट—१२७, १५२

गंधर्वद्वीप—१७४

गंधर्व (गायक)—१८०

गंधार—८, ९, १७, १९, २०, ३९, ४५, ४६, ४७,
४८, ६६, ६९, ७१, ७४, ८९, ९९, १००,
१०५, १७६, १८६, १९३

गंधिक व्यवहार—१८०

गंधीर (बन्दरगाह)—६२, १७०

गज नदी—२९, ३४

गजनी—१३, १४, १९, २१, २३, ७०, १७७,
१९३, १९४

गङ्गमुक्तेस्वर—२२

गणिम (गिने जानेवाले माल)—१६६, १७०

गत्वरा (जहाज)—२१३

गबरबंद—२९

गभस्तिमान—१७४

गयपुर (हस्तिनापुर)—७५

गया—१७, २१, १८९

गर्जभ (हवा)—१७०, २०२

गर्जिस्तान—१९, १७७, १९१

गर्दभ बल—१४१

गर्दमिल्ल—९५

गर्दज—१९४

गर्मका (नाव)—२१२

गर्भिजक (खलावी)—१७१

गर्भिणी (जहाज)—२१३

गलेशिया—१२९

गहपति जातक—२३७

गणियदेव—१९५

गांदराइटिस—९१

गांधिक—१०३

गांधु—१८८

गाजिउद्दीन नगर—२२

गाजीपुर—२१, २३, १७६

गामिनी (जहाज)—२१३

गादीकुई की खाड़ी—११३, १२१

गॉल—१२९

गाले बिस्त—७०

गाहडवाल—१९५

गिरिकोहूर—१७५

गिरिमन (जलालाबाद)—१६

गिरिस्क—७०

गिर्यक—१६

गिलगमेश—४२, ६१

गिलगिट—२, १४०, १८३

गीतलदह—१२

गुहूर—९९, १००

गुंघ—१३०, १३३

गुंभ (गुंघ)—१३३

गुग्रार (भाला)—१८०

गुजरात—२३, २४, २६, ७४, ९०, ९१, ९६, ९७,
९९, १०१, १०२, १०६, ११७, १६५, १७२,
१७५, १९२, २०३, २०४, २०७, २११, २१८

गुजरात (पंजाब)—२२, २३
 गुजरातवाला—२२
 गुहपात्रक—१५३
 गुणवर्मन—१०७
 गुणव्य—१३२, १३६
 गुप्तयुग—१३०, १३६, १५३, १५२, १७३, १७४
 १७५, १७७, १७८, १८०, १८१, १८३
 १८४, १८६, १८७, १८८, २३३
 गुरदासपुर—७२, ६२
 गुर्जर—१६२
 गुर्जर-प्रतिहार—१६०, १६२, १६४
 गुल्मदेय—८२
 गूजरीषाट—२४
 गृहचिंतक (फर्रा)—१८१
 गृहपटल (तंष्ट्र)—२२३
 गेहोसिया—७३, ७४, ११५
 गेवेल जवारह—२१५
 गोंडवाना—१७५
 गोंडा—१७, १८
 गोआ—२५, २६, २२६
 गोआरिस—१०३
 गोऊर्य—२१८
 गोणक—६६
 गोदावरी नदी—२४, २५, २६, ६८, १४४, १७५,
 २००, २०५
 गोमद—२४
 गोमदोऊर्न—६६, ६७
 गोपीनाथ पाईट—११६
 गोष्ठी रेगिस्तान—६२
 गोमती नदी—३७
 गोमतीबिहार—१८३, १८८
 गोमल नदी—२१, २४, ३७, १७७
 गोर—१६०, १६५
 गोरखपुर—१७, १८, २१, ४८
 गोरखगिरि (बराबर पहाड़ी)—१६
 गोरबंद नदी—५, ६, ७, ८, ११, २८, १६४
 गोराध (नाव)—२१२

गोरिस्तान—१६१
 गोरेया—६१
 गोलकुंडा—२५, २६, २७, ८७, २१५
 गोली—२३३, २३८
 गोल्ल (गोदावरी प्रदेश)—१६५
 गोवर्धन पहाड़ी—१०५, १४१
 गोविंदचंददेव—१६५
 गोविषाण—२०
 गोष्ठोऊर्न—१८०
 गौड (बंगाल)—१३७
 गौतम पञ्चाशति—१८६
 गौतम राहुगण—३८
 गौतमीपुत्र शातकर्ण—६५, ६६, १०१, १०४
 गौरयन—७२
 गौलिक—१५३
 गौलिमक—१६५
 ग्रथिन् (पूँजीपति)—४१
 ग्रहिक—२२६
 ग्राममहत्तर—१६६
 ग्रामलाड्डिक—२२२
 ग्रामग्रामा—१६६
 ग्लौचकायन—७२
 ग्वा (बर्मा)—१२४
 ग्वाल्लंदो—१२
 ग्वालियर—२६

घ

घंटासाल—१०१, १२३
 घनवितान (तंष्ट्र)—२२३
 घरमुख—१०३
 घृतकुडिक—१५३
 घोड़े—१७, ३१, ३५, ५५, ६६, ६७, ६८,
 ७७, ८६, ८८, १४२, १५७, १७३,
 २११, २३६, २३७
 घोषाधिपति—२२२

च

चंडप्रवोत—४६
 चंदन—४४, ६४, ६६, ६८, ८२, ८६, ८७,

१००, १०५, ११५, १२८, १३१,
 १३४, १४५, १४६, १४८, १६०, १७३
 २०६, २०६, २१०
 चंदनपाल—१०६
 चंद्रकांत मणि—६७
 चंद्रकेतु—२२४
 चंद्रगुप्त द्वितीय—१०८, १७५
 चंद्रगुप्त मौर्य—६६, ७४, ७८, ८६
 चंद्रदेव—१६५
 चंद्रभागा नदी—६६, १०४
 चंपा (भागलपुर)—१८, १६, ७५, ७६,
 १३१, १३५, १३७, १४२, १७०, १८६
 चंपा (अनाम)—१३४, १८३, २०४, २०५
 चंबल नदी—२४, ६१
 चंबा—१५
 चकोर—६६, १०४
 चक्राय—७७
 चटर्गोव—१२४, १३४
 चम्मयक (मोची)—१८०
 चरित—७६, ८३
 चरित्रपुर—१३३, १३४
 चयन—१०१, १०२, १०४, १२२
 चक्षुस् (बंछुनदी)—१३८
 चांग्गाल—१८६, १८७, १८८
 चांग्वाड—१८७
 चांग्तांग—१८६
 चाङ्कियेन—२, १३८
 चाङ्गिह—१८८
 चौदा—२१५
 चौदी—३१, ६७, ८६, १३१, १४६
 चान-तु (कुमार विषय)—३१
 चानतन (चंदन)—१०५
 चाबेरी (काबेरीपट्टीनम्)—१२३
 चारखड़ा—६, ७१
 चारीकर—७, २२
 चारुदत्त—१३१, १३२, १३३, १३६
 चाबोटक—१६२

चाई-जो-रहो—३४
 चिकाकोल—१०१, १२३, १३३, १७५, २१४
 चित्रकूट—५१
 चित्राल—३, १०
 चीन—२, ३, ४, ५, १४, १६, २०, ६८,
 ८६, ८७, ९०, ९४, ९६, ९७, १०५,
 ११०, १११, १२०, १२२, १२४, १२७
 १२८, १३१, १३२, १३३, १३६, १३७
 १४८, १७२, १८२, १८३, १८४,
 १८५, १८६, १८७, १८८, १८९,
 १९६, १९८, १९९, २००, २०१,
 २०३, २०४, २०५, २०६, २०८,
 २०९, २१४, २३३
 चीनस्थान (चीन)—१३८
 चीनी तुकिस्तान—२, २६
 चीनपति—२०
 चीनभुक्ति—२०
 चीरपल्ली (तिरु चिरपल्ली)—२१४
 चुंबी—१२७
 चुक्कर—२६
 चुनार—१५, ४६, ५०
 चु-कु-फाई—२०८
 चूर्ण—८७
 चूर्णगंधतैलिक—१५३
 चेदि—१७, २४, ४७, ४६, ७५, ७६
 चेनाब नदी—१३, २२, ४६, ७२, ७३
 चेमाङ्—१५
 चेयेन—१८७
 चेर—१०७, १०८, ११०, १११, ११८,
 १२३
 चेरेबोथू—११८
 चेरेसीनेसस—११८
 चैव—२००
 चोल—२५, १०७, १०८, ११०, ११६,
 १२३, २१४, २१६
 चोलमंडल—६६, १००, ११६, १२०, १२१
 १२७, २०५, २०७, २११, २१३, २१४

चौकी फल—२२

चौल बंदर—२६, १०५, ११७, १२२, १८४,
२०४

चैन (जंक)—२१३

छ

छंद (भोजन इत्यादि)—१६५

छत्तपथ—१३५, १३६, १४०

छिप (छीपी)—१८०

ज

जंक (जहाज)—११६, २१३

जंगर (जहाज)—११६, २१३

जंगलदेश—७५

जंघाला (जंक)—२१३

जंजीबार—११४, ११६, १३५, १७०, १७२

जंतपीलग (तेली)—१८०

जंदा—२१

जंबी—२२०

जंबुयाम—१८

जंबुद्वीप (भारत)—१४६

जंबुद्वीपप्रज्ञप्ति—१८०

जगदालिक—७, ४२, १६४

जगदीश सराय—२१

जगज्यपेट—१०१

जगुरी (जागुड)—१७७

जजीरतुल धरक—२०२

जगगुपथ—१३०, १३५

जनपदपरीक्षा—१६४, १६५

जनूब (दक्षिनाहट)—२०२

जबलपुर—२४

जबी (कोचीन-बाइना)—१२४

जमरुद—६

जम्मु—१२, १५

जयगढ़—११७

जयचंद्रदेव—१६५

जयदामा—१०२

जयनगर—४८

जयन्तिया—१२

जयसिंह—२३१

जयसी—२०३

जरंग—७०

जरफ्सा नदी—६३

जरासंध—१६

जलंधर—१२, २०, ६२, १७४, १६४

जलकैतु—२२४

जलपट्टन—१६३

जलरेज—१७७

जलालपुर—१६

जलालाबाद—५, ७, ८, ६, १०, ११, १६,
२२, ३७

जव (जावा)—१३०, १३३

जहाँगीर—२२

जहाँगीरपुर—२२

जहाज—३०, ३२, ४२, ४३, ६०, ६१, ६२,
७६, ६६, ११०, ११२, ११३, ११४,
११५, ११६, ११७, ११८, ११९, १२०,
१२१, १२२, १२४, १३१, १३२, १४५,
१४६, १४७, १४८, १४९, १५६, १७०,
१७१, १८४-१८६, १८६, १८७, १८८,
२०३, २०८, २१०, २१२ से, २३०-
२३१, २३२-२३६

जागुड—७०, १७७, १६०, १६१

जाजमड—२१

जाबुल (जागुड)—१६०

जाबुलिस्तान—१६३

जालना—२५

जालोर—२६

जाबा—८७, ८८, ११५, १३१, १३२, १३३,
१३४, १८३, १८७, १८६, २०५, २०६,
२०७, २०८, २११, २१६

जाहिज—२१६

जिगिबेरोस (सेंट)—४४

जिनगुड—१८६, १८७

जिनूर (चील)—२०५

जिर्म—१११

जीवक कुमारमृत्यु—१५, ४६, १४२

जुनैद—१६२, २०३

जुन्नर—६८, १०३

जेठक (नायक)—६५

जेतवन विहार—१८७

जेनोबिया टापू—११५

जेबल शिराज—६

जैला—११३

जोंग (जहाज)—२१३

जोगबानी—१२

जोहोर—२२०

जौनपुर—१६

ज्यूला—११०

ज्योतिरस (जेस्पर)—३१, ६७, १२६, २१४

ज्योह—११

झ

झंग—१४

झालोर—२६

झोंसी—२४

भूकर-संस्कृति—३१, ३४

भेलम नदी—१४ २२, ४६, ७२, ७३, ६२,

१११

भोब नदी—१६, ३०, १७७

ट

टंकण (तंगण)—१३२

टॉल्मी—७, १०, १०३, १०४, १०५, १०६,

१०६, ११०, १११, ११६, १२२, १२३,

१२४, १२५, १३३, १३४, १४१

ट्रिडिस—११०, १२२, १२७

टोंस नदी—२४

टोली (नाव)—४२

टोण थ्रेष्ठि—१६६

ट्राप्पगा (जहाज)—११६, १२१

ड

डमन—२६

डमरिका (तामिलकम्)—११८

डवाक (डाका)—१७४

डाकू—१८, १६, ४०, ५१, ५३, ५४, ६५,

७६, १२२, १२५, १४२, १४६, १५०

१६४, १६८, १७७, १८८, २००, २०१,

२०२, २०३, २०५, २०८, २१०, २१४

डाबरकोट—३३

डामोल—२६, ११७

डायामेकस—७४

डायोडोट—७४

डायोडोरस (पेरिम)—११४

डायोसकोडिया—११४, ११५

डासना—२२

डाहल—१७४

डिब्रूगढ़—१२

डूंगा—१०३

डेरा इस्माइलखॉ—१४, १६०

डेरा गाजीखॉ—५, १६०

डोंगरी—१०३

ढ

ढाका—२२, २३, १२८, १७४

त

तंग-ए-गारु—७

तंगण—६८, १३३, १३८, १७२

तंजोर—२५, २२०

तंबपण्णी (ताम्रपण्णी)—१३०

तकलामकान रेगिस्तान—१४०

तकोपा—१२५, १३३, २२०

तकोला—१२५

तककसिला नदी—१३०, १३४

तककोल—१२५, १३०, १३१, १३३, १३४,

२००

तगर (तेर)—६७, १०२, १०७, १२८

तगाओ—८

तमलि (दामलिंग)—१३०, १३४

तमसावन—२०

तमाल अंतरीप—१३३

तम्मुनि—१३४

तर (घाट)—१३६

तरणी (जहाज)—२१३

तरवेय—८२

तराय—२००

तरावकी—१४, २२

तरी (जहाज)—२१३

तर्नाक—१७७

तर्पण्य (घाट उतराई)—१४४

तलवन—१३१

तलीकान—२२

तलैतककोलम् (तकोपा)—२२०

तवाय—१३४, २००

तखशिला—४, ६, १०, ११, १२, १५, १६, १७, १८, १९, २०, २१, २७, ४५, ४६, ४६, ५३, ५५, ५६, ६६, ७१, ७२, ८६, ८०, ८५, ८८, १११, १३४, १४१, १७६, १८८, १८३

तांगकिंग—१८७, २०६, २०६

तांग-कुओ-शि-सु-१६६

ताजलिग—१३४

ताजपुर—२२

ताजिक—५

ताजिकिस्तान—६७, ८८, ६३

तासी नदी—१७, २४, ६८

ताप्रेषेन (सिङ्गल)—१२०

ताँबा—३१, ११३, ११५, ११८

तापी—११३

ताबुअम्—४३

तामलुक—१८, १२१, १२३, १२७

तामिलकम्—१०७, १०६, ११८, ११६, १२१, १२२, १२३

तामिलनाड—१००, १०७, १५३

ताम्रदीप (खंभात)—१३१

ताम्रपर्णी—१००, १०७, १०६, १३४, १७४, २१५

ताम्रलिति—५, १८, १६, २१, ७५, ७६, ७८, १०७, १३१, १३५, १५६, १६३, १७०, १७२, १८६, १८६, १८७, १८६, २२६

ता युधान (करगना)—६५

तारक—२२४, २२५, २२७, २२८

तारकोरी (मनार)—१२४

तारीम नदी—६६, १३८, १७५, १८३

तारीम शहर—२१६

ताशकंद—६७, १८२

ताशकुरगन—५, ६, ७१, १११, १३३, १३७, १७६, १८३, १८७, १८८, १८३

ता-शी (अरब)—२०८

तिपनशान पर्वत—६२

तिगिन—१८०

तिन्नवली—१०७, ११६

तिज्वत—१४, २०, २१, २६, ६८, १००, १२६, १२७

तिमिषिका (आर्तेमिस)—१४१

तिमोर—८७, १३४, १४५

तिमागुर—१०४

तिरमिज—६७

तिरहुत—१२

तिरुक्कुर—१०७

तिरुपति—१०७

तिलोमानन—१२३

तिलौराकोट—४७

तीज (मकरान में)—२०५

तीर्थ (घाट)—४०, १२४

तुंगभद्रा नदी—२५

तुंगार (हवा)—१७०

तुंडि—११८

तुंडिचेर (कपका)—१५७

तुंडर—११५

तुबार—३, ११, ६२, ६४, ६५, ६६, १७५

तुबारिस्तान—१७६, १६१, १६२

तुनहुआंग—१८३, १८७, १८८

तुर्क—३, १६, ४५, १७६, १७७, १८०, १८८, १६०, १६२, १६३, १६४

तुर्कमान—४, ५

तुर्किस्तान—२१, ३१, ३३, ३५, ६०, २०२

तुर्कानि-तुरफान—१६, १७६, १८३, १८६

तेजिन—४,७

तेर—११७

तेलवाहा नदी—५५

तेवर—२४

तेहरान—४,१११

तैमात—४३

तैलपर्णिक (चन्दन)—१३४

तोंडई—१०७

तोंडी देश—२१४

तोंडीमंडल—२१४

तोक्वीना—११३

तोकोसन्ना—१३४

तोखारि—६४

तोगरगू—११७

तोषा कौंकर—१६,१७७

तोसलि—१००,१२०,१४३

त्रौंग—२००

त्रावनकोर—१०७,११७,११८,११९

त्रिगर्त—६२

त्रिचनापली (तिरुचिरपल्ली—१०७,११६)

त्रिवर्तन (घोड़े की चाल)—३५

त्सामो-किउ-रस—१६,१७७

त्सु-थान-चू—२०६

थ

थयगुरा—४६

थाडे—१२४

थातुंग—१२५

थाना (कश्मीर के रास्ते में)—२२

थाना (बम्बई)—२६,१६२,२०२,२०७

थानेसर—१८,२०,२२

थार—३८

थिपिनोवास्टी—१२५

थीनी (नानाकिऊ)—१२०

थुकि (इसू)—४४

थुलकोटित—४६

थूला—१८

थोडि—१५७

द

दंडी—२३६

दंतकार—१५३

दंतपुर—७६,१००,१२३,१३३

दक्का—६

दजला नदी—४६

दशामित्री—८६

दधिमाल—५६,६२,६३,१४७

दधिक—१५३

दसमान—४

दमान (डमन)—२०४,२०५

दमिल—१००

दर-ए-हिंदी—८

दरद—४६,६३

दरवाज—११,६३

दरीपथ—१३५,१३६

दरेल—२०

दर्गई—१२

दशकुमारचरित—२३६

दशगण (दशार्थ)—७५

दशपुर—१०५

दशार्थ—७५,७६

दशत-ए-कबीर—४

दशत-ए-नाबर—१६,१७७

दशत नदी—३०

दक्षिण कोसल—८७,१७५,२१५

दक्षिणपूर्व तुंगार (हवा)—१७०

दक्षिणपथ—१०२,१०५,१७२

दाऊदनगर—२३

दावूच—५१

दात्रमाहक—७६

दान (कर)—८१

दानवेंद—१४६

दायोनिथस—७२,७४

दारा—३,१३,४६,६६,१६१

दारा तुतीय—४५,७०

दारा प्रथम—१३,४५,४६,५७,४६,७०

दासक—१४८, १४९
 दास-दासी—२२, ११७, १२५, १२६, १७२
 दास संस्कृति—२५, ३६
 दक्षिणात्यवाद—१७०
 दिमित्र—८६, ६०, ६१,
 दिल्ली—१२, १४, २२, २३, २५, २६, ४७, ८६,
 ६२, १६२, १६५
 दिव्यावदान—१४२, १४४, १४६, १४८
 दिशाक—४२, ५६, ६१
 दिसासंवाद—१३१
 दीपनिकाय—६१
 दीर्घा (नाव)—२१२, २१३
 दीर्घालिया (स्थान)—१७३
 दीर्घा—२६
 दुकूल—८७, १४३
 दुग्गमपुर—२१
 दूर्शा (कवचा)—४१
 दृषद्गती नदी—३७
 देबल—२०५, २०७
 देवगढ़—११७
 देवगाँव—२६
 देवपय—५१
 देवपुर—१६६, २००
 देवराष्ट्र (येल्लमुचिलि)—१७५
 देवविहार—१८८
 देशांतरभौंडनयन—१८०
 दैमानियत—११५
 दैशिक (मार्गदर्शक)—५१
 दोब्बाब—८
 दोन्नीज (लोमी)—२०२
 दोशाख—६
 दोसारने (तोपलि)—१२०, १२६
 दौलताबाद—२५, २६
 दुग्ग (बेंका)—४३
 द्रंग—३८, ४६, ६१, ६५
 द्रमियाणा—७०, १६१
 दविब—७४, १०६, १२१

दवा (माल)—१५१
 दोणमुल—७७, १६३
 दूयल—११
 द्वारका—११, ७५, ७६, ६३, १०५, १३४, १७३,
 २०२
 द्वारपाल—८
 द्विभाष—१३६
 द्वीपतिर—१७४, १८४, १६८, २०२, २११,
 ११२, २२०, २२१, २२४, २२५, २२८,
 २२६

ध

धन (व्यापारी)—१६६, १६७
 धनकुटा—४८
 धनदत्त सार्ववाद—१७७
 धनपाल—२२०
 धनमित्र—१७७
 धनवस्तु—१६६
 धनश्री—१६६
 धनिक—८४
 धरण—१६८, १६६, २०१
 धरमपुर—२२
 धरिम (तौल्लेजानेवाला माल)—१६६, १७०
 धर्मगुप्त—१८८
 धर्ममित्र—१८७
 धर्मयशस्—१८६
 धर्मरक्षित—१८२
 धर्माविसय—८३
 धातकीर्मगप्रतिष्ठा पर्वत—१३४
 धार—२१, २५, २६
 धारा—२१८
 धारणिक—८४
 धेनुकाकट—१०३
 धेनुकासुर—१४१
 धौलपुर—१५, १६, २१, २६
 न
 नंद—६६, १६७
 नदि सार्ववाद—१८७

नंदी—१८६	मागार्जुनीकुंड—१००,१०१,२३३
नंदुरबार—२६	नादिका—१८
नंबनोस (नहपान)—१०५	नादिरशाह—८
नकवा (उत्तरपूर्वी हवा)—२०२	नानकिङ्ग—१२०,१८७
नक्किरर—१६१	नानशान पर्वत—१८२
नगरदेवता—१४१	नानाघाट—२४,६८,१४४,२३१
नगरधेछि—१७७	नाममुद्रा—८१
नगरी—६०	नारदस्मृति—१५३
नगरहार—७,८,११,१६, ६६, ७१ ६०, ६८, १७६,१८२,१८८,१६४,१६५	नाल—२६,३३
नगोर श्रीधर्मराज—२२०	नालन्दा—१८,१८०
नजीबगढ़—२२	नालमलै—२५
नट—१४१	नाली यक्षी—१४०
नडियाड—९६	नावजा (नाविक)—४३
नरमारन—१६१	नाविकर्तव्य—२२४
नवाती—११०	नासस्थ—३५
नवोदिन—४४	नाधिक—२४,६८,६६,१०१,१०२,१०४,१२३
नरसिंह वर्मन—२००,२२६	निकन—११४
नरिन—६	निकामा (नागपट्टीनम्)—१२३
नरेंद्रयशस्—१८७	निकिया—७१
नर्मदा नदी—२४,६८,१०२,११६	निकुंठ (गुंठ)—१३३
नलमाल—५८,६२,६३,१४७	निगम—४१,१६३,१७८
नलिनी नदी—१३६,१४०	निजराष्ट्री—८,१६५
नलोपतन—१८४	निघान—११८
नवापुर—२६	निष्पुर—४४
नवाऊ द्वीप—१२५	नियर्कस—१३,७२,७३
नहपान—६४,६६,१०१,१०४,१०५	नियास—१२५
नहवाहण (नहपान)—१०४,१०५	निग्यामकजेट्ट—६१
नहान—२२	निग्यामक सुत—६१
नांगर (लंगर)—१६८	नियार्मक—६१,६३, ६४, ७६, १४५, १४७, १४६,१४८, १४९, १७०, १७१, १८५, १६६,१६८,२०२,२०६,२२६
नांगरशिला—१८५,१८६,२२७	निवेश—१६३
नांडेड—२५,२६	निरापुर—१६५
नाग—२१४	निवाद—१८,४०,१३१
नागदा—२६	निस्तर—६१
नागद्वीप—१४६,१७४	निहाबंद—१६१
नागपत्तन—२१४	निघेन-प्रवेश—१८०
नागपुर—२४,१५७	

नीकेफेरन—४

नीकोबार—१२५, १६६, २००, २०४, २०५,
२२०

नीया—१८३

नीलगिरि—३१

नीलकुसुमाल—६२, ६३

नील नदी—१३, ७८, १०६

नीलपल्ली—१७५

नीलभूति—१४१

नूबिया—६३

नूरपुर—१५

नेगापट्टम् (नागपट्टीनम्)—२५, १२३

नेहुंजेरल आदन्—१०७

नेहुमुडुक्किल्ली—१०७

नेपथ्य (वेष)—१६५

नेपाल—१७, २०, २१, ४७, १७२, १७४,
२०७

नेपालगंज—१७, ७६

नेबुला (मलमल)—१२८

नेबुशदग्नेजार—४४

नेलकिंडा—११०, ११८, ११६, १२१, १२२,
१२६, १२७, १२६

नेल्लोर—११६, १७५

नैतरी—१४०

नौ (नाव)—४२

नौकाप्यच्छ—७६, ८०

नौका-हाटक—७६

नौ-प्रचार-विद्या—२२४

नौमंड (लंगर)—४३

नौरंगाबाद—२२

नौशहरा—२२

नौशेरा—१२, १८, २२

नौसंक्रमण (नाव का पुल)—१४२

नौसारी—१६२

न्यासा—७२

प

पंचतंत्र—१८०

पंचपट्टन—२१४

पंचाल—४७, ४८, ४६, ५०, ७५, ७६, १४१

पंजकोरा—१७, ७२, ७६

पंजशीर—५, ६, ७, ८, ११, ७१, १६४

पंजाब—१०, १२, १३, १४, १६, २३, ३०,
३१, ३३, ३४, ३६, ३७, ३८, ३९, ४५,
४६, ४७, ५०, ६६, ७०, ७४, ७६, ८६,
८८, ८९, ९०, ९१, ९२, ९६, ९८,
१०२, १२६, १३३, १४२, १७४, १७६,
१६०, १६१, १६४, १६५

पंडु—१७०

पंडुसेन—१७०

पंपा—१६६

पक्थ—४६

पगमान—१६, २०, १७७

पटकुटी (तंबू)—१८१

पटकेसर—५

पटना—५, १२, १४, १५, २०, २१, २२,
२३, ८६, ६६

पटला (पटैला)—२१२

पटसम (तंबू)—२२७

पटौदी—२६

पट्टइल्ला (पटैला)—६८०

पट्टन—२६

पट्टनवाल—२६

पट्टिनप्पालि—१५८

पट्टु पाट्टु—१६०

पठानकोट—१२, १५, १६, १८, ६२, १४२

पट्टिनपलै—१६०

पट्टिनपाक्कम्—१५७

पणि—४०, ४१

परणार्ई (पनेई)—२२०

पडरौना—१८, ४८

पतंजलि—५०

पतिष्ठान (प्रतिष्ठान)—२४

पप्ता—११४

पत्ती—२०

पत्रपुत्रा (नाव)—२१२
 पयस—५१
 पद्मसामृतकम्—१७७
 पद्मावती—१७४
 पनेई—२२०
 पन्ना मृत्खला—२४ ; खान—२१५
 पपटर—१८, ४७
 पयागतिस्थ (प्रयाग)—१६
 परतोरकमांड (निर्यात का माल)—१६७,
 १६८
 परांतक प्रथम—२१६
 परिकयव—४६
 परिच्छेद्य (ऑल से ऑकने का माल)—१६६,
 १७०
 परिवर्तु प्रदेश—१६२, १६३
 परिविधु—२, ११, १८, ३८, ६२
 पर्वाणवग—१७
 पर्वाण—१६४
 पलक (पलककट)—१७५
 पलवल—२२
 पल्लव—२००
 पवस (चमका)—४१
 पशाई—१६५
 पशुप—११
 पश्चिम बर्बर (बार्बरिकोन)—१३२, १३३,
 १३५
 पङ्कव—३, ४, ३७, ४५, ६६, ६२, ६४,
 ६५, ६६, ६६, १०१, १०५, १०६, ११०,
 १२६
 पांडव—४६
 पांडिचेरी—११६, १२१, १२३
 पांडुरंग (कनरंग)—२२०
 पाण्डवाट (मथुरे)—२१५
 पाकिस्तान—३, ६, १२, २६
 पाटलिग्राम—१८, १६, ४८
 पाटलिपुत्र (पटना)—४, १५, २०, ३६, ४८,
 ४६, ६६, ७४, ७५, ७७, ७८, ७६, ८६, ६०,

६१, ६८, १०७, १११, १२३, १२७, १७६,
 १७७, १८८, १८९
 पाणिनि—७, ६, ५०, ५१
 पाताल—७३, ६१, १२२, १२७
 पातालुंग—२००
 पाथेयस्थगिका—१३७
 पादताडितकम्—१७७
 पानीपत—१४, १८, २०, २१, २२
 पापिका अंतरीप—११६
 पामीर—३, ४, २०, ३१, ६२, ६६, १७६, १७७,
 १८२, १८३, १८७, २००
 पारद—११
 पारशवास—२१५
 पारस दीव—१६६
 पारसमुद्र—८७
 पार्थव—४६
 पायाव—२०
 पार्वतीपुर—१२
 पालघाट—२५
 पालनपुर—२६, १०५
 पाल बंरा—१६०
 पालामऊ—४६
 पालितकोट नाग—१४०
 पालिबोथ (पाटलिपुत्र)—१३७
 पालेमबेंग—१३४, १६६, २०८, २१०
 पावा—१७, १८, १६, ४७, ७५, ७६
 पाखो नदी—२००
 पाहंग—२२०
 पिंग-धू-को-तान—२०८
 पिपलनेर—२६
 पिपीलक—६८
 पिरलाई—११४
 पिछपुर (पीठपुरम्)—१७५
 पीजन आइलैंड—१८, १२२
 पीठपुरम्—१७५
 पुद्गमेदन—१६, १२२, १६३
 पुंजुवर्बन—२०, २१

- पुडुकोट्टे—११६
 पुनर्वसु नाग—१४०
 पुन्नाड—१२२
 पुन्बंता-अपरंत—१७
 पुर्नदर—३५
 पुर्मकार—१५३
 पुर्विवा—७५
 पुरी—१३३
 पुठ—७२, १११
 पुर्तगाल—११३
 पुष्पपुर (पेशावर)—१०, १६, १७६, १८६,
 १८८
 पुष्पाद—१३१
 पुलक (रत्न)—२१४
 पुलकेशिन् द्वितीय—१८३, २३८
 पुलिंद—१३५, १७२
 पुलुमायि—१२२
 पुष्करणा (पोलरन)—१७४
 पुष्करवारि—४६
 पुष्करावती—८६, १०, ११, १५, १६, ३७, ७१,
 ८६, ६०, ६१, ११७, १२७, १७६
 पुष्पवात—१८६
 पुहार (कावेरीपट्टीनम्)—६२, १५६, १५८,
 १५६, १६०
 पूछ—२०, २२
 पूना—२४, २५, ६६, १०१, १०२
 पूषिक—१५३
 पूर्व कोयल—१६
 पृथ्वीराज—१४, १६४
 पेगु—२६, १२४, १२७, १३३
 पेदुकवांग (जहाज)—२३४
 पेन्नार नदी—१०७, ११६
 पेशाक—२११
 पेरिडिक्कास—७१
 पेरिडिस—६०, ६६, १००, १०२, १०३, १०५,
 १०६, ११२, ११३, ११४, ११५, ११६,
 ११७, ११८, ११९, १२०, १२१, १२२,
 १२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३५,
 १४३, १५७, २१३
 पेरिम—११४
 पेरियार—१०७, १५७
 पेस्नेर किल्ली—१०७
 पेशावर—५, ६, ८, १०, ११, १५, १५, २२,
 २३, ४७, ८०, ८३, ६१, ६७, ६८, १००
 १०७, १११, १२०, १४०, १५५, १६०,
 १६१, १६४
 पैठन—२४, ६८, १०३, १०४, ११७, १२२,
 १३१, १५६, २१४
 पोलरन—१७४
 पोडुके (पांछिनेरी)—११६, १२१,
 पोतप्पज—१६८, १६६
 पोतनपुर (पैठन)—१३१
 पोद्दालपुर (पैठन)—२१४
 पोथपत्तण (बंदरगाह)—१७०
 पोर्तदलाचीन—२०५
 पोल्नु-चा—६
 पोल्नैड—२६
 पौड—८७, २१५
 पौरवराज—७२
 प्युकेलादिस (पुष्करावती)—६१
 प्रभिधिवर्ग—१११
 प्रतिष्ठान (पैठन)—२५, ५०, ५५, ७७, ६८,
 १०४
 प्रथम कायस्थ—१७७
 प्रथम कुलिक—१७६, १७७
 प्रथम शिल्पी—१७७
 प्रपथ (विधामय्यह)—३६
 प्रभास—१०५
 प्रमाण—१२, १४, १५, १७, १६, २०, २१, २४,
 ६६, २१८
 प्रयाणक (पषाव)—२०१
 प्रवहण (जहाज)—१६७
 प्रसेनजित—४८
 प्रसियेन—६१

प्रक्षेप—८४

प्राङ्—६, ७१

प्राचीन वात (पूर्वी हवा)—१७०

प्राङ् (नाव)—२३४

प्रिययुगलन—१३१, १३२

प्रियदर्शना—२२४

प्रोम्पासिया—६१

प्रव (जहाज)—४३

प्राविनी (जहाज)—२१३

पिनी—४३, ४४, १०४, १०६, १११, ११८, ११६

१२४, १२६, १२७, १२८, १२९

फ

फणिक (फोनीशियन)—६१

फतहपुर सीकरी—२६

फतेहाबाद—२२

फनरंग—२२०

फरगना—६४, १७२

फरहखुद—१६४

फरह सराय—२२

फरहाबाद—१६

फलन—१६

फलवण्डिज—१४३

फारस—३२, ६३, १७२, १६६, २०४, २०७,

२१४, २१६

फारस की खाड़ी—३१, ३३, ४६, ७३, ८७, ६६,

१०६, ११४, १२१, १२४, १२७, १२८,

१७७, १४८, २०१, २०२, २०३, २०७,

२०८, २०९, २१४

फारा—७०

फार्स—२६, ३०

फाहियान—१६, १७६, १८४, १८५, १८७, १८८,

१८९

फिनीशिया—४१

फिरोजपुर—१२, १४

फिरोजाबाद—२३

फिलिस्तीन—२१४

फिल्लौर—२२

फियारित—(डांड-मतवार)—६१

फुनान—१३४, १८३, २१६

फो-लि-शि-तंग-ना—१६

ब

बंका—१३४

बंगाल—१२, १४, १५, १८, २१, २३, २४, २६,

८७, ८८, १०४, १२०, १२१, १२६, १३१,

१३२, १३४, १४३, १६०, २००, २१३,

२१६

बंगाल की खाड़ी—४, २६, ४३, १००, १०७,

१६६, १६६, २००, २०४, २०५, २१४

बंडोल की खाड़ी—२२०

बंदा द्वीप—१४४

बंदोग—१३३

बंयुम—२४०

बंबई—२४, १०२, १०३, ११७, २२६

बदख्शोन—११६

बकरे (माल डोने के)—३२, ६७, १३२,

१३६

बकरे (पोरकड)—११८, १२२

बगदाद—४, २०४

बाजियाति (हाथी)—४४

बडेविया—२३४

बडगर—१०७

बडापुल—२२

बबोदा—२४, २६

बदख्शौ—४, ११, २०, ६०, १२६, १७७, १८३,

१८८

बदर द्वीप—२११

बदरपुर—२२

बदन (उलिया)—३६

बनवास—१००, १०४

बनारस—१२, १४, १६, १७, १८, १९, २१, २२,

२३, २४, २६, २८, २९, ३०, ३२, ३६,

३७, ३८, ४०, ४०, १०६, १०७, १२८, १६६,

१८६, १८७, २१८

बनास नदी—१०४

बन्धु—१६, १७७, १८८, १९०

बयाना—२१, २५, २६

बरका की खाड़ी—११७

बरके (द्वारका)—१०५

बराबर पहाड़ी—१६

बरार—२४, ८७

बरावा—११४

बरैली—१२, ४८, ५०, १४१, १६६

बर्दवान—७६

बर्बर—८७, ११२, २१५

बर्मा—१४, ११, ६१, ६७, ६८, ८७, १२७, १२६

१३३, १४३, १४४, १६१, २००, २१५

बलत्र—२, ३, ४, ५, ६, ७, १०, ११, १५, १८, १९,

३६, ३७, ३८, ४५, ४६, ६८, ७०, ७१, ७४,

७७, ८६, ८८, ८९, ९२, ९३, ९६, १११,

१२७, १३७, १७२, १७४, १७५, १७६,

१८१, १८३, १८५

बलपटन—१०५

बलभद्रक—२२६

बलभामुल (भूमध्यसागर)—५६, ६२, ६३

बलहस्त ज्ञातक—६०, ६२

बलिया—२१

बलीता (वरकल्ल)—११६

बलुचिस्तान—४, ११, १३, २६, ३०, ३१, ३२,

३३, ३४, ३६, ३७, ४१, ४३, ४६, ६७, ७३,

८७, ८८, ८९, ९६, ११०, १२०, १३५,

१६१, १६२

बल्लभगढ़—२३

बल्लम—२०५

बवारिज (वावरिए)—२०५

बसई—२६

बसरा—२०४, २०५

बसाइ—१७, १७८, १३३

बसेन (बर्मा)—१२५

बस्तर—२५

बहरेन—१२६, २०२

बहुधान्यक—१६

बांदा—७६

बाइजेंटिन—१७६, १६१

बागसर—२२

बाजौर—७२

बाणभट्ट—१८०

बाड़ी—१६, २१

बाड़—२३

बादख़श—२०२

बानकोट—११७

बानाई (बनिचें)—२०८

बानिमाना (बनिचें)—२०८

बाबर—७, ६, १०, १४

बाबिल मंदिर—५६, ६३, ११६, ११३, १२४

बागपुर—३०, ३३

बाग़ान—२, ५, ६, १०, ७१, १७६, १८२, १८०

बार (किनारा)—२०२

बारजद (बेडा)—२०२

बारहोली—२६

बारन—१६

बारबुद (बलभी)—२०३

बारबई (द्वारका)—७५

बारा—६

बाराकपुरा—१२४

बारामूला—२१, २२

बारबुद्ध—२३४, २३६

बारीसाल—१००

बाबेरिकोन—११०, ११५, ११६, १२१, १२२,

१२५, १२६, १२७, १२८, १२९, १३३,

१३५

बालापाट—२५

बालापुर—१७

बालादिसार—१६३

बालेकुरोव—२०५

बावरी—२४, २५, ११५

बाँसवाका—२३१

बाह्लीक (बलस)—११, १५, ३८, ६३, १७५

बिबसार—४६, ५०, ६६

विलासपुर—२२, १७५
 विसूली—२२
 विहार—१२, १४, १५, १७, १८, २०, २१, ४८,
 ६८, १५०, १६०
 बीकानेर—३७
 बीजाप (हवा)—१७०
 भुंगपासोई—१२५
 भुंदेलखंड—१४, १५, २४, ७६
 बुद्ध—१६४
 बुधारा—६७, १६४, १६५
 बुधारी—२०७
 बुगहाजकुई—३५
 बुजुर्ग इज शहरवार—२०८
 बुतलक—७
 बुद्ध—१६, १८, २४, ४७, ४८, ४९, ५०, ५२, ६१,
 ६६, ७६, ८४, १४०, १४१, १४२, १४४,
 १५०
 बुद्धभद्र—२१४
 बुद्धभद्र—१८७
 बुद्धयसस्—१८६
 बुधगुप्त—१७७
 बुधस्वामिन्—१३०
 बुनेर—७१, ७२, ६१
 बुरहानपुर—२४, २६
 बुलंद शहर—१६, १६५
 बुलिय—४७
 बुस्त—७०
 बुबु—४१, ४२, ४३
 बेंकाक—१२५
 बैरा—१०३
 बैरा नदी—१४१
 बेकनास (सुंदखोर)—४१
 बेगाम—२२, ६७
 बेड—२०३
 बेतवा नदी—२४
 बेकयड—१७३
 बेरनीग—२१०

बेरावाई—१३४
 बेरिगाजा (भबोच)—१०९, ११३, ११६, १२१
 बेरिल्लोस (वैदूर्य)—४४
 बेरेनिके—१०६, ११०, ११२, १२२, १३५
 बेरोबेज (रवा)—१२४
 बेल्हारी—१०७, १२६
 बेसाती—१२०
 बेसिंगा—१२५
 बेसुंगताई—१३३
 बेस्तई—७०
 बेहमा—२३१
 बेहिस्तान—४, ६६, १११
 बैठन (पैठन)—१०५
 बैरागदु—२१५
 बैराट—७६
 बैलगामी—२६, ३२, ४०, ५७, ५८, ७७, १४८,
 १६३, १७०, २३६, २३८
 बोकन—१६, १७७
 बोधिकुमार—४६
 बोधिसत्त्व—५१, ५२, ५३, ५४, ५५, ५७, ५८,
 २३८
 बोधिसत्त्ववदान-कल्पलता—२१४
 बोरिविली—२२६
 बोनिथो—६७, १४३, १७४, २०६, २१०
 बोलन दर्रा—५, २६, ३४, ३७, १११, १६३
 बोलोर—२०, ६५
 ब्यास नदी—१६, १८, २०, ४४, ४६, ६६, ७०,
 ७२, १११, १६५
 ब्रह्मगिरि—१२६
 ब्रह्मनाबाद—७३, ८६
 ब्रह्मपुत्र—१२, ५६, १००, १२७
 ब्रह्मगणि—२१४
 ब्रह्मशिला—२१
 ब्रह्मा—१४६
 ब्राह्म—१६१
 ब्राह्मणी नदी—१६१

अ

भंगि—७५, ७६

भंडीसार्थ—१७६

भक्त (भक्ता)—८२

भगल राज—७२

भगवती आराधना—२१५

भगवानपुर—२६

भग्ना—४७

भट—१४१

भटिवा—१२, १३, १४

भडोच—१५, ६३, १०२, १०४, १०५, १०७,

११०, १११, ११३, ११६, ११७, ११८,

१२१, १२२, १२६, १२७, १२८, १२९,

१५६, १६२, २०२, २०३

भदरवा—२२

भदिया—१८, १९

भदिलपुर—७५

भदंकर (स्थालकोट)—१५, १४१

भदरान—१४१

भया (नाव)—११२

भरत—१६, ५१, ५२

भरतपुर—२१, २६

भरहुत—८८, १२०, २१२, २३२, २३६, २३७

भरुक—१८३

भरुकण्ड (भडोच)—५, २४, ६२, ७८, ९०,

९१, ९६, १०२, १०४, १०५, १०६, ११४,

११६, ११७, १२९, १३०, १३१, १३३,

१३४, १६३, १८४

भर्ग—४९

भविल—१४५

भविष्यत्कदा—२१२

भांड (माल)—१६७

भागलपुर—१२, १४, १८, २१, २३, ४८, १६५

भाटी—२५

भारत—२, ३, ५, ६, ७, ८, ११, १२, १३, १४,

१५, १६, १७, १९, २३, २६, २७, २, ८२६,

३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ४१, ४४, ४६,

४७, ४९, ५०, ६२, ६३, ६४, ६६, ६८, ६९,

७०, ७१, ७३, ७४, ७९, ८४, ८६, ८७, ८८,

९०, ९१, ९२, ९६, ९७, ९८, १००, १०३,

१०४, १०५, १०६, १०९, ११०, १११,

११२, ११३, ११५, ११६, ११७, ११८,

१२०, १२१, १२२, १२३, १२४, १२५,

१२६, १२७, १२८, १२९, १३१, १३८,

१४४, १४५, १५०, १५३, १५४, १५६,

१५७, १६२, १७३, १७४, १७६, १७७,

१७८, १८३, १८४, १८६, १८७, १९०,

१९१, १९२, १९३, १९४, १९५, १९६,

१९८, १९९, २००, २०२, २०३, २०४,

२०६, २०७, २१४, २१८, २१९, २२६,

२३३, २३६, २४०

भारतमाता—१२५

भारवहसार्थ—१६६

भिक्षपोत वणिज-वृत्ति—१३६

भिन्नमाला—२६

भिल्ल—१८०, २०१

भीटा—१६

भीम—१९

भीमभग्ना—६३९

भीमवर—२२

भीमा नदी—२५

भीष्म (रत्न)—२१४

भुज्यु—४२, ४३

भूदान—१२६

भूमक—६६

भूमध्यसागर—३, ५९, ६३, ६७, १०६, ११४,

१२६, १३१, १४८

भूमिदेशज्ञ—५०

भूतिग—१६

भेरा—७६

भेलसा—२४

भोगग्राम—१८

भोगनगर—१८

भोज परमार—२१२, २३१

भोज प्रथम (गुर्जर प्रतिहार)—१६०, १६२
 भोपाल—२५
 ब्रह्माला (कश्मीर में)—१४०
 म
 मंगरोध (मंगलोर)—१८४
 मंगलक—२२६
 मंगलोर (स्वात में)—२०
 मंगलोर (मदास)—१८४
 मंगोल—२, ७, ३८, ६२, १३३, २३६
 मन्बगाम—१८
 मन्त्रकोविद (इन्जीनियर)—५१
 मन्थरक—२२६
 मन्दर—११, १३८
 मन्दसौर—१७८
 मन्दा—११४
 मन्दावर—८, ७१
 मन्तूरा—१६३, २०३
 मन्त्र—६६
 मन्त्र—४६
 मकरान—२६, ३०, ३१, ७३, १६२, १६५,
 २०३, २०५
 मकरोटा—२२
 मक्का—२६
 मगध—१५, १६, ३७, ४७, ४८, ४९, ५०, ५२,
 ६८, ६९, ७२, ७४, ८७, १३६, १४२, २१५
 मगधयो (गलही)—१६३
 मघ—६८, १०७
 मघा यक्षी—१४१
 मच्छ (मत्स्य)—७५
 मच्छिकावर्ध—१८
 मछ (मत्स्य)—६६
 मज्जर शरीक—४, १०, ७१
 मणिहार—१५३
 मणिहार महत्तर—१५२
 मणिपल्लवम्—१५७
 मणिपुर—२
 मणिमेखला देवी—६०, ६१

मणिमेखलै—१५६, १५६, २१४
 मणिवती—१४१
 मति—१७०
 मतिपुर—२०
 मत्तवारण (केविन)—२२५, २३३, २३४
 मत्तियावर्ध (श्रुतिकावती)—७५
 मत्स्य—४७, ७६
 मत्स्यपुराण—१३८, १३९
 मथुरा—४, १५, १६, २०, २१, २२, २४, २५,
 ५०, ७५, ७६, ८६, ८७, ८८, ८९, ९०,
 १०२, १०७, १११, १२२, १३१, १४१,
 १४२, १६५, १६६, १७५, १८८, १६४,
 १६५, २१८, २३७
 मथुरा (मथुरै)—१०७, ११६, १२३, १२६,
 १३६, १३७, १५७, १६०, १६६, १७०
 मधुगु (जहाज)—२३६
 मद्र—१६, ४३, १७४
 मदास—४२, ६६, १०७, ११६
 मधुक (रांगा)—५०
 मधुमेत (मोहमेद)—६
 मध्य एशिया—२, ३, ११, ४३, ६७, ६८, ८६,
 ८७, ८८, ८९, १०२, ११७, १२३, १३६,
 १४३, १७२, १७५, १८२, १८३, १८४,
 १८६, १८७, १८२
 मध्यदेश—२, ५०, ७४, ८७, १८८
 मध्यभारत—२४, ८७, १७४
 मध्यमंदिरा (जहाज)—२१४
 मध्यमगच्छ—८७
 मध्यमा (नाव)—२१२
 मध्यमिका (नगरी)—६०
 मनमाड—२५, २६
 मना (तौल)—४३
 मनार की खाड़ी—८७, ११६, १२४, १२६,
 १२७, २१५
 मनीला—२६
 मनु—४४
 मनोह—४३

मनोरथदत्त—१६७, १६८

मनोहर—१४६

मरकणम्—११६

मरगुपार—१३०, १३४

मरुलो—१८४

मरुकातार—१३०, १३५

मरुवरपाकम्—१५७

मर्ग—३८, ४६, ४६, ६०, १११, १७४

मर्तवान की खात—१३३

मर्व—४, ५, ६७, १११, १६१, १६५

मलफका—१२५, १२८, २००

मलन—७३

मलय (भद्रिलपुर)—७५

मलय अकोन—१०४

मलय एशिया—८७, ८८, १२४, १३६, १४५

१८३

मलय पर्वत—६६, १०४

मलय प्रायद्वीप—१२१, १२४, १३३, १८३,

१६८, २००, २१०, २१३, २१६, २२०

मलय वस्त्र—११७

मलाका जल कमलमध्य—२००

मलाया—११५, ११८, १३३, १३४, १४५, २००,

२०४, २०६

मली—२०५

मलैयूर (जंजी)—२२०

मल्लान टापू—२०४

मलकन—२०४, २०५

मलद—४

मरकई—२६

मसालिया (मसुन्नीपट्टम्)—१२०

मसालि—१२७ से २०७

मसावा—११०, ११२

मसिरा टापू—११५

मसुत्तीपट्टम्—२५, २६, ११७, १२०, १२३

१२४

महमद गजनवी—१३, २३, १६४, १६५

महाकटाह (केदा)—१६८, १६९

महाकर्णधार—१५०

महाकातार—१७५

महाचीन (चीन)—२१४

महाजनकजातक—६०, ६१

महानाविक—१००

महानिर्देश—१३०, १३१, १३३, १३४, १३५,

१३६, १४०

महापथ—५१

महाभारत—४, ५, ६, ७, ८, ९, ११, १५, १६, १६,

२०, २१, ६४, ६७, ७३, ६३, ६४, १००,

१०६, १३१, १३४, १३७, १३८, १४३,

१५७

महामग्न—५१

महाराष्ट्र—२५, ७४, १००, १६५

महावराह—१६६

महावस्तु—१२७, १५२, १५३, १८०

महावीर—४७

महिद (महेंद्र)—६६

महिस्वति (माहिष्मती)—२४

महुरा (मथुरा)—७५

महेंद्रपाल—१६०

महेश्वर दत्त—१६७

महेश्वर यक्ष—१४६

महोदधि—४२

महोरग—१४६

मांडवी—११६

माधोतुन—६२

मार्कंदी—२०१

माकलि नदी—१५७

माहागाहर—२६

माहरिपुत विरि विरिपुरित दात—१००

मातामलिंगम्—२२०

माधुर अर्धतिपुत्र—४६

मादवि—१५८

मादामलिंगम्—१३४

मानकवरम् (गीकोबार)—२२०

मानभूम—७६

मानवोत्थास—२१४
 मापप्यालसू—२१०
 मायिकडिंगसू—२२०
 मारकस श्रीरैलियस—६७
 मारवाह—१४, २३, २५, ५८, १७४
 मारुफ हवा—२७२
 मार्गपति—१८०
 मालदीप—२०४
 माजवन—११७
 मालवा—१५, २३, २४, २५, ४६, ७६,
 ६०, ६८, ६६, १०१, १०२, ११७,
 ११८, १३१, १७५, १६०, २११
 मालाकैद दर्रा—१२
 मालाकार—१८०
 मालाकार महत्तर—१५२
 मालाबार—२५, ८७, १०४, १०७, ११८,
 ११६, १२१, १२७, १३४, १८४,
 २०७, २०८, २११, २१३, २२६
 माले (मालाबार)—१८४
 माली—११३
 माय (शिक्षा)—८०
 मासूदी—२०३, २०४, २०७
 मासूल—३६, ७६, ८०, ८१, ८२, ७३,
 १७६, १६६
 माहिष्मती (महेश्वर)—१७, २४, २५, ८७,
 माही—१०७
 मिग—१८२
 मिचनी—६
 मिश्रविदक—६२
 मिश्र (देवत)—३५
 मिश्रगुप्त—२३६
 मिश्रदात—६२, ६५
 मिश्रवर्मा—१३५
 मिथिला—१२, १६, ७५, ७६
 मिदनापुर—७६
 मिन्नगर—१०५
 निरहिना का प्याता—१२६

मिलिद—८६, ६०, ६१
 मिलिदप्रश्न—१६, १३१, १३६, १४६, २०६
 मिश्र—१३, २६, ३५, ४३, ४६, ७८,
 ७६, १०६, ११२, ११४, ११८,
 १२१, १२८, १२६, २०७
 मिहिरकुल—१६०
 मिहिला (मिथिला)—७५
 मीडिया—४३, १११
 मीरपुर खास—१७५
 मुंजवत पर्वत—१३८
 मुंडस—११३
 मुकोई—४६
 मुगल—८, २०, २२, २३, २६, ४५, ५२,
 ५४, ६५, ८०
 मुंगेर—२१, ४८
 मुचिरि-मुचिरि (केंगनोर)—८७, १०७,
 १५७, १६०
 मुजफ्फरपुर—१७
 मुजा—११०, ११४, ११५
 मुदा (पासपोर्ट)—७६, ८०
 मुदाप्यच्छ—८०, ८१
 मुदाराच्छ—१७७
 मुन नदी—२००
 मुरगाब नदी—१६१, १६३
 मुरादाबाद—२२, २३
 मुरिया (अकीक का प्याता)—११३
 मुकचीपट्टन (मुचिरि) १३१, १३४
 मुकण्ड—१०७
 मुकमु—४४
 मुलक (गलक)—६६
 मुलतान-मुलतान—५, १३, २२, २३, ४६,
 ४७, ७२, १६१, १६२, १६४, १६५,
 २१४
 मुसहर बिन मुहलहिल—२०७
 मुसेल बंदर—१०६, ११०, ११२
 मुहम्मदगोरी—१४
 मुहम्मद बिन काथिम—१६२

गूंगा—६७, ७८, ८२, ८७, १२६, १३१,
१४६, १५२, १५६, १६०, १७३,
२०७, २१५

गूल—८७

गूलवाण्डिज—१५३

गूलखर्वास्तिवाद—१५

गूलस्थानपुर (मुक्तान) १६०, २१४

गुला दर्रा—११, २६, ८७, १११

गुपिक—७३

गुपिकपथ—१३०, १३५, १३६

गुप्तिकावती—७५, ७६

गेंकी (मंगलोर)—२०

गेंड पथ—१३०

मेकोंग नदी—२००

मेगास्थनीज—३६, ७४, ७८, १३७, १३८

मेकता—२६

मेनाम नदी—२००

मेन्थियास—११४

मेमफिस—१२८

मेय (नापा जानेवाला माल)—१६६, १७०

मेरठ—१६

मेरू—११, १३८

मेन्नागे (कृष्णपटनम्)—१२३

मेन्जिगारा—११७

मेविलि बंगम्—२२०

मेवाणा—२६

मेवोपोदामिया—३२, ३४

मेहरोली—१७५

मैकाल पर्वत—२५

मैकासार—१३४, १४५

मैसलोप (मखुलीफ्टम्)—१२३

मैवोर—२५, ७४, १००

मोगादिशु—११४

मोचा—११४

मोजा—११०

मोहटन (कोकेले)—१२४

मोती—४२, ६७, ७७, ७८, ८२, ८६, ८७, ११०,

११२, ११३, ११७, ११६, १२०, १२३,

१२६, १२७, १३१, १३६, १४६, १५२,

१५७, १५८, १६०, २०४, २०६, २११,

२१५

मोदकारक—१५३

मोनोग्लोस्मोन—१२२

मोनोफिय—११४

मोलमीन—२००

मोलोनीन (मलय)—१२८

मोसिलम—११३

मोहमद—६

मोहिनजोदशो—३०, ३१, ३४, ३७, ४१

मौलिय—११

मौर्य—८, ३८, ७४, ७५, ७६, ७७, ७८, ८०, ८१,

८२, ८३, ८४, ८६, ८७, ८८, ८९

मौवालिया (कृष्णा नदी)—१२३

य

यंत्रकार महत्तर—१५२

यमन-यमनी—११०, ११४, २०५

यमली (कपड़े की जोड़ी)—१४२, १४३

यमुना नदी—१२, १५, १७, ६३, १६०, १६६

यवदीप (जावा)—१२५, १३१

यवन—३, ६६, ८६, ६०, ६४, ६६, १०१, ११६,

१३६, १५७, १५८, १६१, २३६

यवनपुर (सिफंदरिया)—१३१, १३२

यव्यावती (मोब नदी)—१७७

यशब—३१, ६७, ६८, १५२

यशोवर्मन—१८०

यहूदी—१०६

यक्षपालित—२२४

यक्षधी सात कर्ण—६६, १०३, ११६, २३३

याकूती—२०६

याकूष—१६३, १६४

याकूबी—२०३

यागनोबी—६२

याज्दोर्गिर्द—१६१

यात्रा (सबको पर) — ५५, ५८, ७८, ८३, ११०,
१३१ से, १४० से, १५७, १६३ से, १८१-
१८६, २०१, २११, २३६-२४०

यात्रा-वेतन — ७६

यान — १६६

यान-भागक — ८३

यारकंद — १११, १८३, १८८

यार्म — ६

यासीन — ८४, १८३

युक्किक्कलपतक — २१२, २१४, २३१

युक्तातीद — ६०

युम्मा (गांधी) — २२३

युधिष्ठिर — ६७, १००

युधान — १८७, २००

युवान क्वाब् — ७, ८, ६, १६, २०, ७०, १३३,
१७६, १७७, १८०, १८१, १८६

युवान पाठ — १८७

यु.वी (श्रमिक) — ६२, ६३, ६४, ६५, ६६,
१०६

युडेमन अरेविया (अदन) — ११४

युवीदम — ७४

युनान-युनानी — ३५, ७६, ८८, ८९, ९०, ९१, ९२,
९६, १०६, ११०, ११४, ११६, ११७, १२१,
१२३, १२४, १२६, १२७, १२८, १२९, १३५,
१७२, २३६

युरेनेडिस द्वितीय — ७८

यूशिया — ११

युडोक्कय — ७८, ७९

यूरोपशिर्वाद् रास्ता — ४

यूरोप — २८, १०६, १६४

योत (रस्सी) — ६१

योत (विकंदरिया) — १३०, १३३, १३५

यर्दिय — ६२, ६८, १०२, १०७, १७४

र

रंगराला नगरी — २२०, २२१

रंकिन्ना (नैरामक) — ७२, ७३

रक्कमणि — ३१

रक्कौल — १२

रजतभूमि — १२४

रतनपुर — १२८, १२९, २१५

रत्न — ५, ६, ७, ८, १२०, १२८, १२९, १६०,
२०६, २११, २१४

रत्नद्वीप (सिंहल) — ५६, १३३, १४८, १५०

रत्नाकर (अरब सागर) — ४२

रथ — ३५

रथ्या — ७७

रमठ — ६८

रमनक (रोमन) — १२२

रश्मिमाहक — ७६

रौंगा — ३१, ५०, ११७, ११८, १३४

रौंची — ३४

राजपुद् — १६, १७, १८, १९, २१, ४८, ४९, ५२,
५६, ६६, ७५, १४२, १४५, १८६

राजवाड — ६०

राजतरंगिणी — १६४

राजनपुर — ३४

राजपथ — ५१

राजपिप्ला — १२२

राजपुर — १३२

राजसग — ५१

राजमणि — २१४

राजमहल (बिहार) — १४, १८, २१, २३

राजमुदा — ८१

राजर — ६

राजराज महान् — २१६

राजस्थान — १४, १५, २१, २३, ३१, ७६, १०१,
१०२, १७४

राजापुर — २६

राजिलक — २२८

राजैचोल — १३४, २१६, २२०

राजौरी — २०, २१, २२

रानाबुर्द्ध — ३०, ३३

रानीवागर — २३

राम — ५१

रामगंगा—१६
 रामग्राम—२१, ४७
 रामनगर—१६६
 रामनी (सुमात्रा)—२०४
 रामायण—१५, १६, ५१, १६४, १३०, १३८
 रामेश्वरम्—२५, २०४, २१८
 रामेषु—२४०
 रामपुर—१७५
 रामविड—१२
 रामगंगा—२१५
 रामलपिंदी—१०, २२, ४६, ४७
 रावी नदी—२२, ४६, ७२
 राष्ट्रकूट—१६०, १६२
 रास एल कल्य—११४
 रास चेनारीक—११३
 रास नु—११५
 रास कर्तक (स्वामुस)—१०४, ११०, ११४
 रास पील—११३
 रास बेवास—११०
 रास बेजा—११३
 रास मलन—७३
 रास हंतारा—११३
 रास हन्किला—११२
 रास हलीक—११४
 रास हाइन—११३
 राहंग—२००
 रुद—१४८, १७०
 रुददत्त—१३२
 रुददामा—६६, १०२, १०४
 रुधिराक्ष—२१४, २१५
 रुम—७, २०७
 रुस—३, २६, ३३, ३५, ३६, ६०
 रैकटोसिन पर्वत—६२
 रेवत शेरा—१६
 रेशमी कपड़े—१, ५, ६६, ६७, ८७, ८७, ११६,
 ११७, ११८, १२०, १२३, १२४, १२७,
 १४३, १६०, १७२, १७८

रोबत आक—६
 रोम-रोमन—३, ४, ६७, ६५, ६७, १००, १०१
 १०३, १०६, १०८, १०९, ११०, १११,
 ११३, ११४, ११५, ११८, १२१, १२,
 १२३, १२४, १२६, १२७, १२८, १२९,
 १३१, १५६, १६१, २०२

रोमा (रोम)—१३१
 रोह प्रदेश—१८८
 रोहतक—१५, १६, १८, १४२
 रोहतास—२२
 रोहिणी नदी—४७
 रोहिलखंड—२०
 रोहीतक (रोहतक)—१५, १६, १८, १४२

ल

लंका (सिंहल)—७६, ७८, ८७, १००, ११२
 १८७, २१५
 लंकासुक (केदा)—२१०
 लंगाशोकम्—२२०
 लंछई—१०, ७१
 लंपक (लगमान)—७, ११, १६, १७६, १७७,
 १६०, १६१
 लकादी—२०४
 लखमऊ—१२, १७, २१, ४८, ७६
 लगतुरमान—१६४
 लगमान—१६, ६६, ७१, १६५
 लगारा—३३
 लताबंद—७
 लदाख—१८८
 लयनिका (रावटी)—२२३
 ललितादित्य—१६३
 लवीगिका—२२६
 लस्कर—१२
 लहरी बंदर (करोंची)—२५
 लक्ष्मी—२३३
 लांग चाऊ—१८६
 लांग बालुस (नीकोनार)—२०४
 लाओडीस—११७, ११८

लाञ्छनाङ्ग—६२
 लाकडूरी—३४
 लाजवर्द—६,३०,३१,३३,११६,१२६, २१४, २१५
 लाट (गुजरात)—१५, ७६, १०४, १७८, १८८, २०३
 लान-चाऊ—१२७
 लामु—११४
 लारिके (लाट)—१०४, १०५, ११६
 लालसागर—३, १३, ४६, ५६, ७८, १०४, १०६, १०८, १०९, ११२, ११३, ११४, ११५, १२६, १३१, १४७, १४८, २०१, २०३, २०६, २१५
 लावण्यवती—२२६
 लासबेला—१११
 लाहौर—१२, २२, २३, ४७, १६४, १६५
 लिमोर—२००, २२०
 लिच्छवी—१५, ४७, ४८, १४२
 लि-वान—१६६
 ली-कुआंग—१८६
 लुंग—१८८
 लुबिनी—२१
 लुधियाना—१६, २२
 लुसियानिया—१२६
 लूत—३८
 लूरिस्तान—३४
 लु-लान—११, ४३
 लैपस्कोस—१२५
 लेवाट—४३
 लोगर नदी—६, ७, ११, १६, १७७
 लोपनोर रेगिस्तान—१८८
 लोयंग—१८६
 लोला (जहाज)—२१३
 लोह (जाति)—६३
 लोहारानी (कर्षी)—२०५
 लोहितक—११२, ११३, ११७, १२८, १४६
 लोहमजोदडी—३४
 ल्हापा—१२७

व

वंकम् (बंका)—१३४
 बंग (बंगाल)—११, ७५, १००, २१४
 बंग (बंका)—१३०, १३१
 बंजी—१०७, १२२
 वंशपथ—१३७, १३८
 वंसपथ—१३५
 वंलु नदी—४, ५, ११, ७१, १११, १३२, १३३, १७२, १६५
 वखो—४, ११, २०, १०५, १७७, १८८, १६४
 वच्छ (वत्स)—७५
 वजीराबाद—१२, २२
 वजीरिस्तान—१६, १७७
 वज्जी—४८, ४९, ५०, ५२
 वडपेजार—२५
 वणिज् (बनिया)—४१
 वरगुजातक—२३६
 वरगुपथ—१३५, १३६
 वत्स—४८, ४९, ५०, ७५, ७६
 वनवास (उत्तर कनारा)—१४३
 वनसहय—२४, १४१
 वनायुज—८८
 वरकल्ली—११६
 वरणा (बारन, बुलंद शहर)—१६, ७५, ७६
 वराहमिहिर—२१५
 वरुण—३५, १४६
 वर्णधातु—८२
 वर्णासा (वनास नदी)—१०५
 वर्णु—१६
 वर्तनी—८०, ८२
 वर्धकी महतर—१५२
 वलभी—१६२, २०३
 वलयवाह (मस्तूल)—१७१
 वसंतपुर—१६६
 वसाति—७३
 वसु—१४८
 वसुगुप्त—२३२

वसुदत्त—२२६
 वसुदेवहिंडी—१३०, १३१, १३५, १३८
 वसुभूति—१६७
 वस्सकार—४६
 वाजसनेयी संहिता—४३
 वाना—८८
 वामनपुराण—१७४
 वायुपुराण—१३८, १३९
 वारंगल—२५
 वारवालि (वेरावल)—१४३
 वाराणसी—१८६
 वारिक—१५३
 वारिष (बारीसाल)—१००
 वारुण द्वीप (बोर्नियो)—१७४
 वारुणी तीर्थ—१६
 वासिष्ठिपुत्र चातमूल—१००
 वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि—६६, १०४
 विंध्य पर्वत—१२, १४, २३, २४, ८७
 विंध्यप्रदेश—१४
 विशोप शिक्का—१७६
 विकल्प (खेती बाही)—१६५
 विक्रम चालुक्य—२१८
 विजय—१६४, २३३
 विजयनगर—२५
 विजयवाड़ा—२५
 विजया नदी—१३२, १३३
 विह्वलभ—४८
 विदग्ध (विदग्ध)—६६
 विदिशा (भेलसा)—२४, २५, ६७, ६८
 विदेघ माथव—३८, ३९
 विदेह—३८, ३९, ६६, ७६
 विधि (रिवाज)—१६५
 विन्नुकोंड—११७
 विपाक सुत्र—१६४
 विम कदफिस—६६
 विमलक (रत्न)—२१४
 विलसाण—२०

विलासवती—१६८
 विलैप्पंदुरु (पांडुरंग)—२००
 विह्वल—२१७
 विवीत पथ—७७
 विवीताध्यक्ष—८०
 विशाखा मृगारमाता—१४५
 विशुद्धिमग—१८
 विशोक—२०, २१
 विष्णुपदगिरि—१७५
 विष्णुपदी गंगा—१३६
 विष्णुषेण—१७८
 वीहभय (वीतिभय)—७५
 वीतिभय—७५, ७६
 वीरगल—२२६, २३०, २३१
 वीरम् पटनम्—१२१
 वृकांग—१६२
 वृत्ती (कारा शहर)—१८८
 वृ-सुंग—१६३
 वृंदाटक—८
 वृजस्थान—१६, १७७, १६८
 वृजि—४७
 वृहत्कथा—१३२, १३६
 वृहत्कथाकोष—२१५
 वृहत्कथाश्लोकसंग्रह—१३०, १३२, १३५,
 १३६, १४६, १५२
 वृहत्कल्पसूत्रभाष्य—१६८, १७२, १७८
 वृक्षरोपक—५१
 वेंटस टेक्सटाइलिस (मलमल)—१२८
 वेगहारिणी शिला—१६८
 वेणुपथ—१३७
 वेताचार—१३५, १३७, १३६
 वेताधार—१३०
 वेत्रपथ—१३७
 वेत्रपाश (खंटा)—१४६
 वेत्रवर्मन्—१७७
 वेदसा (विदिशा)—२४
 वेन गंगा—२१५

वेनगुरला—२६
 वेयंद (नंठ)—=
 वेरंजा—१६, १७, १४१
 वेराड (वैराट)—७५, ७६
 वेरापय—१३०, १३४
 वेरावल—१४३
 वेलाकूल—२२३
 वेलातटपुर—१३६
 वेमुंग—१२५, १३०, १३३, १३४
 वेस्तेधियन—१२२
 वेस्संतर जातक—२३८, २४०
 वैकरे—१०७
 वैगई नदी—११६
 वैजवर्ती—१६८, १६९
 वैदूर्य—४४, ११२, १२३, १२४, १४६, १४२
 वैणयातट—२१५
 वैताव्य पर्वत—१३२, १३३
 वैरभ्य (वेरंजा)—१४१
 वैरामक—११, ७३
 वैशाली (वसाङ्क)—१७, १८, १६, २०, २१,
 ३६, ४७, ४८, ४९, ५२, ७६, १४२, १८८
 वैश्ववण—२२४
 वोनोनेज—६५, ६६
 व्याघ्रदा—२२६
 व्यापार—३१, ४०, ४१, ४४, ४५, ४६, ४७, ७६
 से ६६, ६८, १०६ से, १११, ११२, ११३
 ११५, ११६, ११७, ११८, १२०, १२३,
 १२४, १२५, १२६, १२७, १२८, १२९,
 १३२, १३५, १३७, १३८, १४०, १४१,
 १४२, १४३, १४४, १४५, १४६-१६१,
 १६२, १६३, १७०, १७१, १७२, १७३,
 १७६, १७८, १७९, १८०, १८१, १८४,
 २०६-२०८, २०९, २११, २१४, २१५
 व्युह—७७

श

शंकुपथ—५०, ५१, १३२, १३६, १४०

शंख—३१, ७७, ७८, ८२, १२५, १४६,
 १४२, १४७, १६६, २१४, २३३
 शंख (नाम)—५६, ६०, ६१
 शंख-वल्लभकार—१४२
 शंखिन (लम्पी)—४३
 शंखुक—७३
 शक—३, ११, २८, ४५, ४६, ६६, ६२,
 ६३, ६४, ६५, ६६, ६८, ६९, १०१,
 १०२, १०३, १०४, १०६, ११०,
 १७५
 शकदीप—४, ११
 शकस्तान—१६, १७, ७०
 शकुनपथ—१३६
 शकुलक—२२७
 शक्तिकुमार—=
 शक्तिदेव—२१२
 शक्तिधरी—६८
 शक—१४६
 शतपथ ब्राह्मण—३८, ३९, ४२
 शतमान सिक्का—४१
 शबर—२०१
 शरदंडा नदी—१६
 शरयलु—१४१
 शराव—६७, ६८, ८२, ८६, ११३, ११६,
 ११७, १२७, १२९, १४३, १६१,
 २०७
 शर्करावाणिज—१५३
 शलाहत (मलक्का स्ट्रेट)—२०४
 शङ्खजगदी—६
 शांखिक—१५३
 शांतुंग—१८६
 शाक्य—४७, ४८, ५०
 शातकणि—६८, १०४
 शादीमर्ग—२२
 शादुनर—१५६
 शाहला—१४०
 शाम (सिरिया)—२, ३, ३४, १०६, १२६

शालमनेस्वर तृतीय—४४
 शालिवाहन—३८, १०४, १०५
 शासक (कप्तान)—७६
 शाहदौलापुर—२२
 शाह-रुद—४
 शाहानुशाही—१०१, १७४
 शाही (काबुल के)—१६२, १६३, १६४, १६५
 शाहीगुंफ—३३
 शिकारपुर—५, २६
 शिल्पदिकारम्—१५६, १५८, १६०
 शिल्पावतन—१५३
 शिवास्तिक—१६
 शिवि—११, १३, ६६, ७२
 शोतोदा नदी—११
 शीराज—२१६
 शुंग—६८
 शुक्तिमती—७६
 शुमाल जरबिया (उत्तराखण्ड)—२०२
 शुल्क—४८, ७६, ८०, ८१, ८२, ८३, १४२, १४३, १४४, १५४, १७३, १७८
 शुल्कशाला—८१, १४२, १५४, १७३
 शुल्काध्याय—८१, ८२, १४२, १४३,
 शूरसेन—४७, ७५, ७६, १४१
 शूर्पारक (सोपारा)—१३१, १६६
 शृङ्गवान पर्वत—१४६
 शोसे—१८८
 शेल सैय्यद अमरीप—११४
 शेन् शेन् (लोप नोर)—१८८
 शेनहन्बिन (हाथी दौल)—४४
 शेवकी—१६३
 शेव (आनिक्ख)—११२, २१४
 शैरीषक (सिरसा)—१६
 शैलारवाही—१०३
 शैलेंद्र—२१६
 शैलोदा नदी—१३७, १३८, १३९
 शो-पो (जावा)—२०८

शौडिक—६४
 शौरसेन—४६
 श्रावस्ती—१२, १६, १७, १८, १९, २१, ३६, ५०, ५५, ७५, ७६, १०७, १२०, १२२, १४१, १४२, १४५, १७०, १८८, १९७
 श्रीकालम् (बिकाकोल)—१३३
 श्रीकुंजनगर—१४६
 श्रीदेव—२००
 श्रीनगर—२२
 श्रीपुर (सीरपुर)—१७५
 श्रीपुर—१६७, १६८
 श्रीविजय—१८३, १६६, २००, २१०, २१६, २२०
 श्रेणी—६१, ६४, ६५, ८२, ८४, ८५, १४४, १४६, १५३, १५२, १५३, १७३, १७८, १७९, १८०
 श्रेष्ठि—४१, ६५, १३५
 श्रोणापरान्त (बर्मा)—१४४
 स्वेतविका—१६७

स

संक नदी—१२३
 संकाश्य (संकीसा)—२०, १८८
 संकिस्व (संकीसा)—१६, १८
 संकीसा—१६, २०
 संकुपथ (शंकुपथ)—१३०, १३१
 संग बुरान—६
 संगम युग—५५
 संगर (जहाज)—११६
 संगडम्-चग्नाटम् (संघाट)—२१३
 संघदत्त—१८७
 संघदाय—१३०
 संजयती (संजान)—१३१
 संजज्ञी—२०५
 संडिक्ख (संडीला)—७५, ७६
 संडीला—७६
 संदन—१०२, १०५, १०६

संदान—२०५
 संश्रुति—७४
 संभलपुर—१२३
 संभूपसमुत्थान—६५
 सई (शक)—६२
 सकरौली—६४
 सकरौली—६४
 सकुनिय—१३५
 सफर—१३, ६६
 सक्तुकारक—१५३
 सगमोत्तेगेने (लहर)—१२८
 सगरती—४६
 सगा—६२
 सचताद्वितीय—११४
 सद्यारद्वीप—१३४
 सङ्कट—२६-२७, ३६-४०, ४०-४१, ७७, ७८
 ८०, १५६, १५७, १८०
 सतपुष्पा—२३, २४
 सतलज नदी—१३, १४, १६, २२, ७२, ६२
 सतगिद—४६, ७०
 सत्र (धर्मशाला)—१३६
 सदानीरा नदी—३८, ३६
 सदिवा—१२
 सद्धम्म पञ्चोत्तिहा—१३८, १४०
 सद्धर्मस्थलपुस्तान सूत्र—१३७
 सतसिधु—३७
 सफेद कीड़—८, ६
 संबंध—१२५
 सबरी नदी—१२३
 सभा—५२, ५३, १६३
 सभाकार—५१
 सभाराम् (बरार)—८७
 समंशान—६
 समतल—१७४
 समरकंद—५, ६७, १११, १६५
 समरकेतु—२२०, २२८
 समरद्विषकहा—१६७, १६८, २००

समरी—३४
 समानो—१६५
 समितकारक—१५३
 समुद्रगुप्त—१७४, १७५
 समुद्रदत्त—१६७
 समुद्रदिला—१३६
 समुद्रपट्टन (सुमात्रा)—१४३
 समुद्रप्रस्थान—१००
 समुद्रयात्रा—३२, ४१, ४२, ४४, ५८ से, ७७,
 ७८, ७९, १०१, १३३, १३४ से, १४३,
 १४३, १४६-१६०, १६६ से, १८४-१८६,
 १८६ से, २०८-२०९, २१६ से
 समुद्री लकड़ी—२२६ से
 सरगी—७०
 सरंदीब-सिरंदीब—२०४, २०५
 सरयू नदी—१६
 सरवार (गोरबपुर)—२०
 सरसरा—२६
 सरसुत्र—६८
 सरस्वती नदी—१६, ३७, ३६, १८१
 सरहिंद—१६, २२
 सरापियन—११४
 सरापिस—११५
 सराबौब की खाड़ी—१३३
 सराय अल्लाबंदी—२६
 सर्वदेव विशुद्ध—८३
 सर्वमंदिरा (जहाज)—२१४
 सलाहत (जावा)—१४५
 सलीचे (सिंहल)—१२४
 सलानी—१२५, १७६, १६१, १६२, २३०
 सहजानि—१६
 सहदेव—१३१, १३४
 सहारनपुर—१२, १७, २२
 सहैठमहट—१७
 सप्रादि—२४, २५, ६६, १०२, १४४
 साँची—५, २३३, २३७
 साँचा की खाड़ी—२०५

सान्यात्रिक—१३५, १३६, १४७, १४८, २२४
 साइपस—१२६
 साकल (स्यालकोट)—१५, १६, १८, २०,
 ८६, ६०, १६३
 साकेत (अयोध्या)—१८, १९, ७५, ७६, ८६,
 १४१, १८८
 सागरद्वीप (सुमात्रा)—१३१
 सागर-व्यापारी—१३६
 साडा—१२४
 सातकण्ठी—६६, १०२
 सातवाहन—६८, ६९, १००, १०१, १०२,
 १०३, १०४, १०५, १०६, १०७, १०८,
 १०९, ११७, ११८, ११९, १२५, १८०,
 २३३
 सादेन (कपडा)—४४
 सान-फो-त्सी—२०८
 सातुदास—१३५, १३६, १३७, १३८, १३९,
 सानुदेव—१६८
 सारगन—१०२, १०६
 सारनाथ—६७
 सारमांड—१६६
 सारा—२०५
 सार्बोमिक्स पर्वत—१२२
 सार्थ—१, २६, ३६, ५४, ५७, ६५, १३१,
 १३२, १४२, १४४, १४८, १४९, १५८,
 १६३, १६६, १६७, १६८, १६९, १६८,
 २०१, २३६
 सार्थवाह—५, २६, ३१, ४१, ५६-५७, ५८,
 ६५, ७६, १४३, १४६, १६३, १६६,
 १६७, १६८, १६९, १७७, १७८, १८७,
 १८८, १८९, २०१, २३२
 सार्थिक—२०१
 सार्बभूमि नगर (उज्जैन)—१७७
 सालीग—६, १०
 सालबला—१४१
 सालसेट—१०३
 सालिकला—१४१

सावतबी (थावल्ली)—७५
 सावित्री नदी—११७
 सासाराम—२३
 सिंगान-कू—१११, १२७
 सिंगोरा—२००
 सिङन—४३, ४४
 सिदान (डमान)—२०४
 सिद्धिमान—७३
 सिध—३, ५, ८, ९, ११, १२, १३, २०, २३, २६,
 ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३६, ३७, ३८, ४३,
 ४४, ४५, ४६, ४७, ५८, ५९, ६६, ७०, ७२,
 ७३, ८८, ८९, ९०, ९१, ९५, ९६, १०२,
 १०५, ११५, ११८, १२१, १२६, १२८,
 १३२, १३५, १४६, १६५, १७२, १७५,
 १८०, १८१, १८२, १८४, १८५, २०२,
 २०३, २०५, २०६, २०७, २२६
 सिध सागर दोषाव—१४
 सिधु (कपडा)—४३, ४४
 सिधु नदी—४, ५, ८, ९, १०, १३, १४, २०, २९,
 २६, ३१, ३७, ३८, ४५, ४६, ५८, ६६, ७०,
 ७१, ७४, ८६, ९१, ९५, ९६, ११०, १२२,
 १३३, १३५, १८३, १८८, १९०, १९१,
 १९३, १९४, १९५, २०३
 सिधुसागर संगम—१३२, १३३, १३५
 सिधु-सोबीर—७५, ७६, १३६
 विक (चंपा)—२०४, २०५
 सिद्धपुर—१६०
 सिहल—५६, ६०, ६२, ६७, ७७, १००, १०६,
 १२०, १२४, १२६, १२८, १२९, १३१,
 १३२, १४८, १५०, १८८, १८९, १९६,
 १९७, १९८, २००, २०२, २०३, २०४,
 २०६, २११, २१४, २१५, २३३
 विकंदर—३, ७, ८, ९, १०, १३, ४५, ४६,
 ६६, ७०, ७१, ७२, ७३, ७४, ८६, ८८, १६३
 विकंदर बाघी—१२४
 विकंदरा—२२, ६३

सिकंदरिया—३, ६३, ७०, ७१, ७३, ७६, ७८,
८७, १००, १०६, ११०, ११५, ११६,
१२२, १३१, १३२, १३३, १३५, २१५,
२३३

सिजिकस—७६

सितपट (पाल)—६१, १६७, १६८, २२५

सिद्धकच्छप—१३५

सिनिंग—१०७

सिमुक—६८

सिरसा—१६

सिल्लुकस—८, ७४, ७८

सिल्लुकिया—४, ११०

सिरिटन—६६

सिरितल—१०४

सिरि तुलामान—१०४

सिरौज—२६

सिरोही—२६

सिलियस (सीतोदा नदी)—१३८

सिल्लास (सीतोदा नदी)—१३८

सिक्क—१००

सिहोर—२६

सीता नदी—१३८

सीधपुर—२६

सीधुकारक—१५३

सीपरी—२६

सीमाप्रांत—३८, ६८

सीरदरिया—४५, ६०, ६७, १८२

सीरपुर—१७५

सीराफ—२०४, २०५, २०६, २०८

सीरेन—६५

सीवग (जौ)—१८०

सीसा—३०, ३१, ११३, ११७, ११८

सीस्तान—७३, ६५, १६१, १६२, १६३, १६५

सुंगयुन—१६, १७६

सुंवरभूलात—२०४, २०५

सुंमनारगिरि—४७, ४६

सुब्बयानक—५३

सुगंधित द्रव्य—५, ६७, १२८, १४५, १७१,
१७२, १७३, २०६, २०७, २०८, २१०,
२११

सुग्ध—४, ११, ३८, ४६, ७१, ६५, ६६, ६७,
१८३

सुत्तनिपात—२५

सुतिवर्द्ध (शुक्तिमती)—७५

सुपारग कुमार—१४६

सुप्पर (सोपारा)—१०५, ११७

सुप्पार (सोपारा)—१३०, १३३

सुप्पारक (सोपारा)—१८, २४, ६१, ६२

सुप्पारक कुमार—६१

सुप्पारक जातक—६२

सुपारा (सोपारा)—२०५

सुबुक्कगीन—१६४

सुभगसेन—७४

सुभाषित रत्नभांडागार—२१६, २१७

सुमुति—७२

सुमति—१००

सुमात्रा—२६, ८७, १२०, १२५, १३१, १३४,
१४३, १८०, १६६, २००, २०४, २०६,
२०७, २१०, २१६, २२०

सुमेर—३०, ३१, ३३, ३५, ४१, ६६

सुरठ (सुराष्ट्र)—१३१, १३३, १३४

सुराष्ट्र—७४, ७५, ७६, ६०, ६१, ६५, १७५,
२०३, २१५

सुराष्ट्रेन (सुराष्ट्र)—६१

सुरेन्द्रसत्—१३१

सुर्बकद—८, १६४

सुर्बाव—५, ६, ७

सु-लु-किन—२०

सुलेमान पर्वत—३८, ४४, १६४

सुलेमान सौंदगर—२०५, २०७

सुल्तानपुर—२२

सुवदन—१६६

सुवर्णकार—१८०

सुवर्णकुट्या—८७, १३४

सुवर्णकूट—१३४
 सुवर्णदेव—१८३
 सुवर्णद्वीप—१६, ६१, १००, ११८, ११६,
 १२०, १२३, १२४, १२६, १३२, १३७,
 १३६, १४६, १७०, १६७, १६८, १६६,
 २२४
 सुवर्णपुष्प—१८३
 सुवर्णप्रस्थ—१४१
 सुवर्णभूमि—६०, ६२, ७८, ८७, १३१, १३४,
 १३८, १३६, १४३, १४७, १८३, १६७,
 १६६, २००
 सुवर्णरेखा नदी—१२३
 सुवास्तेन (सुवास्तु)—६१
 सुवेल पर्वत—२२१, २२७
 सूडान—११२
 सुती कपड़े—६६, ८२, ६७, १०३, ११२, ११५,
 ११६, ११७, १२८, १३२, १६०, २०७,
 २१४
 सूत्रकर्म-विशारद—५१
 सूद—८४
 सूपर (सोपारा)—१०२
 सूरत—२४ २६
 सुर्पर (सोपारा)—२१५
 सूर्यकांत मणि—६७
 सुवकार (रसोइया)—८०
 सूसा—३०, ३३
 संगुडुवन—१०७
 सेंडोवे—१२४
 सेगन—१८८
 सेगॉव—२०५
 सेचवान—१३८
 सेटगिरि—६६, १०४
 सेतव्या—१७
 सेतु (पुल)—३६, ७७
 सेन्नेवेरीब—४४
 सेफ अलतवील—११४
 सेमिला—१०३

सेमिल्ला (चौल)—१०५, ११७
 सेयविया (सेतव्या)—७५
 सेरिंगायट्टम्—१२२
 सेरिव बंदरगाह—६२
 सेलग—४०
 सेलम—१०७
 सेलिबीज—१४५
 सेसकिनी—११८
 सेहबाबा—७
 सैदपुर भीतरी—१७६
 सैधवाघाट—२४
 सैभूर (चौल)—२०४
 सैग्यदराजा—२३
 सोकोत्रा—११०, ११४, ११५, १२६
 सोमिद—७३
 सोन नदी—१४, १६, २३, २४, ६६
 सोनपुर—१७, १८
 सोनमियानी की खाड़ी—१११, ११५
 सोना—३०, ३१, ६७, ६८, ७७, ८६, ६७, १००,
 १०१, ११५, १२४, १२५, १२७, १३७,
 १३८, १४८, १४६, १५८, १७३, १६८,
 १६६, २०७, २०६, २१०, २११
 सोनीपत—२२
 सोपट्टिनम् (मरकणम्)—११६
 सोपात्मा—११६, १२१
 सोपारग (सोपारा)—१०५
 सोपारा—१८, १०२, १०३, १०६, ११७, १३३,
 १३४, १४४, १४६, १४७, १५१, १८४,
 २३१
 सोमनाथ—१३, १६४, २०५, २१८
 सोमाली—६३, ८७, १०६, ११०, ११३, ११५,
 १२१, १२७, १७२
 सोरिय (सोरो)—७५, ७६
 सोरेय्य (सोरो)—१२, १६, १७, १८
 सोरो—१६, ७६
 सोवीर (सिंध)—१७, ६२, ८८, १३१, १३५,
 १७३

शीम—७२
 शीम्य द्वीप—१७४
 शौराष्ट्र—१८४, १६९
 शौनखिक—१५३
 स्कंद—१७०, १७१
 स्कंदपुराण—१७५, १७६, १७८
 स्कंद—१८८
 सकाशलाकस—१३
 स्तुग—१२४
 स्त्रावो—४६, ६६, ७४, ६१
 स्थपति—५१
 स्थल-निर्णामक—५८
 स्थलपट्टन—१६३
 स्थापकोरवर—२०
 स्थानपालक (धानेदार)—१६६
 स्पेन—१२६, २१६
 स्वाग्रस—१०४, १०५
 स्वाम—२६, १२५, १२७, १२८, १२९, १३३, १८३,
 २०६
 स्वाम की जाकी—१२४, २००
 स्वातकोट—विद्यालकोट—१२, १५, १६, ७५,
 १२५, १४२, १६३, १७४, १६०
 स्वात—३८, ६, १०, २०, ६६, ७२, ६१, ६५,
 १६५, २००
 स्वैज—११०

ह

हंसगर्भ (रत्न)—१७२
 हंसपय—५१
 हंसहास्य—२२६
 हकम—२०२
 हजामनी—३, ४, ४५, ४६, ४७, ४८, ६६, ७०,
 ६२, १६१
 हजारजात—६, १६, ४६, १६४
 हजार—५, १४, २०, १७७
 हजारबाग—७६, २१५
 हज्जाज बिन युसुफ—२०२, २०३
 हकप्पा—२२, ३०, ३१, ३३, ३४, १८६, २३२

हकप्पा संस्कृति—२६, ३०, ३१, ३२, ३३, ३४,
 ३७, ४१
 हलिषगाम—१८
 हलिषसीस—१७१
 हदमौत—११०, ११४
 हव—२६, ७३
 हववा—७६
 हवश—११०, ११२, १८४
 हमरान—४
 हरकिंद—२०४
 हरकेलि—२०४
 हरजक (उतराहट)—२०२
 हरदेव—१८३
 हरहौति—३७
 हरिभद्र—१६७, १६६, २००
 हरिवेण्य—२१५
 हरिहर—२५
 हरीपुर—२२
 हर्षत—११४
 हर्मिओस—६५
 हर्ष—१८१, १८२, १६०, १६१
 हर्षचरित—१८०, १८१
 हसन अब्दाल—६, २२
 हसनापुर (हस्तिनापुर)—१६
 हस्ति—७१
 हस्तिनापुर—१६, १७, १६, ७५
 हाबरापुर—२३
 हाजिन—११४
 हाजीपुर—१२
 हाटक—६७
 हाथी—४४, ६८, ८१, ८६, १११
 हाथीदांत—४४, ६४, ६७, ६८, ८२, ८७, १००,
 १११, ११३, ११८, १२९, १३६, १४२,
 १७२, १७३, २०६, २०७, २०६, २१०,
 २११
 हानसुग—१८२
 हापुष—२२

हानुन—४६
 हारद्वार—११, ६८
 हिमोल—७३, १६१
 हिडौन—२६
 हिंद एशिया—१७४, १८३, १८४, २००, २१३,
 २१६, २२०, २३६
 हिंद चीन—८८, १०६, १४३, १६६, १६६
 हिंद महासागर—१३, ४५, ६३, १०६, ११०, ११४,
 १२४, १२६, २०२, २०४, २०६, २१४
 हिंदुकुश—३, ४, ५, ६, १०, २०, ३६, ३८, ४४,
 ४५, ४८, ७०, ७१, ७७, ८५, ८०, ८१, ८२
 ८५, ८६, ११०, १११, १२७, १७५, १७६,
 १८७, १८८
 हिस्तिका (डाकैमार जहाज)—७६
 हिक्कैनिया (गुरगन)—४
 हि-कुसुंग—२०६
 हिङ्गा—१८२
 हिपालुस—११२, ११४, ११८
 हिप्पोक्रा—१०५
 हिमरायती—११०
 हिमालय—२, १२, १४, ३०, ३१, ४७, ७२, १००,
 १२०, १२७, २१५
 हिरोडोटस—४३, ४४, ४६, ४७, ७०
 हिथार—३३
 हिस्मगोराब—११०, ११४
 हीरपुर—२२
 होरा—२६, ६७, ७७, ८२, ८७, ११२, १२२
 १२३, १३०, १३१, २१४, २१५, २३६
 हुगली नदी—२३, ७६, १२०
 हुइद -ए- अलम—२०७
 हुइमुज—२६, ३१, २०३, २०५
 हुण—३, ११, ४५, ६२, ६४, ६३२, १३३, १७५,
 १७६, १८७, १६१
 हूरी (छोटी नाव)—२०२
 हे गदांपील—४, १११
 हेकातल—४७
 हेमकुंडल—१६६

हेमकुंडल—१४३
 हेमकुंड—१४३
 हेमचंद्र—५०
 हेरात—४, ५, ११, १६, २७, ६८, ७०, ६१, ६२,
 ६५, १११, १६१, १६३, १६५
 हेरु पोलिट—१०
 हेलमंद—६, ३८, ४७, ७०
 हेलिओकल—३२
 हैदराबाद—२४, २५, ६८, ११७
 हैनान टापू—२०५
 हैबतपुर—२६
 हैवाक—६, ७१
 हैमवतपथ—५, ७७
 हैरसियक—१५३
 होणावर—२८१
 होती मर्दन—६
 होर (मिस्त्री देवता)—११५
 होशियार नगर—२२
 होशियारपुर—६२
 होकिल की लाही—११३
 होमवर्ग शक—४७
 हग (रे)—४

च

चनप—६६, ६६, ६८, १००, १०१, १०२,
 १०३, १०७, १०८, ११७, १२१
 चत्रिय—७३
 चरस—४७
 चहरात—६६, १०१, १०२
 चित्तिप्रतिष्ठ—१६७
 चुदक-मालव—४७, ७२, ७३
 चुदा (नाव)—२१२
 चेमंद—२११
 चीन—६६, ८२, ८७, ११३, ११५, १२६,
 १४३

क

कता धर्मकथा—१७७

1890-1891

1890-1891

1891-1892

1891-1892

1892-1893

1892-1893

1893-1894

1893-1894

1894-1895

1894-1895

1895-1896

1895-1896

1896-1897

1896-1897

1897-1898

1897-1898

1898-1899

1898-1899

1899-1900

1899-1900

1900-1901

1900-1901

1901-1902

1901-1902

1902-1903

1902-1903

1903-1904

1903-1904

1904-1905

1904-1905

1905-1906

1905-1906

1906-1907

1906-1907

1907-1908

1907-1908

1908-1909

1908-1909

1909-1910

1909-1910

1910-1911

1910-1911

1911-1912

1911-1912

1912-1913

1912-1913

1913-1914

1913-1914

1914-1915

1914-1915

1915-1916

1915-1916

1916-1917

1916-1917

1917-1918

1917-1918

1918-1919

1918-1919

1919-1920

1919-1920

1920-1921

1920-1921

1921-1922

1921-1922

1922-1923

1922-1923

1923-1924

1923-1924

1924-1925

1924-1925

1925-1926

शुद्धि-पत्र

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
५,	२०	वर्त्त	वर्त्त
८,	१२	विन्व	विन्व
११,	२४	।	निकाल दीजिये
१५, कु० नो० १		हंतु	टेम्पट्स
१६,	२१	वेरंजा	वेरंजा
१६,	२२	बारी	बाबी
१८,	१६	मच्छिकादंष्ट	मच्छिकादंष्ट
१६,	२४	म्भोज	म्भोज
१६,	३१	अरंगदास	अरंगदास
२०,	४	रवावक	रवावक
२०,	२२	स्थानेश्वर	स्थाण्वीश्वर
२०,	२६	संकीर्ष	संकीर्षा
२२,	६	गौरवन्द	गौरवन्द
२४,	१७	अलक	अलक
२४,	८	अजिण्ट	अजिण्टा
२६,	१८	सीकरी	सीपरी
२६,	२७	बेनपुरला	बेनपुरला
२६,	३०	कोचीन, चाइना	कोचीन-चाइना
३०,	२४	छाप, मुद्रा	छाप-मुद्रा
३१,	२७	हिरी	हरी
३८,	२६	माधव	माधव
४०,	७	घुते	घुमते
४४,	२०	पिप्पी	पिप्पली
४६,	११	अक्रांत	अक्रांत
४७,	२६	बुलियो	बुलियो
४७,	२६	अल्लकाप्प	अल्लकाप्प
४७,	३१	बुलियो	बुलियो
४६,	५	गंगा	गंगा
४६,	१८	पंचाल	पंचाल
४९,	१	नहर	शहर

४०	५०	अशुद्ध	शुद्ध
५२,	२०	नदावर	नदारद
५३,	११	म्लेच्छ	म्लेच्छ
६२,	१७	सोवीर	सोवीर
६२,	२५	बलभामुख	बलभामुख
६६,	१६	सुमेर	सुमेर
६८,	६	नीर	तीर
६६,	१०	पल्लव	पल्लव
६६,	२३	अयकिन	अयिक्नी
७०,	२	व्यास	व्यास
७०,	३	म्लेच्छ	म्लेच्छ
७०,	१६	सप्तवाद	सप्तगद
७०,	२६	अरदन्दाव	अरगन्दाव
७१,	१७	लमगान	लगमान
७१,	२८	लमगान	लगमान
७३, कु० नो० १		स्त्रावो	स्त्रावो
७४,	१६	अन्तिशोक	अन्तिशोक
७६,	६	संडिल्ल	संडिल्ल
७६,	१८	सूरसेन	सूरसेन
७६,	१८	अंश	भंग
८२,	१४	कृमियात	कृमिराग
८७,	१	श्री	श्रीर
८७,	१०	मुञ्चि	मुञ्चिरि
८८,	४	कंबोज,	कंबोज
८९,	३१	इडिका	इडिका
८९,	१	टल्मी	टल्मी
८९,	२६	मित्रदाता	मित्रदात
८९,	२७	पहल	पहलव
८९,	२८	गति	गति
८९,	२६	गोवी	गोमी
८५,	३१	कदाफिअ	कदाफिअ
८५,	३६	बोनोनेअ	बोनोनेअ
८६,	२२	कडुलोर	कडुलोर
८६,	२५	कु०	आ०
१०१,	६	कृष्ण	कृष्ण
१०१,	२२	नस्त	नस्त
१०५,	३२	वरवो	वरवो

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१०६,	१८	मुजरिस	मुजरिस
१०६,	२६	Satimoundon	Simoundon
१०७,	११	बेलार	बेलारी
१०७,	१२	डरैयुर	उरैयुर
१०७,	१६	वंजी	बंजी
१०७,	३६	मघो	मघों
१०६,	७	आर्मांनी	आर्मांनी
११०,	७	स्वात	खात
११०, फु० नो १		बार्मिंगटन	वार्मिंगटन
११२,	३२	मलाबा	मसावा
११४,	६	जजीबार	जंजीबार
११५,	७	मोजा	मोजा
११८,	१	सेसिसक्रिनी	सेसेक्रिनी
११६,	५	कोरकै	कोरकै
११६,	२१	सुवर्णदीपी	सुवर्णदीप
१२०,	६	ताप्रेवेन	ताप्रेवेन
१११,	८	अल्लुमी	अल्लुमी
१२१,	१६	पोडुचे	पोडुके
१२३,	१६	कड्डलोर	कड्डलोर
१२३,	१७	कण्टकोस्सूल	कण्टकोस्सूल
१२४,	६	इण्डकोन्नायस्टस	इण्डकोन्नायस्टस
१२४,	३५	सेडोवे	सेडोवे
१२६,	२८	वेनीपर	वेनीयर
१२७,	११	ची । च	चाउ
१२६,	८	क्राइसप्रेस	क्राइसोप्रेस
१२६,	३२	किर्मांनि	किर्मान
१२६,	३५	म्युजरिस	मुजरिस
१३०,	७	चूणियो	चूणियो
१३०,	११	गुणान्ना	गुणान्न
१३०,	२३	सुवर्णकूट	सुवर्णकूट
१३०,	२४	जवराणुपथ	ज (व) राणु पथ
१३१,	१५	संजान	संजान
१३१,	२२	रोम	रोमा
१३१,	२७	कस्वे	कस्वे
१३२,	३२	मेह	ख्मेर
१३३,	१	प्राचीन	पथिम

क्र.	पं०	अनुसूची	शब्द
१३३,	३	त-शकुलग्न	ताशकुलग्न
१३४,	१	बेराबाई	बेराबाई
१३५,	१२	ताम्बलिंग	ताम्बलिंग
१३६,	२६	तम्बपणी	तम्बपणी
१३७,	३१	चित्रपुर	चरित्रपुर
१३८,	३२	मालावार	मालावार
१३९,	१४	शंङ्गपथ	सङ्गनि पथ
१४०,	२८	धातमी	धातकी
१४१,	२६	बलिदान	बलिदान
१४२,	१३	वेत्रलता	वेत्रलता
१४३,	२३	जबरागु पथ	ज (ब) रागु पथ
१४४,	५	मिहडक	मिहडक
१४५,	१४	समुद्र	समुद्र
१४६,	३४	मुजिरिस	मुजिरिस
१४७,	३४	मुचिरी	मुचिरी
१४८,	१८	महाकालिकास्त्र	महाकालिकावात
१४९,	११	पाबंदी	पाबंदी
१५०,	२	(हैरियक)	हैरियक
१५१,	१४	माककलि	माककलि
१५२,	१	मच्छीभार	मच्छीभार
१५३,	२२	विहार	विहार
१५४,	६	मंडी	मंडी
१५५,	२७	ईशुर	ईशुर
१५६,	१३	विहित	विहित
१५७,	२६	भण	मंभण
१५८,	२५	तुका	तुको
१५९,	५	साधो-क्यु-त	साधो-किउ-स
१६०,	६	नाहर	नाहर
१६१,	६	लोहर	लोहर
१६२,	३६	आचारपात्रस्थिति	आचारस्थितिपात्र
१६३,	१३	मिल्ल	मिल्ल
१६४,	३५	धीविजय	धीविजय
१६५,	३६	की	धी
१६६,	१६	मालावार	मालावार
१६७,	१७	पौडपतन	पौड
१६८,	११	ईरावदी	इरावदी

पृ०	पं०	अशुद्ध	शुद्ध
१८७,	११	युनान	युनान
१८८,	१	तुका	तुकों
१८८,	७	बर्बो	बर्बो
१८८,	१७	के	का
१९३,	१	मुरगाव	मुरगाव
१९३,	१८	हिरात	हेरात
१९४,	३३	गोविन्द	गोविंद
१९४, कु० तो० १		डाउसन	डाउसन
१९८,	३	बलि	बलि
१९८,	७	निबन्धना	निबन्धन
१९८,	२६	वेगहारिण्यः	वेगहारिण्यः
२००,	१४	तराय	तवाव
२००,	३७	मवालिपुरम्	मावालिपुरम्
२०१,	१७	उत्तरापुर	उत्तरापय
२०२,	४	दिआ	दिआ
२०२,	१२	वार	बार
२०३,	२०	सारुफ	मारुफ
२०४,	१०	निकोबार	नीकोबार
२०४,	३१	सईदीव	सरईदीव
२०५,	१८	दीव	दीव
२०५,	२४	बल्लम	बल्लम्
२०८, कु० नो० १		जवाओ	जाओ
२०९,	१	विस्तर	विस्तर
२१०,	६	रुन्बार्ब	रुबार्ब
२११,	२३	बदर	बदर
२१८,	१	देव	देव
२१०,	१०	कडारम्	कडारम्
२२०,	३०	अभारी	आभारी
२२२,	१३	सवारो	सवारो
२२४,	३४	वीथियाँ	वीथियाँ
२३०,	७	कैलाश	कैलास
२३०,	२८	(आ० ६)	(आ० ६-७)
२३०,	३६	(आ० ७)	(आ० ८)
२३१,	९	(आ० ८)	निकाल दीत्रिए
२३१, कु० नो० ६		वीरगणों	वीरगलों

पृ०	पं०	अनुवाद	मूल
२३१,	१	करीब	करीब
"	३	बनित्तुतुतु पर नाम	बनित्तुतुतु सरना
"	४	पु०	पु०
२३३,	४	श्रीयज्ञ	यज्ञधी
२३३, कु० नो० १		बशिप	बशिप
२३४,	२८	beck-house	deck-house

परिषद्-द्वारा प्रकाशित पाँच महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ

१. हिन्दी-साहित्य का आदिकाल

ले०—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने हिन्दी के आदि युग का प्रामाणिक इतिहास लिखा है। भाषा और साहित्य के आरम्भिक रूप का अध्ययन करने में यह पुस्तक अपूर्व सहायता देगी। वेद से समुद्रित पृष्ठों की सज्जित पुस्तक का दाम ३।) कच्चा और सज्जित का १॥।) कच्चा है।

२. यूरोपीय दर्शन

ले०—स्वर्गीय महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

स्व० शर्मा जी की यह अलभ्य पुस्तक बड़ी सज्जित से प्रकाशित हुई है। यह पुस्तक १९०५ ई० में प्रकाशित होने के बाद बड़ी दुर्लभ हो गई थी। परिषद् ने एक दार्शनिक विद्वान से परिषदस्थ भूमिका लिखवा कर पुस्तक को आधुनिक पाठकों के लिए जानबूझकर बनवा दिया है। १९०५ ई० के बाद से आज तक के पाश्चात्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास इसकी भूमिका में दे दिया गया है। दर्शन शास्त्र के स्वाध्यायी विद्वानों के लिए यह एक अनुरूप पुस्तक है। वेद से पृष्ठों की समुद्रित सज्जित पुस्तक का दाम ३।)।

३. विश्व-धर्म-दर्शन

ले०—श्री साँवलियाविहारी लाल वर्मा, एडवोकेट

इस पुस्तक में संसार के मुख्य-मुख्य धर्मों का विस्तृत परिचय दिया गया है। इस एक ही पुस्तक को पढ़कर हिन्दी आगनेवाले पाठक भूमण्डल के प्रमुख धर्मों का परिचय पा सकते हैं। इसे लिखने के लिए स्वाध्यायी लेखक ने असंख्य प्रामाणिक पुस्तकों का मनन किया है और उनकी सूची भी पुस्तक के अन्त में दे दी है। सर्व-धर्म-समन्वय और धार्मिक एकता पर लेखक ने विशेष जोर दिया है। और, सम्मान दिलाना है कि सभी धर्मों के मूल तत्त्व एक ही हैं। बात से पृष्ठों की सुन्दर छपी हुई सज्जित पुस्तक का दाम १३।) कच्चा।

४. हर्षचरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन

डा० वामुदेवशरण अग्रवाल

इस पुस्तक में विद्वान् लेखक ने, वही हो सरस शैली में बिहार के महाकवि बाणभट्ट के समय की संस्कृति, सम्भ्रता, राजनीतिक वातावरण, मानव समाज की स्थिति आदि का सजीव चित्रण किया है। रायल अठपेजी आकार के लगभग तीन सौ पृष्ठ; अन्त में अनुक्रमणिका; दो तिरंगे और लगभग एक सौ एकदश ऐतिहासिक महत्त्व के चित्र, अथली आर्ट पेपर पर छपे हुए; भव्य आवरण; मूल्य—सज्जित का १॥।)।

५. सार्थबाह

भारतीय संस्कृति के तत्त्ववेत्ता डॉ० मोतीचन्द्र

इस सज्जित पुस्तक में, विषादयुक्त लेखक ने, प्राचीन काल में विदेशों से व्यापार करने की कीन-थी भारतीय पद्धतियाँ प्रचलित थी; इसका बहुत रोचक और अध्ययनपूर्ण विवरण उपस्थित किया है। भारतीय भाषा में यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। रायल अठपेजी आकार के तीन सौ से अधिक पृष्ठ; इसके अतिरिक्त अनुक्रमणिका और लगभग सौ अलभ्य ऐतिहासिक सुन्दर चित्र। मूल्य सज्जित ११।)

बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद् से शीघ्र प्रकाशित होनेवाले

अमूल्य ग्रन्थ

रामावतार शर्मा-निबंधावली

स्व० महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा

यह पुस्तक विद्वान् लेखक के विभिन्नविषयक अलभ्य और बहुमूल्य निबंधों का संग्रह है। प्रत्येक निबंध में ज्ञान की एक नई दिशा का संकेत है, एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण है। ग्रन्थ बड़ा पारिडट्यपूर्ण और ज्ञानवर्द्धक है। ग्रन्थ की उपयोगिता असंदिग्ध है। लगभग चार सौ पृष्ठ; लेखक का सचित्र परिचय।

दरियासाहब-ग्रन्थावली

संत-साहित्य-भ्रमंज डॉ० धर्मेंद्र ब्रह्मचारी शास्त्री

यह 'बिहार के कबीर' सन्त दरियासाहब के धर्म, दर्शन, सिद्धान्त और साहित्य का विवेचनापूर्ण बृहत् ग्रन्थ है। अधीती लेखक ने इसके लिखने के लिए रहस्यवादी कवि कबीर से लेकर अनेक कबीरपंथी सन्तों के धर्म-दर्शन का अनुशीलन किया है। ग्रन्थ शोध, समीक्षा और गवेषणापूर्ण है। अनुमानतः चार सौ पृष्ठ।

भोजपुरी भाषा और साहित्य

प्रसिद्ध भाषाविद् डा० उदयनारायण तिवारी

इस पुस्तक में भोजपुरी भाषा और उसके साहित्य का वैज्ञानिक ढंग से विवेचन किया गया है। इसके लेखक भाषा-विज्ञान के विद्वानों में से हैं। जनपदीय भाषाओं का हिन्दी के विकास से जो सहयोग है, इसका गंभीर अध्ययन इसमें है। हिन्दी भाषा में, अपने विषय पर यह एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। रॉयल साइज के चार सौ से अधिक पृष्ठ; साथ में भाषा की ध्वनियों के रेखा-चित्र।

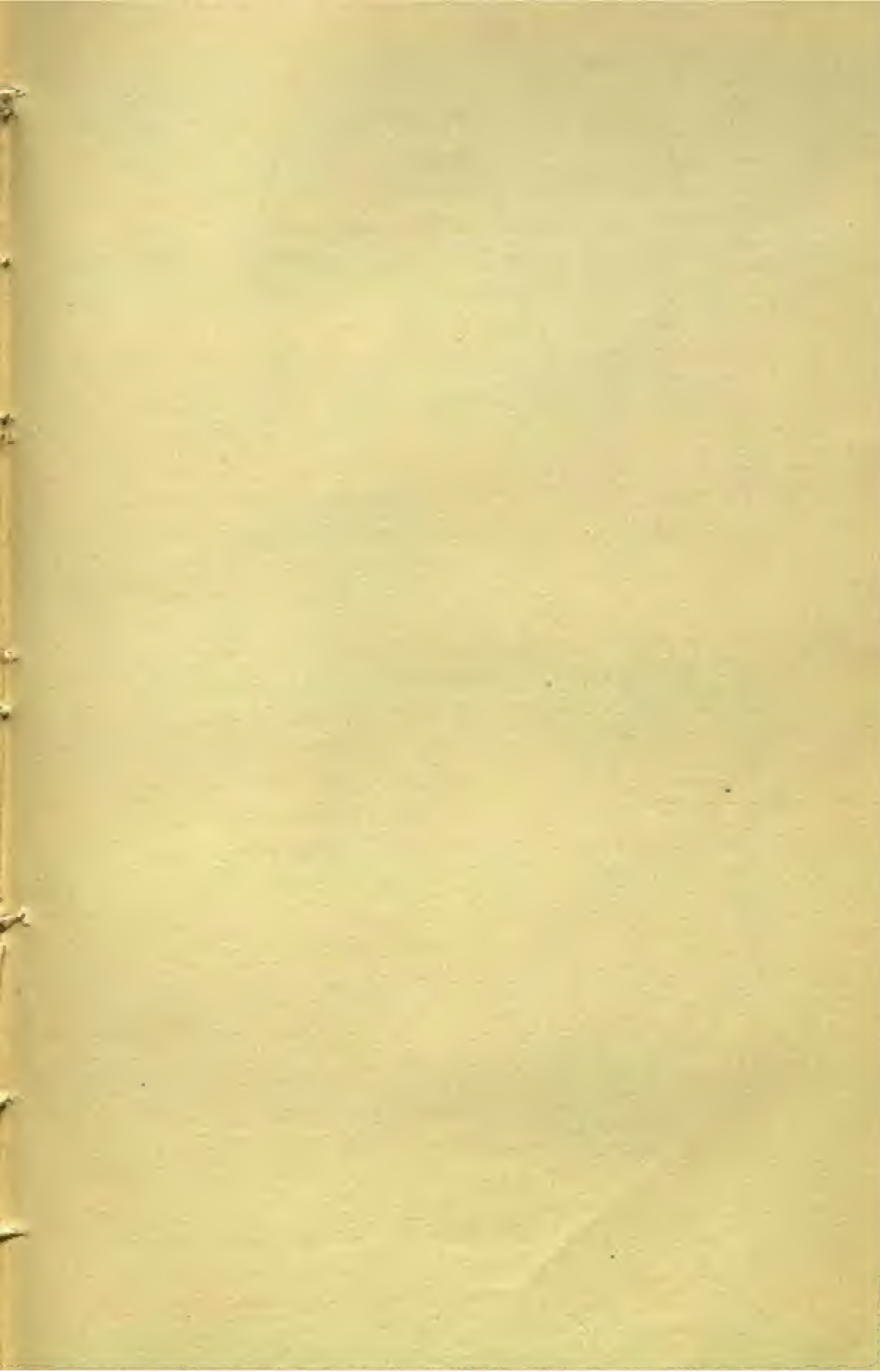
वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा

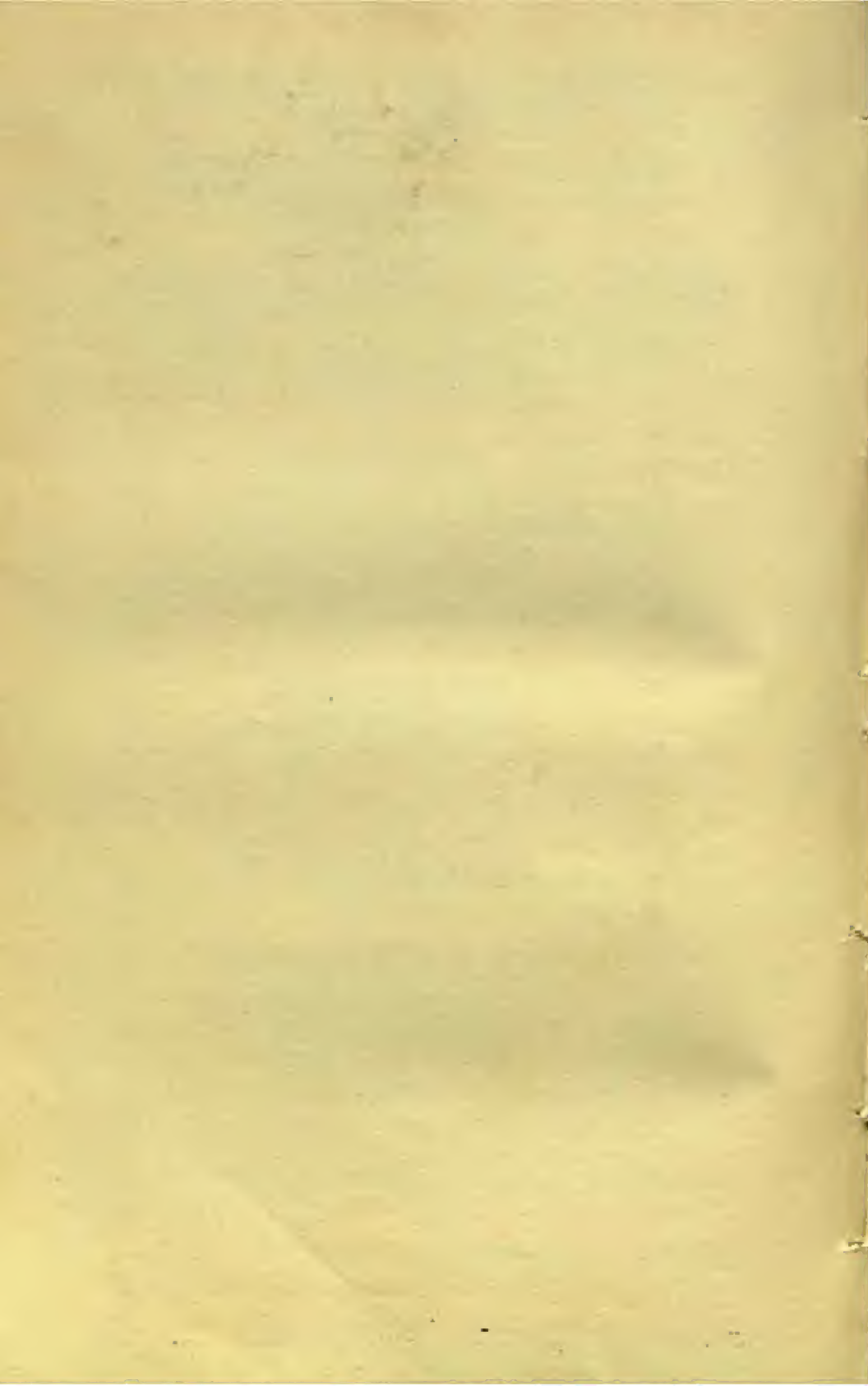
विज्ञान साहित्य के प्रसिद्ध विद्वान—डॉ० सत्यप्रकाश

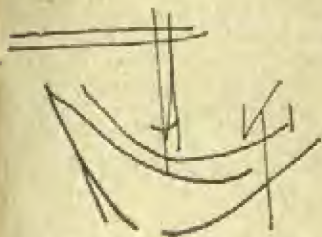
इस पुस्तक में आधुनिक विज्ञान की भारतीय रूपरेखा का विवेचन एवं विश्लेषण अत्यन्त अन्वेषणपूर्ण है। भारतीय आविष्कारों की गौरव-गाथा वैदिक तथा प्राचीन ग्रन्थों के प्रमाण के साथ प्रतिपादित है। ग्रन्थ में अनेकानेक यंत्रों के साथ अन्नो, ओषधियों, रसायनों, विविध धातुओं, गणित, संगीत शास्त्र आदि के आविष्कारों का भी रोचक अन्वेषण दिया गया है। बहुश्रुत लेखक का वैज्ञानिक साहित्य का यह नवीन तथा विद्वत्तापूर्ण प्रवास स्तुत्य है। रॉयल साइज में लगभग २५० पृष्ठ।

मन्त्री, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्

सम्मेलन-भवन, पटना-१







१. जहाज की आकृति मोहनजोदड़ो, सिंध, करीब ई० पू० २५००



२. जहाज की आकृति, मोहनजोदड़ो, सिंध, करीब, ई० पू० २५००



रव



ज



क



घ



ङ

३. सातचाहन सिक्कोपर जहाज, ईसवी दूसरी सदी



४. भारत लक्ष्मी
लेम्पेस्कॉस, ईसवी २-३ सदी





६. वीरगल-जहाजों की लड़ाई, एक्सर (डाणा) १२वीं सदी का आरंभ



५. व० आ० ५ के निचले भाग का विस्तार

THE UNIVERSITY OF CHICAGO

THE UNIVERSITY OF CHICAGO



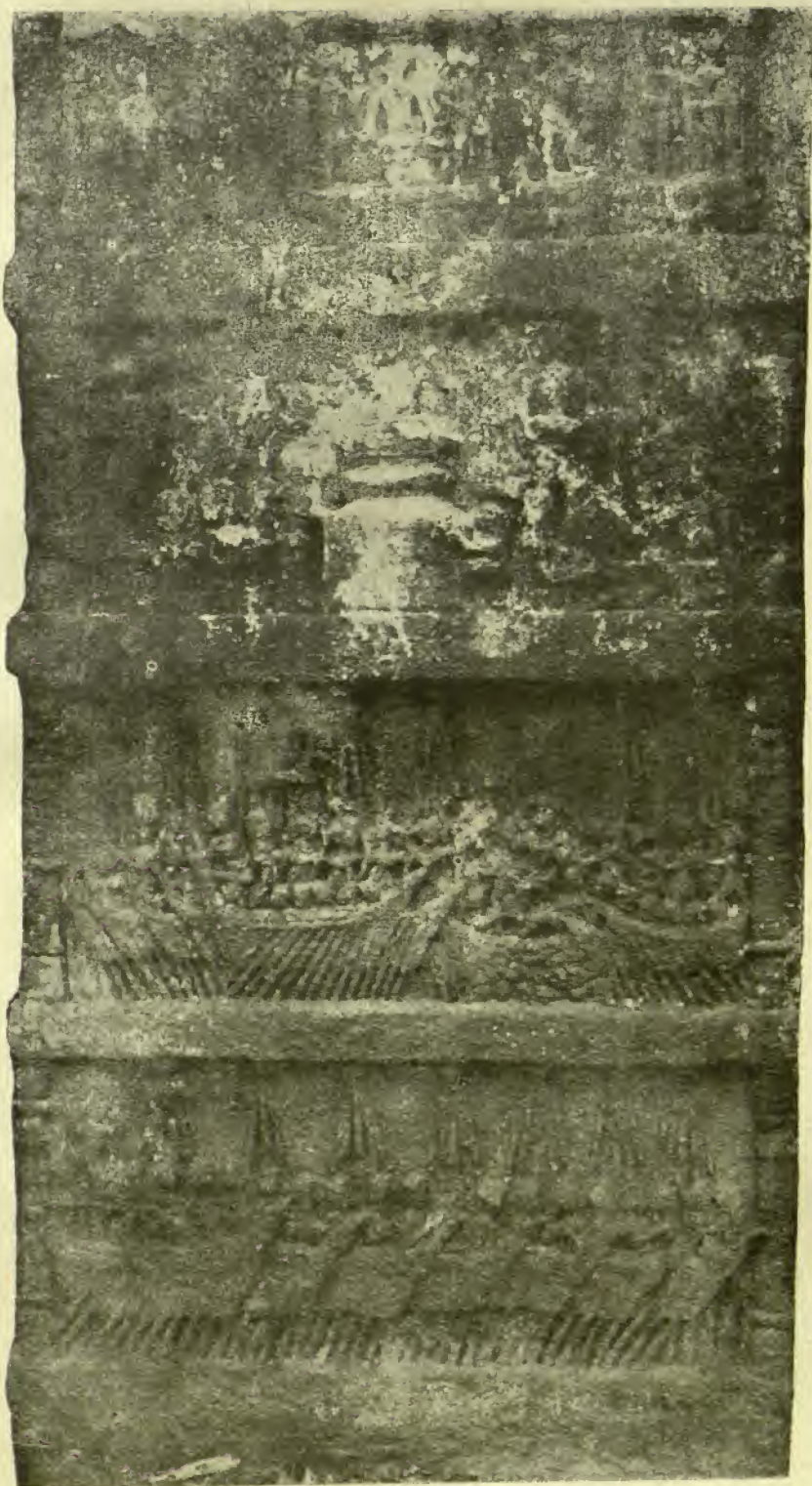
५. (अ) वीरगल जहाजों की लबाई । एक्सर ठाणा, १२ वीं सदी का आरंभ । अर्किऑलॉजिकल
ऑफ इंडिया की कृपा से



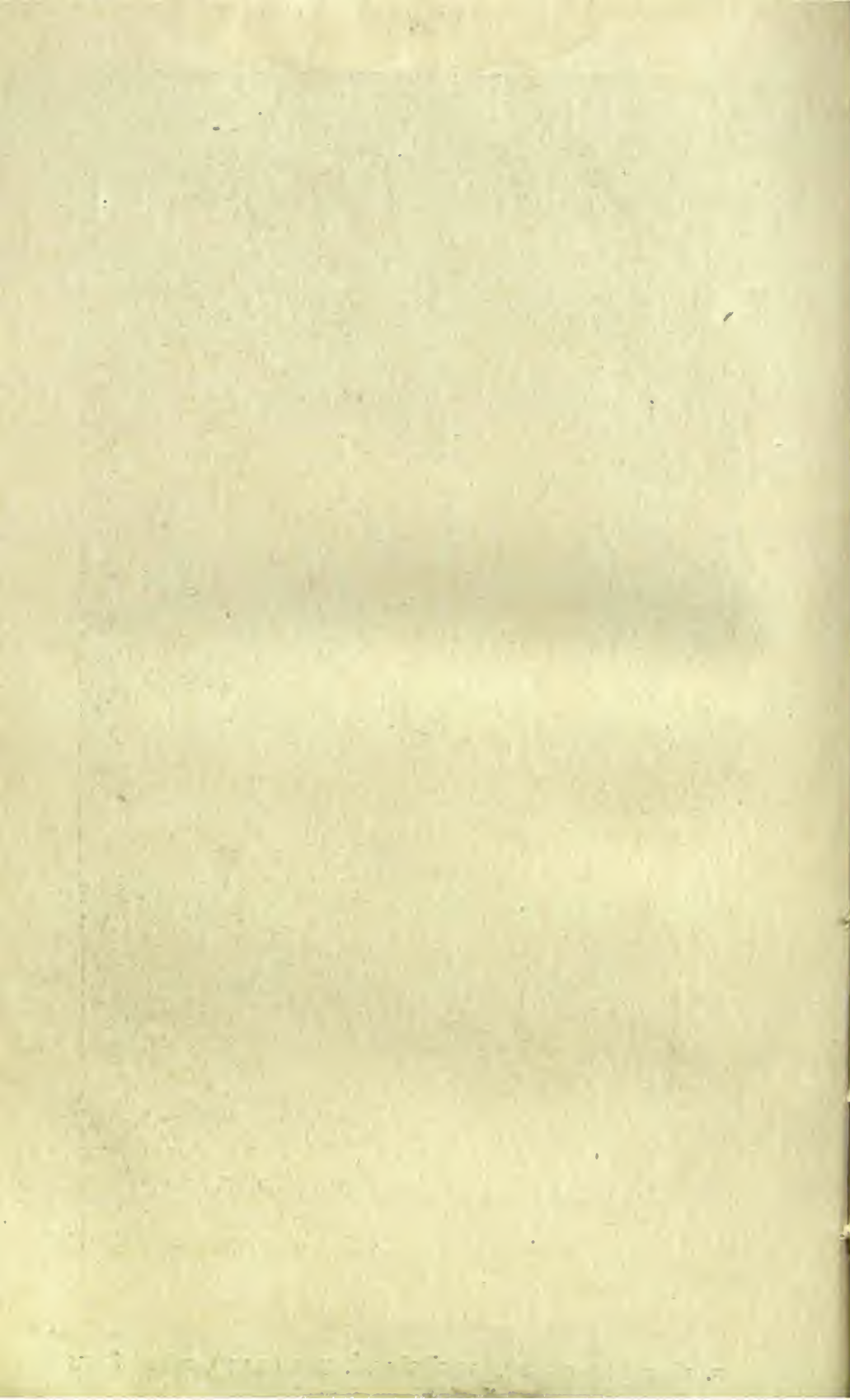
७. अकृति ६ के निचले भाग का विस्तार

THE UNIVERSITY OF CHICAGO PRESS

CHICAGO, ILL.



८. वीरगल (निचाल भाग), जहाजों की लड़ाई, एक्सर (ठाणा), आर्किऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया की कृपा से





६. जहाज पर तिमिङ्गल का आक्रमण, भरहुत, ई० पू० दूसरी सदी



१०. सिंहे तख्तोंवाली नाव, सांची, ई० पू० पहली सदी



११. शार्दूल के आकार की नाव, सांची, ई० पू० पहली सदी



१२. बौद्ध-स्मृति-चिह्न वहन करता हुआ जहाज, अमरावती; ईसवी दूसरी सदी



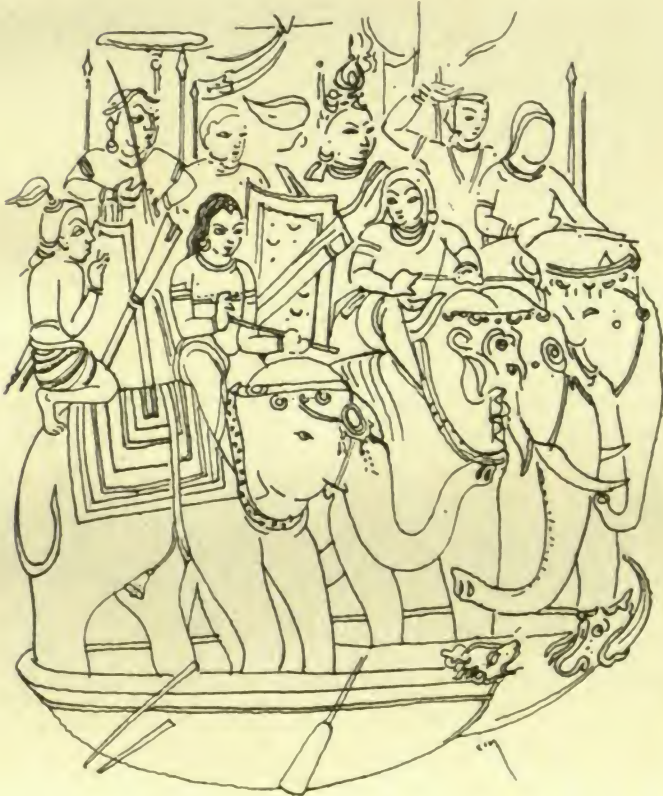
१३. जहाज पर श्री लक्ष्मी, वैशाली-गुप्तयुग, ईसवी ५वीं सदी

1848-1850

सार्थवाह

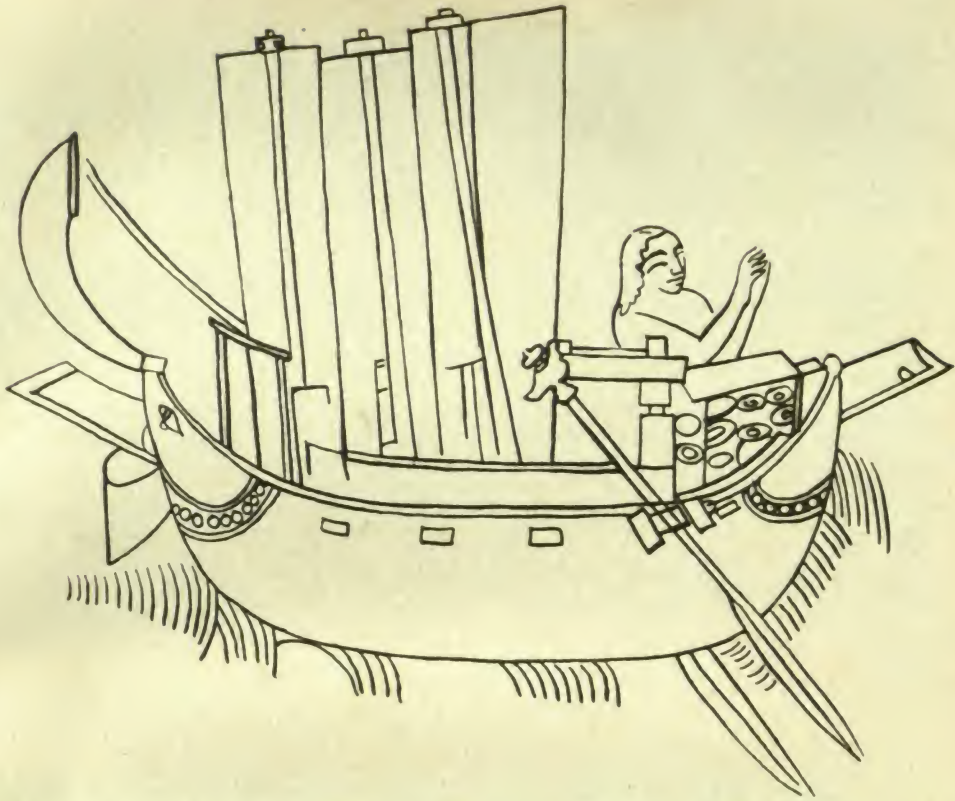


१४. (अ) जहाज, अजंटा, ईसवी ५वीं सदी



१४. (ब) जहाज, अजंटा, ईसवी ५वीं सदी





१५. पूर्णविधान में जहाज का चित्रण, अजंटा, ईसवी छठी सदी



१६. नदीपर चलने वाली नाव, अजंटा, ईसवी छठी सदी

1900



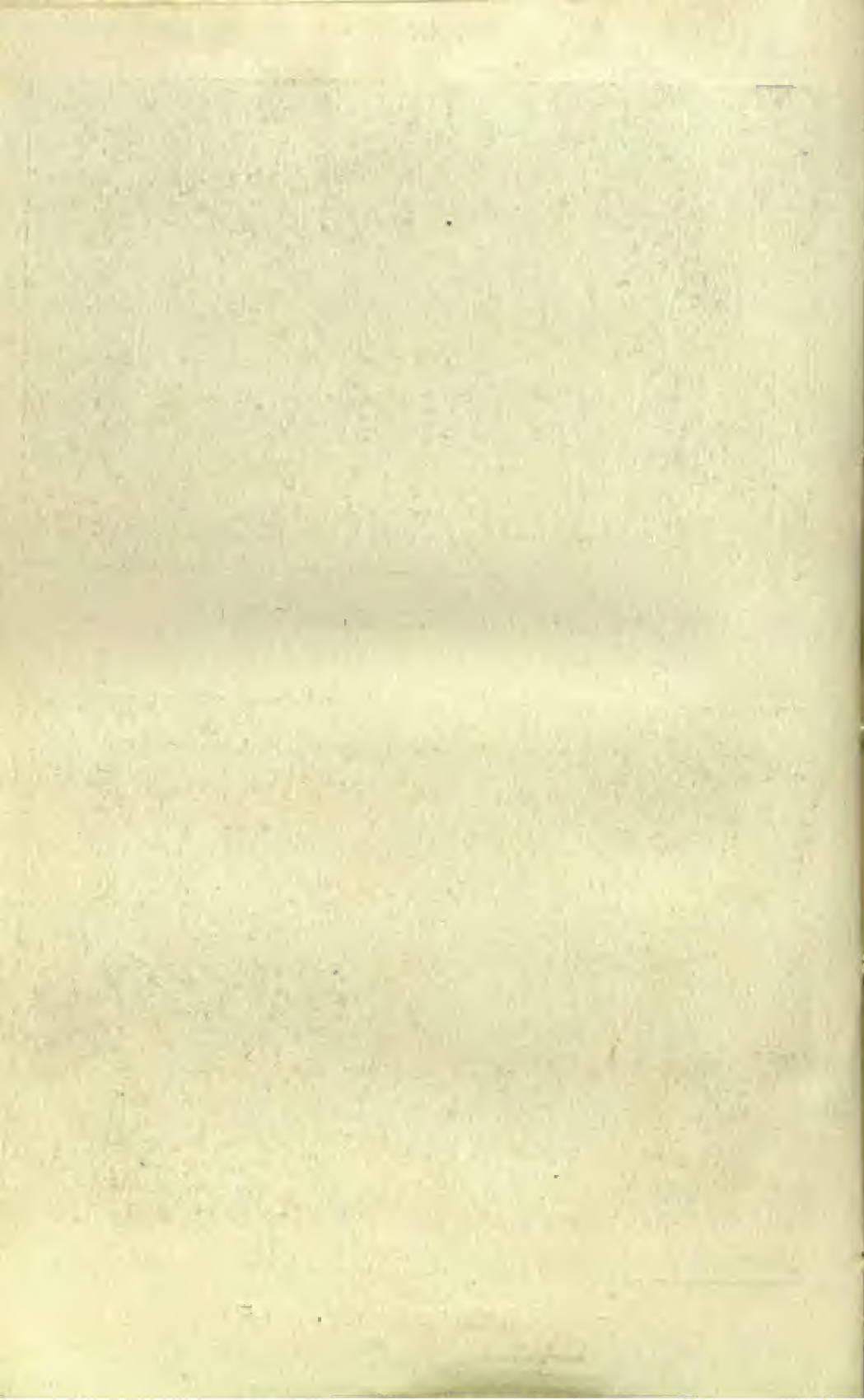
1900

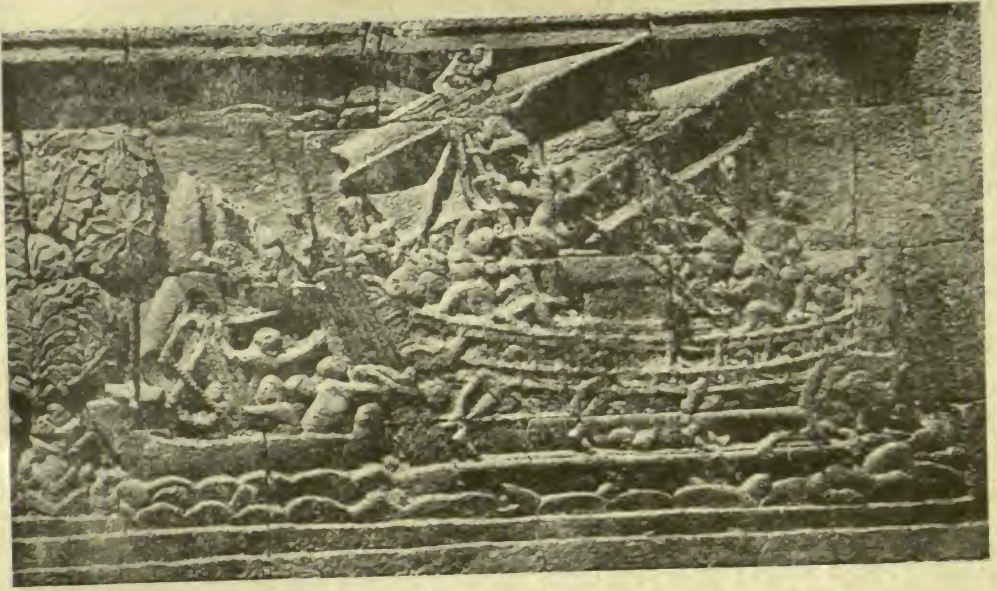


१७. जहाज खलासियों सहित, बाराबुद्धर, ईसवी ८वीं सदी

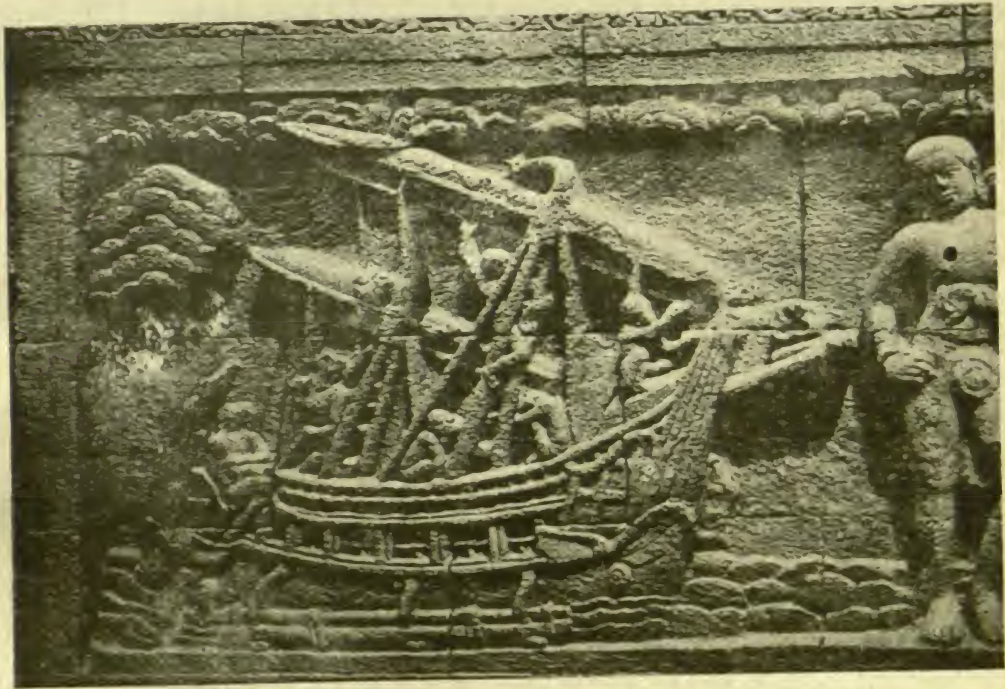


१८. खलासियों सहित जहाज, बाराबुद्धर, ईसवी ८वीं सदी

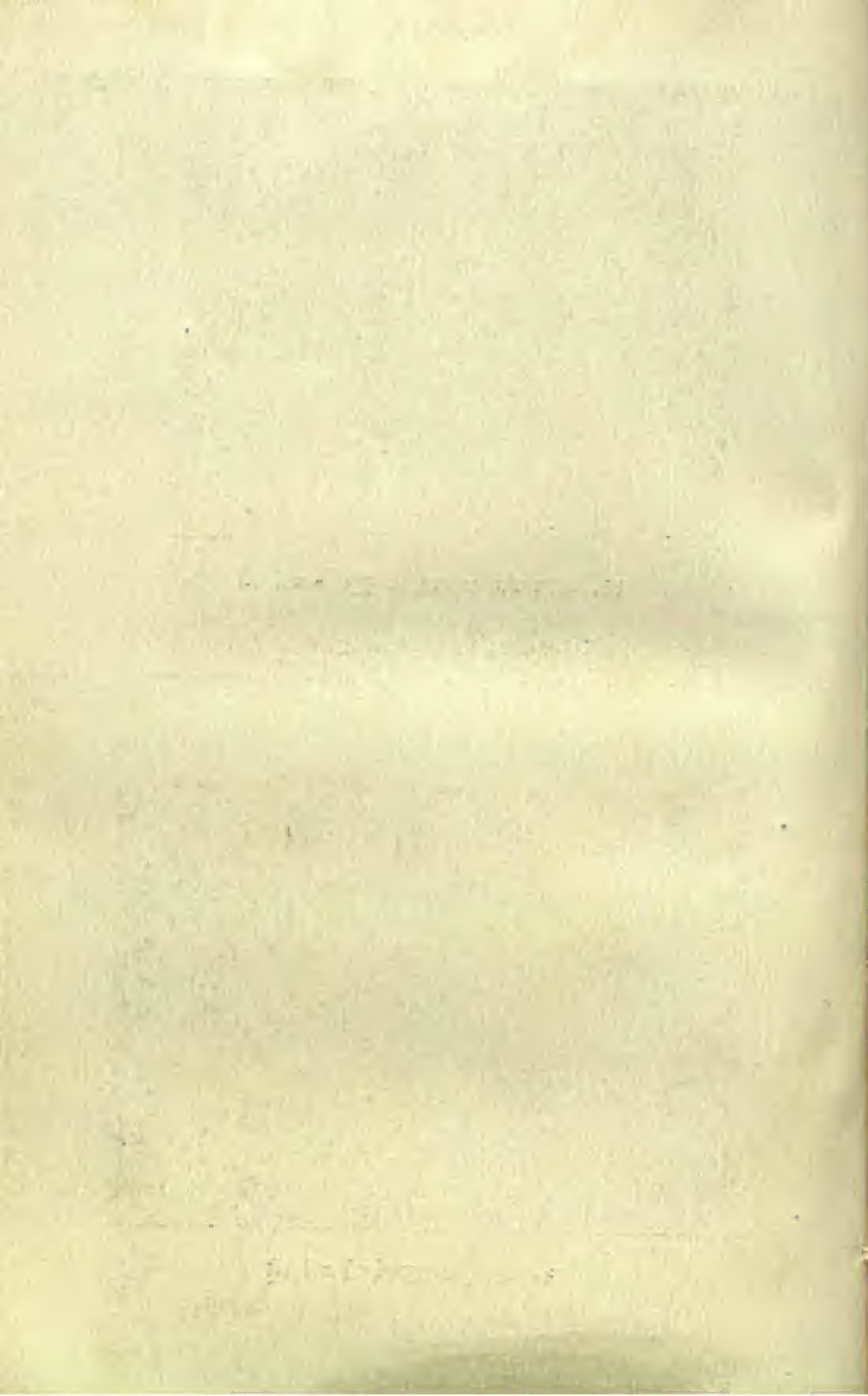




१६. जहाज और एक नाव, बाराहद्वार ई० ८वीं सदी



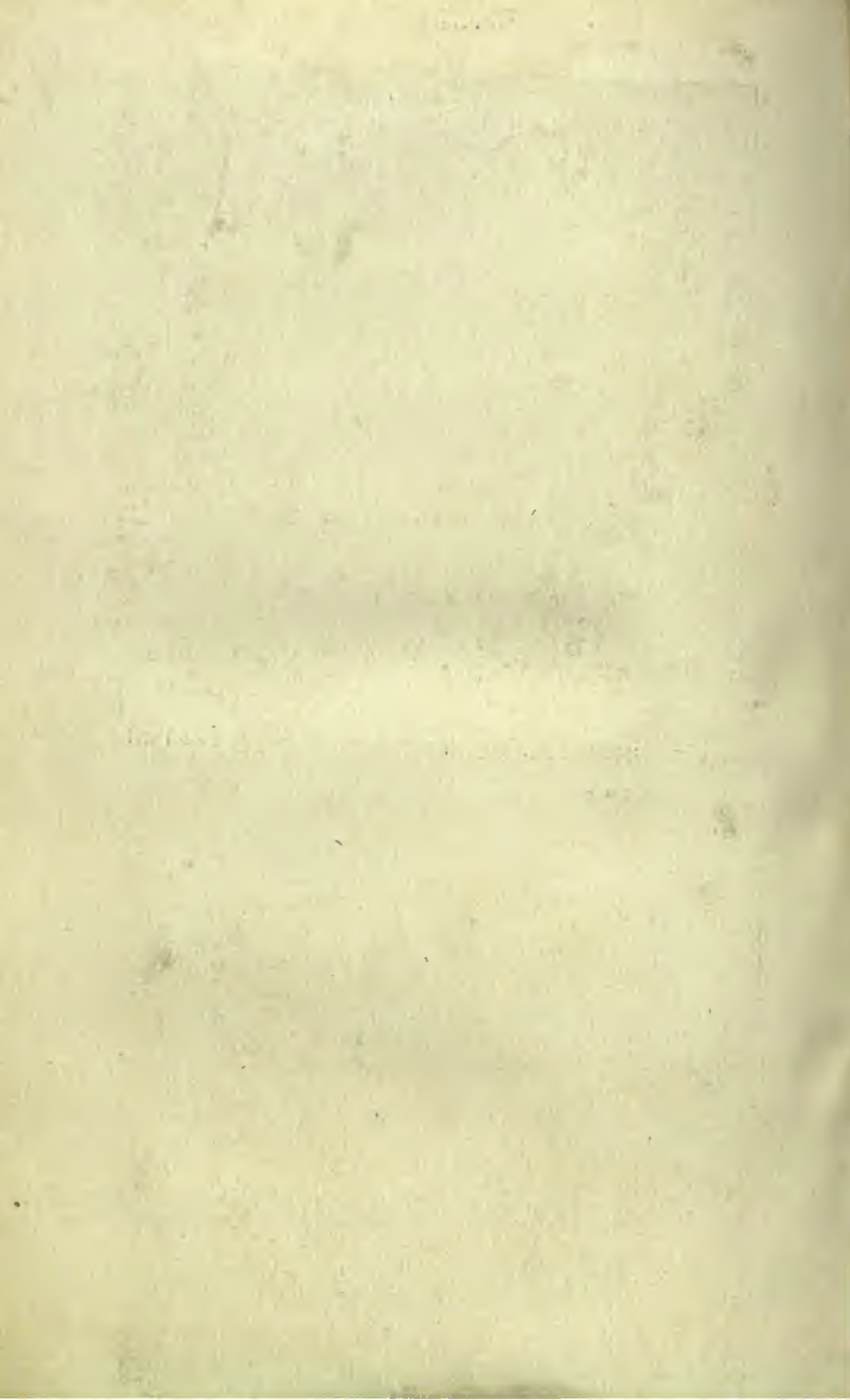
२०. जहाज, बाराहद्वार ईसवी ८वीं सदी





२. जहाज जिसके मस्तक पर सीढ़ी से एक खलासी चढ़ रहा है, बाराबुद्धर, ई०८वीं सदी







२३. एक डूबते हुए आदमी का उद्धार करता हुआ जहाज, बाराबट्टूर, ईसवी, ऽवीं सदी



२४. बैलगाड़ी, भरहुत, ई० पू० दूसरी सदी



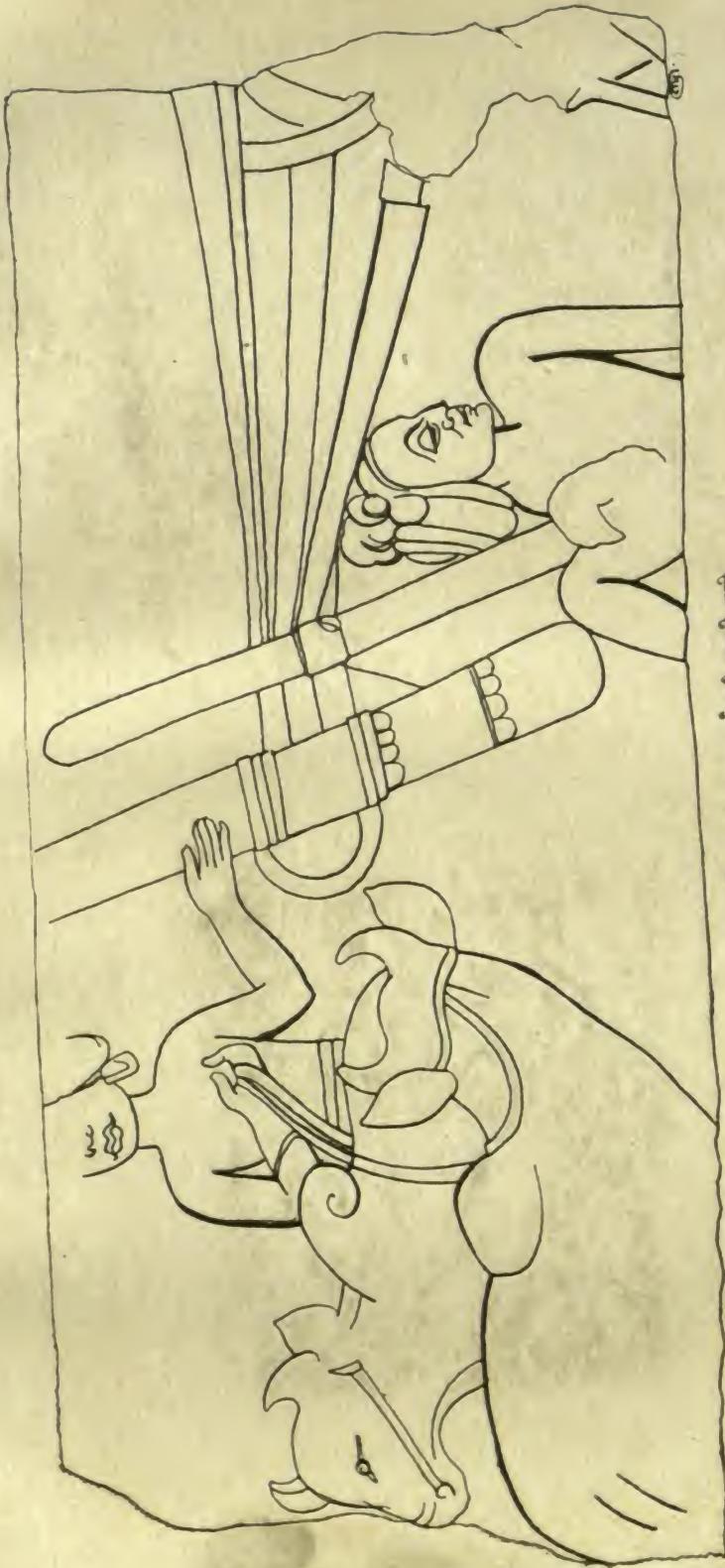
२५. कोठार, भरहुत, ई० पू० दूसरी सदी



२६. बाजार, भरहुत, ई० पू० दूसरी सदी



२७. एक दूकान, भरहुत, ई० पू० दूसरी सदी



२८. बैल गाड़ी, मथुरा, ईसवी दूसरी सदी

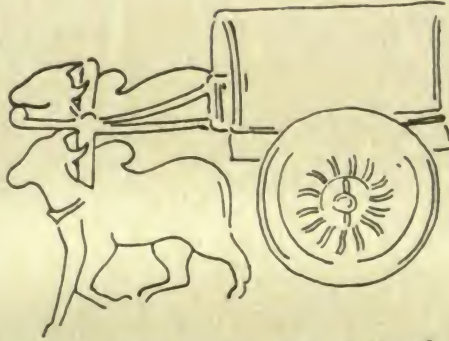
2000 1000 1000 1000



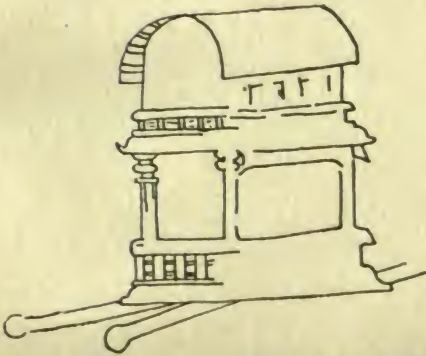
२६. शिकरम गाड़ी, मथुरा, ईसवी दूसरी सदी



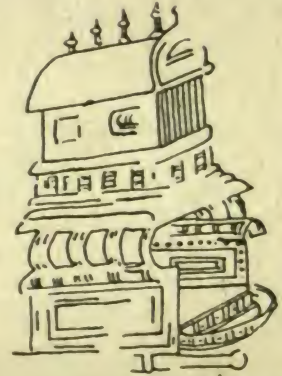
३०. घोडागाड़ी, मथुरा, ईसवी दूसरी सदी



३१. बैलगाड़ी, मथुरा, ईसवी दूसरी सदी

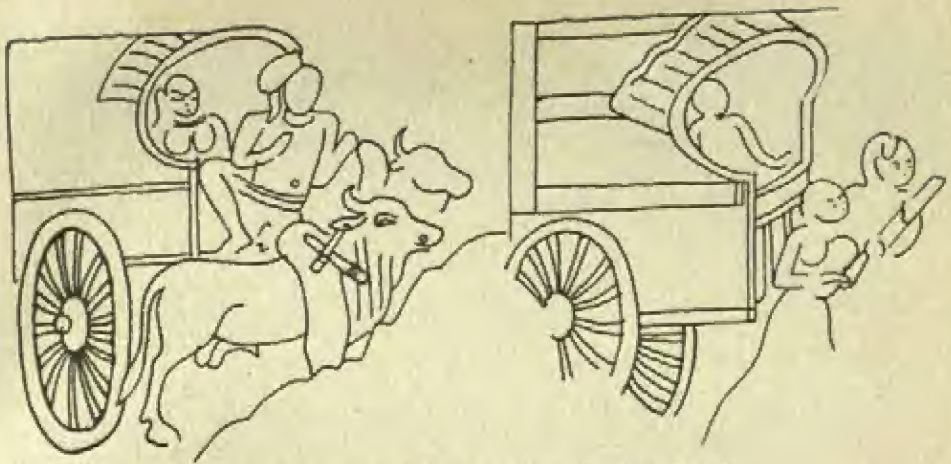


३२. शिविका, अमरावती, ईसवी दूसरी सदी



३३. शिविका, अमरावती, ई० दूसरी सदी





३४. बैलगाड़ियाँ, गौली के अर्धचित्र, ईसवी दूसरी सदी



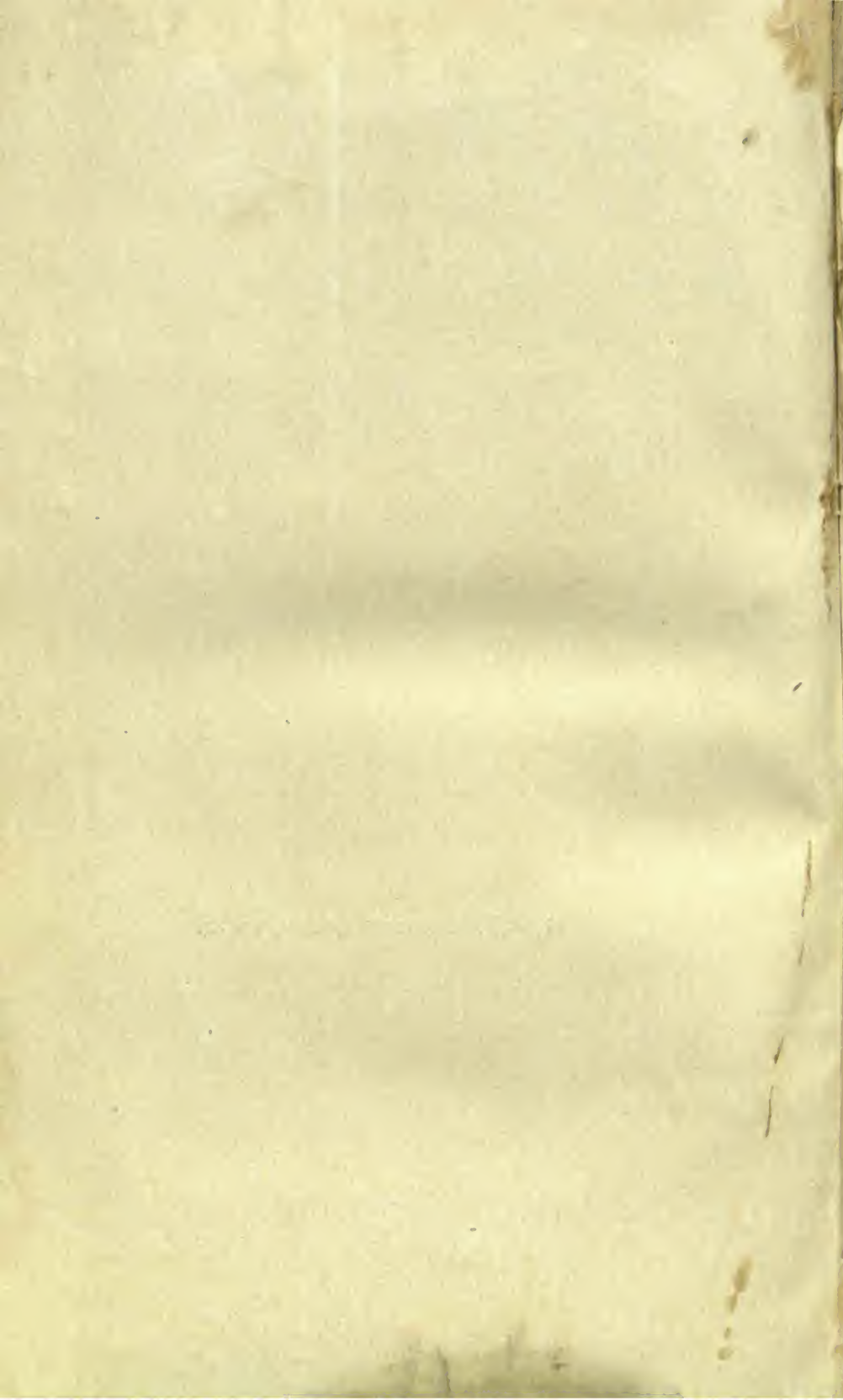
३५. वन्धुम जातिक का एक दृश्य, अमरावती, ई० दूसरी सदी, राजा को व्यापारी भेंट दे रहे हैं।

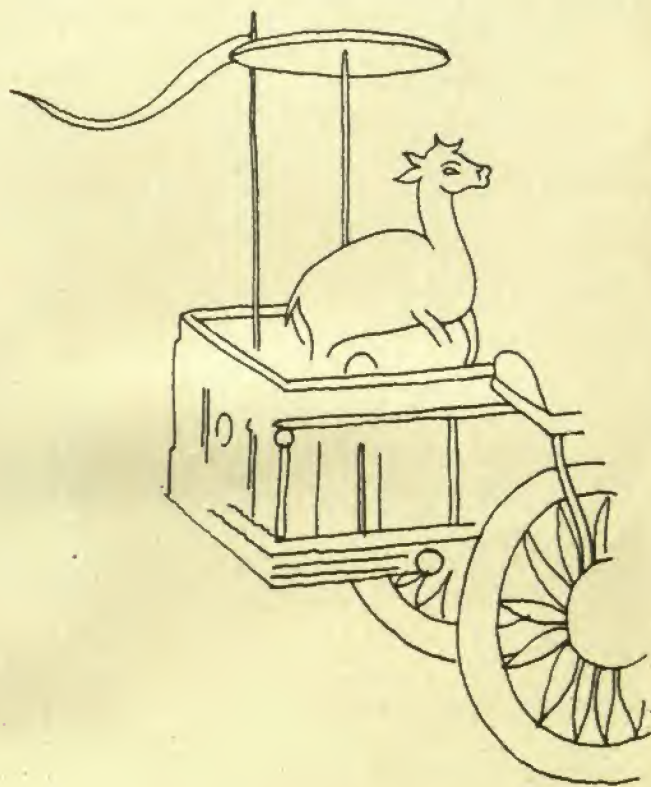


२६. गाड़ीपर सवार विश्वन्तर, अजंटा, छठी सदी



२७. रूकानदार, अजंटा, छठी सदी

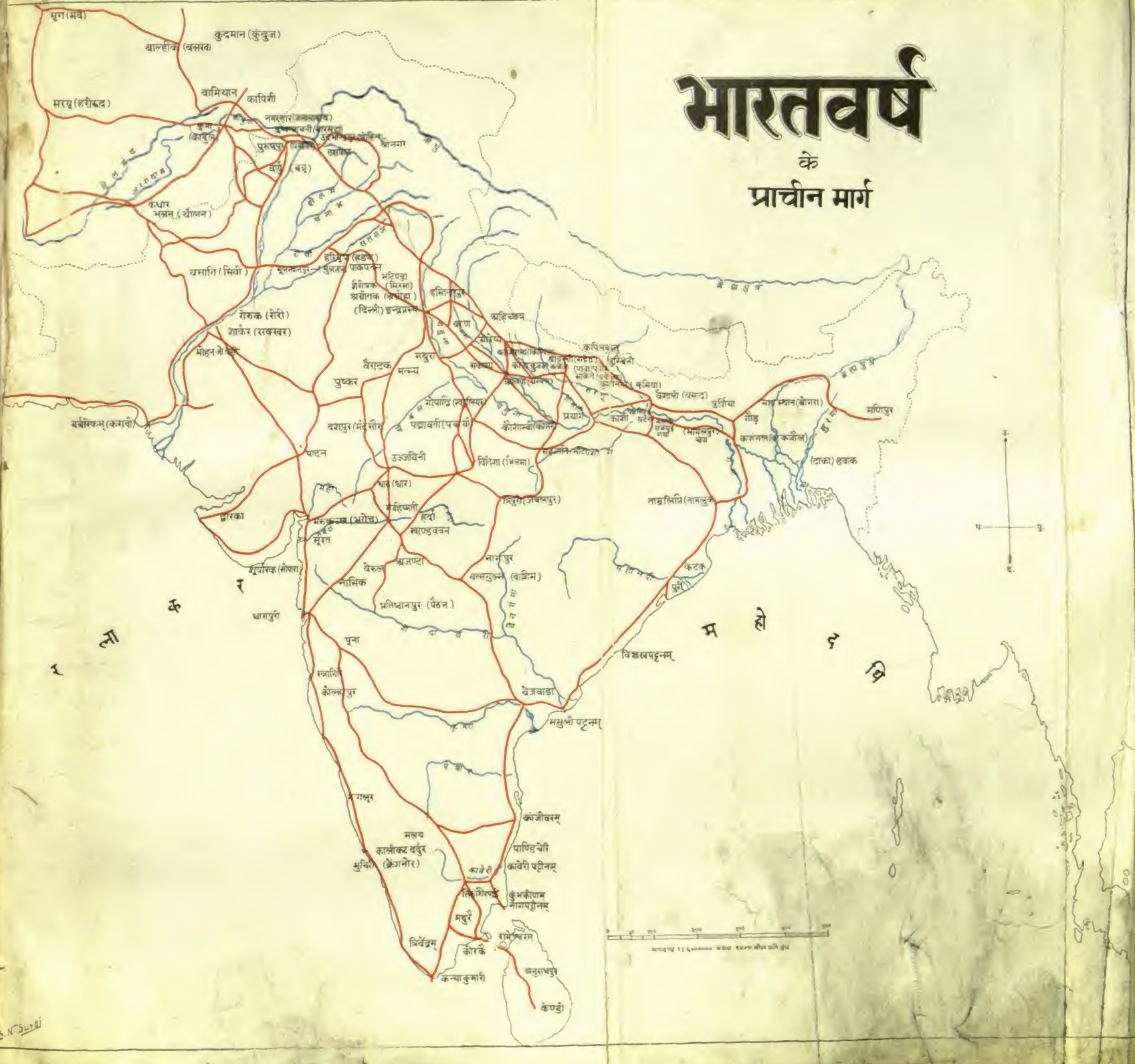


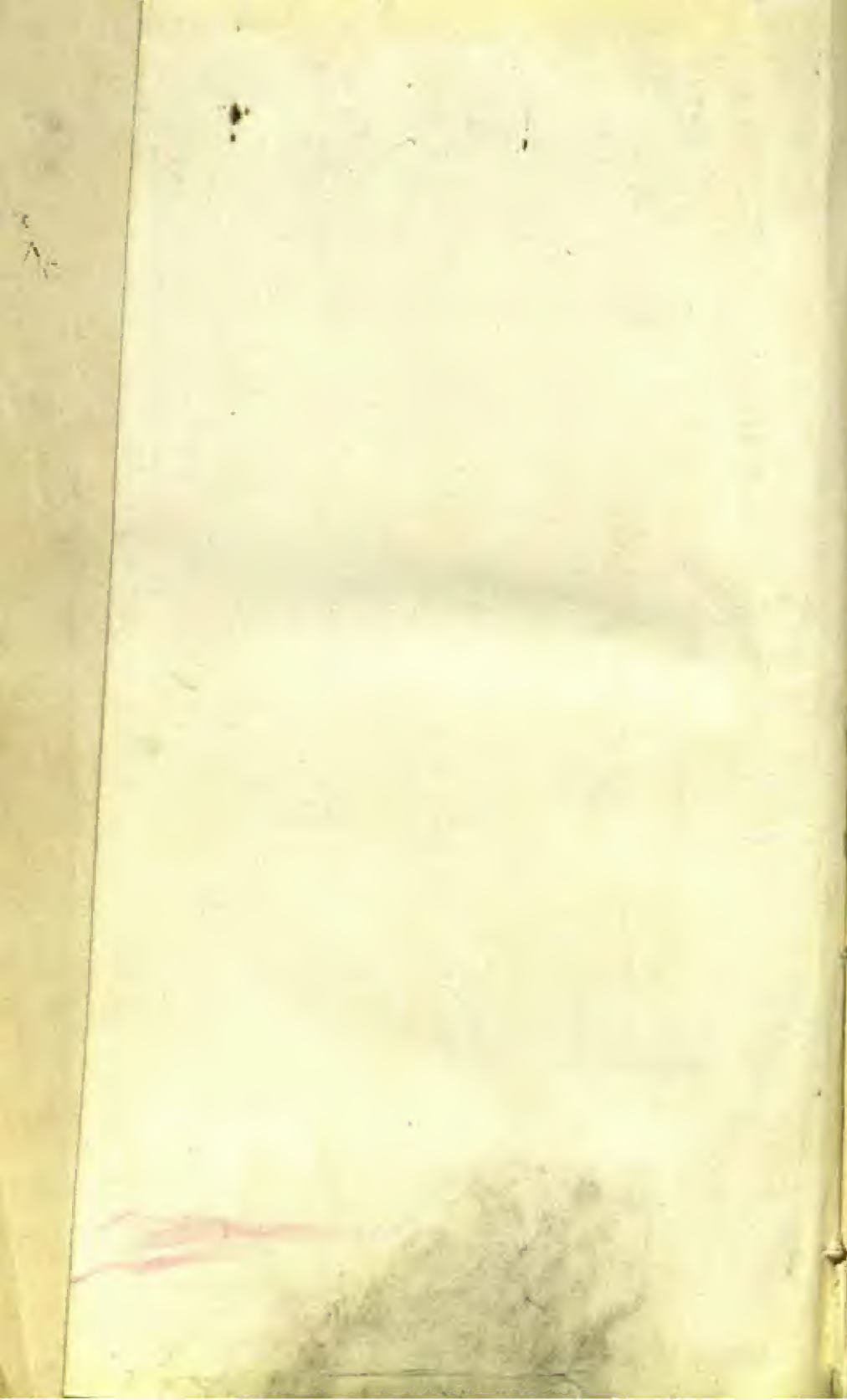


३८. खुली गाड़ी, अजंटा, छठी सदी

भारतवर्ष

के
प्राचीन मार्ग





प्राचीन भारत के विदेशी व्यापार के मार्ग





U.N.
Central Archaeological Library,
NEW DELHI.

6870

Call No 388.10954/Mot

Author— डी. डी. मोट

Title— (गद्य वार्ता) (प्रस्तावना) १५४४

A book that is shut is but a block

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI

Please help us to keep the book
clean and moving.